

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

*Students can retain library books only for two weeks at the most.*

<b>BORROWER'S No.</b>	<b>DUE DATE</b>	<b>SIGNATURE</b>

श्रीशूद्रककविविरचितम्

# मृच्छकटिकम्

[संस्कृतटीका-हिन्दीभाषानुवाद-व्याख्यात्मक टिप्पणी-समीक्षात्मक भूमिकादिसहितम्]



डॉ० श्रीनिवास शास्त्री

विद्यावाचिधि एम० ए०, पी०एच० डी०

पूर्व प्राध्यापक

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

इत्येतेन

सम्पादितम्



## साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक

रतिराम शास्त्री

अध्यक्ष

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ-२

☎ ५१८७५४

लेखक द्वारा सम्पादित अन्य पुस्तके

- १ एम० ए० सस्कृत व्याकरण
- २ सस्कृतरचनानुवादप्रभा
- ३ काव्यप्रकाश (हिन्दी व्याख्या)
- ४ दशरूपक (हिन्दी व्याख्या)
- ५ तर्कभाषा (हिन्दी व्याख्या)
- ६ न्यायविन्दुटीका (हिन्दी व्याख्या)
- ७ उद्योतकरकृत न्यायकारिक-३
- ८ प्रशस्तपादभाष्य

1064.60

प्रथम सस्करण, १९६२  
द्वितीय सस्करण, १९७५  
तृतीय सस्करण, १९७६  
चतुर्थ सस्करण, १९८०  
पञ्चम सस्करण, १९८३  
षष्ठ सस्करण, १९८५  
सप्तम सस्करण, १९९३  
अष्टम सस्करण, १९९६

मूल्य : साठ रुपये (६०.००)

मुद्रक :

दुर्गा आफसेट प्रिन्टर्स

गढ रोड, मेरठ

मूच्छकटिक का यह नवीन संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह संस्करण छात्रों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया है। इसके आरम्भ में सूक्त कवि का परिचय दिया गया है तथा मूच्छकटिक की समीक्षा दी गई है। इसमें मूल-पाठ के सामने हिन्दी अनुवाद दिया गया है जिससे संस्कृत के माप हिन्दी का मिलान किया जा सके। मूल संस्कृत का हिन्दी में अविकल अनुवाद किया गया है। अनुवाद के बीच में कुछ आवश्यक शब्द कोष्ठक में दिये गये हैं। नोंधे की ओर संस्कृत व्याख्या दी गई है। इसमें श्लोकों का अन्वय तथा सरल व्याख्या दी गई है, अलङ्कार एवं छन्द का भी निर्देश किया गया है। गद्य-भाग के भी आवश्यक श्लोकों की व्याख्या की गई है। यथावश्यक व्याख्याकारों के विविध मतों तथा पाठ-भेद का भी उल्लेख किया गया है। अन्त (परिशिष्ट) में व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। जिनमें शब्दों की व्युत्पत्ति आदि के साथ-साथ अर्थ को स्पष्ट करने वाली व्याख्या भी है। संक्षेप में यह प्रयत्न किया गया है कि यह व्याख्या मूल के अर्थ और भाव को स्पष्ट करने में पाठकों की सहायता कर सके। 106460

पुस्तक के अन्त में श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची, मूच्छकटिक में आये हुए सुभाषितों का वर्णानुक्रम से संग्रह तथा नाटक में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण एवं स्थल-निर्देश दिये गए हैं।

इसे गुरुगोविन्द की कृपा से प्राक्त प्रसार का उनकी सेवा में समर्पण मात्र ही समझना चाहिये। इसमें जो प्राज्ञ है वह उन्हीं उगस्वी गुरुजनों का है जिनके चरणों में बैठकर मैंने संस्कृत काव्य का अध्ययन, अनुशीलन तथा आस्वादन किया है। उन गुरुजनों में संस्कृत भाषा तथा साहित्य का आजीवन प्रचार करने वाले पूजनीय स्व० आचार्य पण्डित लेखराज राज्सी का सर्वोपरि स्थान है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना मेरी शक्ति में बाहर ही है। केवल इस तुच्छ प्रयास के समर्पण-मात्र में ही सन्तोष करना पड़ता है।

मूच्छकटिक के इस संस्करण को तैयार करने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के अनेक उल्लेख्य संस्करणों से सहायता ली गई है। निर्णयसागर के पाठ को मुख्यतः अपनाया गया है। प्र० एन्० आर० काले के संस्करण का विशेष आधार लिया गया है। इनके अतिरिक्त विविध ग्रन्थों की भूमिकाओं, संस्कृत साहित्य के इतिहासों तथा समीक्षाओं से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। उन सभी ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों एवं सम्पादकों का मैं अत्यन्त आभारों हूँ।

एक उदीयमान लेखक निय एजेन्ड्रकुमार शर्मा, एम० ए० ने इसके छः अङ्कों का हिन्दी अनुवाद करवाया है तथा अरुणो स्पष्ट सम्भावितों द्वारा एवं शुक संशोधन आदि में सहयोग देकर उन कार्य को पूर्ण करने में महायत्न की है। दूसरे एक सुस्तुतज्ञ उरुन निय विद्यापूरन एम० ए० ने भी शुक-संशोधन का कार्य करके इस ग्रन्थ को पूर्ण करवाया है। ये दोनों उरुन साधुवाद के पवन हैं।

सहित्य बम्हार के अध्यक्ष श्री रटिरन शास्त्री की नेतृता से ही यह कार्य पूर्ण किया जा सका है, उदर्य उन्हें विशेष धन्यवाद है।

ग्रन्थ सरोधन आदि का धारक प्रयत्न करने पर भी मन्थन और रक्ति के अभाव में कतिपय त्रुटियों रह गई हैं। जो सम्जन इनकी त्रुटियों के विषय में उचित सुझाव देंगे, उनका सहर्ष स्वागत किया जायेगा। इस पुस्तक की उपयोगिता का निर्माण तो बरतक स्वयं ही कर सकेंगे। यदि इनसे पाठकों का कुछ भी उपकृत हो सकेगा तो मैं अपने प्रयत्न की उन्नत समझूँगा।

कार्तिक पूर्णिमा  
वि० सं० २०११

—श्रीनिधन शर्मा

## कतिपय सांकेतिक शब्द

अ०	= अङ्क	इ०	—इच्छ
उ०	= उत्तराणनचारित	इच्छा०	—इच्छाक्षर
उ० पु०	= उत्तम पुरुष		(मुच्छ० का टंकककर)
ए०	= एकवचन	प्र०	—प्रथम पुरुष
टि०	= टिप्पणी	बहु०	—बहुवचन
दरा०	= दशरूपक	मल्लि०	—मल्लिनाथ
ग०	= गद्य	नि०	—निन्दये
चार०	= चारुदत्त	मू०	—मूच्छकटिक
दे०	= देखिये	नेम०	—नेमदूत
द्वि०	= द्विवचन	रघु०	—रघुदत्त
नमु०	= नमुसकलिङ्ग	वि०	—विर्मंडि
प०	= पद्य	सं०	—संस्कृत
परि०	= परिशिष्ट	सं० द०	—साहित्यदर्पण
पा०	= पाणिनि	स्त्री०	—स्त्रीलिङ्ग
पुं०	= पुल्लिङ्ग		



# भूमिका

## १. कवि-परिचय

१. मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में विवाद—मृच्छकटिक किस कवि की रचना है, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यद्यपि मृच्छकटिक की प्रस्तावना में राजा शूद्रक को इस नाटक का कर्ता बताया गया है तथापि कुछ समालोचक इस पर विरोध नहीं करते। उन्होंने मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में अनेक अनुमान लगाये हैं और अपनी मान्यताओं के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। विद्वानों की विविध युक्ति-प्रत्युक्तियों से यह विषय अत्यन्त जटिल हो गया है। फलतः मृच्छकटिक के कर्ता के विषय में कोई निश्चित मत निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी विविध मान्यताओं के अनुशीलन से इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है अतः संक्षेप में उनका विवेचन करना उपयुक्त प्रतीत होता है। मृच्छकटिक के कर्तृ-विषयक मतभेदों को ४ वर्गों में रक्ता जा सकता है—

106460

१. मृच्छकटिक का कर्ता कोई अज्ञात कवि है, डा० सिसबलिदी उपा  
डा० कीच आदि इस मत के समर्थक हैं।

२. मृच्छकटिक दण्डी की रचना है—डा० पिनेल इत्यादि।

३. मृच्छकटिक भास की रचना है—कुछ विद्वान्।

४. मृच्छकटिक के कर्ता राजा शूद्रक हैं—डा० देवस्थानी आदि।

१. डा० मिलबैंचिदी का मत है कि मृच्छकटिक शूद्रक की रचना नहीं बलितु किसी अन्य कवि ने इसकी रचना की थी और अपनी रचना की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये उसे शूद्रक की कृति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। किन्तु प्रश्न यह है कि उसने अपनी रचना को शूद्रक के नाम में ही क्यों प्रतिष्ठित किया? इसके उत्तर में डा० लेवी का कथन है कि उनके इन कार्य के लिये शूद्रक को चुनने का कारण यह था; क्योंकि वह कालिदास से अर्थात्प्राचीन था और अपनी कृति को कालिदास से प्राचीन सिद्ध करना चाहता था अतः कालिदास के आश्रयवाता विक्रमादित्य से प्राचीन राजा शूद्रक के नाम पर इसे प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि डा० कीच इस उत्तर को मुक्तिपूर्ण नहीं मानते तथापि उनके मंत्रानुसार भी शूद्रक मृच्छकटिक का कर्ता नहीं है। डा० कीच का कथन है कि शूद्रक एक काल्पनिक व्यक्ति (fictitious person) था। उसके अर्थात् नाम से ही यह प्रकट होता है; क्योंकि सामान्यतः राजाओं का ऐसा नाम नहीं होता। 'चारदस' नाटक को बढ़ाकर 'मृच्छकटिक' के

रूप में रखने वाले कवि ने वास्तविक मूद्रक के नाम पर ही अपनी कृति को प्रसिद्ध कर दिया। श.० शीघ्र ने अपने मत के समर्थन के लिये कोई युक्ति नहीं दी है।

इस मत के सम्बन्ध में समीक्षकों का कथन है कि यदि यह माना जाये कि मृच्छकटिक किसी अज्ञात कवि की कृति है तो इस बात की निश्चिन्ता के लिये प्रश्न प्रमाणों का होना आवश्यक है किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते इसके विपरीत मृच्छकटिक की सभी उपलब्ध प्रतिनिरियों की प्रस्तावना में यह निर्देश दिया गया है कि मृच्छकटिक मूद्रक की कृति है। मूद्रक कोई ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं था, यह कथन भी सुक्तिमङ्गल नहीं, यह आगे विवेचन विधा जायगा।

श्री ज्ञानदानाय शास्त्री तेलङ्ग का कथन है "हमारे विचार में भी मूद्रक मृच्छकटिक के कर्ता नहीं है। इसके कर्ता कोई दूसरे कवि हैं। ऐसा प्रतीत होता है किसी कवि ने भाष का 'शक्तिचारदत्त' देखा। उन्हें यह अरुण प्रतीत हुआ उन पर उन्हें पूर्ण करने की धुन सवार हुई। उन्होंने आवश्यकता और अपनी कवि के अनुसार 'शक्ति चारदत्त' में परिवर्तन किए। उसकी कथा के साथ अपनी कल्पना से रची हुई अपना गुणादप की 'दृष्टकथा' से ली हुई गौरालदारण आर्यक के विद्रोह की कथा बढ़ा दी। इस प्रकार मृच्छकटिक तैयार हुआ। कवि ने अपना नाम जानबूझ कर छिपाया। प्रस्तावना में 'मूद्रक' के साथ 'किल' का प्रयोग यही सूचित करता है।" अपने कथन की पुष्टि के लिए तेलङ्ग महोदय ने कहा है कि (१) प्रस्तावना में मूद्रक का नाम देने से पहले ही कवि ने 'एतन्कविः किल' ऐसा लिखा है फिर पाँचवें और सातवें श्लोक में भी—'मित्रपालः किल मूद्रको दभूव' तथा 'बचार सर्व किल मूद्रको नृपः'—इत्यादि उक्ति में 'किल' शब्द का प्रयोग किया है। 'इस अर्थ का प्रयोग प्रायः 'ऐतिह्य' 'अनीकता', या 'संभावना' सूचित करने के लिये किया जाता है। यह अधिकतर अनिश्चय व्यक्त करता है।" (२) यहाँ मूद्रक की मृन्दु का वर्णन ('अग्नि प्रविष्टः') होने से भी यह नाटक अन्य कवि की कृति है। बभ्रुव, बचार इत्यादि परोक्ष भूतकाल के प्रयोगों से भी यही सिद्ध होगा है। (३) यदि यह माना जाये कि प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो प्रश्न होगा है कि मूद्रक ने बिना नामोत्प्रेष के ही अपना नाटक क्यों चला दिया या ? जिसने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया उसने सन्देह उत्पन्न करने वाली परोक्ष सूत्र की क्रिया आदि ही क्यों रक्खी ? अतः यह नाटक मूद्रक का नहीं किसी अन्य कवि का है। उस कवि ने अपना नाटक मूद्रक के नाम से चला दिया है इसके दो कारण हो सकते हैं—(क) उसने सोचा होगा कि इसमें आधा भाग भाष कवि का है। यदि मैं इसे अपने नाम से प्रसिद्ध करूँगा तो कवि-चोर कहलाऊँगा। (ख) इस नाटक का घटनाचक्र उस समय की सामाजिक

१. मृच्छकटिक समीक्षा (धूमिका) पृ० २, ७।

२. 'अग्नि प्रविष्टः' का वास्तविक तात्पर्य क्या है—यह-सन्देहास्पद है।

परिस्थितियों तथा मान्यताओं के विरुद्ध जान पड़ता है। चरदत्त और शबितक जैसे ग्राह्यों का वेम्पाओं के साथ विवाह ब्राह्मणों का घोर होना, चन्दनक और घोरक जैसे दूतों का राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त होना इत्यादि घटनाएँ कान्तिकारी विचारों की सूचक हैं। अतः यदि वह कवि अपने नाम से नाटक को प्रचलित करता तो समाज और राजा अवश्य ही उसकी दुर्गति कर देते। इसी हेतु उनमें एक प्राचीन राजा के नाम से अपनी रचना को प्रसिद्ध किया होगा।

(२) डा० विमल का मत है कि 'दशकुमारचरित' के लेखक दण्डी कवि ने ही मृच्छकटिक की रचना की थी। राजगोखर के अनुसार दण्डी के तीन प्रबन्ध हैं—'नयो दग्धिप्रख्यात्तव विपु लोकेषु विधुना.' उनमें से दो हैं—'दशकुमारचरित' और 'काव्यादर्श' और तीसरा है—'मृच्छकटिक'। मृच्छकटिक दण्डी की रचना है—इस मत के समर्थन के लिये डा० विमल ने मुख्यतः निम्न मुक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(क) दण्डी के काव्यादर्श (२, २२६) में 'तिम्ननीनं तमोऽज्ञानि' यह पद्य उपलब्ध होता है। तथा वहीं पद्य मृच्छकटिक (१, ३४) में भी है। इससे सम्भावना होती है कि दोनों कृतियाँ एक ही कवि की हैं। (ख) दशकुमारचरित और मृच्छकटिक में वर्णित सामाजिक दशा में बहुत अधिक समानता है। इनमें प्रकट होता है कि दोनों एक ही कवि की कृतियाँ हैं।

डा० विमल की मुक्तियों में कोई सार नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'तिम्ननीन' इत्यादि श्लोक तो मूल में भामहृत चरदत्त नाटक का है। काव्यादर्श और मृच्छकटिक दोनों में ही वहाँ से लिया गया है तब इनसे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि मृच्छकटिक दण्डी की कृति है। दूसरी मुक्ति के लिये में भी यह पूछा जा सकता है कि जिन कृतियों में एक-ही सामाजिक दशा का वर्णन होता है क्या वे एक ही कवि की रचना होती हैं? इनके अतिरिक्त 'अवन्तिमुन्दरीकया' नामक कृति के उपलब्ध होने पर विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि 'अवन्तिमुन्दरीकया' ही दण्डी की तृतीया रचना है अतः डा० विमल की कल्पना का मूल आधार ही गलत हो गया है।

एकत्रिंशो मंडलानन' ने डा० विमल के इस मत को स्वीकार किया है, तथापि डा० पीटर्सन' इत्यादि ने इस मत का प्रतिपाद किया है और नाम किसी समीक्षक ने भी इसे स्वीकार नहीं किया।

(३) कुछ विद्वानों ने भास को मृच्छकटिक का कर्ता माना है। इनका मत है कि जाति के शूद्र होने के कारण ही भास इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। भास ने अपने 'चरदत्त' नामक नाटक का परिवर्द्धित रूप ही मृच्छकटिक के रूप में प्रस्तुत किया। यह कल्पना भी मुक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होती। एक तो प्रश्न यह है कि भास के

१. History of Sanskrit Literature (1900), पृ० ३११।

२. देखिये M. R. कामे Introduction पृ० १७ (टिप्पणी)।



वास्तविक नाम से यह नाटक क्यों नहीं प्रसिद्ध हुआ ? मूद्रक नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ ? दूसरे भाग के अन्य नाटक भी मूद्रक नाम पर ही क्यों न प्रसिद्ध हुए । उनके खतिवक्त मूच्छकटिक की प्रस्तावना में मूद्रक को राजा कहा गया है किन्तु भाग दो राजा नहीं है । उसके वांछित प्रतीत होता है कि मूद्रक वेदों का ज्ञाता है, विद्वान् है यह मूद्र नहीं । अतः यह कल्पना भी निम्नकार है ।

(४) भारतीय परम्परा मूच्छकटिक की मूद्रक की कृति मानती है । विष प्रसार अथ नाटकों की प्रस्तावना में उनके लेखकों का नाम-निर्देश किया गया है उसी प्रकार इस नाटक की प्रस्तावना में भी स्पष्टतया मूद्रक का नामोन्मेष किया गया है । मूद्रक के अग्नि-श्लेष का वर्णन तथा 'बकार' 'बमूद्र' इत्यादि परोक्ष मूद्र को शिवाओं का प्रयोग सन्देह अवश्य उत्पन्न करता है तथापि व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से इन धाकाओं का निवारण किया है (दक्षिण टिप्पणी) । यह भी सम्भव है कि प्रस्तावना के कुछ श्लोक प्रसिद्ध हों अथवा अभिनय-कलाओं के हाथों में पढ़कर ही इनमें कुछ परिवर्तन या परिवर्धन हो गया हो । अतः जब तक पुष्ट प्रमाणों के आश्रय पर प्रचलित परम्परा का खण्डन नहीं हो जाता तब तक यही मानना मुक्तिमय प्रतीत होता है कि मूच्छकटिक का कर्ता मूद्रक है । जैसा कि डा० देवस्यनी का कथन है कि हमारा इतिहास का ज्ञान पूर्ण न होने से हम मूद्रक के विषय में निरिक्तर रूप से कुछ नहीं कह सकते तथापि जब तक इस बात का प्रमाणों द्वारा खण्डन न हो जाये तब तक यही मानना उचित समझते हैं कि 'मूच्छकटिक' मूद्रक की कृति है ।

२. मूद्रक कवि या भाष्यकारा—

मूच्छकटिक के कर्ता मूद्रक है, यह मान लेने पर भी एक प्रश्न उत्पन्न है कि क्या मूद्रक ने स्वयं ही यह नाटक रचा या या उसकी रचना के किसी कवि ने यह नाटक लिखकर उसके नाम से प्रसिद्ध कर दिया था । भाग्य में ऐसे अनेक राजा हुए हैं जिन्होंने काव्य की रचना करके अस्मृत साहित्य की अमिथुष्टि की है । उदाहरणार्थ प्रसिद्ध विजेन्द्र समुद्रगुप्त एक प्रतिभाशाली कवि था उसने टाकीण करार्य गये एक शासनपत्र में कहा गया है कि उसने अनेक काव्यों की रचना करके 'कविराज' की उपाधि प्रतिष्ठित की थी । ईसा की अष्टम शताब्दी में महाशय हर्ष ने रत्नावली तथा नागानन्द जैसे उत्तम कौटिल्य के नाटकों की रचना की थी । अष्टम शताब्दी के आरम्भ में भवभूति के आष्यदराजा दशोवर्मा ने 'सामान्तर्य' नाटक रचा था । एकादश शताब्दी के राजा मूच्छक तथा भोज इत्यादि भी 'कवीन्द्र' उपाधि से विभूषित थे । अतः यहाँ प्राचीनकाल से ही अनेक राजा हुए हैं जिन्होंने मनोविनोद के

१. विद्वग्बनोपजीव्यानेकशास्त्रिपाणि. प्रतिष्ठितकविराजकल्पन्द.....

(शा० दिवराज शास्त्री, रत्नावली नाटिका को पूर्विका पृ० ७)

२. कवीन्द्राश्च विद्मामदित्य-श्रीहर्ष-मूच्छक-मौरदेवादिपुत्राणाः । —श्रीहर्ष, उदयमन्दरीकथा से उद्धृत, यही, पृ० ६ ।

लिखे या अपनी रचनात्मक प्रतिभा से प्रेरित होकर मनोरम काव्यों की रचना की है। इसलिये यह सम्भव है कि शूद्रक भी एक प्रतिभासम्पन्न राजा रहा हो और उसने इस नाटक की रचना की हो।

दूसरी ओर यह भी संभावना हो सकती है कि शूद्रक की सभा के किसी कवि ने इस नाटक की रचना की हो और इसे अपने आश्रयदाता शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। भारतीय वाङ्मय के अनेक घन-रत्नों की इस प्रकार की कहानी है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजनों का विवेचन करते हुए घन-नाम को भी काव्य का प्रयोजन बतलाया है। उन्होंने 'काव्यं यशसेऽर्पकृते' इत्यादि कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है—'धीहृपदिर्धावकादीनामिव घनम्। टीकाकारों ने इस कथन की अनेक प्रकार से व्याख्या की है इसका उल्लेख करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ तो संक्षेप में यही कहना है कि घन-नाम के लिये भी कवि रचना करते थे और अपनी रचना की अपने आश्रयदाता के नाम से प्रसिद्ध कर देते थे; अतः मृच्छकटिक की रचना के सम्बन्ध में भी ऐसी संभावना हो सकती है। शूद्रक मर्हिहृत्यकारों का ग्रहान् आश्रयदाता (सभापति) था, इसमें सन्देह नहीं। राजशेखर ने साहित्य के संरक्षक राजाओं की सूची में शूद्रक का भी उल्लेख किया है—'वासुदेव-भातवाहन-शूद्रक साहंसाङ्गादीन् सकतान् सभापतीन् दानमानाम्यामनु-कुर्यात्', काव्यमीमांसा।

यद्यपि दोनों प्रकार की संभावनाएँ उचित प्रतीत होती हैं तथापि कुछ प्रमाणाँ के आधार पर शूद्रक को कवि मानना ही युक्तिसंगत है, केवल कवि और पण्डितों का आश्रयदाता ही नहीं। कुछ समय पूर्व ही मद्रास में अवन्तिसुन्दरीरूपा नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह दण्डी की रचना है। इसमें शूद्रक की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—<sup>1</sup>

शूद्रकेपासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।

जगद्भ्रमोभ्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥

इस श्लोक से प्रकट होता है कि शूद्रक एक वीर योद्धा था। 'वाचा स्वचरितार्थया' इस कथन से यह भी विदित होता है कि दण्डी के समय में यह समझा जाता था कि शूद्रक की रचना में कुछ आत्मकथा का प्रतिबिम्ब है। फलतः विद्वानों का कथन है कि मृच्छकटिक नाटक में शूद्रक के जीवन की कतिपय घटनाओं का संकेत मिलता है। नाटक का चारुदत्त शूद्रक के मित्र बन्धुदत्त का रूपान्तर है और आर्यक के रूप में शूद्रक ने अपना ही वर्णन किया है। यद्यपि इन संकेतों की प्रामाणिकता में सन्देह है तथापि उपर्युक्त श्लोक से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वीर योद्धा शूद्रक एक कवि भी था जिमकी रचनाओं में उसके जीवन की झलक मिलती है।

(1) M. R. काले, मृच्छकटिक Introduction पृ० २१। काले महोदय ने M. R.-kavi M. A. के विद्वतापूर्ण निबन्ध 'Dandin's Avāntisundrikātha के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया है।

वाक्यानुसार मूर्त के प्रणेता वामन के कथन से यह भी प्रतीत होता है कि मूर्तक नायक कोई प्रसिद्ध कवि था तथा अष्टम मताब्दी में उसकी रचना सं-  
प्रसिद्ध थी। अर्चुनों का निम्नण करते हुए वाग्नाचार्य ने श्लेष (घटना) का सं-  
किया है तथा यह भी बताया है कि मूर्तक आदि कवियों की रचनाओं में इस श्लेष  
का विशेष प्रयोग देखा जाता है—'मूर्तकादिगवितेषु प्रबन्धेषु अल्प मूमान् प्रशस्यो  
हस्यते।'—यद्यपि यहाँ यह नहीं कहा गया है कि मूर्तक कोई राजा था, यह भी नहीं  
कि वह मूर्च्छकटिक का कर्ता था तथापि इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं—(१) मूर्तक  
एक प्रसिद्ध कवि था, (२) उसकी रचनाओं में श्लेष गुण के अनेक उदाहरण मिलते हैं।  
विद्वानों का कथन है कि हमसे यह नहीं ज्ञात होना कि वामन मूर्तक को मूर्च्छकटिक  
के कर्ता के रूप में जानना था, क्योंकि मूर्च्छकटिक को विशेषरूप से श्लेषगुणबुद्ध नहीं  
कहा जा सकता। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि वामन की मूर्तकृति में  
मूर्च्छकटिक के कई उदाहरण उपलब्ध होते हैं।<sup>१</sup> जिनसे यह स्पष्ट ही है कि वामन  
मूर्च्छकटिक से परिचित था। हाँ, उसने मूर्तक या मूर्च्छकटिक के कर्ता के रूप में  
उल्लेख नहीं किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि श्लेषगुण श्लेष नामक अलङ्कार से  
निर्गम्य मिलता है। इनके अतिरिक्त उदाहरण मूर्च्छकटिक में भी खोजे जा सकते हैं।  
वामन ने इस कथन से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मूर्तक की मूर्च्छकटिक  
के अतिरिक्त और कोई रचना रही होगी।

### ३. मूर्तक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा साहित्यिक उल्लेख—

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में मूर्तक का उल्लेख किया गया है। इसके  
स्पष्ट विवरित होता है कि मूर्तक कोई ऐतिहासिक पुरुष था, केवल कल्पित व्यक्ति नहीं।  
किन्तु उक्त ग्रन्थों में मूर्तक का कोई विविध कानों तथा प्रसङ्गों में उल्लेख किया गया  
है जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि कौन सा मूर्तक मूर्च्छकटिक का कर्ता रहा  
होगा। एतद् ही नाम के कई व्यक्तियों का होना, वास्तविकता में असा ही बाधक रहता  
है। उदाहरणार्थ संस्कृत साहित्य में कालिदास नाम के कई कवि हैं, इसी कारण  
कालिदास की कृतियों तथा समय के निर्धारण में अज्ञान भी कठिनाइयों का सामना  
करना पड़ता है। मूर्तक के विषय में भी यही बात है। अनेक ग्रन्थों में मूर्तक के जीवन  
के विषय में उल्लेख मिलते हैं, वहीं-वहीं उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले भी  
उल्लेख हैं यद्यपि उनके अनुजीवन से मूर्च्छकटिक के कर्ता का निर्णय करना कठिन है  
तथापि इस विषय में हमारा मार्ग अद्वय प्रशस्त हो जाता है। अतः उनका संश्लेषः  
निरूपण करना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) स्कन्दपुराण<sup>२</sup> कुमारिका खण्ड में उल्लेख है कि कतिवंश ३२६० वर्षान्  
१६० ई० में मूर्तक नाम का राजा हुआ। कुछ विद्वान् स्कन्दपुराण में निर्दिष्ट मूर्तक

१. वाग्नादचार्यमूर्तकृति २. २. ४।

२. देविके आगे पृ० ३१।

३. त्रिपुरासंहारेषु कलेसितेषु पादिके । त्रिभुवने इत्यनेनैवैतत्त्वां मूर्ति कविर्भवति ॥  
मूर्तको नाम वीरानामाधिपः सिद्धिमत सः । चरितार्थो संनाराध्य समस्तैः मूमरावत् ॥

को आन्ध्रवंश के प्रथम राजा 'विन्दुक' से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनका मान्यता का आधार यह है कि प्रायः पुराण में आन्ध्रवंश के प्रथम राजा को शूद्र बतलाया गया है।<sup>1</sup> यह भी संभव है कि विन्दुक का वास्तविक नाम शूद्रक ही रहा हो, क्योंकि भिन्न-भिन्न रूपों में उनके विविध नामों का उल्लेख किया गया है। किन्तु डॉ० निम्ब' के अनुसार विन्दुक का समय लगभग २४० ई० पू० है जो स्कन्दपुराण के समय से मेल नहीं खाता। M. R. कासे का कथन है कि स्कन्दपुराण का कथन अधिक विश्वसनीय नहीं अतः आन्ध्रवंश का प्रथम राजा ही शूद्रक रहा होगा। (क) उनका यह मन्य आन्तरिक प्रमाणों से भी पुष्ट होता है और उसके पूर्वजों प्रात के समय से भी मेल खाता है। (ख) इनकी इस बात से भी पुष्ट होती है कि आन्ध्रवंश का राज्य दक्षिण भारत में था और वानव के कात्यायनद्वारा सूत्र के एक टीकाकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि शूद्रक भी दक्षिणात्य था तथा नाटक के अन्तर्गत से भी शूद्रक का दक्षिणात्य होना ही सिद्ध होता है।<sup>2</sup>

(२) कुछ समय पूर्व ही जो दायों की वृतीय रचना 'अवन्तिदुन्दरोकथा' उदात्त हुई है उसमें शूद्रक की उज्जयिनी का ब्राह्मण राजा बतलाया गया है। यह भी कहा जाता है कि शूद्रक ने आन्ध्रवंश के स्वाति नामक राजा को पराजित किया था। 'स्वाति' ने २६ ई० पू० तक राज्य किया। महापद्म विक्रमादित्य का भी यही समय है अतः कुछ विद्वानों ने विक्रमादित्य और शूद्रक को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इस बात की प्रमाणों में पुष्टि होती है तो अवन्तिदुन्दरोकथा में बयित शूद्रक अवश्य ही आन्ध्रवंश की स्थापना करने वाले शूद्रक से भिन्न हीना चाहिए। ऐसा मानने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मृच्छकटिक का कर्ता कौनसा शूद्रक है? मृच्छकटिक की प्रस्तावना में उल्लिखित शूद्रक क्या रूपों का वर्णित शूद्रक ही समझा है? दायी ने शूद्रक को ब्राह्मण राजा बतलाया है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी उन्हें 'द्विजमुक्कटनः' कहा गया है। यद्यपि यहाँ टीकाकारों ने द्विज का अर्थ धारित किया है तथापि इसका प्रसिद्ध अर्थ निरा या सत्य है।

किन्तु दायी के शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता मानने में एक कठिनाई यह है कि उपरोक्त के अनुसार उचित और सौचित्य कवियों ने 'शूद्रककथा' नाम का रूप निरा था।<sup>3</sup> यह सौचित्य यही प्रतीत होता है जिसका कासिराज ने 'सौमित्रिक'

१. हर्षा कम्प्युगनामं उद्गृह्यते वृषभो बभौ ।

यां प्रोक्तान्ध्रवंशजोऽपि कविः कात्यायनस्यतः । (स्कन्ध-१२. अन्वय १-२०)

२. Early History of India, (ed. 1914) पृ० २१६.

३. मैमने, आदे 'कवि का जीवन-परिचय' ।

४. श्री शूद्रककथाकारो रूपो उच्यते निम्नो ।

काम्यं मनीषीणोपलीङ्गनादीनशीतम् ॥

नाम से उल्लेख किया है।' इस प्रकार 'सौमिल' नामक कवि कालिदास से प्राचीन है इसमें मन्देह नहीं तथा राजा मूद्रक सौमिल से भी पूर्व या उसके समकालीन हो सकता है। यदि कालिदास की विक्रमादित्य का समकालीन (५६ ई० पू०) माना जाता है तो दण्डी का मूद्रक मृच्छकटिक का लेखक नहीं हो सकता।

(३) प्रो० कोनो का कथन है कि आभीर बघ का राजा सिवदत्त ही मूद्रक है। इसका राज्यकाल ईसा की तृतीय शताब्दी है। प्रो० कोनो के मत का आधार 'गोपालद्वारक मार्क' यह शब्द है, क्योंकि आभीर और गोपाल समानार्थक हैं।

इसी प्रकार शब्दों की समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने मूद्रक का समय द्वितीय शताब्दी निश्चित करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार मृच्छकटिक = ३४ में बर्णित '२३० राजा' वाक्य बंध का उद्भव ही है जिसका समय १३० ईसा है। ये सब कल्पनाएँ नाममात्र के साम्य पर आधारित हैं अतः कोई महत्त्व नहीं रखती।

(४) साहित्यिक उल्लेखों से यह तो स्पष्ट विदित होता है कि उद्भव और विक्रमादित्य ने समान मूद्रक को एक कलाप्रेमी एवं साहित्यप्रेमी राजा रखा हुआ है। मूद्रक के नाम पर विक्रान्तमूद्रक, मूद्रकबघ, मूद्रकचरित इत्यादि शब्दों का उल्लेख मिलता है। वे शब्द अनुपमगर्भ हैं, अतः यह कहना कठिन है कि इनके बर्णनों से मूद्रक के समय आदि निर्धारण में कहीं तक सहायता मिल सकती है। मन्देह ने 'राजतरङ्गिणी' में तथा सोमदेव ने 'कामाक्षित्तापर' में मूद्रक का उल्लेख किया है। बाण ने कादम्बरी में मूद्रक की राजधानी विदिशा बताया है तथा 'हर्षचरित' में चन्द्रसेन के राज के रूप में मूद्रक का उल्लेख किया है। दण्डी ने भी 'दशकुमारचरित' में मूद्रक का निर्देश किया है। वंशावली-चरित में मूद्रक की राजधानी वर्धमान या गोपावती बताया गई है।

(५) वासन ने काम्यालङ्कार भूष में मूद्रक का नामत्र निर्देश किया है—  
"मूद्रकादिचरितेषु प्रबन्धेषु" (अधि० ४ अ० २-४)। वासन ने मृच्छकटिक के कई संदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं—  
"दूत हि नाम सुदस्यसिंहासन रागम्" (अधि० ४ अ० ३, २३) तथा "यासा बलिमंवरि मद्गृहदेहलीनाम्... कीटमुखादनीट"। (अधि० १, अ० १, १)। वासन का समय आठवीं शताब्दी है।

उपर्युक्त कथनों से यह प्रकट होता है कि मूद्रक की कतिपय व्यक्ति कहना मुक्तिवज्जत नहीं कहा जा सकता। उसका कवि होना भी सिद्ध ही है। तथा ऐसा भी प्रतीत होता है कि मूद्रक नाम के एक ही नहीं बनेर राजा हुए हैं। किन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि मृच्छकटिक का कर्ता मूद्रक कौन-सा है? कुछ समानोचकों का यह भी अनुमान है कि सम्भवतः मूद्रक नामक किसी कवि ने

मृच्छकटिक लिखा होगा। वह कवि राजा और शूद्रक से भिन्न ही रहा होगा, किन्तु कालान्तर में उस कवि तथा राजा शूद्रक को एक ही मान लिया गया। यह संभावना भी मृच्छकटिक की प्रस्तावना से मेल नहीं खाती; क्योंकि प्रस्तावना में तो 'शूद्रको नृपः' इसमें स्पष्ट ही मृच्छकटिक के कर्ता को शूद्रक राजा कहा गया है।

४. मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक का समय—

उपर्युक्त विवेचन से शूद्रक के काल पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है किन्तु मृच्छकटिक के काल का सम्यक् निर्णय नहीं हो पाता। मृच्छकटिक का रचनाकाल तृतीय शताब्दी ई० पू० से लेकर षष्ठ शताब्दी तक दोसायमान है—

(क) ईस्वी पू० तृतीय शताब्दी से ई० पू० प्रथम शताब्दी —

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक को आग्नेयवंश के आदिम राजा से अभिन्न माना जा सकता है या दण्डी द्वारा निर्दिष्ट शूद्रक को ही मृच्छकटिक का कर्ता माना जा सकता है। इसलिये मृच्छकटिक का रचना काल तृतीय शताब्दी ई० पू० में होया या प्रथम शताब्दी ई० पू० में। अन्तःसाक्ष्य तथा बाह्यसाक्ष्य से भी इस काल की पुष्टि होती है; जैसा कि M. R. काले ने दिलाया है। इस विषय में अन्तःसाक्ष्य इस प्रकार है—(१) यह नाटक ऐसे समय की ओर संकेत करता है जब बौद्ध धर्म उन्नतावस्था में था। बौद्ध भिक्षुओं का जनता में सम्मान था, वे भिक्षु के धर्म का सावधानी से पालन करते थे। ई० सवत् के आरम्भ काल में बौद्ध-धर्म ह्रास की ओर अग्रसर हो चला था अतः इस नाटक की रचना इससे पूर्व ही माननी चाहिये। जैसा कि डॉ० 'सण्डारकर ने बतलाया है।' आग्नेयवंशीय राजाओं के समय बौद्धधर्म उन्नतावस्था में था। (२) नवम अंक में अधिकारणिक द्वारा कथित 'अङ्गारकविहङ्गस्य' इत्यादि श्लोक में मंगल को बृहस्पति का अनुग्रह बतलाया गया है। यह मान्यता बराहमिहिर के पहले प्रचलित थी। बराहमिहिर का समय २०० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है; उसके अनेक शताब्दी पूर्व मृच्छकटिक का समय होना चाहिये। (३) वैशिकी कला (१४) का उल्लेख तथा किसी देव्या के नायिका होने की कल्पना वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के समकालीन है। वात्स्यायन के कामसूत्र का समय १०० ई० पू० से पश्चात् नहीं हो सकता अतः मृच्छकटिक का भी समय इसके ही निकट है। (४) बाद के प्रचलित नाटककला के अनेक नियमों से मृच्छकटिक का कर्ता परिचित नहीं है; जैसे किसी पात्र के विशेष प्राकृत भाषा बोलने का नियम, रसों की प्रधानता तथा अप्रधानता सम्बन्धी मान्यताएँ इत्यादि। साथ ही मृच्छकटिक की शैली में भास जैसी सादगी और सरलता है, इसकी शैली कालिदास के समान परिष्कृत नहीं; न ही नवभूति के सनान कलापूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि मृच्छकटिक संस्कृत नाटक के प्रारम्भिक काल की रचना है। (५) मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाएँ व्याकरण

के नियमों के संबंध में अनुकूल नहीं है। वे प्राकृत भाषा के विकास की दारम्भिक अवस्था को सूचित करती हैं। जिससे प्रकट होता है कि भूदक कालिदास से प्राचीन है। (६) मृच्छकटिक में 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग एव पुलिस के अधिकारी के अर्थ में हुआ है। यह भारतीय नाटक की दारम्भिक अवस्था को व्यक्त करता है; क्योंकि कालिदास के पश्चात् 'राष्ट्रिय' शब्द राजा के मामले के अर्थ में रूढ़ हो गया है। (७) शकार तथा वित्त जैसे पात्रों की योजना में भी यही सिद्ध होता है कि मृच्छकटिक प्राचीनकाल का नाटक है, क्योंकि बाद के नाटकों में ये पात्र दृष्टिगोचर नहीं होते।

बाह्य प्रमाणों में भी इस काल की पुष्टि होती है। ऊपर निर्दिष्ट विद्या गया है कि रामिल सोमिल (सोमिल्लक) ने भूदक-कथा लिखी थी; सोमिल्लक का कालिदास ने उल्लेख किया है। अतः सोमिल समकाली या कालिदास से पूर्ववर्ती है और भूदक सोमिल से भी प्राचीन। भारतीय परम्परा के अनुसार कालिदास का समय ई० पू० ५६ के लगभग है अतः भूदक का समय इससे पूर्व ही होना चाहिये। किन्तु यदि भूदक कालिदास से प्राचीन है तो कालिदास ने भास इत्यादि के उल्लेख के साथ-साथ भूदक का उल्लेख क्यों नहीं किया? उत्तर स्पष्ट है कि जिन कविपंथों से कालिदास परिचित थे उन सभी का उल्लेख वे करते यह कैसे आगा की जा सकती है।

(ख) ३०० ई० से ७०० ईस्वी के मध्य—

दूसरे विद्वान् उपर्युक्त युक्तियों को स्वीकार नहीं करते तथा कहते हैं— भास के पश्चात् नाटक की खोज होने के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि मृच्छकटिक को रचना पश्चात् के आधार पर की गई है, अतः भूदक के मृच्छकटिक की ऊपरी सीमा भास का समय ही सत्ता है। भास का काल अभी निश्चित नहीं हो पाया है। उसका समय १०० ई० पू० से ६०० ई० पू० के मध्य माना जा सकता है। मृच्छकटिक में 'अथ हि पाठकी विप्रो' (६-३६) इत्यादि-श्लोक में मनु का उल्लेख किया गया है इससे भी मृच्छकटिक की पूर्व सीमा निर्धारित करने में सहायता मिलती है। मनु का समय विद्वानों ने ई० पू० २०० माना है।

इस प्रकार मृच्छकटिक की पूर्व सीमा २०० ई० पू० निश्चित हो सकती है। इसकी अपर सीमा कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास है, किन्तु अन्य विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। डॉ० चौम का मत है कि यह सन्देहास्पद है कि मृच्छकटिक कालिदास से प्राचीन है या अर्वाचीन। जैकोबी का विचार है कि मृच्छकटिक

१. The discovery of the Carudatta of Bhasa has cast an unexpected light on the age of the mrcchakatika but has still left it dubious whether or not the author is to be placed before Kalidas. The Sanskrit Drama पृ० १२८।

कालिदास से नवाँचोन है।<sup>1</sup> समालोचकों का यह भी नयन है कि कालिदास के नाटकों पर मृच्छकटिक का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः कालिदास मृच्छकटिक की अपर सीमा नहीं हो सकते। फिर इसकी अपर सीमा क्या है? तामन (८०० ई०) ने काव्यालङ्कारमूर्तवृत्ति में मूढक का कवि के रूप में उल्लेख किया है तथा मृच्छकटिक के कई पद्य भी उद्धृत किये हैं। अतः मृच्छकटिक की निम्नतम सीमा ८०० ई० है। कुछ विद्वानों ने इसे ऊपर बढ़ाने का भी प्रयास किया है। प० बलदेव उपाध्याय का कथन है कि दण्डी (७०० ई०) के काव्यादर्श में मृच्छकटिक का लिम्पतीव तमोऽङ्गानि (१.३) पद्य है अतः मृच्छकटिक की अपर सीमा ७०० ई० है। डॉ० देवत्यती का कथन है कि पञ्चतन्त्र में भी मृच्छकटिक के दो श्लोक मिलते हैं। उनके अनुसार पञ्चतन्त्र का समय ५०० ई० है; किन्तु कुछ विद्वान् मानते हैं कि पञ्चतन्त्र का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। इस प्रकार दण्डी (७०० ई०) को ही मृच्छकटिक की अपर सीमा मानना उचित प्रतीत होता है।

मृच्छकटिक के अन्त-साध्य के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है। भारत का इतिहास बतलाता है कि गुप्त राजाओं के पश्चात् हर्षवर्धन तक कोई सार्वभौम राजा उत्पन्न नहीं हुआ। उस समय सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा अस्तव्यस्त थी। राजाओं का चारित्रिक पतन हो गया था और राजा के विरुद्ध कोई न कोई पञ्चतन्त्र रचा जाया करता था। मृच्छकटिक में उसी समाज का वर्णन दिखलाई देता है।<sup>2</sup> इस आधार पर मृच्छकटिक को पाँचवी, छठी शताब्दी की रचना कहा जा सकता है।

डॉ० कोय का कथन है कि भाषा और रचना-विधान की सादगी के आधार पर भी मृच्छकटिक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। कारण यह है कि इसके लेखक ने भास की शैली तथा भाषा का पूर्णतया अनुसरण किया है। शकार और बिट जैसे पात्र अवश्य ही प्राचीन रंगमञ्च के पात्र हैं तथापि यहाँ वे भास का अनुकरण करके ही कल्पित किये गये हैं। इनसे मृच्छकटिक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। बौद्ध भिक्षुओं का ऐसा वर्णन भी भास से ही लिया गया है। मृच्छकटिक को प्राकृत भाषाओं से भी इसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि उन प्राकृतों में भास का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। साथ ही मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाओं के परीक्षण से तो उल्टा यह प्रतीत होता है कि वे भाषाएँ बहुत ही बाद की हैं जैसे मृच्छकटिक में प्रयुक्त 'वक्त्रो' नामक प्राकृत को विद्वानों ने अपभ्रंस का ही एक रूप माना है।

१. The Sanskrit drama. १३१, टिप्पणी १.

२. डॉ० भोलाशंकर ग्रास, संस्कृतकविदर्शन.



संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभी तक ऐसे पृष्ठ प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं जिनके आधार पर मृच्छकटिक या उसके कर्ता (शूद्रक ?) का समय-निर्धारण किया जा सके। अथ मृच्छकटिक का समय २०० ई० पू० से ७०० ई० तक दोलायमान है।

#### ५. मृच्छकटिक के कर्ता का जीवन परिचय—

जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है कि शूद्रक के जीवन के सम्बन्ध में कोई विश्वस्तनीय जानकारी पुराण या साहित्य से उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत के प्राचीन कवियों ने अपने विषय में प्रायः मौन ही रक्खा है। मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक के विषय में भी यही बात है। अथ मृच्छकटिक से जो शूद्रक का विषय विवरण उपलब्ध नहीं होता।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना से उपलब्ध जानकारी—संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने नाटक की प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हुए अपने कथ तथा विद्वत्ता आदि का परिचय दिया है। शूद्रक ने प्रस्तावना में पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख तो नहीं किया तथापि अपना कुछ परिचय अवश्य दिया है। प्रस्तावना में कहा गया है कि शूद्रक कवि द्विज था। विद्वानों ने द्विज का अर्थ 'जनिप' किया है। वह सुन्दर और सुबोल था, हाथों जैसी मठवासी बाल बाला तथा अत्यधिक शक्तिशाली भी। ऋग्वेद आदि का विद्वान् था। उसने गिर की कृपा से ज्ञान प्राप्त किया था। वह समरव्यसनी और तपस्वी था। साय ही बड़े-बड़े हाथियों से बाहुबुद्ध करने में प्रवीण था। उसने सौ वर्ष और दस दिन की आयु व्यतीत करके पुत्र को राज्य छीन दिया तथा अग्नि में प्रवेष्ट किया।'

इन जानकारियों को प्राप्त करके कुछ सन्देह, उत्पन्न हो जाते हैं जैसे अपने 'बलि प्रवेश' का कथन असम्भव तथा असंज्ञत प्रतीत होता है। समीक्षकों ने इसका कई प्रकार से समाधान किया है (देखिये टिप्पणी)। इस प्रस्तावना में शूद्रक को राजा भी बतलाया गया है शूद्रको मृगः' (अंक १-७)। किन्तु प्रस्तावना से कवि के देशपाल आदि के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

मृच्छकटिक के कर्ता का निवास-स्थान—मृच्छकटिक का कर्ता दाक्षिणात्य (महापट्ट का निवासी) है ऐसा प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह खान्दवरा का आदिम राजा है। खान्दवरा का राज्य दक्षिण में ही था। अथ शूद्रक का दाक्षिणात्य होना स्पष्ट है। वामन के काव्यालङ्कार सूत्र के एक टीकाकार ने शूद्रक को 'राजा कोमति' लिखा है। M. R. बाले का कथन है कि मद्रास प्रदेश की एक व्यापारिक जाति आज भी 'कोमति' (Comati) कहलाती है। इससे विदित होता है कि शूद्रक दाक्षिणात्य था। अन्तरङ्ग प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि होती है। (१) दशम अङ्क में आण्डाल ने दुर्गादेवी का सहस्रनामिनी देवी के नाम से स्मरण

किया है—'भगवति सहस्रवासिनी प्रसीद प्रसीद'। भवभूति जैसे दक्षिणात्य कवियों ने ही दुर्गादेवी का 'सहस्रवासिनी' नाम से वर्णन किया है। उत्तरी कवियों ने उसका चिन्तप्रवासिनी के' नाम से उल्लेख किया है। (२) इस नाटक में कुछ ऐसे अद्भुत शब्दों का प्रयोग किया गया है; जो दक्षिण में ही प्रचलित हैं; जैसे वसन्तसेना के हाथी का नाम 'सुण्टमोडक'। (३) नाटककार ने चन्दनक के मुख से दक्षिणात्यो की विशेषता का उल्लेख कराया है—'वयं दक्षिणात्या अब्यक्तभाषिणः'। इसके साथ ही श्लेच्छ भाषाओं के नाम भी गिनाये हैं। इन भाषाओं में से अधिकांश दक्षिण में ही बोली जाती हैं। (४) 'कर्णाटककलह' जैसी दक्षिणात्य विशेषताओं का भी वर्णन यहाँ किया गया है।

इन विवेचन से यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि कवि का निवासस्थान उज्जयिनी ही था। उज्जयिनी में दक्षिण के लोग भी राज्य के पदों पर प्रतिष्ठित रहा करते थे। चन्दनक ऐसा ही एक पदाधिकारी था। इसी हेतु मृच्छकटिक के वर्णनों में दक्षिणी भारत में प्रचलित शब्दों का प्रयोग तथा प्रथाओं का वर्णन मिलता है। दण्डी के कथन से भी शूद्रक की राजधानी उज्जयिनी ही प्रकट होती है।

शूद्रक का धार्मिक विश्वास—मृच्छकटिक के अनुशीलन से विदित होता है कि शूद्रक वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने ऋग्वेद और सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा अथर्ववेद यज्ञ भी किया था। 'अग्नि प्रविष्टः' कथन के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि उसने 'अग्निहोत्र' करने का व्रत धारण किया था। वह बड़ा तपस्वी (तपोमनः) था और शिव का भक्त था जैसा कि 'शम्भो, समाधिः वः पातु' 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' तथा 'अयति वृषभकेतु' (१०—४५) इत्यादि से प्रतीत होता है। उसने शिव के प्रसाद से अज्ञानरूपी अन्धकार से मुक्त ज्ञान-चञ्चुओं को प्राप्त किया था। वह देवी देवताओं की पूजा में भी विश्वास रखता था। यही कारण है कि उसने चारुदत्त के मुख से देवपूजा का महत्त्व प्रकट कराया है। वह धर्माध्यम धर्म में भी निष्ठा रखता था। भरतविरचय के श्लोको में ब्राह्मणों के सदाचारी और राजाओं के धर्मनिष्ठ होने की कामना की गई है। इसी प्रकार उसके कुछ अन्य विश्वासों तथा मान्यताओं का परिचय भी मिलता है। जैसे 'कारिचस्तुच्छयति०, (१०, ६०) इत्यादि उक्तियों से प्रतीत होता है कि वह भाग्यवादी था 'चारुदत्त' आदि के संवादों में शूद्रक की अन्य मान्यताओं की भी संक्षेप मिलती है।

शूद्रक की विद्वान्ता—मृच्छकटिक नाटक से प्रतीत होता है कि शूद्रक बहुज्ञ था। उसने विविध विषयों का अध्ययन किया था। वेद, गणित कला और हस्तिशिक्षा का ज्ञान प्राप्त किया था। कवि ने अपने आपको 'वेदविद्या ककुद' कहा है। 'अङ्गार-कविरुद्धस्य०' इत्यादि उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि वह ज्योतिष विद्या का भी ज्ञाता था। वह शकुन-विज्ञान से भी परिचित था, यह विविध शकुनों के फनाफल

धर्म से प्रतीत होता है। छतकला और चायन्या का तो शूद्रक ने मूढम एवं गम्भीर अनुशीलन किया था। लोक विद्या में वह अत्यन्त निपुण रहा होगा। तभी तो मन्त्र के विविध वर्गों के कार्य तथा व्यापारा का मूढम विज्ञेयण उसने किया है। धर्मशास्त्र में भी वह परिचित था तथा उसने धर्मशास्त्र में वणिक्त न्यायाधीश आदि के गुणों एवं कर्तव्यों का भली भाँति अनुशीलन किया था, मनु के वचनों का उल्लेख करने से तथा न्यायाधीशों की मानसिक दशा के विश्लेषण से यह भली भाँति प्रतीत होता है।

शूद्रक का साहित्यिक ज्ञान भी उच्च कोटि का था। उसने विविध छन्दों और श्लोककार्यों का सुन्दर प्रयोग किया है तथा नाटकीय रचना विधान की दृष्टि में भी मृच्छकटिक नाटक विशेष महत्त्व रखता है। नभी ता दम्भक आदि में अन्य नाटकों के उदाहरणों का साथ साथ मृच्छकटिक के भी उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वामन ने भी मृच्छकटिक के उदाहरण दिये हैं तथा 'श्लेषगुण' की योजना करने वाले कवियों में शूद्रक को प्रमुख स्थान दिया है। शूद्रक का भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य भी गम्भीर था। वह मरुत तथा प्राकृत भाषाओं का श्रेष्ठ विद्वान् था। जितनी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मृच्छकटिक नाटक में मिलता है, उतनी भाषाओं का अन्य किसी नाटक में नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मृच्छकटिक का रचयिता इनके विषयों का ज्ञाता था।

शूद्रक की रचनाएँ — इस समय शूद्रक की केवल एक कृति 'मृच्छकटिक' ही उपलब्ध है। दूसरी तथा वामन इत्यादि के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि शूद्रक की अन्य भी कोई रचना रही होगी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व 'पद्मप्रामृदक, नामक एक 'भाषा' दक्षिणी भारत में प्रकाशित हुआ है। इनके सम्पादक का कथन है कि यह मृच्छकटिक के कर्ता की ही रचना है। अभी इसकी वास्तविकता के विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्पादक श्री बलभद्र ने यह भी बतलाया है कि 'वत्सराजविरित' (वीणावामदत्त) भी शूद्रक की तृतीया रचना है तथा सम्भवतः शूद्रक की चतुर्थ रचना 'वामदत्त' नामक एक प्रकार का ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ हमारे सामने उपलब्ध नहीं है अतः इसका सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनके अनुशीलन में मृच्छकटिक के रचयिता के जीवन तथा समय पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

## २. मृच्छकटिक

### १. संस्कृत नाटक और नाटक के तत्व —

साहित्य के आचार्यों के अनुसार 'काव्य' के दो प्रकार होते हैं—दृश्य और श्रव्य । 'विन काव्यों का रहस्यमय पर अभिनय किया जा सकता है वे दृश्य काव्य कहनाते हैं । ये दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं : रूपक और उपरूपक । रूपक को रस भाव आदि का आशय माना गया है । यह रूपक दस प्रकार का होता है—

नाटकनय प्रकरमं भाग-व्यासोम समनकार-दिमाः ।

इन्द्रानुगाहुवीर्यं प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ भा० द० ६, ३॥

इन प्रकार संस्कृत के साहित्यग्रन्थों के अनुसार 'नाटक' रूपक का ही एक प्रकार है किन्तु हिन्दी भाग में सभी दृश्य (रूपक) काव्यों को सामान्यतः नाटक कह दिया जाता है । रूपक का ही एक प्रकार 'प्रकरम' कहनाता है । मृच्छकटिक एक प्रकरम है, इनका विम्लानुपूर्वक भागे विवेचन किया जायेगा । उपरूपक १५ प्रकार का होता है । इनमें नाटिका अधिक प्रसिद्ध है, जैसे रत्नावली नाटिका इत्यादि । ये उपरूपक भी कुछ बातों को छोड़कर प्रायः नाटक के समान ही होते हैं । दृश्य काव्यों के विदे 'नाटय' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । इस शब्द का प्रयोग 'नाटकना' के अर्थ में भी होता है ।

दृश्य काव्य के ये भेद एवं उपभेद बन्तु, नेता तथा रस के आधार पर किये गये हैं । इन प्रकार प्रत्येक रूपक या उपरूपक के विदे में तीनों अनिवार्य हैं अर्थात् भारतीय नाटकशास्त्र की दृष्टि में दृश्य काव्य के ३ भेद हैं—बन्तु, नेता तथा रस । भारत का आधुनिक समाजोन्नत शास्त्र पाश्चात्य साहित्य में प्रथम विन है । अतः आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टि में भी नाटक के तत्वों का विचार करना आवश्यक हो जाता है । आधुनिक नाटक के निम्न तत्व माने जाते हैं—कथानक, पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, संवाद, देश वान का चित्रण, भाव-शैली, अभिनेयता और रस ।

१. दृश्यकाव्यभेदेन पुनः काव्यं द्विधा भवन् । साहित्यदर्पण ६० १. ।

२. अदस्यानुकृतिनाटयं रूपं दृश्यकाव्येषु ।

रूपकं तत्तन्नावेगाद्बर्णय रमाश्रयम् ॥ दशरूपक, १-७ ।

३. देखिये, साहित्यदर्पण ६, ४—५ ।

४. अष्टादश प्रादुरूपरूपकाणि मनोप्रियाः ।

विना विशेषं सर्वेषः मध्य नाटकवन्दनम् ॥ बहो ६, ६ ।

५. बन्तु नेता रसलोकं भेदकाः ।

एन सभी उत्तमों का वन्द्य, नेता और उस में भी समावेश कर लिया गया है। यहाँ सभी उत्तमों की दृष्टि से नृसिंहकवि रूपक पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

२. नृसिंहकवि का नामकरण—साहित्य-दर्पण के अनुसार नाटक का नाम पवित्र अर्थ को प्रकट करने वाला होना चाहिए—नाम कार्य नाटकस्य पवित्रार्थं प्रकाशयन् (६, १४२) किन्तु 'प्रकरण' का नाम नाटक-नामिका के नाम पर आकारित होना चाहिए—नामिकानामकास्वानाम् मया प्रकरणादिषु (६, १४३)। 'नृसिंहकवि' एक प्रकरण है तथापि इसका नामकरण 'इसके' अर्थ अर्थ में पवित्र एक विशेष अर्थ के आधार पर किया गया है, 'चारदस का पुत्र रोहतेन पदौरी के पुत्र की दाँते की माँगी से बनते हुए देखा है। वह भी अपनी मिट्टी की माँगी से नहीं बनना चाहता और उसके स्थान पर सुवर्ण-निर्मित माँगी चाहता है। वह उसके लिये काट्ट करवा है। रदनिका नामक चारदस की सेविका उसे बहलाने के लिये बलन्देना के पास ले जाती है। बलन्देना उसके काट्ट को पूरा करने के लिये करने काद्रूपणों को उसकी मिट्टी की माँगी पर लाद देती है।' यह घटना नृसिंहकवि में अत्यन्त महत्व रखती है, क्योंकि इन काद्रूपणों को लेकर विदूषक बलन्देना को देने के लिये जाता है और जब वे स्वायालय में उसकी मास से गिर पड़े हैं तो चारदस से बलन्देना की हत्या सम्बन्धी अन्वेषण को पुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार 'मिट्टी की माँगी' सम्बन्धी घटना इस प्रकरण की कथा के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है और इसके आधार पर इसका नामकरण उपयुक्त ही है। साथ ही यह नाम शीघ्र ही उल्लेख करने वाला है। नाम सुनते ही समासिकों के हृदय में प्रकरण की कथा को जानने के लिये उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है।

यहाँ प्रायः यह है कि यदि वे काद्रूपण न्यायाधिकरण में न गिरते तो भी स्वायालयों की भीष्मा और शकार के काट्ट के कारण चारदस को प्रायदण्ड ही मिलता। यदि यह मानें कि उन काद्रूपणों द्वारा बलन्देना चारदस के हृदय में स्थान जमाना चाहती थी अतः इसका विशेष महत्व है ही तो वे 'नाम-प्रकरण' के लिये और एकट निर्माण के निमित्त लिये गये थे; इसलिये इस प्रकरण का नाम 'नृसिंहकवि' होना चाहिए था। साहित्यदर्पण के विद्वाननुसार ही इसका नाम 'बलन्देना—चारदस' होना चाहिए था, जैसे कि 'मालती-माधव' इत्यादि नाम हैं।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि मिट्टी की माँगी (अर्थ) के कारण ही सुवर्ण की माँगी का प्रस्ताव उत्पन्न हुआ था अतः इस घटना का मूल दृष्टिकोण ही अर्थ (नृ-अर्थ) है और 'नृसिंहकवि' की अर्थ-माँगी का अर्थ 'नृसिंहकवि' नाम ही अधिक उपयुक्त है। विद्वानों ने इस प्रकरण के अर्थ-माँगी को प्रस्तुत लिये है—जैसे (१) इस नाम के द्वारा कवि जीवन के लिये शिक्षा देना चाहता है। रोहतेन अपनी मिट्टी की माँगी से अन्वेषण नहीं है, वह पदौरी के पुत्र की दाँते की माँगी चाहता

है। परन्तु अपनी परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। ऐसे दोषों के कारण मनुष्य को आपत्ति का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार चारुदत्त भी धृता से सन्तोष न पाकर वसन्तसेना की ओर आकर्षित होता है। उसका जीवन कष्टमय होता है। अतएव 'मृच्छकटिक' असन्तोष का प्रतीक है। (२) इस शब्द से प्रवहण-विपर्यय की घटना भी सूचित होती है जो कि इस प्रकरण की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। (३) भास का 'चारुदत्त' मृच्छकटिक का मूल है। उपलब्ध 'चारुदत्त' नाटक में चार अङ्क हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति प्रभिसरण के लिये उद्यत है—यही पर कथा समाप्त हो जाती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह नाटक अपूर्ण है। इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। इसकी कथा मृच्छकटिक के पञ्चम अङ्क की कथा पर्यन्त अवश्य रही होगी। यदि यह मत ठीक है तो इस प्रकरण के रचियता ने पष्ठ अङ्क से आगे का भाग ही अपनी कल्पना से रचा होगा। पष्ठ अङ्क में मिट्टी की गाड़ी की घटना आती है। अतः कवि ने अपनी कल्पना के आरम्भ को प्रकट करने के लिये इस घटना के नाम पर ही इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' रख दिया है।

जहाँ तक साहित्यदर्पण आदि साहित्यिक ग्रन्थों के विधान का प्रश्न है। स्पष्ट ही है कि नाटक—सम्बन्धी कठोर नियम भास, शूद्रक और कालिदास आदि के शास्त्रों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं अतः 'मृच्छकटिक' में उनके पूर्णतया पालन किये जाने की आशा कैसे की जा सकती है? अतः इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' ही उचित प्रतीत होता है।

३. मृच्छकटिक प्रकरण; रूपक का एक भेद—'मृच्छकटिक' को रूपक के एक भेद 'प्रकरण' की कोटि में रखना जाता है। प्रकरण का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार यह है—

भवेत् प्रकरणे वृत्त लौकिकं कविकल्पितम् ।

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽपवा वणिक्

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रमान्तकः ॥

नामिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं कश्चित् ।

तेन भेदास्त्रयः तस्य तत्र भेदस्मृतीयकः ॥

कितवधूनवारादिविटचेटसंकुलः ।

(अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकदत्)

अर्थात् "प्रकरण रूपक का एक भेद है इसमें वृत्त लौकिक तथा कविकल्पित होता है; शृङ्गार मुख्य रस होता है; ब्राह्मण, अमात्य या वणिक् में से कोई एक नायक

१. श्री कान्तानाथ शास्त्री, मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० २२.

२. वही, पृ० २३।

३. वही, पृ० २३-२४

४. 'यदर्पण' ६ २२४-२२५

होता है। वह नायक धीमन्प्रधान होता है तथा विगरीत परिस्थितियों में भी धर्म अर्थ काम में परायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री या वेश्या होती है। किसी प्रकरण में कुलस्त्री तथा वेश्या दोनों दो नायिका रूप में दिखलाई जाती हैं। इन नायिकाओं की विशेषता से प्रचारण के भी तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों प्रकारण-भेदों में नीसरा जो प्रवरण है (जिसमें कुलबा तथा वेश्या दोनों नायिका होती हैं) वह पूर्व, जुआरी, विट चेट आदि में धरा होता है। (यह प्रकरण नाटक का ही एक परिवर्तित रूप है अतः शेष सन्धि प्रवेशन आदि नाटक के ही समान होते हैं)।

मूच्छकटिक का कथानक लोकाभिन्न है। यह कनि द्वारा कल्पित किया गया है।<sup>१</sup> इसका प्रधान रस भृङ्गार है वरुण (अङ्क १०) हास्य (विद्रूपक और शृंगार की उल्लिखों में) तथा वीररस (अङ्क २) इत्यादि भृङ्गार के अङ्ग रूप में आये हैं। नायक पारुदत्त द्राष्टा है<sup>२</sup>, जो कि दरिद्रता की अवस्था में है तथापि धर्म अर्थ और काम की सिद्धि में तत्पर दिखलाई देता है। यहाँ दो नायिकाएँ हैं एक भूता जो कुलस्त्री है और दूसरी वसन्तसेना जो गणिका है। इस प्रकार दोनों प्रकार की नायिका होने में यह तीसरे प्रकार का प्रकरण है। यहाँ पूर्व छूतकर, विट चेट शकार आदि की भी योजना की गई है। दशरूपक के अनुसार मूच्छकटिक को सकीर्ण प्रकरण कहा जा सकता है—सकीर्ण पूर्वसुलभम्। इसमें सन्धि आदि नाटक के समान ही हैं यह आगे दिखनाया जायेगा।

मूच्छकटिक में लक्षणग्रन्थों के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया गया है। कारण यह है कि मूच्छकटिक के निर्माण काल में नाटक के ये नियम भली भाँति निर्धारित नहीं किये जा सके थे, जब अनेक नाटक रचे जा चुके तब उनके आधार पर नाटक के नियमों का निर्माण किया गया और उन्हें साहित्यिक रूप दे दिया गया। अतः मूच्छकटिक जैसी अत्यन्त प्राचीन रचना में उन सभी नियमों के पालन की सम्भावना कैसे की जा सकती है, फलतः यहाँ प्रकरण की कतिपय विशेषताएँ नहीं भी मिलती—(१) साहित्यदर्पण के अनुसार प्रकरण का नाम नायक और नायिका के नाम पर होना चाहिये (२) दशरूपक के अनुसार नायक प्रत्येक अङ्क में उपस्थित रहना चाहिये—प्रत्यक्षानुपस्थित (अङ्क ३, ३३), किन्तु यहाँ पारुदत्त सभी अङ्कों में उपस्थित नहीं है। (३) नाटकशास्त्र तथा दशरूपक के अनुसार कुलस्त्री और वेश्या दोनों का रङ्गमञ्च पर मिलन नहीं होना चाहिये, किन्तु यहाँ भूता और वसन्तसेना दोनों का रङ्गमञ्च पर केवल मिलती ही नहीं अपितु एक दूसरी का स्वागत

१. बृहत्कथा में लिखे गये वृत्तों को भी कविकल्पित ही माना जाता है।

२. विप्रनायक यथा मूच्छकटिकम्। सा० द० ६, २२४।

३. द्वि वि मूच्छकटिके। वही, ३, २२४

कुलबाप्रान्तरा वाह्या वश्या नातीकमोन्वया।

करती हैं। इन अनियमितताओं के अनेक कारण हो सकते हैं तथापि इनके होने में बंमत्य नहीं हो सकता। फिर भी साहित्य ममजों के 'सकीर्ण प्रकरण' का मृच्छकटिक में अन्य कोई उपयुक्त उदाहरण नहीं मिलता, इसमें सन्देह नहीं।

४. मृच्छकटिक का रचना-विधान—प्रायः सभी संस्कृत-नाटकों का रचना-विधान समान है। नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने से पहले अभिनेता जन (नट) नाट्यमण्डप (रङ्ग) की दिग्गन्धि के नियम मङ्गलावरण करते हैं। यह मङ्गला चरण ही पूर्वरङ्ग कहलाता है। इस पूर्वरङ्ग के 'प्रत्याहार' इत्यादि अनेक मङ्ग है। नान्दी पाठ उन मङ्गों में प्रमुख है। अतः नान्दी-पाठ अनिवार्य माना गया है। मृच्छकटिक का आरम्भ नान्दी-पाठ में होता है। आरम्भ के दो श्लोक अर्थात् 'पर्यङ्क' तथा 'पातु' इत्यादि नान्दी के श्लोक हैं। यह नान्दी आठ पदों की है। तथा 'पत्रा-घनी' नामक नान्दी है (देखिये स० व्याख्या तथा टिप्पणी)। नान्दी-पाठ मूत्रधार करता है और किसी-किसी नाटक में नान्दी-पाठ के पश्चात् चला जाता है तथा दूसरा प्रधान नट त्रिषु स्थापक कहते हैं कवि और इति आदि का परिचय देता है। मृच्छकटिक में मूत्रधार ही स्थापना का कार्य करता है। यह मूत्रधार भारतीयवृत्ति का आश्रय लेकर कवि का परिचय देना हुआ वाश्याय की सूचना देता है। नट का यत्र वाश्या-पार जो अत्रिनाम संस्कृत भाग में होता है भारतीयवृत्ति रहना है। भारतीयवृत्ति के चार मङ्ग होते हैं—प्रगेचना, (२) वीगी (३) प्रहसन और (४) आमुष्य। प्रगेचना का अर्थशास्त्र है नाटक आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर आकृष्ट करना। मृच्छकटिक में एतत्कवि कित शूद्रको नृप. १।३ यह प्ररोचना है। इसमें कवि की प्रशंसा के तथा काश्याय की सूचना भी दी गई है। आमुष्य की प्रस्तावना भी कहते हैं। इसमें मूत्रधार नटों, गारिपाश्विक या विद्वान्क के साथ वार्तालाप करना हुआ विचित्र उक्तियों के द्वारा अन्विष्ट वस्तु की ओर संकेत कर दिया करता है किसी प्रमुख पात्र के प्रवेश की सूचना भी दे देता है। प्रस्तुत रूपक में मूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रवृत्त वस्तु की ओर कतिपय संकेत करता है और संशय के प्रवेश की सूचना भी देता है। दशरूपक के अनुसार

१. मन्नाट्यवस्तुनं पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।

कुनीतिवाः प्रवृत्तिं पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

प्रत्याहारादिकान्वङ्गान्पश्य भ्यासि यद्यपि ।

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ मा० ट० ६/२०.२३ ।

२. पर्युक्ता द्वादनभिरष्टाभिर्वा पर्युक्त । वही, ६/२५ ।

३. पूर्वरङ्गं विषाद्यैव मूत्रधारो निवर्तते ।

प्रविश्य स्थापकस्तद्भुत्वाव्यमास्याप्येत् तत । वही, ६/२६ ।

४. मि० वही; ६/२८.

५. वही, ६/२९ ।

६. देखिये, मं० व्याख्या ।

७. देखिये, टिप्पणी, पृ० ४५५ ।



यह प्रस्तावना तीन प्रकार की होती है—कपोदघात, प्रवर्तक और प्रयोगातिशय (३।८-९)। साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना के पाँच प्रकार होते हैं—उद्घात्यक, कपोदघात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अथलगित। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना (देहिन्दे, टिप्पणी पृ० ४५५)। अभिनेय वस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाता है और प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रस्तावना के पश्चात् वास्तविक नाटकीय कार्य आरम्भ होता है। इसमें दो प्रकार की घटनाओं को प्रयुक्त किया जाता है। १. दृश्य, २. सूच्य। १. दृश्य वे सारत घटनाएँ हैं जिनका नामक से सम्बन्ध होता है और जिनका रङ्गमञ्च पर अभिनय करना होता है। ऐसी घटनाओं का समावेश अङ्को में विधा जाता है। प्रत्येक अङ्क में प्रायः एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का समावेश होता है।<sup>१</sup> २. सूच्य—वे घटनाएँ होती हैं जो नीरस होती हैं, दो दिन से लेकर वर्षपर्यन्त चलने वाली होती हैं तथा अङ्को में दर्शनीय नहीं होती। यदि कथा-प्रवाह आदि के लिये आवश्यक होता है तो ऐसी घटनाओं को अर्थापक्षोपको (अर्थ की सूचना देने वाले अर्थ) के द्वारा सूचना मात्र दी जाती है।<sup>२</sup> ये अर्थापक्षोपक पाँच प्रकार के होते हैं—१. विष्कम्भक २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अद्भुतवार और, ५. अद्भुतमुख।<sup>३</sup>

विष्कम्भक इत्यादिका विषय विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है।<sup>४</sup> इनमें से चूलिका (नेपथ्य से वस्तु की सूचना) का मृच्छकटिक में यत्र-तत्र पर्याप्त प्रयोग किया गया है, किन्तु अन्य विभाजन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कारण यह है कि नाटको के रचना-विधान का यह सूत्र विभाजन मृच्छकटिक के रचना-कार में इतना प्रचलित नहीं हुआ था।

संस्कृत नाटको की समाप्ति भी मङ्गलपाठ, से होती है। अर्न्त के मङ्गलपाठ की 'भरतवाक्य' कहा जाता है। 'भरत' का अर्थ नट होता है। किसी प्रमुख नट द्वारा 'भरतवाक्य' का पाठ किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य के नाम पर इस अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रख दिया गया है। इस प्रशस्ति में आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना की जाती है अथवा साम्राज्यतः प्रजाभार के कल्याण की कामना की जाती है। मृच्छकटिक के भरतवाक्य में व्यापक रूप में प्राणीमान के कल्याण की कामना की गई है—'जगन्माजः मोदन्ताम्'। साथ ही ब्राह्मणों के सदाचारों होने और राजाओं के शर्मनिष्ठ होकर भूमि-पालन करने की कामना है।

५. मृच्छकटिक की कथावस्तु—

(क) सक्षिप्त कथा—मृच्छकटिक नामक प्रवरण चारदत्त और वसन्तसेना की कल्पित प्रेम-कथा के आधार पर लिखा गया है। 'चारदत्त' उज्जयिनी का एक

१. दृगरूपक ३.३१।

२ साहित्यदर्पण ६.३१-३३।

३. वही ६.५४।

४. वही; ६.५५-६३।

सम्मानित ब्राह्मण है जो दरिद्र है। वसन्तसेना उज्जयिनी की एक गनिका है जो रूपवती एवं पुनवती है; किन्तु धन की अभिलाषा नहीं रखती तथा चावदत्त से प्रेम करती है। संघीन में कथानक इस प्रकार है—

अङ्क १—चावदत्त के मित्र जूगवंश का दिया हुआ शाल लेकर विद्रुपक (मंत्रेय) आता है तभी चावदत्त विद्रुपक से चौराहे पर देवियों को बलि देने के लिये जाने को कहता है किन्तु विद्रुपक आनाकारी करता है और चावदत्त दरिद्रता के दोषों का स्मरण करने लगता है। फिर विद्रुपक रदनिका (सेविका) को साथ लेकर जाने के लिये तैयार होता है। इसी समय राजमार्ग में बित्त शंकर शर्मा के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना चावदत्त के घर के समीप आ जाती है और घर में प्रवेश करती है। यह विद्रुपक और रदनिका बाहर जाते हैं तो शंकर रदनिका को वसन्तसेना जानकर पकड़ लेता है और बित्त के कहने से छोड़ता है। वसन्तसेना किसी भावी लाभ की आशा से अपने आभूषण चावदत्त के घर रख देती है तथा चावदत्त उसे घर पहुँचा आता है।

अङ्क २—वसन्तसेना अपनी बेटो मदनिका के साथ चावदत्त सम्बन्धी वार्ता-लाप कर रही है। इसी समय सबाहक आता है। जुबारी और छूतकरी का मुखिया (मापुर) उसका पीछा करते हुए आते हैं। वसन्तसेना अपना स्वर्णामूषण लेकर सबाहक को छोड़ती है। सबाहक विरक्त होकर बौड़-भिन्नु बन जाता है। वसन्तसेना का उन्मत्त हाथी मार्ग में उसे पकड़ लेता है तथा वसन्तसेना का सेवक कर्णपूरक उसे हाथी से छुड़ाता है। कर्णः चावदत्त कर्णपूरक को पुरस्कार स्वरूप अपना दुमाला देता है।

अङ्क ३—चावदत्त और मंत्रेय संगीत सुनकर आते हैं। वे घर में आकर सो जाते हैं। इसर मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिये शक्तिशाली चावदत्त के घर संघ लगता है और वसन्तसेना के आभूषणों को चुराकर ले जाता है।

अङ्क ४—शाश्वत शक्तिशाली आभूषण लेकर मदनिका के पास आता है। ये आभूषण चावदत्त के घर से चुराये गये हैं, यह जानकर मदनिका दुःखी होती है और इन आभूषणों को त्रिगुणतन्त्रक वसन्तसेना को दिला देती है। वसन्तसेना मदनिका को सेवामुक्त कर देती है। इसर चावदत्त की पतिव्रता स्त्री घृता अपनी रत्नावली चावदत्त को दे देती है और चावदत्त उसे विद्रुपक के द्वारा वसन्तसेना के घर भेज देता है।

अङ्क ५—वसन्तसेना बित्त तथा चेटी के साथ चावदत्त के प्रति अभिसरण करती है। यह दुर्दिन है; यत्नाश्रय, मेघ बर्जना; वर्षा की सड़ी और विद्युत् की टकड़क। चावदत्त उसकी प्रतीक्षा में है। वह धीरे धीरे वहाँ पहुँचती है और रात्रि में अभिषाम करती है।

१. प्रथम अङ्क की वस्तु कथा उस अङ्क की टिप्पणियों के आरम्भ में दी गई है।

अङ्क ६—प्रातः काल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में आ जाता है। इधर रतिका चारुदत्त व पुन रोहसन को लेकर वसन्तसेना के पास आती है। रोहसन मोने की गाड़ी पाने के लिये आग्रह कर रहा है और वसन्तसेना अपने आभूषणों को उसकी मिट्टी की गाड़ी में लादती है। तब वह भी पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को तैयार होती है, किन्तु भ्रमवज्र चारुदत्त की गाड़ी के बदल समीप खड़ी हुई शकार का आर्ष में बैठ जाती है। इसी समय पात्रव द्वारा बन्दा बनाया गया आभूषण भागकर आता है और चारुदत्त की गाड़ी को खाली पाकर उसमें बैठ जाता है। गाड़ीवान समझता है कि वसन्तसेना बैठी गई है और गाड़ी को ले जाता है। मार्ग में दो गधव गन्ध व और चौरक गाड़ी को राबते है। चन्दनक आर्यक को देखकर रक्षा का ध्यान रता है और जब चौरक भी गाड़ी को देखना चाहता है तो झगडा करने लगता है।

अङ्क ७—आर्यक उद्यान में पहुँचता है। चारुदत्त उसे दण्डता है और उसे प्रेमपूर्वक विदा कर देता है।

अङ्क ८—भिक्षु उद्यान में आता है। शकार उसे पीटने को उद्यत है। वह किसी प्रकार बचकर बला जाता है। इसी समय वसन्तसेना उद्यान में पहुँचती है। उसे देखकर शकार उग्र प्रस्ताव करता है। वह उसे स्वीकार नहीं करती तो वह वसन्तसेना का गला घोट दता है और सूखी पतियों में ढकाकर भाग जाता है। बौद्ध भिक्षु वहाँ आता है और वसन्तसेना को पुनर्जीवन करता है।

अङ्क ९—शकार श्याम लय में जाता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना का हत्या का अभियोग लगता है। दुर्धवात् अभियोग सिद्ध हो जाता है और चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है।

अङ्क १०—पाण्डाल चारुदत्त को भ्रमजान में ले जाते हैं। विदूषक तथा रोहसन भी वहाँ पहुँच जाते हैं। पत्नी लगने को है कि भिक्षु वसन्तसेना को लेकर वहाँ पहुँच जाता है। इधर पालक को मारकर आर्यक राजा बनता है और उसका मित्र शक्तिनक भी समगान धूमि में पहुँच जाता है। चारुदत्त के स्थान पर शकार को पाती का दण्ड दिया जाता है। किन्तु चारुदत्त उसे क्षमा करा देता है। राजा वसन्तसेना को बन्धु शब्द से अनङ्कृत कर देता है और चारुदत्त तथा वसन्तसेना का विवाह हो जाता है।

संक्षेप में मृच्छकटिक को महत्वपूर्ण घटनायें हैं—(१) वसन्तसेना का आभूषण ग्याप्त, (२) वसन्तसेना द्वारा शकार की अवहेलना, (३) शक्तिनक द्वारा आभूषणों की चोरी और उन आभूषणों का वसन्तसेना पर पहुँच जाना, (४) सवाहक का वसन्तसेना में परिचय, (५) आभूषणों के बदल में चारुदत्त द्वारा रत्नावली का भेजा जाना, (६) वसन्तसेना का अभिसरण, (७) रोहसन की मिट्टी की गाड़ी को आभूषणों से लादना, (८) प्रवहण-विषय, जिसके कारण आर्यक की रक्षा हुई तथा

वमन्तसेना का घना घोंटा गया, (६) मंवाहक द्वारा वमन्तसेना का पुनर्जन्म (१०) शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाया गया वमन्तसेना की हत्या का अभिषेक और उसकी सिद्धि । (११) चारुदत्त को फाँसी देने की तैयारी किन्तु अकस्मात् वमन्तसेना को लेकर मिश्रु का आगमन और शवितक का आगमन ।

(ख) मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलधोत—

(i) धाम कः चारुदत्त नाटक—मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो अंश हैं— एक नौ चारुदत्त और वमन्तसेना का प्रेम और दूसरा आर्यक की राज्य-प्राप्ति । भास के 'चारुदत्त' नाटक की उपलब्धि हो जाने पर विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि मूडक ने कथावस्तु का प्रथम अंश 'चारुदत्त' से लिया है । चारुदत्त और मृच्छकटिक के कथाग में बहुत अधिक समानता है । यहाँ चरुदत्त और अर्घत दोनों प्रकार की ममता है । 'चारुदत्त' में चार अङ्क हैं । संक्षेप में 'चारुदत्त' की रूपरेखा यह है—

'चारुदत्त' नाटक के आरम्भ में नान्दी पाठ नहीं है । मूत्रधार और नदी के मवाद्य से ही नाटक आरम्भ हो जाता है । इसके चार अङ्कों की कथा प्रायेण मृच्छकटिक के आरम्भ के चार अङ्कों की कथा से मिलती है । इनमें चारुदत्त, विदूरक, शकार, बिट, मवाहक चेट (मृच्छकटिक का कगजूरक), और सज्जनक (मृच्छकटिक का शवितक)—ये पुरुष पात्र हैं । वमन्तसेना, दाहाणी (धूता) रदनिका (चारुदत्त की बेटी) और मदरिका (वमन्तसेना की सखी तथा चेटो)—ये स्त्री पात्र हैं । नाटक के अन्त में वमन्तसेना मदरिका को सज्जनक के साथ विवाह करती है और फिर माधुपणों के साथ चारुदत्त के प्रति अभिषेक का प्रस्ताव करती है ।

मृच्छकटिक प्रकरण में प्रत्येक पृष्ठ पर चारुदत्त के श्लोक, सुवाद तथा उक्तियाँ ज्यों की त्यों हृष्टिगोचर होती हैं । यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के ये चार अङ्क चारुदत्त नाटक का रूपान्तर मात्र हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि चारुदत्त नाटक में त्रिम सन्दर्भ का सरल तथा सज्जित रूप में वर्णन किया गया है, मृच्छकटिक में उनका विस्तारपूर्वक कुछ अतद्भूत शैली में वर्णन किया गया है । इस आधार पर अधिकांश विद्वानों ने यह निर्धारित किया है कि मृच्छकटिक चारुदत्त नाटक का परिवर्द्धित रूपान्तर है । इसकी मुख्य कथा का मूल स्रोत चारुदत्त नाटक है । मृच्छकटिककार ने उसकी कथा में 'बृहत्कथा' से ली गई राज्य-विषय की कथा को कल्पनाओं से रंग कर जोड़ दिया है ।

(ii) दृष्टकथा अथवा प्रचलित स्रोतकथा— चारुदत्त और 'मृच्छकटिक' की समानता में किसी भी आशय नहीं है तथापि अनेक विद्वानों का विचार है कि 'चारुदत्त' नाटक को मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि अभी यह सन्देहास्पद है कि उपलब्ध 'चारुदत्त' नाटक धाम की बुनियाँ है ? कुछ समानताओं का कथन है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अङ्कों

का एक ऐसा रूपान्तर है जो रङ्गमञ्च के योग्य बना लिया गया है ।' अथवा भास रचित कोई 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक या उसका ही संक्षिप्त संस्करण 'चारुदत्त' नाटक है । दूसरे आलोचक कहते हैं कि 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' दोनों ही भास की रचनाएँ हैं । यदि इन मतो को सत्य माना जाता है तो 'चारुदत्त' नाटक 'मृच्छकटिक' की कथा का स्रोत नहीं होसकता । तब इसकी कथा का स्रोत क्या होगा ? यद्यपि सोमदेव के 'कय्यासरित्सागर' में 'रूपणिना' और एक निर्धन ब्राह्मण के प्रणय की कथा है तथा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में एक ब्राह्मण के साथ 'रागमञ्जरी' के प्रेम का वर्णन किया गया है तथापि इनको तो मृच्छकटिक की कथा का मूल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सोमदेव का समय एकादश शतक है तथा दण्डी का सप्तम शतक । मृच्छकटिक इन दोनों से अवश्य प्राचीन है । फिर वे ग्रन्थ मृच्छकटिक कथा के आधार कैसे हो सकते हैं ? हाँ यदि यह माना जाये की सोमदेव का कय्यासरित् सागर गुणादय ही बृहत्कथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है तो मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत बृहत्कथा को ही माना जा सकता है अथवा 'बृहत्कथा' की कहानियों के समान ही कुछ लोक कथायें भी प्रचलित रही होगी । वे लोककथायें ही मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलस्रोत मानी जा सकती हैं । राज्य-विप्लव वाले कथाएँ का मूल स्रोत भी बृहत्कथा में ही माना जाता है ।

समालोचको का कथन है कि चारुदत्त नाटक को मृच्छकटिक के चार अङ्कों का सारभूत नाटक नहीं कहा जा सकता । दोनों की भाषा तथा शैली का अनुशीलन करने से यह स्पष्टतया विदित होता है कि 'चारुदत्त, नाटक ही प्राचीन है । मृच्छकटिक में सर्वत्र ही 'चारुदत्त' की अपेक्षा परिष्कृत भाषा है, उदात्त भावनायें हैं और विकसित विचार हैं । मृच्छकटिक की प्राकृत भी चारुदत्त की प्राकृत की अपेक्षा अर्वाचीन है । यदि चारुदत्त नाटक मृच्छकटिक के आधार पर रचा गया होता तो इसकी कहानी पूर्ण हुई होती । यह कथन भी मुक्तिपूर्ण नहीं कि दोनों के रचयिता भास ही हैं । भास ने एक ही कथावस्तु को लेकर दो नाटक क्यों रचे ? एक को अधूरा ही क्यों छोड़ दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर मिलना कठिन ही है । चारुदत्त और मृच्छकटिक दोनों कृतियों का आधार 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक ही रहा होगा । इस कल्पना में भी कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता । अतः यही मुक्तिगत है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक से प्राचीन है और यही मृच्छकटिक की कथा का आधार है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक ने 'चारुदत्त' नाटक की कथा को अपूर्ण प्रायः और उसने इसको पूर्ण करने के लिये इसमें ६ अङ्क और जोड़ दिये । अपनी कृति

1. I need only assert here my view that Charudatta is abridged from the first four acts of the Mrcchakatika, with a few additions and numerous alteration particularly in the verse portions.  
'सी० आर० देवधर, चारुदत्त Introduction, १० ५

को रोचक एवं शाह्य बनाने के लिये मूलकथा में भी यत्र तत्र परिवर्तन किये, भाषा को परिष्कृत एवं अलङ्कृत किया। शूद्रक ने भास की छाती शंती के स्थान पर अपेक्षाकृत आकर्षक एवं परिष्कृत अभिव्यञ्जना शंती का प्रयोग किया। मृच्छकटिक के अनेक स्थलों में यह बात स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

### चारदत्त

### मृच्छकटिक

- |   |  |
|---|--|
| १. स्वरात्तरेण दशा हि व्याहृतुं तन्न<br>मुच्यताम् । | वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनेपुण्यमा-<br>श्रिता । |
| २. उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव ।                   | उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणार्थयस्या ।           |
| ३. शनसहस्रमूल्या                                    | चतु.ममुद्रसारभूता ।                          |

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक ने भास के शब्दों में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की है उनके भाव को अधिक मार्मिक बना दिया है। यही नहीं शूद्रक ने कथा में भी अनेक नवीन उद्भावनायें की हैं।

(ग) मूल कथानक में नवीन उद्भावनायें और उनका नाटकीय प्रभाव—  
'चारदत्त' के कथानक को अधिक रोचक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये शूद्रक ने उसमें कविपय परिवर्तन किये हैं। साथ ही कुछ नवीन कल्पनायें भी की हैं—(१) 'चारदत्त' नाटक में यह नहीं दिखाया गया कि विद्रूपक किस कारण से 'चारदत्त' के घर जाता है, किन्तु मृच्छकटिक में बतलाया गया है कि वह जूंपबूढ़ के दिये हुए शास को लेकर जाता है। (२) 'चारदत्त' में बसन्तसेना विद्रूपक के साथ घर लौटती है किन्तु मृच्छकटिक में 'चारदत्त' भी बसन्तसेना के साथ जाता है। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में दूत का विवाद वर्णन है वह 'चारदत्त' में उपलब्ध नहीं होता। इससे शूद्रक की मौलिक प्रतिभा तथा बहुज्ञता प्रकट होती है तब रोचकता बढ़ जाती है। (४) 'चारदत्त' में—विद्रूपक के रत्नावली अपित करने के पश्चात् सज्जलक बसन्तसेना के यहाँ जाता है किन्तु मृच्छकटिक में पहले सबलक जाता है, मदनिका विदा हो जाती है और तब विद्रूपक रत्नावली को लेकर पहुँचता है। इससे 'चारदत्त' की उदारता का बसन्तसेना के हृदय पर गहन प्रभाव पड़ता है और वह उत्काल ही अभिसरण के लिये उद्यत हो जाती है। (५) 'चारदत्त' में बसन्तसेना के धवन का वर्णन केवल चार पंक्तियों में किया गया है किन्तु 'मृच्छकटिक' में इसका अत्यन्त विवाद एवं रोचक वर्णन किया गया है। (६) आर्यक और पालक की कथा तो शूद्रक की निरान्त नवीन एवं मौलिक कल्पना है। 'चारदत्त' में इसका संकेत भी नहीं मिलता। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में ही इसका उल्लेख किया गया है तथा इसका पूर्णतया वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त शूद्रक ने कथावस्तु में कुछ अन्य भी छोटे-छोटे परिवर्तन किये हैं। शंती और नाटकीय रचना-विधान में भी नवीनता दिखाई है। उदाहरणार्थ 'चारदत्त' में मूत्रधार केवल प्राहुत भाषा में बोलता है; किन्तु मृच्छकटिक में वह सज्जल में बोलना आरम्भ करता है और कार्यवधात् प्राहुत में बोलने लगता है।

परिवर्तनों का नाटकीय प्रभाव—इन सभी परिवर्तनों में मूल कथा को प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। इनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक में एक मौलिक कवि-प्रतिभा थी और उसकी निरोक्षण शक्ति सूक्ष्म थी तथा वह नाट्य-कला का समझ था। चारुदत्त के वसन्तसेना के पर जाने की घटना से चारुदत्त के प्रेम की गहनता प्रकट होती है, यद्यपि रङ्गमञ्च पर इतनी लम्बी यात्रा का प्रदर्शन कठिन अवधि है। शूद्रक का विशद वर्णन तथा वसन्तसेना के भवन का वर्णन सहृदय जनो के हृदय में कीतूहल उत्पन्न करता है और एक हास्य मिश्रित चमत्कार की अनुभूति कराता है। शकिलक के गमन के अनन्तर विदूषक के आगमन का वर्णन करने से वसन्तसेना के अनुराग को भी पोषण मिलता है अन्यथा मदकिका की विदाई की घटना का ही प्रभाव हृदय पर बना रहता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है—यद्यपि शूद्रक ने मौलिक कथावस्तु का निर्माण नहीं किया तथापि उसने 'चारुदत्त' के आधार पर एक अनूठी कथावस्तु की रचना कर डाली। उसकी विशेषता यही है कि उसने एक अपूरी कथा से बंधे रहकर भी उसने उचित घटनाओं का समावेश किया तथा उसे स्वाभाविक गति प्रदान की। यही उसका रचना कौशल है, इसी अंश में उसकी मौलिकता है। अन्ति ६ अङ्को की कथा तो शूद्रक की निजी उद्भावना ही है। इससे शूद्रक की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इससे प्रकट होता है कि शूद्रक में मौलिक कथावस्तु के निर्माण ही अनूठी प्रतिभा थी। यदि शूद्रक ने कोई स्वतन्त्र रचना की होती तो उसे अनूठी सफलता प्राप्त होती इसमें सन्देह नहीं। अब भी शूद्रक का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। उसका मृच्छकटिक साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से चारुदत्त से बड़ी बढकर है। डॉ० कीप का कथन है (The value of the play (चारुदत्त) must seem less to us than completed and elaborated in the Mrochlatika

(घ) मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान तथा समय—मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान उज्जयिनी नगरी है, किन्तु इन घटनाओं का आरम्भ किस दिन हुआ यह नाटक में स्पष्ट नहीं बतलाया गया। इसका निर्धारण करने के लिये हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। प्रथम अङ्क में शकलक कहता है 'एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानाव् प्रभृति' इत्यादि इससे प्रकट होता है कि कामदेव के उत्सव के पश्चात् ही इस नाटक की घटनाओं का समय है। कामदेव का उत्सव बहो होना चाहिये, जो कि 'वसन्तोत्सव' या 'मदनोत्सव' नाम से प्रसिद्ध है और रत्नावली नाटिका इत्यादि में जिसका उल्लेख किया गया है। यह उत्सव वसन्त ऋतु के आगमन के समय भाषशुक्ला ५ [वसन्तपञ्चमी] को मनाया जाता है। इससे पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का समय है। कितने समय पश्चात्? यह निर्धारित करने के लिये भी मृच्छकटिक में कुछ वर्णनों का सहारा लेना आवश्यक है। प्रथम अङ्क में 'सिद्धीकृत-देवकार्यस्य' (पृ० १४) के स्थान पर 'पञ्चीकृतकृतदेवकार्यस्य' भी पाठ मिलता है।

उससे विदित होता है कि जिस दिन वसन्तमेना प्रथम बार चारदत्त के घर गई वह 'पट्टी' रही होगी। किन्तु वह माप शुक्ला पट्टी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो अनुराग के परिपाक के लिये कुछ समय अपेक्षित है अतः वसन्तपञ्चमी से अग्रिम दिन ही यह नहीं हो सकता। प्रथम अष्टु की कथा से यह प्रतीत होना है कि उस समय वसन्तसेना चारदत्त में भली-भाँति अनुरक्त थी। दूसरे जब चारदत्त वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाता है तब वह चन्द्रोदय का वर्णन करता है— कृत प्रदीपिकाभि.  
 "उदयति हि शशाङ्कः।" इत्यादि (पृ० ६४)। उस समय राजमार्ग घूम्य हो चुके थे, पर्याप्त रात्रि बीत चुकी थी लगभग १ बजे का समय होगा वह शुक्लपक्ष की पट्टी नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि वह माप से अग्रिम मास (फाल्गुण) में कृष्ण पक्ष की पट्टी रही होगी। यहाँ ध्यान यह है कि वसन्तपञ्चमी से १५ दिन पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का आरम्भ क्यों माना जाये, उँद मास या ढाई मास पश्चात् क्यों नहीं? उत्तर स्पष्ट है कि जब भृच्छकटिक की घटनाओं का आरम्भ हुआ तब वसन्त ऋतु भी प्रारम्भ नहीं हुई थी, क्योंकि (१) 'मास्ताभिलाषी प्रदोषसमपरीतातो रोहनेन।' इत्यादि में शीतकाल दिखनाया गया है (२) जब लगभग १५ दिन पश्चात् विदूषक वसन्तसेना के घर जाता है तब भी वह 'नयनिर्गम-कुमुमपल्लवः असोकवृक्ष (पृ० १२४) को देखता है और अशोक वृक्ष वसन्त में ही कुमुमिन होता है। (३) वसन्तसेना जानी पुष्पो से सुवासित शाल को देखकर भावचर्य करती है, कारण यह है कि वसन्त ऋतु में जाती पुष्पो का प्रायः अभाव ही होता है— 'न स्याज्जाती वसन्ते।' (सा० ८० ० २५) इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि नाटक की घटना फाल्गुन कृष्ण पट्टी को आरम्भ हुई है। समस्त घटनाओं का स्थान तथा समय निम्न प्रकार रहा होगा—

अष्टु १—घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारदत्त का घर है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इनका समय फाल्गुन कृष्ण पट्टी है। प्रदोषकाल के अग्रकार (एतस्या प्रदोषवेताया पृ० २२ तथा लिम्पतीव तमोऽङ्गानि पृ० ६६) में लगभग ८ बजे से इस अष्टु की घटनाएँ आरम्भ होती हैं तथा वसन्तसेना के घर लौटने पर समाप्त होती हैं। यह समय चन्द्रोदय का (लगभग) ११ बजे रहा होगा।

अष्टु २—द्वितीय अष्टु की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा वसन्तसेना का घर है। सम्भवन इनका समय प्रथम अष्टु का दूसरा दिन है, क्योंकि वहाँ जातीपुष्प वासित शाल चारदत्त द्वारा कर्णपूरक को दिया जाता है और वह तभी तक सुगन्ध युक्त है। ये घटनाएँ प्रातःकाल आरम्भ होती हैं, जबकि वसन्तसेना स्नान करने को है। (स्नाना भूत्वा देवनाया पूजा निर्वर्ण्य पृ० ६६)। तत्राहक का जाना, मिथु रूप धारण करना तथा कर्णपूरक द्वारा हाथों से उसकी रक्षा किण्व जाना आदि कार्यों के लिये ४ घण्टे के लगभग समय चाहिये, अतः इस अष्टु की घटनाओं का समाप्ति काल लगभग मध्याह्न १२ बजे तक होगा।



अङ्क ३—तृतीय अङ्क की घटनाओं का स्थान चारुदत्त का घर है। ये प्रथम अङ्क की घटनाओं से लगभग १५ दिन बाद की हैं। जब चारुदत्त संगीत सुनकर मोटता है तो उस समय अर्ध रात्रि स्थित हो रही है। (अतिक्रमति अर्धरात्रिं पृ० १०६) इसी समय चन्द्रमा अस्त हो रहा है (अस्त ब्रजस्युन्नतकोटिरिन्दु पृ० ११०)। अर्ध रात्रि के पश्चात् चन्द्र के अस्त होने से प्रकट होता है कि सुबह पक्ष की अष्टमी होनी चाहिये। लगभग रात्रि के १ बजे से इस अङ्क की घटनाएँ आरम्भ होती हैं और प्रातः काल तक चलती रहती हैं, जबकि चारुदत्त वर्धमानक से सँघ बन्द करने को कहता है।

अङ्क ४—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान बसन्तसेना का घर है। बोरी की रात्रि के दूसरे दिन (अर्थात् फाल्गुन शुक्ला नवमी) की ही ये घटनाएँ प्रतीत होती हैं। पूर्वाह्न में (लगभग ८ बजे) शबलिक अदतिका को मुक्त कराने के लिये बसन्तसेना के घर आता है। इसकी विदाई के पश्चात् विदूषक आता है। इन कार्यों के लिये २ से ४ घण्टे तक का समय चाहिये। विदूषक के मौते समय बसन्तसेना प्रदोष बेला में चारुदत्त के यहाँ जाने की बात कहती है (अहमपि पदोमे आर्यं प्रेषितुमागच्छामि' पृ० १८६)।

अङ्क ५—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारुदत्त का घर है। पतुर्ण अङ्क के दिन ही प्रदोष बेला में ये घटनाएँ आरम्भ होती हैं और प्रायः अर्ध रात्रि तक इनका समय है।

अङ्क ६—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग है। पञ्चम अङ्क की रूपा कि दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) प्रभात में ही यज्ञतसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को उद्यत है। प्रसहगविपर्यय, वीरक-चन्दनक का कस्तुर तथा आर्यक के पलायन आदि के पश्चात् उद्यान तक पहुँचने के लिये लगभग तीन घण्टे चाहिये अतः इनका समय लगभग १० बजे तक हो सकता है।

अङ्क ७—इस अङ्क की घटना का स्थान पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटनाओं के अनन्तर ही चारुदत्त की गाड़ी आर्यक को लेकर चारुदत्त के पास पहुँच जाती है। इसके लिये अधिक से अधिक एक घण्टा पर्याप्त है, अतः लगभग दिन के ११ बजे तक इसका समय होना चाहिये।

अङ्क ८—इसकी घटनाओं का स्थान भी पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटना के अनन्तर ही चारुदत्त उद्यान से चला जाता है और भिक्षु उद्यान में प्रवेश करता है। अतः घटनाएँ उसी दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) की हैं। इतना आरम्भ मध्याह्न में होता है (नभोमध्यगतः सूर्य पृ० २८६) गाड़ी का आना बसन्तसेना मोटन तथा उसका पुनरुज्जीवन इत्यादि घटनाओं के लिये लगभग ४ घण्टे आवश्यक हैं अतः ये घटनाएँ लगभग अपराह्न चार बजे तक की हो सकती हैं।

अङ्क ९—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान न्यायालय है। ये घटनाएँ अष्टम अङ्क की घटनाओं के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला एकादशी) की हैं, क्योंकि वीरक

कहता है—'अनुमोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे' (पृ० ३६२) । किंतु मिश्रक के कथन से इस बात का समर्थन नहीं होता । उससे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसी दिन की ये घटनाएँ हों । प्रायः पूर्वाह्न में लगभग ८ बजे व्यवहार-श्रवण का कार्य आरम्भ होता है । निर्णय में लगभग दो घण्टे का समय लगना चाहिये अतः १०, ११ बजे तक इन घटनाओं का समय है ।

अङ्क १०—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग, बधस्थान तथा राज-प्रासाद के दक्षिण की भूमि (धूँत के अग्नि प्रवेश का दृश्य) है । नवम अङ्क की घटनाओं के दिन ही ये घटनाएँ घटित हुई हैं । चाण्डाल को मृत्युदण्ड सुनाया जाता है और उसे चाण्डालों को सौंन दिया जाता है—यह नवम अङ्क की घटना है । इसके कुछ समय के पश्चात् चाण्डाल चण्डाल को लेकर बधस्थान की ओर जाते हैं । सम्भवतः दिन के बारह बजे से चार बजे तक की ये घटनाएँ हैं क्योंकि इनके लिये लगभग चार घण्टे का समय चाहिये ।

(६) मृच्छकटिक की कथावस्तु का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन—

रूपक प्रबन्ध में वस्तु या इतिवृत्त दो प्रकार का हुआ करता है—(१) आधिकारिक (२) प्रासङ्गिक । अधिकारी का अभिप्राय है—फल का स्वामी होना । जिसे फलप्राप्ति होती है वह अधिकारी है । उस अधिकारी (प्रधान नायक) से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है । आधिकारिक इतिवृत्त की सहायक वस्तु प्रासङ्गिक कहलाती है । मृच्छकटिक में चाण्डाल और वसन्तमेना के प्रेम की कथा आधिकारिक (मुख्य) है तथा राजा पालक और कार्यक की कथा प्रासङ्गिक है । प्रासङ्गिक कथा दो प्रकार की होती है—पताका और प्रकरी । जो प्रासङ्गिक वृत्त मुख्य कथा के साथ दूर तक चलता रहता है (व्यापक) उसे पताका कहते हैं तथा जो प्रासङ्गिक वृत्त छोटा होना है उसे प्रकरी कहते हैं । इनके साथ मुख्य कथा के विकास के लिये तीन तत्त्व आवश्यक हैं—बीज, बिन्दु और कार्य इन तीनों को नाट्यशास्त्र में 'अद्यप्रवृत्ति' कहा जाता है । इनमें से बीज, बिन्दु और कार्य प्रत्येक रूपक प्रबन्ध में अनिवार्य हैं किन्तु पताका और प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है ।

कार्य का हेतु जो वृत्त अत्यन्त अल्पमात्रा में कहा जाता है तथा अनेक प्रकार में विकसित हुआ करता है वह 'बीज' कहलाता है । मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में शकार की इस उक्ति—'एषा गर्भदासां कामदेवायतनात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारदत्तस्य अनुरक्ता' से वसन्तमेना का चाण्डाल के प्रति अनुराग प्रकट होता है । यही इस प्रकार की कथावस्तु का 'बीज' है । किसी अन्तर घटना के द्वारा विच्छिन्न होती हुई कथा को जोड़ने वाला वृत्त 'बिन्दु' कहलाता है । मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में

१. साहित्यदर्पण, ६.४२-४४ ।

२. व्यापि प्रासङ्गिक वृत्तं पताकेत्याभिधायते । वही ६, ६७ ।

३. प्रासङ्गिकं प्रदेगस्यं चरित प्रकरी मता । वही ६, ६८

४. परी, ६, ६१-६६ ।

घृतकरो से वषण से मूलवषा विच्छिन्न होने लगती है, विन्दु कर्णपूरक से चारुदत्त का प्रावारक पाकर वसन्तसेना प्रसन्न होती है और मूलवषा का साता जुड़ जाता है। यहाँ कर्णपूरक सम्बन्धी घटना विन्दु है। वषा का अन्तिम उद्देश्य, जिसकी प्राप्ति होते ही ममस्त प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं वार्य महलाता है। चारुदत्त का वसन्तसेना की रूढ़ि रूप में स्वीकार करना मृच्छवटिक की कथावस्तु का 'वार्य' है। शशिक का घृत मूलवषा के साथ बहुत दूर तक चलता है अतः यह मूलवषा की पताका है और भिक्षु का वृत्तान्त तथा चन्दन का वृत्तान्त मूलकथा की प्रती कहा जा सकता है।

विकास की दृष्टि से वार्य की पांच अवस्थाएँ होती हैं—(१) आरम्भ—जिस में मुख्यफल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता दिखलाई जाती है। प्रथम अङ्क में आरम्भ में 'जातीकुमुदामित प्रावारक'—मन्दभागिनी खल्वह तवाम्बन्तरथ' (पृ० ५६) इत्यादि से वसन्तसेना की उत्सुकता प्रकट होती है तथा—प्रतिज्ञा एहमित प्रयोगमाना न चलति भाग्यवृत्ता दशागवेश्य इत्यादि में चारुदत्त का भीमुख्य प्रकट होता है। अतः यहाँ कार्य की आरम्भावस्था है (२) प्रयत्न—फल की प्राप्ति के लिये जो की प्रतीक उपाय किए जाते हैं यह प्रयत्नावस्था कहलाती है। मृच्छवटिक में—असञ्चार न्यास से लेकर मध्यम अङ्क के अन्त तक प्रयत्नावस्था है। (३) प्राप्त्यागत—उपाय और विद्या की आज्ञा प्राप्त होते होते जब फल प्राप्ति की सम्भावना ही जाती है वह प्राप्त्यागत अवस्था है। यहाँ पाठ अङ्क से लेकर दशम अङ्क में वसन्तसेना की उपा—आर्वा एषा अहं मन्दभागिनी यस्या वारणादेव न्यावाचते'। (पृ० ४१६) उक्ति पर्यन्त प्राप्त्यागत नामक कार्यावस्था है। इसमें फलप्राप्ति के प्रति आशा और निराशा बनी रहती है। (४) नियताप्ति—विषयों के दूर हो जाने पर जब फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है वह 'नियताप्ति' कहलाती है। दशम अङ्क में—वा पुनस्त्वरितमेयासगता चिबुरभारेण' (पृ० ४१८) वाण्डाल की इस उक्ति से वसन्तसेना के भाग्यमान की सूचना मिलती है तथा चारुदत्त की प्राणरक्षा होती है। फिर वालक के मारे जान पर शकार भी कारण में आ जाता है और चापदरा धूत को अग्नि में बूढ़ने से बचा लेता है। इस प्रकार ममस्त विषय दूर होकर फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है। (५) फलगत—कार्य की वह अवस्था है जहाँ समय फल की प्राप्ति हो जाती है। जब शशिक यह घोषणा करता है कि राजा आर्यक वसन्तसेना की रूढ़ि पर से गुणोभित करने है यही फलगत की अवस्था है।

उपर्युक्त अवस्थाओं तथा कार्यावस्थाओं के योग से नारदीय द्वादश के ५ भाग हो जाते हैं जिन्हें पाँच रत्न कहा जाता है। एक प्रयोजन से अन्वित कथाओं का किसी एक अवन्तर प्रयोजन से सम्बन्ध (मेल) होना सन्धि कहलाता है। ये सन्धियाँ पाँच हैं (१) मुख्य, (२) प्रतिमुख्य, (३) गर्भ, (४) विमर्श (५) उपसंहार या निर्वहण'। (१) मुख्यसन्धि—बीज (अर्थप्रकृति) और आरम्भ (कार्यावस्था) के

संयोग का नाम मूत्रमन्थि है वहाँ बीज नाना रसों की अभिव्यञ्जना महित उदित होना है। मूत्रकटिक के प्रथम अङ्क में 'चतुरो मधुरश्चादमृपन्दासः' (पृ० ६२) वनस्पतेना के इन मूल्य कथन पर्यन्त मूत्रमन्थि है। (२) प्रतिमूत्रमन्थि—जहाँ बीज का उद्भेद इस रूप में होता है कि वह कहीं लज्जि होता है वही नहीं वह प्रतिमूत्र मन्थि है अर्थात् 'बन्धु और प्रसून के संयोग से प्रतिमूत्र मन्थि होती है। प्रथम अङ्क में 'पठेवनह्नापेम्पानुगह्या' (पृ० ३२) वनस्पतेना को इस उक्ति में लेकर पञ्चम अङ्क के अंत तक प्रतिमूत्र मन्थि है। (४) गर्भमन्थि—दिखाई देकर नष्ट हो जाने वाले बीज का बाग बाग अन्वेषण मन्थि मन्थि है। यह पलाका और प्राण्यगाता के संयोग में होती है, किन्तु पलाका का होना अनिवार्य नहीं है प्राण्यगाता तो होनी ही है। षष्ठ अङ्क में आरम्भ में दशम अङ्क में चाण्डान के हाथ में खड़ा छूट जाने के पश्चात् वनस्पतेना के 'आमं एषा अह मन्धभालिनी' इत्यादि कथन तक मन्थि मन्थि है। (४) विभर्गमन्थि—इसे अवनर्गमन्थि भी कहा गया है। इस मन्थि में गर्भमन्थि की संज्ञा बीज अधिक विकसित हो जाना है और माथ ही शाश आदि के युग विद्य-पुत्र भी दिखावाई देना है इसमें प्रकृति नामक अपंगकृति और 'निपतापि' (कार्पा-कम्पा) का योग होता है; किन्तु प्रकृति का होना अनिवार्य नहीं है। दशम अङ्क में 'वर्णिं का पुनयेयां' इत्यादि चाण्डान की उक्ति में लेकर 'आम्बर्'। पुनरुज्जी-विनोम्नि'—प्रकार की इस उक्ति तक विनर्गमन्थि है। (५) निर्वहण मन्थि—इस में इधर-उधर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रधान फल में संग्रहण कर दिया जाता है। 'कार्प' (अपंगकृति) और पलाक के मिलन का ही नाम निर्वहण मन्थि है। दशम अङ्क में 'नेरुये कनकच' में अन्त तक निर्वहण मन्थि है।

नाट्य मन्थि इन्हीं में इन पाँच मन्थियों के ६४ भेद विद्यमाने गये हैं, जिन्हें मन्थयुक्त कहते हैं। उनका विषय विवेचन साहित्यदर्पण तथा दशरूपक इत्यादि ग्रन्थों में किया गया है।

(ब) मूत्रकटिक की कथावस्तु की अन्य विशेषताएँ मूत्रकटिक की कथा-वस्तु पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुकर प्रतीत होती है। पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार नाटक की कथा के विकास के पाँच मोड़ान होने हैं—आरम्भ, आरोह, वेन्द्र, अवरोह तथा परिणाम। पाश्चात्य कथा-विकास के ये मोड़ान मूत्रकटिक के कथानक में भी देने जा सकते हैं।

संयोग में यह कहा जा सकता है कि मूत्रकटिक का कथानक घटनाओं के घन-प्रतिबन्ध में परिपूर्ण है। इसमें रोचकता है, प्रवाह है, स्यान्पकता है। कवि ने घटनाओं की स्वाभाविकता का ध्यान रखा है और प्रायः अनावश्यक विस्तार नहीं किया है। केवल दो स्थानों पर ही वर्णन विस्तार दृष्टिगोचर होता है। एक तो वनस्पतेना के प्रकोष्ठों के वर्णन में और दूसरे वनस्पतेना के अधिमरण के समय वर्णन में। ये वर्णन काव्य-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं किन्तु कथानक की सजीवता में बाधक हैं ही। फिर भी कथावस्तु सुसम्बद्ध और सुगठित है। इन्द्र ने वनस्पतेना और चारदल के प्रेम की कथा में आरम्भ की गतिबिंदी

कथा का सुन्दर सामञ्जस्य किया है। ऐसा सामञ्जस्य कि दोनों कथाओं की पिढता का आभास भी नहीं होता। इस प्रकार मृच्छकटिक की वस्तुयोजना नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम है, इसमें सन्देह नहीं।

### १ मृच्छकटिक के कथोपकथन या सवाद—

रूपक की कथा का विकास कथोपकथन तथा अभिनय व्यापार के द्वारा हुआ करता है। यहाँ कथोपकथन या सवाद के द्वारा ही पात्रों के चरित्र का परिचय मिलता है अतः रूपक में कथोपकथन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय नाट्यसंशोधकों के अनुसार कथान्तु में ही इसका समावेश हुआ है। दशरूपक के अनुसार नाट्यधर्म अर्थात् रङ्गमञ्च की दृष्टि से नाट्यवस्तु के तीन भेद हैं—

साध्याभ्य—जो वस्तु रङ्गमञ्च पर स्थित पात्रों तथा रङ्गस्थानों में स्थित सामाजिकी सभी को सुनाने के योग्य होती है। (२) अध्याभ्य—जो बात किसी की भी सुनाने योग्य नहीं होती, जिसे 'आत्मगतम्' या 'स्वगतम्' कहते हैं। (३) नियम आभ्य—इसके दो भेद होते हैं—(क) जनात्मिक और (ख) अपवारित। दर्शकों के बीच में ही 'त्रिपताक' हस्तमुद्रा द्वारा अन्य पात्रों की बजाकर जब दो पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं तो उसे 'जनात्मिक' कहते हैं। जब कोई पात्र पीठ पीछे कर किसी अन्य पात्र का रहस्य प्रकट करता है तो उसे अपवारित (अपवार्य) कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद भी, होता है जिसे आकाशमाधित कहा जाता है। जब कोई पात्र दूसरे पात्र के बिना ही 'बया कहा' इत्यादि बहता हुआ प्रश्नोत्तर करता है, उसे आकाशमाधित कहते हैं।

संक्षेप में ये पाँच प्रकार के सवाद होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने इनका नाट्योक्ति नाम से उल्लेख किया है। मृच्छकटिक प्रकरण में प्रायः इन सभी प्रकार के सवादों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

मृच्छकटिक में सवाद उत्तम ढंग से सवाद है। कुछ स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ही सक्षिप्त है। इनमें स्वाभाविकता है तथा लोकभाषा का माधुर्य है। इन सवादों में अनेक सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। ये सवाद पात्रों की स्थिति के सर्वथा अनुकूल हैं, उनमें स्वभाव एवं चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं। प्रायः सभी सवाद व्यापारहारिक एवं विषयसंगत हैं। इन सवादों में प्रयुक्त श्लोक भी अनेक स्थलों पर काव्यत्व की दृष्टि से उच्चनोटि के हैं।

१ जब हाथ की सब अंगुनियाँ ऊपर उठी हो और जनात्मिका झुकी हो तो यह हस्तमुद्रा 'त्रिपताक' कहलाती है। सा० ८०, ६, १४०।

२ साहित्यदर्पण ६, १३७-१४०।

१. मृच्छकटिक में वर्णित देश की अवस्था—

मृच्छकटिक की कथावस्तु लौकिक है, यथार्थ जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के मध्यम वर्ग का चित्रण है और प्रसङ्गवश निम्नवर्ग एवं धूर्तवर्ग का भी वर्णन किया गया है। इसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। उसकी राजनैतिक दशा और सामाजिक अवस्था का वर्णन मिलता है और उसके धार्मिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है।

राजनैतिक अवस्था—उस समय राजनैतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। राजा स्वैच्छाचारी होता था। यह बिलासी होता था तथा राजमहिषियों के अतिरिक्त रक्षेणियों भी रखता था। राजा पालक के यहाँ इसी प्रकार की रखेली शकार की बहन थी। राजा के शकार जैसे निकृष्ट सम्बन्धी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। राज्य में धूर्तों का बोलबाला था, अनेक प्रकार की अव्यवस्था फैली हुई थी। शांति और व्यवस्था न थी। राजा के आरम्भ में ही सम्भ्रान्त नारियों का राजमागों पर निकलना कठिन था। अनेक प्रकार के धूर्त, बिट, चोर तथा बेव्याएँ राजमागों पर घूमते थे (एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमागो भणिका विटारबेटा राजमत्स्यभाश्च पुरुषा संघटित्)। राजा के पदाधिकारी एवं कर्मचारी अपने कर्तव्य पालन में परस्पर ईर्ष्या का भाव रखते थे। शूरक और चन्दनक का विवाद इसका साक्षी है।

राजा के अत्याचारों के प्रति जनता में शोक उत्पन्न हो जाता था। उन अत्याचारों का विरोध किया जाता था। इस विरोध की भावना के कारण ही चन्दनक ने 'आर्यक' को जाने दिया और राजा के विद्वद् विद्रोह में सम्मिलित हो गया। इसी भावना के कारण 'बिट' शकार से पृथक् हो गया और स्थावरक अट्टालिका से कूदकर श्री चादत्त के वधस्थान पर पहुँच गया। यही भावना सपठित हो जाने पर पद्म्यन्त्र का रूप धारण कर लेती थी। शासन-प्रबन्ध के सिधिल होने के कारण कोई पद्म्यन्त्र सहज ही सकल हो सकता था। इन पद्म्यन्त्रों में चोर, जुआगी, विद्रोही राजकर्मचारी, असन्तुष्ट पदाधिकारी और राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित हो जाते थे "शावीन् विटान् स्वभुजबिक्रमलम्पवर्णान्" (४२६)। राजा को ऐसे पद्म्यन्त्रों का सदा भय रहता था और वह पद्म्यन्त्र के सन्देह में किसी भी व्यक्ति को कारागृह में डाल देता था। राजा पालक ने इसी सन्देह में आर्यक को कारागृह में बन्दी बनाया था।

उस समय राजा में ही शासनसत्ता निहित थी। पही न्याय-निर्णय का अन्तिम निश्चय करता था—निर्णये वयं प्रमाणम् शेषे तु राजा' (अरू. ६) तथा वही सेनाध्यक्ष होता था। उसकी सहायता के लिये मन्त्री, न्यायाधीश तथा एकाधिकारी और रसक होते थे। 'गुहक' (कर) इकट्ठा करने के लिए राजबुध्न नियुक्त होते थे (७.१)। इस प्रकार राज्य का कार्य विविध विभागों में बँटा था। मृच्छकटिक के नवम अरू. से उस समय की न्याय-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है। न्यायालय में एक न्यायाधीश होता था। उसकी सहायता के लिए एक श्रेष्ठी असेगर के रूप में होता था तथा

‘कायस्थ’ वेदपार के रूप में। न्यायालय की स्वच्छता, व्यवस्था, एवं व्यवहारियों को धुलाने आदि के लिए भी एक बर्माचारी नियुक्त था जिसे ‘शोष्णक’ कहते थे। न्यायाधीश निर्णय करने में स्वच्छ न था। उस पर राजा और उसके इपाभाजन जनों का आतङ्क था। सभी तो सरकार न्यायाधीशों को बुरी तरह घमसाता है। न्यायाधीशों को यह भय बना रहना था कि न जाने किस समय उन्हें इस पद से पृथक् कर दिया जाये। न्यायालय में सम्मान जनों को बैठने में लिये आसन दिया जाता था। न्यायाधीश सहानुभूति एवं क्षिप्तता से व्यवहार करते थे। वादी प्रतिवादी के बचन को ऐसबद्ध कर लिया जाता था और माझी का भी ध्यान रखता जाता था। न्याय मि शुन्क था और उसमें अधिक समय नहीं लगता था। मृत्युदण्ड जैसे गम्भीर दण्ड का भी हुरत निर्णय कर दिया जाता था। किन्तु न्यायाधीश के निर्णय की अन्तिम स्वीकृति राजा ही देता था। प्रायः न्याय-निर्णय मनुस्मृति के आधार पर किया जाता था, यों तो राजा का कथन ही सर्वोपरि विधान था। दण्ड बढोर थे, राजनैतिक दृष्टियों को बेझिंघी पहनाई जाती थी (मार्गक)। राजकुल में बोई हर्षोन्मव होने के समय अपराधियों को दण्ड-मुक्त कर दिया जाता था—“कदापि राजा पुत्रो भवति तेन दृष्टिमहोरमवेण सर्वबध्यानां मोक्षो भवति,” (श्रु० ४१०) अपराधियों को अपन अपराध स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता था। सख-भन म बनलाने पर उन्हें कौड़े लगवाये जाते थे (६३६) हत्या के अपराध में लिये मृत्युदण्ड दिया जाता था। मृत्युदण्ड देने के लिये अपराधी को चारपासों को मौप दिया जाता था। वे उसे रक्तचन्दन और कनिवर की मासा आदि से मजकर बध्दस्थल को ले जाते थे और तीन बार उसके अपराध तथा दण्ड की घोषणा करते थे। तब मूल पर चढ़ाकर, तलवार से तिर काटकर, कुत्तो में मुचवाकर या आरा से बीरकर उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। (अङ्क १०)।

सामाजिक दशा—उस समय समाज क्षिण-भिन्न-सा हो रहा था। जाति-व्यवस्था कठोर हो गयी थी। जन्म से जाति मानी जाती थी और जातिगत अधिमान भी उत्पन्न हो गया था। बीरक और चन्दक के विषय में हमे उसकी हालत मिलती है। सम्भवत बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण कभी कभी जाति की अपेक्षा मानव गुणों को भी बरीयता दी जाती थी, बाण्डार्यों की उक्ति में इसकी शानक मिलती है (१०, २२)। अपने ज्ञान और चरित्र के कारण ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। वे समाज के पूजनीय थे। विष्णुधन पर जाया और दमिण्या सेना भी ब्राह्मणों का कार्य हो गया था। शक्तिवक जैसे ब्राह्मण थोरी आदि दुर्गमों में भी पँत गये। कुछ ब्राह्मण व्यापार कार्य भी करने थे। चान्दस के पिता मृक सार्थवसथ थे। ब्राह्मणों को समाज में विशेष अधिकार तथा सम्मान प्राप्त था। ‘अर्थ हि पातकी विप्रो न बन्वो मनुस्मृती’ (१, ३६)। ब्राह्मण के मुवर्ण आदि को चुराना भी महापातक माना जाता था। उसे आगे स्पान दिया जाता था—‘यभीहितमिध्वं प्रहसन ब्राह्मणोऽपि वतंभः’

(पृ० ४३४) । वैश्य व्यापार में बड़े बड़े थे । कायस्थ के प्रति समाज में अच्छी भावना नहीं थी (कायस्थसर्वास्त्रियम्) । पंजी देने का कार्य चाण्डाल करते थे । वे समाज में निम्न कोटि के माने जाते थे । प्राहुत जनों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था । उस समय मित्र-भ्रम्र जानियां पृथक्-पृथक् मोहल्लों में बसने लगीं थीं और और जानियों के नाम पर मोहल्लों के नाम पढ़ने लगे थे—'स सलु अंष्टिषवरे वमति' । समाज में विवाह प्रथा थी । पुरुष कई विवाह कर सकते थे । असवर्ण स्त्री से भी विवाह करने का निषेध नहीं था । सभी तो चारुदत्त और शबिलक जैसे ब्राह्मणों ने वैश्याओं से विवाह किया था । रवेणी की प्रथा भी प्रचलित थी । स्त्रियों में सती होने की प्रथा प्रचलित थी (धूना) । सम्भवतः परदे की प्रथा नहीं थी; क्योंकि धूना बिना पर्दे के ही सबके सामने आती है । स्त्रियां सुवर्ण के आभूषण धारण करती थीं । नूपुर, हस्ताभरण, कण्ठी और चने की माला इत्यादि आभूषणों का प्रचलन था । पुष्पों से वेणी को सज्जित करने की भी प्रथा थी ।

मृच्छकटिक में वैश्याओं का विस्तृत वर्णन है । यद्यपि दशरूपक की टीका के अनुसार वैश्या और गणिका में भेद किया गया है,<sup>१</sup> तथापि यहाँ इनमें कोई भेद दृष्टि-गोचर नहीं होता । वसन्तसेना के लिये दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है । उस समय के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी वैश्याओं से सम्बन्ध रखते थे; जैसा कि चारुदत्त और वसन्तसेना के सम्बन्ध से प्रतीत होता है । हाँ, समाज की दृष्टि में यह अवश्य ही बुरा समझा जाता था । वही कारण है कि जब नवम अङ्क में न्यायाधीश चारुदत्त से पूछते हैं—'आर्य, गणिका तव मित्रम्', ? (पृ० ३५६) तो चारुदत्त लज्जित हो जाता है । अवश्य ही वैश्याओं को समाज में उन्नित समझा जाता था । अनुभवशील गणिकाएँ इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थीं और पवित्र बधु पद पाने के लिये प्रयत्न करती रहती थीं । वसन्तसेना और मदनिका इसके उदाहरण हैं । समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो वैश्याओं से विवाह करने का भी माहम करते थे । चारुदत्त और शबिलक ऐसे ही साहसी युवक थे ।

उस समय जुए की प्रथा भी थी । जुआरियों के अपने नियम थे, अपनी मण्डी थी । जिसके नियमों का पालन करना प्रत्येक जुआरी के लिये आवश्यक था । जुए का धन बंध माना जाता था और यदि कोई देय धन नहीं देता था तो न्यायालय द्वारा वह धन बगूल कराया जाता था—'रात्रिभुमं गत्वा निवेदयावः' (पृ० ६०) । उस समय मदिरापान की प्रथा थी और मदिरापान से । (आधानक-मध्यप्रविष्टस्येव) । उस समय दाम-प्रथा भी थी । सम्भवतः दाम खरीदे जाते थे और धन देकर उन्हें दासता से मुक्त कराया जा सकता था । 'मदनिका' इसी प्रकार की दासी थी जिसे शबिलक ने मुक्त

१. बेतो पृतिः, सोऽग्धा जीवनामिति वैश्या, तद्विरोधो यदिका । दशरूपकः



कराया था । राजा की आज्ञा से भी बची-बची दासों की मुक्ति कर दिया जल्गल । मृच्छकटिक के अन्त में स्यामरथ की इसी प्रकार दासता से मुक्ति बिया गया है ।

मृच्छकटिक के समय देश आर्षिक दृष्टि से ममृद्धिशाही था । यहाँ का व्यापार समुन्नत था । अहाजो से समुद्र पार तक व्यापार होता था (यानवाणिज्य) । पतल घनिकों के यहाँ सुवर्णराशि थी, अनेक प्रकार के सुवर्णभूषण थे । चाण्डल की पत्नी धृता की पत्नी समुद्रसगरभूता रत्नमाला और वसन्तमेना के रत्न तथा भाभूषण इतने स्पष्ट प्रमाण हैं, और सुवर्ण की (मेलने की) गाड़ी से यह बात धनी भाँति प्रकट होती है । ध्यापारी अपना पर्याप्त धन देश के विवास-वार्थ के लिये छात्र में दे देने से । चाण्डल से अनेक उपनगर, विहार, आराम, देवानय, सहाय और मृषो का निर्माण कराया था (पृ० ३७०) ; घनिकों का बहुत सा धन वेदशास्त्रों के यहाँ खला जाता था । पतल उस समय वैश्यायें अत्यन्त अल्पनामिका से थीं । उनकी सम्पत्ति कुशेर के समान थी और वे हाथी भी रखती थी (पशुपुं अङ्ग, वसन्तमेना-शुभ-वर्णन) । उस समय आजायमन के साधनों में बैलपाठी (प्रबहण) का विशेष प्रचलन था । चाण्डल और शकार अपने प्रबहण रखते थे । कभी कभी घोड़े का भी उपयोग किया जाता था । नक्षत्र अङ्क में श्यामापीठ योरव को घोड़े पर पुष्पकरथक उद्यान में जाने का आदेश देते हैं । धनी लोग हाथी भी रखते थे । वसन्तमेना के पास 'मुष्टमोहव' नाम का हाथी था । आने-जाने के लिये राजमार्ग थे, किन्तु राजमार्गों पर चलना भय से शाली नहीं था ; रात्रि में तो मार्गों से जाना अत्यन्त भयावह था ।

बसायें—'मृच्छकटिक' के समय बसायें समुन्नत अवस्था में थीं । मृच्छकटिक जैसे बड़े-बड़े नाटकों के अभिनय शोथ रङ्गशातायें उस समय रही होगी । इससे प्रतीत होता है कि तब नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था । समीत कला भी इसमें दशा में थी । चाण्डल वैभिल के यहाँ समीत मुनने के लिये गया था । उस समीत का शास्त्रीय वर्णन मृच्छकटिक में किया गया है (पृ० १०८, ११०) । वाद्यों में वीणा (पृ० १०८) का वर्णन किया गया है तथा बाँसुरी, दधुर, मृदङ्ग और पणव आदि का भी उल्लेख किया गया है । चित्रकला का भी उस समय प्रचार था । पशुपुं अङ्क में वसन्तमेना चाण्डल का चित्र मदनिका को दिखाताती है । मूर्तिकला का भी उल्लेख मिलता है—'बच काण्डश्री प्रतिमा "जीवीप्रतिमा" (पृ० ७४) । तथागत को भी बसा माना जाता था चौर्यकला का विस्तृत वर्णन मृच्छकटिक में उपलब्ध होता है (सुशील अङ्क) ।

धार्मिक मान्यतायें तथा विश्वास—उस समय देश में वैदिक धर्म ऊन्नत-वस्था में था । अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे (मत्तकतपरिप्लव—१०, १२) । प्राक्तिक विश्वायें अथवा में प्रचलित थीं । पूजा-नाट और बलि तथा तर्पण आदि

क्रियाओं का विशेष महत्व था। देवपूजा, बलि और तप में चारदत्त का अटल विश्वास देखलाई देता है (१, १६), वह उनकी पूजा करना अपना नित्य कर्तव्य समझता है। तागरिक जन भाति-भाति के दत्त उपवास आदि करते थे और ब्राह्मणों को दान देते थे। निम्न वर्ग के लोग भी धर्म-भोर थे जैसा कि स्यावरक, बिट आदि (अङ्क ६) के रूप से प्रतीत होता है। चाण्डालों की भी अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा थी। दशम अङ्क में चाण्डाल 'सह्यवासिनी' का स्मरण करता है। वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी जनता में प्रचार था, यद्यपि बौद्धधर्म ह्रासोन्मुख था। सांसारिक जीवन से विरक्त व्यक्ति बौद्ध भिक्षु हो जाते थे। भिक्षु प्रायः इन्द्रियसयमी और तपस्वी होते थे (पृ० ३३२); फिर भी समाज में उनका विशेष सम्मान न था। बौद्धभिक्षु का शान ही अराजकुन समझा जाता था—(अनाभ्युदयिक श्रमणकदर्शनम् (पृ० २७५)। कुछ भिक्षु सिर मुँडा कर भी सांसारिक वासनाओं से फँसे रहते थे, सम्भवतः ऐसे भिक्षुओं के प्रति ही कहा गया है—चित्तं न मुण्डितं किमप्यं मुण्डितम् (पृ० २७९)। इस समय बौद्ध भिक्षु विहारों में रहते थे। उन विहारों में कुछ भिक्षुणियाँ भी रहती थीं—'एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति'। (पृ० ३३२)। देश में उस समय अनेक विहार थे। उनका एक कुलपति होता था (सर्वविहारेषु कुलपतिः) (पृ० ४३८)। धार्मिक मान्यताओं के साथ अन्य भी अनेक प्रकार के विरवास प्रचलित थे। जैसे कुछ ग्रहों के योग को अनिष्ट समझा जाता था (६, ३३)। अनेक प्रकार के अराजकुनो का विचार किया जाता था (६, १०—१३)। इत्यादि।

#### ८. मृच्छकटिक के पात्र तथा चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यशास्त्र में 'नेता' (नायक) रूपक का एक तत्व माना गया है। उसके चार भेदों का वर्णन करके उसके सहायकों तथा प्रतिनायक का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'नायिका' का भी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आधुनिक नाट्य समीक्षा में नाटक के इस तत्व का 'पात्र' तथा चरित्र-चित्रण' के रूप में विवेचन किया जाता है। मृच्छकटिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रकरण है। इसकी कथावस्तु मध्यवर्ग के जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के सभी वर्गों के पात्र मिलते हैं। एक ओर सभ्य ब्राह्मण चारदत्त, राजा पालक और न्यायाधीश जैसे सम्मानित पात्र हैं, तो दूसरी ओर चोर, जुआरी, बिट, बेट और चाण्डाल भी। इसी प्रकार धूता जैसी पतिव्रता नारी का चित्रण है तो बेचरा और गणिकाओं का भी। इस प्रकरण का वातावरण राजसेवक पुलिस कर्मचारी, बेचरा, बिट-बेट, चोर जुआरी आदि से निर्मित हुआ है। इसके पात्र सजीवता की मूर्ति हैं। वे इसी तौर के जीते जागते प्राणी हैं। यहाँ अतिमानवीय पात्रों की कल्पना नहीं की गई, न आदर्शवादी दृष्टिकोण से पात्रों का चित्रण किया गया है। मृच्छकटिक के पात्र किसी वर्गविवेचन के प्रतिनिधि नहीं हैं, वे अपनी निजी विशेषताएँ रखते हैं। उदाहरणार्थ चारदत्त को सामान्य ब्राह्मण-श्रेणी नहीं कहा जा सकता और न ही बसन्तसेना सामान्य गणिका है। वे अपनी-अपनी स्थितिगत विशेषताएँ लेकर हमारे

सामने आते हैं। इस प्रकार खडिग, सबाहुक तथा बिट आदि में भी अपनी व्यक्तित्व विशेषताएँ हैं। सभी पात्रों के कार्य और व्यवहार अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार दिखलाये गये हैं। उनकी भाषा और विचार में भी अन्तर ही हास्य मिलती है। मृच्छकटिक की यह विशेषता सङ्घटन के अन्य नाटकों में नहीं मिलती। यही मुख्य पात्रों की पारित्रिक विशेषताओं पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

## चारदत्त

चारदत्त दत्त रूपक का नायक है। नाट्यशास्त्र के अनुसार द्विती रूपक का नायक विनयी, त्रियदर्शन, रयाणी, दत्त, त्रियभाषी, लोच-त्रिय, पवित्र, वाक्-पुत्राल, उषधवशोत्पन्न, स्थिर युवक तथा बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-बला और स्वाभिमान से युक्त, शूरवीर, दृढ़, ठेजस्वी, शास्त्रानुपुत्र वाच करने वाला और धार्मिक होना चाहिये।<sup>१</sup> यह नामक चार प्रकार का होता है—धीरोदात्त, धीरसत्तित, धीरप्रमान्त और धीरोद्धत्त।<sup>२</sup> इन चारों प्रकार के नायकों में से चारदत्त को धीरप्रमान्त नायक कहा जा सकता है। दशरूपक के अनुसार धीरप्रमान्त का लक्षण है—सागान्यगुण-युक्तस्तु धीरमान्तो द्विधादिक।<sup>३</sup> (२, ४)। चारदत्त में सामान्य नायक के साथ समस्त गुण विद्यमान हैं वह ब्राह्मण भी है।

चारदत्त उज्जयिनी का एक ब्राह्मण युवक है। उसका पूरज प्रतिष्ठ व्यापारी था जो यह पूर्वजों से अपार धन सम्पत्ति प्राप्त करता है। अपनी अतिशय उदारता और दानशीलता के कारण वह अपनी सभी सम्पत्ति निधना हो दे देता है और दरिद्र हो जाता है। इस अवस्था में भी अपने धन, दया, परीक्षण, उदारता और त्रियबादिता आदि गुणों के कारण नगर-वातियों का ध्यान भाजन बना हुआ है—दीनाना वत्स-वृक्ष इत्यादि (१, ४६)। यह त्रियदर्शन है—यस्तादृश त्रियदर्शन (पृ० ६०), अत्यन्त लीन-प्रिय है, श्यामापीन से लेकर चाण्डाल पर्यन्त तथा बिट-बेट सभी उससे प्रति आदर तथा स्नेह रखते हैं।

चारदत्त अत्यन्त उदार और दयालु है। जब कोई गलापनीय कार्य करता है या उसे कुछ समाचार सुनाता है तो चारदत्त उसे कुछ न कुछ पुरस्कार रूप में देना चाहता है। अपनी अतिशय उदारता व कारण ही यह खडिग के आभूषण चुराने पर भी प्रयत्नता का अनुभव करता है (पृ० १३२), कर्णपूरक को अपना दुहावा

१. नेता विनीतो मधुरस्वामी दत्त त्रियवद ।

दत्त-लोच शुचिर्वागी रुद्धम स्थिरो युवा ॥

बुद्ध-युत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-सामान-समन्वित ।

दूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचतुश्च धार्मिक ॥ (दशरूपक २, १०२)

२ इनके स्वरूप के लिए देखिये दशरूपक द्वितीय प्रकाश ।

पुरस्कार में दे देता है। इसी उदारता के कारण बसन्तसेना उसे प्रेम करती है। चारुदत्त सेवकों के प्रति भी दयालु है (३, २), इसी से सोई हुई रदनिका को जमाना नहीं चाहता—'अतं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्' (पृ० ११२)। पशुपतियों के प्रति भी उसकी 'करुणा' प्रकट होती है। अपनी उदारता के कारण ही वह दरिद्रता को मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक समझता है—'एतत्तु मां दहति यदृष्टहमस्मदीयं क्षीणार्प-मित्यतिथयः परिवर्जयन्ति' (१, १-२)।

चारुदत्त अपराधों के प्रति भी क्रोध नहीं करता और शरणागत की रक्षा करता है। जिस समय भकार उसे मरणान्तिक बँर की धमकी देता है तब वह 'अज्ञांशो' इतना माच कहुकर छोड़ देता है। जब वह चारुदत्त पर मिथ्याभियोग लगाता है तब भी चारुदत्त क्रुद्ध नहीं होता, विचलित नहीं होता। शरण में आये हुए मार्जक से कहुता है—'अपि प्राणानह जह्या न तु शरणागतम्' (पृ० २७०)। उसकी यह उदारता उस समय परमसीमा पर पहुँच जाती है जब वह शरणागत शकार को अन्नदान देकर क्षमा कर देता है।

चारुदत्त को अपनी प्रतिष्ठा और चरित्र की उज्वलता का ध्यान है। इसी कारण वह बसन्तसेना के आभूषण चोरी चले जाने पर मूर्च्छित हो जाता है और नाना प्रकार की बिन्ता व्यक्त करता है (२, ३४-२६)। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये ही वह बसन्तसेना की धरोहर को लौटाना आवश्यक समझता है और असत्य बात कहुकर बहुमूल्य रत्नमाला बदले में भेजता है। मृत्युरण्ड पाने पर भी उसे शय नहीं है, केवल दुःख है तो प्रतिष्ठा चले जाने का ही—'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूयितं माः' (१०, २७)।

यनिका ने प्रेम करते हुए भी चारुदत्त से नाश्रितिक दृष्टि है। वह अपनी पत्नी मृगा से प्रेम करता है और उसे पवित्र मानता हुआ उसका आदर करता है। वेष्मा के आभूषणों को भी अम्बन्तर प्रवेश के योग्य नहीं समझता (पृ० ११२)। वह परनाश पर दृष्टि भी नहीं डालना चाहता—'न मुक्तं परकलत्रदर्शनम्' (पृ० १८)। जब अन्नदान में अन्य स्त्री से उसके बरसों का स्पर्श हो जाता है तो वह खिन्न होकर कहुता है—'इममपरा कां अविज्ञातावसक्तेन दूयिता मम वाससा (पृ० १८) अपनी पतिव्रता स्त्री पर वह गर्व करता है और गार्हस्थ्य धर्म का पूर्णतया पालन करता है।

चारुदत्त कला-रम्य व्यक्ति है। वह रेख के संगीत की शान्त-लय तथा मूर्च्छना इत्यादि का विशेषण करते हुए सगहना करता है। शवितक की सगार्द मँद को देखकर भी उसकी कलात्मकता की प्रशंसा करता है।

वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है। सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्मों का नियम-पूर्वक अनुष्ठान करता है। मँरेव को भी देवजुवा का महत्त्व समझाता है (१, १६)। वह भ्रातृवादी भी है—'भाय्यक्रमेय हि धनानि भवन्ति यान्ति' (१, १३)। मार्जक से भी कहुता है—'स्वर्धार्प्यः परिश्रितोऽग्निं' (७, ७) तथा अन्त में भी विद्विः के

विधान की ही दुहाई देता है—काश्चिज्जुच्छयति...विधिः (१०, ६०) । साथ ही यह शकुन इत्यादि पर पूर्ण विश्वास रखता है (६. १०-१३) ।

संक्षेप में चाण्डल प्रियदर्शन, लोकप्रिय, उदार, दानी, दयानु, टट चरित्र वाला, कलाप्रिय और धार्मिक प्रकृति का नायक है । एक प्रकरण के नायक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं । उसका चरित्र-चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया गया है ।

## वसन्तसेना

मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें कुलस्त्री तथा गणिका दो नायिकाएँ हैं (द्वय कवचित्) । कुलस्त्री है-धृतरा और गणिका वसन्तसेना है । इनमें वसन्तसेना का चरित्र मुख्य रूप से चित्रित किया गया है । दशरूपक के अनुसार तीन प्रकार की नायिकाएँ होती हैं—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री (२, १५) । साधारण स्त्री को गणिका कहते हैं वह कला प्रकृतता और धूर्तता से युक्त होती है (६ २ २१) । प्रकरण इत्यादि रूपको में गणिका को अनुरक्ता ही दिसताया जाता है (रक्तैव त्वग्रह-सने, दश० २'२२) ।

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक संभवशांतिनी गणिका है । उसकी सृष्टि की देशकर विद्वपक कह उठता है—'कि तावद् गणिकाग्रहम् अथवा कुबेर-भवन-परिच्छेद इति' (पृ० १८२) । उसके पास जीवन का समस्त संभव है । कवि ने चतुर्थ अङ्क में उसके वैभव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । वह एक सुन्दरी तरुणी है और उज्जयिनी नगरी का मूषण है 'बाला रित्रय च नगरस्य विभूषण च (८, २३) । छाविता शरदक्षेण चन्द्रलेखेव दृश्यते (१.५४) विट के शब्दों में वह उदारता का स्रोत है, मीठय में रति है, मुमुक्षु वह अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाली है और सौजन्य की सारिता है (८, ३८) ।

वसन्तसेना उदार हृदय वाली नारी है । जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है । वह उसे ऋण-मुक्त कराने के लिये अपना सुवर्णभूषण भेजती है और कहता देती है कि संवाहक ने ही भेजा है (अङ्क २) । अपनी उदारता के कारण ही वह मदनिवा को दासता से मुक्त कर देती है तथा मदनिवा से कहती है—'यदि मम छन्दस्ता विनायं सर्वं परिजनम-भुजिष्यं परिध्यामि ।' (पृ० १४८) । चाण्डल के पुत्र रोह्येन को रोते हुये देखकर वह सुवर्ण-शकट बनवाने के लिये अपने आभूषण दे देती है । जब सुवर्णमाण्ड के बदले चाण्डल रत्नावली भेज देता है तो वह रत्नावली भेजने के लिये चाण्डल को उसाहना देती है (अङ्क ५) । चाण्डल की पत्नी धृतरा के प्रति उसे ईर्ष्या नहीं है वह उसके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करती है, 'रत्नावली' सौंपती है और बहती है—'अट धीचाण्डल-स्य गुणनिजिता दासी सदा युष्मावमवि' (पृ० २३६) ।

वसन्तसेना एक बुद्धिमानी, कला-बुध्दय तथा विदुषी नारी है । यह राजमार्ग पर विट के वचन के शूद्र अर्थों को समझ लेती है, और आभूषण उतार लेती है

(अद्भु १) । वह जानती है कि प्रियतम से कैसे व्यवहार करना चाहिये । उसकी तर्क-शक्ति उच्चकोटि की है । कर्मपूरक को हँसता हुआ देखकर वह उसका भाव समझ जाती है तथा शिविनरु के भ्रूषण अपित करतें समय वह सब कुछ ताड़ लेती है और मदनिका को उसे सौंर देती है । वह चित्र-रचना में कुशल है और चाहदत्त का चित्र बनाकर मदनिका को दिसलाती है (पृ० १४२) । उसे ससृत्त का भी ज्ञान है और वह चतुर्प अद्भु में विदूषक के साथ ससृत्त में वार्तालाप करती है ।

बन्तनेना चाहदत्त को सच्चे हृदय से प्रेम करती है । कामदेवायतन में जब वह चाहदत्त का दर्शन करती है, तभी उसके हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है । वह जानती है कि चाहदत्त दरिद्र है तो भी वह उसे प्रेम करती है, उसका प्रेम धन के लिये नहीं है अपितु प्रगतनीय प्रेम है—'दरिद्रपुरपसंक्रान्तमनाः सन्तु गणिका लोकेऽवचनीया नवति ।' (पृ० ७०) चाहदत्त से वह कुछ चाहती नहीं अपितु उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने को उद्यत है । दरिद्र व्यक्ति के प्रति अनुराग उसके हृदय की पवित्रता को व्यक्त करता है । इसी से वह शकार के प्रगद-प्रस्ताव को किसी प्रकार भी मानने के लिये तैयार नहीं है, न लोभ से, न आतङ्क से और न मृत्यु के भय से ही । वह देश महम सुवर्नाभूषणों के साथ भाग्य हुए शकार के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देती है (पृ० १४४) । पुष्पकरषक उद्यान में जब शकार उसे मारने के लिये उद्यत हो जाता है तो वह चाहदत्त का नाम लेनी हुई मरने को तैयार हो जाती है किन्तु शकार को स्वीकार नहीं करती (पृ० ३१३) । उक्त प्रेम के कारण उसे चाहदत्त की प्रत्येक वस्तु से प्रेम हो जाता है । संवाहक के चाहदत्त का नाम लेने पर वह उसका अत्यधिक आदर करती है । विदूषक का वह सड़ी हँकर स्वाद ले करती है । कर्मपूरक से चाहदत्त का दुगाता पाकर वह शिव-मित्तन का सा मनन्द अनुभव करती है । धूरा के साथ उसे बहन जैसा प्रेम है और रोहसेन के प्रति माता का वात्सल्य । वह यह भी जानती है कि वह एक गणिका है और चाहदत्त के अन्तपुर में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं रखती—'मन्मद्गणिकी सत्वह तवाऽन्तरस्य' (पृ० २६) । तथापि वह उस प्रियतम की प्राप्ति के लिये सभी कुछ करती है । बाभूषण-न्यास, दुर्दिन में अभिचरण, पुष्पकरषक मन्त्र आदि करती हुई मरणात्मक हो जाती है और फिर सचेत होकर चाहदत्त को बंधने के लिये कर्ममन्त्र पर पहुँच जाती है तथा प्रेम के आवेग में उसके हृदय पर फिर आती है । अन्त में उसका मनोपेक्ष पूर्ण होता है वह 'कुनवधू' के पद को प्राप्त करती है ।

कहना न होगा कि गणिका होने हुए भी बन्तनेना का व्यवहार तथा प्रेम कुनवारी के समान है—'श्रैवासाहनमययोरचाराम्' (पृ० ३०२) । उसने अपने मनन्द प्रेम, उदात्त परित्र, उदार हृदय तथा अपूर्व दयाप जादि गुणों में गणिका होने की कानिना को प्रभावित करके एक माधवी नारी के पद को अलङ्कृत किया है ।

## शकार

‘शकार मृच्छकटिककार की एक विचित्र कल्पना है। यह इस प्रकार का प्रतिनायक है। दक्षकपक व अनुसार प्रतिनायक लोभा, धीरोद्धत, जठ प्रकृति वाण पापी और भयतमी होता है। (दृश० २, ६)। शकार भी मूर्खता, प्रवञ्चना, पापकृता और कायरता आदि दुर्गुणो से पूरा है। यह किसी खेती का पुत्र है (बाणसीमांत) राजा पालक की अधिवाहिता स्त्री (रससी) का भाई है (राजशवासक) और तस्मान्ना भी है। यह शकारी प्रकृत बोधता है जिसमे शकार मे स्थान पर शकार (श) होता है (जैसे, वसन्तमणा) सम्भवत इसी हेतु इसका नाम शकार है।

शकार बड़ा अभिमानी है। उस राजा का खासा होन का अभिमान है। इसी से वह मनमानी करता है। न्यायाधीशो को निबलवा देने की धमकी डकर उनसे मनमाना न्याय कराना चाहता है। उस अपने पक्ष और धन का भी अभिमान है अतः वह अपने आपको ‘देवपुत्रव समुप्य वासुदेव कहता है। वह जब प्रकृति का है, अदम्य मूर्ख है। उससे बचन अज्ञान और मूर्खता से भरे पक्ष है। उनका इतिहास विरह उपमाय है (शाणुपुत्री जटापु), अनयक प्रताप है। (न मृता रज्जव)। उसका अधिकांश बचन हास्यजनक है। वह अज्ञिधित है तथा बात-चीत करने का डक भी नहीं जानता। फिर भी उसे अपने ज्ञान का अभिमान है और पुराण तथा इतिहास की अनन्त घटनाओं का मनमाना हल से बचन करता है।

वह अस्थिर स्वभाव वाला दुरादही तथा कायर है। उसका विचार क्षण-क्षण मे बदलता रहता है। उतक साथी बिट और चेट को यह कहता रहती है कि न जान यह धनधर मे क्या कह बैठ या कर बैठ। अष्टम अङ्क मे पहल तो बिट को गार्गी से बैठने को कह देता है फिर तभी उसका अभिमान बरन लगता है। इसी प्रकार धा-बरव (चट) को सीवार पर से गार्गी जान का आदेश दे देता है। प्रथम अङ्क मे बिट से कहता है कि वसन्तमना को निय बिना नहीं बर्खा। य है उसका दुराग्रह। अपनी गार्गी में स्त्री (वसन्तमना) को दक्षकर ही वह भयभीत हो जाता है (अङ्क ८) तथा अन्त में मृशु के भय से पादरत्न की शरण मे आवर रक्षा की याचना करता है (पृ० ४३०) यह है उसकी कायरता।

वह क्रूर और निर्दयी है पापी है तथा पापपूर्ण योजना मे निपुण है। बिट और चेट को बपटपूबक हटाकर वसन्तमना का मला धोत देता है। जब बिट इस कुहल्य की मत्सना करता है जो उस पर ही हल्य का आराध लगता है। चट को बालकर शाप देता है और पादरत्न पर वसन्तमना की हल्य का अभियोग चलाता है। जब चट उससे पाप का उद्घाटन करता है तो उस पर बोरी का आरोप लगा देता है। पादरत्न से कहता है कि पादरत्न को पुन सहित मार डालो। दसग बड़ी क्रूरता बया होती ?

शकार के चित्र में प्रायः सभी दुर्गुणों का पुञ्ज दृष्टिगोचर होता है। वह बेबन स्त्री-व्यवहारी, धूलें और धूलें ही नहीं बलितु मानव रूप में मानव ही कहा जा सकता है। प्रतिनायक के रूप में उसका यथार्थ चित्रण किया गया है।

## विदूषक

मध्यकृतिक का विदूषक मंनेय है। यह बाद के नाटकों के विदूषक से कुछ भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। दमरूपक के अनुसार नायक का वह सहायक, जो अपने आकार, प्रकार तथा रूपन आदि से हमें उत्पन्न करता है; विदूषक कहलाता है 'हास्यकृत्स्न विदूषकः' (दम० २, ६)। बाद के नाटकों में प्रायः विदूषक का यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। मध्यकृतिक के विदूषक में भी यह गुण है इसमें सन्देह नहीं तथापि उसकी अन्य व्यक्तित्व विशेषताओं का भी यहाँ चित्रण किया गया है।

मंनेय चारदत्त का भ्रमण मित्र है। चारदत्त का दरिद्रावस्था में भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता। इस-उधर अपनी उदरपूर्ति करता हुआ चारदत्त की सहायता करता है। इसी हेतु चारदत्त उसके प्रति कहता है—'अबे' सर्वकालमित्रं मंनेयः प्राप्तः (पृ० १५)। वह चारदत्त को धारवासन देता रहता है—'ओ ब्रह्म तमिन्नार्थकल्पवर्तं स्मृतवान् मंठापिनेन' (पृ० २०)। वह चारदत्त को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाने देना नहीं चाहेता, इसी कारण रदनिका से कहता है कि अपने अपमान की बात बाबत से न कहना। वह चारदत्त को गणिश-प्रसङ्ग से हटाना चाहता है (पृ० १६५)। वह जानता है कि वैश्या लालची और क्रुद्धिनी है। अतएव वह वसन्तसेना को भी पूजा की दृष्टि से देखना है और चारदत्त से कहता है—'निवर्त्यतमारमाज्जमाद् बहुप्रत्यवायाद् गणिशप्रसङ्गात्' (पृ० १३६)। चारदत्त के प्रति उसे माद, प्रेम है। जब उसे पता चलता है कि शकार ने चारदत्त पर मिथ्या अभियोग लगाया है तो वह न्यायालय में शकार से सड़ बैठता है। जब चारदत्त के मृत्युदण्ड की घोषणा की जाती है तो वह चारदत्त के बिना जीवित नहीं रहना चाहता (पृ० १८०)।

मंनेय भीष्म तथा क्रीधी है। वह अन्धकार में चतुष्पथ पर जाने से डरता है। जब चारदत्त रात्रि में वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाने को कहता है तो वह वहीं चतुर्दश से डरकर कर देना है (प्रथम अङ्क पृ० ६२) यह भीष्म ही क्रुद्ध हो जाता है—प्रथम अङ्क में मन्दिना के अपमान को देखकर वह शकार और बिट को मारने के लिये उठत हो जाता है (पृ० ५६)। प्रथम अङ्क में वह न्यायालय में ही शकार पर क्रुद्ध हो जाता है, यद्यपि क्रोध का बुरा परिणाम होता है, क्योंकि मारपीट में उसकी काल से आभूषण निकल पड़ते हैं।

विदूषक एक साधारण कोटि का समाजदार व्यक्ति है। चारदत्त के उदात्त गुणों तक उसकी पहुँच नहीं है। वह चारदत्त से कहता है कि जब पूजा करने पर भी



देवता प्रसन्न नहीं होते तो देवपूजा से क्या लाभ है ? (पृ० २०) । चारदत्त की अत्यधिक उदारता उसे पसन्द नहीं है । आभूषणों व बंदसे रत्नावली देना उसे अच्छा नहीं लगता और जहाँ तब श्याम के बंदसे वा वात है वह यह करने को तैयार है कि किसने श्याम रखता वीन साथी है ? (पृ० २२२) । बन्धी-२ यह सुर्ख सा प्रतीत होता है । जब वसन्तसेना चारदत्त के प्रति अभिसरण करती है तो वह नदी से पूछता है कि मुम यहाँ इस अच्येरी रात में किस लिये आई हो ? (पृ० २२२) । वसन्तसेना की समृद्धि को देखकर वह चेटी से प्रसन्न करता है— भवति, कि मुदमाकं यानपात्राणि वहन्ति (पृ० १८२) । उससे इस प्रकार के बचन व्यङ्ग्यपूर्ण से प्रतीत होते हैं तथा हास्य को उद्भावना करते हैं । मृच्छकटिक में विदूषक की इस प्रकार की बातें ही हास्य को जन्म देती हैं । हा करी-कही भोजनश्रिय तथा पैदू के रूप में भी विदूषक का चित्रण किया गया है, जैसे वसन्तसेना के भवन में लाना प्रकार के भोजनों को बनते देखकर विदूषक मन ही मन सोचता है— अपीदानीमिह वधित भुद्दव इति पादोदक सप्ये' (पृ० १०६) । जब वसन्तसेना के यहाँ से बिना जिलामे पिलाव ही बिदा कर दिया जाता है तो सोचता है कि इयने तो पानी को भी नहीं पूछा (पृ० १६४) ।

इस प्रकार विदूषक में उच्चकोटि की बुद्धि नहीं है । वह मनुष्य को परलने की शक्ति नहीं रखता, वह उदात्त गुणों से विभूषित नहीं है तथापि वह एक व्यावहारिक जन है वह एक सच्चा मित्र है, यद्यपि मुद्दिमान् मित्र नहीं ।

### अन्य पुरुष पात्र

यूदक ने सभी पात्रों का चरित्र, इस प्रकार से चित्रित किया है कि उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ स्पष्ट शक्त होती हैं । अन्य पुरुष पात्रों में शक्ति एक प्रेमी दृष्ट्य द्राष्ट्य है । वह मदनिका को प्राप्त करने के लिये चोरी करता है । चौर्य बना में निष्ठा है किन्तु चोरी को अच्छा नहीं समझता । वेदन् हरतन्त्र व्यवसाय मातकर ही उसे प्रसन्न करता है—स्वापीना वचनीयताऽपि हि नर यदो न सेवाञ्जति ।' (पृ० ११६) । वह मुद्दिमान् तथा गुणशाहक (४, २१-२२) । वह आपत्ति में मित्र का स्वरूप देने वाला है बन्धिता से प्राप्त हुई प्रेमिका मदनिका को छोड़कर अर्पने मित्र आर्थिक को मुक्त बनाने पत्ता जाता है (पृ० १६६) है । वह पद्मयन्त्र बन में मुक्त है (४, २६) सबाहक—दरिद्रता के कारण सबाहक का व्यवसाय करने वाला एक शूद्रपति का पुत्र है । चारदत्त के यहाँ नौकरी करने के पश्चात् धृतराष्ट्र से अपनी आजीविका पसाने लगता है । शूद्र में हार कर वसन्तसेना द्वारा ऋणमुक्त कराया जाता है और विरक्त होकर भीडमिश्रु के रूप में हमारे सामने आता है । वह एक सच्चा मित्र दिशानार्थ देता है । वह द्विद्रयसगमी है (पृ० २७६) । वह वृत्तज्ञ है और उपकार का बहणा चुकाने के लिये चिन्तित रहता है (पृ० ३२८) । अन्त में वसन्तसेना की प्राथरसा करने वह सन्तुष्ट होता है । निर्वासन ही जाता है और

प्रश्रय को उत्तम समझने लगता है (पृ० ४३८)। बिट—सहृदय एवं बुद्धिमान है। वह वसन्तमेना की मन्त्री प्रेम-भावना को देखकर प्रभावित हो जाता है और उसके प्रेम की प्रशंसा करता है तथा दयावृत्ति उसकी महायत्ना करता है। वह धर्मभीरु है तथा पाप का विरोध भी करता है, (पृ० ३००-३०२)। इसी ने वह शकार को छोड़ कर चना जाता है। चेट—स्यावरक को भी परलोक का भय है, सज्जन के प्रति स्नेह और आदर का भाव है। वह स्वयं आपत्ति में पड़कर भी अकार्य नहीं करता और चाण्डल की रक्षा का प्रयास करता है। न्यायाधीश भी पवित्र हृदय तथा न्याय-प्रिय है। सज्जनता का आदर करता है तथा मन्त्रियों की शोच करना चाहता है। किन्तु वह भीरु है नया जन्मदात्री में उचित न्याय नहीं कर पाता। खन्तक और शीरक भी अपनी निजी विवेकवाये रखते हैं। मन्त्रिक, छूतकर दर्बरक आदि का भी सामान्य उन्नेय किया गया है।

## अन्य स्त्री पात्र

इतमें धूता प्रमुख स्त्री पात्र है। वह चाण्डल की विवाहिता पत्नी है, एक पतिव्रता नारी है जो पति के दुःख को नहीं देख सकती और पति की अपकीर्ति से भी बर्ता है (पृ० १३४)। इसी हेतु बड़ी चतुर्पाई ने 'रत्नावली' विदूषक को दे देती है (पृ० १३६) धूता को आश्रुपर्णों के प्रति ममता नहीं है, शोभ नहीं है। जब वसन्तमेना रत्नावली को सोडानी है तो वह उसे स्वीकार नहीं करती। धूता अत्यन्त उदार है, वह वसन्तमेना से ईर्ष्या नहीं करती और वसन्तमेना से प्रेम करने वाले अपने पति पर भी कोप नहीं करती। वह अपने पति ने अत्यधिक प्रेम करती है। उसके बच की बात सुनकर चिन्ता में डूबकर प्राण-त्याग कर देना चाहती है तथा अपने प्रिय पुत्र की भी चिन्ता नहीं करती, न पात्र से ही हरती है—वरं पापाचरणम् । न पुनरापुत्रस्या-मङ्गलानाम् । (पृ० ४३४)। वह एक मन्त्री आशीन नारी है।

मन्त्रिका—वसन्तमेना की दासी तथा हसी है। उस पर वसन्तमेना बहुत अधिक विश्वास करती है। वह भी वसन्तमेना के प्रति अत्यन्त स्नेह करती है। इसी हेतु "चाण्डल के घर अविनाश ने खोरी की है" यह जान कर मूर्च्छित हो जाती है (पृ० १५२)। मन्त्रिका बुद्धिन्त्री तथा चतुर है। वह अविनाश को एक सदृशहिनि के समान सम्मति देती रहती है (पृ० १६०)। वसन्तमेना को भी वह समय-समय पर अच्छी सम्मति देती रहती है। इसी में वसन्तमेना उसकी प्रशंसा करती है—साधु मन्त्रिके कर्तुः (पृ० १६०) परहृदयहृदयमिष्टा मन्त्रिका मनु स्वम् (पृ० ६८)। मन्त्रिका शीर नहीं है वह अविनाश जैसे माइमी को पत्नी होने योग्य है और जब अविनाश अपने मिन अर्चक को सुझाने जाता जाता है तो वह उसके मार्ग में बाधा नहीं टानती। वस्तुतः उसने दासीपन को छोड़कर एक मन्त्री दृष्टिों का रूप धारण कर

मिया है। इनके अतिरिक्त रचनिका तथा वसन्तसेना की बेटी वसन्तसेना की माता आदि का भी कुछ उल्लेख हुआ है।

३ मृच्छकटिक का रस-विवेचन तथा काव्य सीखने—

'रस-विवेचन— भारतीय नाट्यसमीक्षा के अनुसार 'रस' रूपक का मुख्य तरह है। पायवाच्य आलोचकों ने प्रभावाभाविति को ही नाट्य का प्राण कहा है। समालोचकों का कथन है कि दोनो में बहुत कुछ सामान्यता है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के सम्योग से सहृदयों को जो एक असीमिक आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है। इस रस की प्रतीति बनाना ही कपको का प्रयोजन है। विविध रूपको से भिन्न भिन्न प्रकार के रसों की प्रधानता और गौणता होती है। 'प्रकरण' के शृङ्गार दो प्रकार का होता है—संभोग (सयोग) शृङ्गार और विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार। मृच्छकटिक में संभोग शृङ्गार अर्द्ध रस है तथा विप्रलम्भ शृङ्गार, वरण, हारण, भयानक, वीर तथा शास्त्र आदि उससे अलग हैं। इन सबका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

संभोग शृङ्गार—मृच्छकटिक में चारदस और वसन्तसेना के प्रेम का विचित्र विषय गया है। वसन्तसेना एक गणिका है जो नाट्य-समीक्षा की दृष्टि से सामान्य नायिका है। यद्यपि सामान्य नायिका का प्रेम रस की बोटि तक नहीं पहुँचता और वह 'रसाभास' ही रहता है यह माना जाता है तथापि यही गणिका वसन्तसेना का प्रेम कुतसारी के समान ही अनन्य प्रेम है वह अन्त में कथ पद को प्राप्त करती है इसलिये यह प्रेम रस का बोटि तक पहुँच ही जाता है। कामदेवदासतन में युगों के भण्डार तथा रूपयौवनसम्पन्न चारदस को लेकर वसन्तसेना के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है। प्रथम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में चारदस और वसन्तसेना परस्पर मिलते हैं। चारदस उससे रूप की प्रशंसा करता है—छादिना० (पृ० ५८) और उसकी शालीनता का मन ही मन विश्लेषण करता है (पृ० ६०)। इसी समय चारदस के हृदय में भी अनुराग का उदय हो जाता है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्क के विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिव्यञ्जन भावों से यह संभोग शृङ्गार परिपुष्ट होता है। तदन्तर, पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना अभिसारिका बनकर चमती है। यहाँ मेघाजना और दुर्दिन का अन्धकार तथा विशुन् की चमक संयोग के उद्दीपन के रूप में सहायक होते हैं। मेघों में चारदस के प्रेम की उद्दीपन कर दिया है और वह बट उठता है—

श्री मेघ, यम्भीरतरं भव एव तव प्रसादात् स्मरपीडित मे।

संसर्गरोमाञ्चिनजातराग वरम्बपुष्परवमुपैति चान्द्रम् ॥ (५/४७)

वसन्तसेना चारदस के घर पहुँचती है और वसन्तसेना का आतिथ्यन करके चारदस अपने कोमल भावों को इस प्रकार प्रकट करता है—

धम्यानि तेषां ममु जीविनानि ये वामिनीनां श्रमायतानाम् ।

स्मार्त्तानि मेघोपकञ्चीतमानि यानानि गान्धेयु परिव्यजन्ति ॥ (५/४८)

किन्तु यह मिनन चरम मिनन नहीं, इसी हेतु पट्ट अङ्क के आरम्भ में चावदत्त से पुनः मिनने के लिये तथा उसके आम्बान्तर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिये वसन्तमेना की उन्मुखता दिखाई गई है। सप्तम अङ्क में चावदत्त भी वसन्तमेना से मिनने के लिये उत्सुक है। किन्तु देव का विधान 'वसन्तमेना वा मोहन चावदत्त पर अविशेष और मृत्युदण्ड ! यहाँ विप्रलम्भ कर्मण दशा की ही पहुँचने वाला है कि पुनर्मिलन होता है और चावदत्त अकम्पात् कह उठता है—

'अहो प्रभात. प्रियमंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्घ्रियेत।' (१०, ४३)

अन्त में पुनः प्रिय की प्राप्ति होती है और वह भी अभीष्ट रूप में 'बधू' के रूप में—'प्राप्ता भूय. प्रियेयम्' (१०, २९)।

इस प्रकार यहाँ आरम्भ में सम्भोग शृङ्गार का उदय होता है और वह विप्रलम्भ इत्यादि से पुष्ट होता हुआ अन्त में परिपाक दशा की पहुँच जाता है अतः यहाँ सम्भोग शृङ्गार अङ्गी रम है। वसन्तमेना के प्रति शकार आकर्षण उसका पीछा करना, अनुनय करना तथा प्रेम प्रदर्शित करना इत्यादि शृङ्गाराभाम है।

विप्रलम्भ शृङ्गार—मृच्छकटिक में अनेक स्थलों पर विप्रलम्भ की सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। डिनोर अङ्क के आरम्भ में वसन्तमेना विशेष उत्कण्ठित है (मोक्षकथा) हृदय में वृद्ध मोच रहा है—'हृदयेन किमध्यासिहसन्ती' (पृ० ६६) और श्वाभ आदि में भी रवि नहीं रमनी (पृ० ६६)। वह शून्यहृदया-सी किसी की कामना कर रही है (पृ० ६८)। अनुर्य अङ्क के आरम्भ में वसन्तमेना चावदत्त के चित्र की रचना करती है और उसी में भग्न है (पृ० १४०)। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में जब विदूषक चावदत्त से गणिका-जमङ्ग शोडन की प्रार्थना करता है तो वहाँ चावदत्त की भी वसन्तमेना के प्रति उत्सुकता प्रकट होती है—'युगलायो ह्यमी जनः' (पृ० १६६)। साथ ही विरह की वेदना भी—'दयमर्षे. परित्वक्ता ननु त्यक्तं च ता भया' (पृ० १६६)। पट्ट और सप्तम अङ्क में दोनों ओर से विरह ही उत्कण्ठा व्यक्त की गई है। इस प्रकार मृच्छकटिक में विप्रलम्भ शृङ्गार का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

कर्मण दश—इष्ट की हानि में शोक का उद्रेक होना है। इसके चित्रण द्वारा महद्दयो की कर्मण रम का आम्बान्तर हुआ करता है। प्रथम अङ्क में चावदत्त के वैभवताम तथा शरिटावस्था का कर्मण चित्रण है (पृ० १४-२०)। 'मुनात्तु यो पाति नरो दग्निना मृतः शरीरम मृतः स जीवति (१०, १०) अल्पक्षेत्रं मरणं शरिद्रम-मनन्त्रं दुःखम् (१, ११)। इसी प्रकार संवाहक के भूमिपतन में (पृ० ७६)। अलङ्कारों की चोरी का समाचार सुनकर धृता की मूर्च्छा (पृ० १३४) तथा बाद में वसन्तमेना गणिका की मूर्च्छा में (पृ० १४२), चावदत्त की मृत्युदण्ड की धोयना होने पर गोप्यम और मैत्रेय के रदन में (अङ्क ९) तथा धृता के अग्नि प्रवेश की बाद सुनकर चावदत्त के मूर्च्छा होने (अङ्क १०) इत्यादि के वर्णनों में कर्मण रम की

अभिव्यञ्जना की गई है। जब शकार वसन्तसेना का गला मोट देता है और वह मूर्च्छित होकर बिर पकती है तब विट ने जो मोह प्रकट किया है उसमें तो कल्प रस की अत्यन्त सुन्दर व्यञ्जना हुई है—'दासिष्योदवाहिनी विगलिता' (पृ० ३२०)।

हास्यरस—हास्य और व्यङ्ग्य की दृष्टि से तो मृच्छकटिक का सम्पूर्ण नाट्यो में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। शूद्रक ने अनेक प्रकार से हास्य व्यञ्जना का प्रयास किया है, जैसे—(१) विनोदी तथा हँसोड पानो द्वारा, विद्रूपक और शकार के अनेक कार्यों तथा सवादी से सम्पन्न प्रकरण में हास्य की व्यञ्जना की गई है। यहाँ शकार के मूलतापूर्ण कार्यों से हास्य योजना की गई है। विद्रूपक के हास्योत्पादक कार्य ऐसे मूलतापूर्ण नहीं हैं। (२) विनोदपूर्ण परिचयियों की उद्भावना करके, जैसे द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में दूतवर्ती के अंगड में हास्य रस की सलक है। वसन्तसेना की अत्यन्त मोटी माता के वर्णन से हास्य का उद्भव होता है। दर्दुरक का माधुर की मांसो में धूल डालना और शीरक तथा चन्दनक का परस्पर जातिभूषक सवेत देना—हास्योत्पादक पदवाच्य है। (३) व्यङ्ग्योक्तियों द्वारा, जैसे 'किं मुष्माक मानवाभावि वहन्ति' (पृ० १५२) इत्यादि व्यङ्ग्योक्तियों से एक मधुर हास्य की व्यञ्जना होती है। (४) अद्भुत प्रश्नोत्तरो द्वारा, जैसे वसन्तसेना के भेट तथा विद्रूपक के प्रश्नोत्तरो से (पृ० २००-२०२)। यहाँ विद्रूपक की मूर्खता तथा उसने पगपरिवर्तन करके 'सेनावसन्ती' कहने से भी हास्य रस की उद्भावना होती है वस्तुतः हास्य रस की व्यञ्जना में मृच्छकटिक सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट नाटक है।

अन्य रस—गुण्टमोडक की भद्रदह में अयानक की, बीट मिथु की अष्टम अङ्क के आरम्भ की उक्तिमें भे गान्त रस की, शक्तिक की उक्ति में मुञ्ज धीर की तथा चारदत्त के वर्णन में दानधीर की ओर अतवाले गन्धगज से कल्पपूरक द्वारा मिथु की रसा किये जाने के वर्णन में अद्भुत रस की सलक मिलती है। इस प्रकार मृच्छकटिक में प्रायः सभी रसों का सुन्दरता से साथ समावेश हुआ है।

भाव-चित्रण—भावों की सुन्दर वर्णना में भी मृच्छकटिक के शास्त्रीयत्व में शक्ति की है। कवि ने मानवीय भावों का स्वाभाविक चित्रण किया है। चारदत्त जैसा अत्यन्त उदार व्यक्ति इसलिये विन्तित नहीं है कि संभव नष्ट हो गया, सम्पत्ति तो भाग्य के अनुसार आती है और पत्नी जाती है, उसे तो इती बात का सन्ताप है कि सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर मिथो की मिथवा भी शायिल हो जाती है—'शार्यं न मे' (१, १३)। शक्तिवर्ष जैसा धीर सोपता है—धोरी को लोग निन्दित भले ही कहे किन्तु यह तो स्वतंत्र व्यवसाय है पावरी की दासता इनमें नहीं और प्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने धोरी बरतों का कार्य भी हमें दिसाया है फिर 'तो महः शौर्यं ही है—'गाम नीषमिद पदन्तु' (३, १२)। धोर ने शकायस्त हृदय का

स्वाभाविक वर्णन भी कवि ने किया है—'यः कश्चित्स्वरितगतिः' (५, २)। नारी के हृदय का चित्रण करने में तो कवि को अत्यधिक सफलता मिली है। दुर्निरा में अभिरमण करने वाली वसन्तमेना को निम्न सपनों के समान प्रियमित्रन में बाधक प्रतीत होती है अतः। वह उसे उपात्मम देती है—'मूढे' इत्यादि (५, १५)। वसुलो की बोली उसे घाव पर नमक छिड़कने के समान प्रतीत होती है और वह कह सकती है—'प्रावृत् प्रावृत्ति क्वीति शठयोः सारं सते प्रसिपन्' (५, १५)। छंद, पुरुष तो स्वभावतः कठोर होता है वह नारी के हृदय की बेदना को क्या जाने? बिटुव का कोपल नारी-हृदय भी वसन्तमेना के प्रति संवेदना नहीं रखता—यदि पर्वति (५, ३२)।

इसी प्रकार कवि ने अनेक स्थलों पर मानव-भावनाओं का सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि ने अपनी अनुभूति द्वारा मानव-हृदय में प्रवेश करके अनेक मूझ भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है और मानव-प्रकृति के चित्रण में वह अत्यधिक सफल हुआ है।

वर्णन-शौण्डव—मूच्छकटिक में जीवन की दशाओं का हृदयपर्यायी चित्रण किया गया है। 'हो दितिद्रवस्या का चित्रण है, कहीं वसन्तमेना की कुंवर जैसी सम्पदाओं का वर्णन है। सैय के स्वरूप तथा भेरी का वर्णन तथा दूतकर्म का विशद वर्णन कवि के मूझ निरीक्षण को अभिव्यक्त करते हैं। मानव के रूप-वर्णन में भी कवि को अच्छी सफलता मिली है। उदाहरण के लिये जो चारदत्त संवाहक के शब्दों में 'प्रियदर्शन' है शर्मक के विचारानुसार 'दृष्टिरन्वीय' है, जिसके रूप सौन्दर्य पर वसन्तमेना मुग्ध हो जाती है उसका सौन्दर्य न्यायाधीन के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'धीमौलत्रं मुखमपाद्भुविज्ञाननेत्रं, नैतदि धारनमकारण-दूषणानाम्' (६, १६)। वसन्तमेना की मन्त्रि मति का उपाय चित्र विट के इस कथन में झलकता है 'कि यासि धानकरनीव' (१, २०)। गाइ निद्रा में विलीन व्यक्ति का स्वाभाविक चित्र 'निगामोन्मत्त मट्टिनः' (३, १८) इत्यादि शक्तिक के स्वरण कथन में देखा जा सकता है। मूक ने न्यायालय का भी अनद्वैत भाषा में वर्णन किया है—'विन्दासक' (६—१४)।

प्रकृति-चित्रण—मूच्छकटिक के कुछ स्थलों पर बाह्य प्रकृति का भी चित्रण किया गया है जैसे पञ्चम अङ्क में। कुछ आलोचकों का कथन है कि अष्टम अङ्क में सुन्दरराजक उद्यान का सुन्दर चित्रण किया जा सकता था, किन्तु कवि ने उसकी उपेक्षा की है। वस्तुतः काउ यह है कि रुद्रों में घटनाओं की गत्यात्मकता अर्थात् होती है, वहाँ कवि का ध्यान वस्तु की अभिव्यक्ति पर रहता है तथा विन्मृत प्रकृति वर्णन से घटनाओं की स्वाभाविक रति में बाधा पड़ती है। उमनिदे वहाँ प्रकृति वर्णन की उपेक्षा करना उचित ही प्रतीत होता है। पञ्चम अङ्क में वर्णन का वर्णन भी नाटकीय दृष्टि से अधिक विन्मृत हो गया है परन्तु बाध्य की दृष्टि से यह अप्रत्यक्ष सुन्दर बन पड़ा है।

मृच्छकटिक का अधिकांश प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही हुआ है यद्यपि एक दो स्थल पर कवि ने प्रकृति का सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत किया है। चन्द्रोदय का वर्णन ही देखिये—उदयति शशाङ्क (१ ५७)। इसी प्रकार घनाग्रकार में मेघों से रजतवद् जैसी ध्वेत जलधारा गिरती है जो विद्युत् की चमक से दायभर की दिखलाई देती है और फिर दृष्टि से ओझल हो जाती है—इसका कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है। एता निपिक्तः (५, ४)। मेघ आकाश में छाये हैं उन्हें विविध आकार धारण कर निवे है। कवि ने इनका कृता स्वाभाविक शब्दविर प्रस्तुत किया है।—समकर्तृविव० (५ ५)। अग्रकार की गहनता का भी चित्र बगुठा ही है—निम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्दतीवाऽञ्जन नभः (१ ३४)। इन स्वाभाविक प्रकृति चित्रण से यह प्रतीत होता है कि कवि के हृदय में प्रकृति के प्रति प्रेम का अवश्य था।

फिर भी ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं। अधिकांश स्थानों में मृच्छकटिक का प्रकृति-चित्रण अलङ्कारों के भार में लदकर अपनी स्वाभाविक छटा को नितान्जलि दे चुका है। वही साङ्गोपाङ्ग के द्वारा मेघ की केशव से समता दिखलाई गई है (१, १), वही योगोप्यन आकाश को धृत्तमाट्ट के मृच्छ के समान बतलाया गया है। इन अलङ्कारों ने शब्द निष्पादक रूपनायक भी हैं (५, २६)। काव्यत्व की दृष्टि से भी इन प्रकार के अलङ्कार पूर्ण प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक नहीं कहे जा सकते; फिर भी इनसे प्रकृति के प्रति कवि के हृदय का अनुमान नहीं झलकना। हाँ, उद्दीपन के रूप में जो प्रकृति-चित्रण है उसमें प्रकृति का मानव हृदय के साथ सामञ्जस्य किया गया है। दुर्दिन में अभिमरण करती हुई वसन्तमेना का हृदय मेघों ने आहत कर दिया है उस पर बगुने पाव पर नमक छिड़क रहे हैं (५, १८)। वसन्तमेना जलधर की भर्त्सना करती है कि तुम बड़े नितंज हो जो पियनम के घर जाते हुई मुझको धारारूपी हाथों से घुने हो (५, २०)। इसी प्रकार उस अहल्या-प्रेमी दूत को भी उपासना देती है (५ २६-३०) और वसन्तमेना को सबसे बड़ा भेद तो यह है कि विद्युत् मारी होकर भी, प्रमदाभों की प्रेम-वेदना को नहीं अनुभव करती (५, ३२)।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के प्रकृति-वर्णन में अधि-मानगाहुन्तल के समान बाह्यप्रकृति का मानव प्रकृति के साथ सन्धा सादात्म्य तो नहीं मिलता, फिर भी यह प्रतीत होता है कि कवि प्रकृति की ओर से नितान्त उदात्तान नहीं था।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त वृत्ति—नाटक आदि प्रबन्धों में नायक-नायिका इत्यादि का जो रसानुव्रस स्थापार (पेय्य) होता है वही नाट्यभाव में वृत्ति बही जाती है। यह वृत्ति चार प्रकार की होती है—कैलिकी, सात्वती, धारमटी और धारती। इनमें 'हृती' तीव्र वृत्ति नायक-नायिका, आदि की कायिका और मानसिक पेय्याओं से सम्बन्ध रखती है तथा 'अयं वृत्ति' कहनायी है। भारतीय वृत्ति का पायिका स्थापार

से ही सम्बन्ध है। शृङ्गार रस में कंशिकी, वीर में सान्वती और रौद्र तथा वीभरस रस में आरमटी वृत्ति का प्रयोग होता है। भारतीय वृत्ति का सभी रसों के साथ प्रयोग होता है।

मृच्छकटिक में शृङ्गार रस की प्रधानता है अतः यहाँ मुख्यतया कंशिकी वृत्ति का प्रयोग किया गया है। कंशिकी वृत्ति कोमलवृत्ति है। इसमें नृत्य, गीत, विलास आदि शृङ्गार चेष्टाएँ हुआ करती हैं मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में नायक-नायिका की विलास चेष्टाओं का वर्णन है। तृतीय में सगीत चतुर्थ में चित्रालखन तथा पञ्चम में कामभोग से सम्बन्ध बहुविध व्यापारों का वर्णन है। अन्तिम अङ्कों का क्रियाकलाप भी काम-फल की प्राप्ति का साधनभाव है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कंशिकी वृत्ति की प्रधानता है। शकिसक की वीर रस प्रधान चेष्टाओं में सास्वती और वसन्तसेनामोहन में आरमटी वृत्ति कही जा सकती है। भारतीय वृत्ति के अङ्ग प्ररोचना और आमुख का ऊपर निर्देश किया जा चुका है।

१०. मृच्छकटिक में भाषा शैली और अभिनेयता—

(i) भाषा—मृच्छकटिक की भाषा शैली कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल है। यह भास और कालिदास के मध्य की शैली है; सस्कृत साहित्य की अलङ्कृत शैली नहीं। इसकी भाषा समासप्रधान नहीं, उसमें स्वाभाविक सरलता है। उसमें सर्वत्र प्रमाद और गालित्य विद्यमान है। केवल कुछ स्थलों में भाषा की वृत्रिमता और अलङ्कृत शैली के दानं होते हैं। सर्वत्र पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया गया है। शब्द योजना और वाक्यावग्यास की दृष्टि से भी भाषा नाटकीय है। भाषा में अभीष्ट शक्ति है और प्रवाह भी। यही कारण है कि मृच्छकटिक के अनेक वाक्यों ने मूर्तियों का रूप धारण कर लिया है जैसे 'दुर्लभा गुणा विभवाश्रय', साहसे श्री. प्रतिवसति, 'कानो वाम' शुद्धिद्वयनयां बहुमीभवन्ति इत्यादि (देखिये परिशिष्ट) ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने लोकोक्तियों के प्रयोग में अपनी भाषा को मजबूत बनाने की ओर ध्यान दिया है। इसी हेतु कहीं-कहीं सम्पूर्ण श्लोक ही मूर्तिमय दृष्टिगोचर होता है। (देखिये परिशिष्ट)। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसका शब्द-मण्डार विज्ञान है। सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के समुचित प्रयोग में कवि को अच्छी मफर ता मिली है, कहीं-कहीं पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से भाषा में दोष अवश्य दिखनाई देता है (टिप्पणी) अनियमित समास-योजना, अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग (च, हे, तु इत्यादि) भाषा की विशिष्टता इत्यादि दोष भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

पात्रों के अनुकूल प्राकृत भाषा का प्रयोग करने में तो मृच्छक बेजोड़ है।

(ii) मृच्छकटिक में प्रयुक्त प्राकृत भाषायें—मृच्छकटिक के सस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाओं का विस्तृत विवरण दिया है। उसके



आधार पर ही यहाँ विवेचन किया जाता है। प्राकृत भाषाएँ सात मानी गई हैं— 'मागधी, अवन्तिजा प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, तथा दक्षिणात्या' अपभ्रंश भी सात हैं—शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शबरी, दाविडी, उडुवा और टनकी (बनेवरो की भाषा)। इन अपभ्रंशों को विभाषा भी कहा जाता है (विभिन्न भाषा विभाषा)। इन भाषा तथा विभाषाओं में से मृच्छकटिक में सात भाषाओं का प्रयोग हुआ है—(१) शौरसेनी, (२) अवन्तिजा, (३) प्राच्या, (४) मागधी, (५) शकारी, (६) चाण्डाली और (७) टनकी। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) शौरसेनी—पृथ्वीधर के अनुसार सूतघार, नटी, रदनिका, मदनिका, वान्तसेना और उसकी माता, घेटी, वणपुरक, धूता, घोषनक और भेखी—ये प्यारह पाँच शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं। इस प्राकृत में श प स। इन तीनों के स्थान पर 'य' ही होता है जैसे नटी के स्थान में 'मर्षतु मयंस्वार्थाः' इस संस्कृत के स्थान पर 'मरिसेतु मरिसेतु मय्यो' (पृ० १०)।

(२) अवन्तिजा—वीरक और चन्दनव इस प्राकृत को बोलते हैं। इसमें भी श प स के स्थान पर 'त' होता है तथा यह रेफवती और लोकोक्ति बहुला है। यहाँ 'रेफवती' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि इसका अर्थ यह किया जाये कि इसमें स के स्थान पर 'र' (रेफ) ही जाता है तो वीरक-चन्दनक की भाषा से इन बातों की पुष्टि नहीं होती—'मय अवलोहद' (चन्दनक पृ० २५६), तुमं पि रण्यो पण्यदो बलवह (वीरक पृ० २५६)। सम्भवतः कुछ विशेष स्थलों पर इस भाषा में रेफ होगा, किन्तु (?)। अथवा इसका अर्थ यह ही सकता है कि इस भाषा में 'रे' 'जरे' का प्रयोग अधिक होता है (?) इस भाषा में लोकोक्तियों की प्रचुरता है यह मृच्छकटिक से प्रतीत होता है—वीरकः—जइ दे चखरङ्गं न कणादेसि तदो न होमि वीरयो। चन्दनकः—किं तुए गुणजतरिणेण (पृ० १६२)।

(३) प्राच्य—विद्रूपक प्राच्य भाषा बोलता है। इसमें भी श प स के स्थान पर 'त' होता है तथा स्वार्थिक ककार की प्रचुरता कही गई है किन्तु मृच्छकटिक के विद्रूपक की भाषा में ककार की प्रचुरता दिखाई नहीं देती। जैसे—'एसा समुब्बणा सहिल्लणा णवणाइअदतणुदिआदा गुत्तायासि व्व'—इत्यादि (पृ० ५८)।

(४) मागधी—संवाहक, शकार, वसन्तोत्तना और चारदत्तम (तीनों) के ३ धेट, भिनु, चांददा का पुत्र रोहसेन—ये छ पाँच मागधी भाषा बोलते हैं। मागधी भाषा में तालभ्य शकार होता है अर्थात् श, ष, स तीनों के स्थान पर 'श' होता है; जैसे 'अतिम' के स्थान पर 'अतिम्' (पृ० ५६, धेट); 'एय' के स्थान पर 'एयें' (संवाहक, पृ० ७२), 'शकया' के स्थान पर 'शक्तीयं' (संवाहक २१)। 'अज्ज' विक्रिण्यं मं इगणक अहिअव्या हरपादो एयेहि शुवण्णकेहि (संवाहक, पृ० ८०)—यहाँ शकार की बहुलता दर्शनीय है।

(५) शकारो—बकार इस भाषी का प्रयोग करता है। इसमें भी ठानव्य शकार की प्रचुरता होती है और रेक के स्थान पर लकार हो जाता है। जैसे—'अग्नी मुत्तिस्त्रे बलिदे अमत्यके कप्येम प्रीतं उद मानएम वा' (शकार १, ३०)—यहाँ 'अतिः' का अग्नी और मात्स्यामि का मानएम (र को ल) हो गया है।

(६) चाण्डाली - दोनों चाण्डाल इसका प्रयोग करते हैं। इसमें भी ष ष ष के स्थान पर ठानव्य शकार ही होता है तथा रेफ के स्थान पर लकार। जैसे—'षावतम अवि शस्वं भगति' (स्यावरक, अपि सत्य भगति), चाण्डाल (५० ४००) के इस कथन में ष के स्थान पर श और र के स्थान पर ल है।

(७) डक्की—दूतकर और मायुर इसका प्रयोग करते हैं। इसके विषय में पृथ्वीधर ने कहा है—'वकारप्राया डक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्ततालव्यसतकार-द्वयपुत्ता च।' अर्थात् इसमें वकार की प्रचुरता होती है और जब यह संस्कृतप्राय होती है तो इसमें स, ष दोनों का प्रयोग होता है (अन्यथा नहीं?); जैसे मायुरः—'अपि। दशमुवर्णं घ.मेदि। कि तस्य' अस्ति दशमुवर्णं धार्यति। कि तस्य, (५० ६६) यहाँ दशमुवर्ण में ष और म का संस्कृत के समान ही प्रयोग हुआ है, यहाँ संस्कृतप्राय डक्की विभाषा है। किन्तु 'मायुरः—अले, भगति तं कुलपुत्तम्' (अरे भगति, तं कुलपुत्तम् (५० ६६) यहाँ भगति में स का ष हो गया है। 'वकारप्राय' होने की बात मृच्छकटिक में दिसलाई नहीं देती अपि, तु उकारप्राय होना दिसलाई देता है जैसे—'अले भट्टा, दशमुवर्णाह मुद्दु जूदकर पपलीणु' (५० ७०)। डक्की के विषय में डॉ० कौष का कथन है कि वस्तुतः यह 'डक्की' होनी चाहिये। त्रिपि की अगुदता से इसे डक्की पड़ लिया गया होगा। पिपेल-न इसे पूर्वी बाली भाषा है और पिपसन के अनुसार यह पश्चिमी बाली है। यही उचित भी जान पड़ता है। 'नाट्य-शास्त्र में डक्की नाम नहीं आया। हाँ, वनेशरी को उकारप्राय भाषा का उल्लेख बबराय हुआ है। सम्भवतः यह वही विभाषा है।

इन मात्र भाषाओं में शकारो और चाण्डाली दोनों मायथी की ही विभाषाएँ हैं। इनके रेक को लकार हो जाता है। केवल यही भेद है। यहाँ यह भी विचारणोप है कि पृथ्वीधर ने दाशिन्याय भाषा को क्यों छोड़ दिया? जबकि यह स्पष्ट है कि चन्द्रक दाशिन्याय है। इन प्राकृतों के विषय अध्ययन से ही उपर्युक्त शंकाओं का निराकरण हो सकता है।

मृच्छकटिक में छन्द तथा अलङ्कार-योजना—मृच्छकटिक में स्वाभाविक ढंग से अनेक अलङ्कार आ गये हैं। कवि ने बलपूर्वक अलङ्कारों को सादा नहीं है। इसके अलङ्कार अर्पण्यञ्जना में महायत्न है तथा काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं। उनना, रूपक, उल्लेख आदि अर्थालङ्कारों की स्थान-स्थान पर सुन्दर योजना दृष्टिगोचर होती है। अरमुत्त प्रसंगा (१, ८-११) काव्यतिङ्ग (१, ११), विशेषोक्ति (१, १२), और समामोक्ति आदि अलङ्कारों का भी विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। त्रिके उदाहृत संस्कृतभाषा में देख जा सकते हैं।

मूच्छकटिक के कवि ने अनेक छन्दों का सफल प्रयोग किया है जिसका विस्तार पूर्वक आगे विवचन किया गया है।

कहना न हाया कि मूच्छकटिक की भाषा शैली भाव के सर्वथा अनुकूल है। नाटकीय दृष्टि से भी यह भाषा शैली उपयुक्त ही है।

### (111) मूच्छकटिक की अभिनयता

किसी रूपक की अभिनयता के लिये आवश्यक है कि उसकी कथावस्तु अधिक विस्तृत न हो, कथापकथन अधिक सम्ये न हो तथा दृश्यों का विभाजन रङ्गमञ्च के अनुकूल किया गया हो। इन दृष्टियों से जब मूच्छकटिक पर विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है—

(1) मूच्छकटिक की कथावस्तु अत्यन्त विस्तृत है। इसका अभिनय एक बँठक में नहीं किया जा सकता। कथावस्तु में गतिशीलता तो है, किन्तु इस कथावस्तु का पूर्णतया साशय्य नहीं कहा जा सकता। प्रथम अङ्क के अन्त में चारदत्त वसन्तसेना को पहचान उसका घर जाता है। इतनी लम्बी यात्रा बिना किसी कथोपकथन के रङ्गमञ्च पर नहीं दिखलाई जा सकता। द्वितीय अङ्क में सवाहक भिक्षु होने का निश्चय कथन बाहर निकलता है तो ही कणपूरक द्वारा भिक्षु वेप में उनकी रक्षा की जाती है। पशुपत अङ्क में निद्रूपने द्वारा वसन्तसेना के भवन का विस्तृत वर्णन किया गया है जो सामान्यतः जो उव पंदा बरन वाला है। पञ्चम अङ्क का वर्षा-वर्णन भी इस प्रकार का है। षष्ठ अङ्क में चारदत्त वसन्तसेना को सोती छोड़कर प्रभात में ही पुनःकरुण्डक उद्यान में क्यों चला जाता है? यह बात समझ में नहीं आती; अतः यह दृश्य पञ्चम अङ्क तक की कथा का अग्रिम कथा से जोड़ने वाली एक शिथिल कड़ी कहनी जा सकती है। अष्टम अङ्क में शकार यह कहकर उद्यान में निकलता है 'साम्भयम् अधिकरणं गत्वा बभूवुः लेख्यामि' किन्तु ग्यायालय में दूसरे दिन जाता है। नवम अङ्क में ग्यायाधीशा के बार-बार पूछने पर भी चारदत्त मौन ही क्यों रहता है? इस प्रकार के दोषों से कथावस्तु की सुश्लिष्टता भंग होती है। डॉ० राइडर का विचार है कि मूच्छकटिक में सुश्लिष्टता (Proportion) का अभाव है तथा यह अत्यन्त विस्तृत है।<sup>1</sup>

(2) मूच्छकटिक में दृश्यों का समुचित विभाजन नहीं, प्रत्येक अङ्क में अनेक दृश्य हैं। एक ही समय कई दृश्यों की योजना की गई है। जैसे प्रथम अङ्क में चारदत्त और राजभाग पर वसन्तसेना का पीछा करने हुए शकार का दृश्य। दोनों एक ही समय रङ्गमञ्च पर कैसे दिखावाये जा सकते हैं।

इन आक्षेपों के विरोध में यह कहा जाता है कि मूच्छकटिक की कथा अत्यन्त रोचक तथा आवश्यक है। इसमें क्रिया व्यापार की गतिशीलता है। यह अभिनय के विचार से एक आवश्यक बात है। जहाँ तक कथावस्तु के विस्तृत होने की बात है। कुछ अक्षेपों को छोड़ा जा सकता है जैसे वर्षा-वर्णन आदि के स्थान हटाये जा सकते

है। दृश्यविभाजन का ऋष अभिनय के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह भी व्यवस्था करना सम्भव है कि एक विशाल रङ्गमञ्च पर कई दृश्य एक साथ दिखलाये जा सकें। इसके अनिश्चित, मूच्छकटिक के संवाद अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। इसकी भाषा भी रङ्गमञ्च के उपयुक्त है। यदि कोई घटना अभिनय के योग्य नहीं प्रतीत होती तो उसे छोड़ा जा सकता है। हाँ, कवि ने पात्रों की चित्रप्रणाली का निर्देश नहीं किया है। देश काल के अनुसार उनकी योजना कर्णी होगी। इस प्रकार यह सम्भव ही है कि मूच्छकटिक की भाषा को सुरक्षित रखते हुए इसमें उचित परिवर्तन करके इसका अभिनय किया जा सकता है।

### ११. मूच्छकटिक पर एक विह्वल दृष्टि—

संस्कृत साहित्य में मूच्छकटिक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारत की अनेक प्रचलित भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। वस्तुतः इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण मूच्छकटिक एक अनुपम रूपक समझा जाता है—

(१) इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मध्यम वर्ग से कथावस्तु चुनी गई है। उज्जयिनी के मध्यमवर्ग के जीवन का स्वाभाविक वर्णन यहाँ किया गया है। यहाँ चोर, जुआरी, धूम्र, राजसेवक, मित्र, दुलिस, बम्बारी, गणिका, उदार दण्डि आदि का चित्रण किया गया है। इसके पात्र देव या दानव नहीं हैं। वे इन्हीं लोक के प्राणी हैं। उनके सुख-दुःख, रवि-अरवि हमारे समान ही हैं। लोक-भाषा उनकी भाषा है; लोक-व्यवहार उनका जीवन है। उनकी कहानी सुनकर पाठक के हृदय में आनन्द, शौक्य, आश्चर्य, कष्ट और डर आदि के भाव स्वतः ही उमड़ आते हैं। 'मूच्छकटिक संस्कृत का एकमात्र धर्मार्थवादी नाटक है। कालिदास और भक्तानि में हमें काव्य और भावना का उदात्त वातावरण मिलता है, जबकि मूच्छकटिक में जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होने हैं।'

(२) मूच्छकटिक की कथावस्तु में घटनाचक्र की गतिशीलता है। कवि ने पानक तथा आर्यक की राजनैतिक कथा को चारदत्त और बसन्तमेनका की प्रणय कथा के साथ बड़ी कुशलता से मिलाया है। यहाँ आर्यक की प्रेमकथा का अविच्छेद अङ्ग बन गई है और इससे मूच्छकटिक की कार्यान्विति (unity of action) में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(३) शूद्रक के संवाद मरल तथा संक्षिप्त हैं उनमें वाग्विदग्धता तथा व्यङ्ग्य का दर्शन होता है। हास्य रस की अधिव्यञ्जना में तो यह संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है (देखिये रम-प्रवेचन)।

(४) संस्कृत साहित्य में यह एकमात्र चरित्र-प्रधान नाटक है। मूच्छकटिक के चरित्र-चित्रण की प्रमुख विशेषता है कि इसका प्रत्येक पात्र अपना निजी

व्यक्तित्व लेकर सामने आता है वह केवल प्रतिनिधि-पत्र (type) नहीं है।<sup>1</sup> इस दृष्टि से शूद्रक की तुलना शेक्सपीयर से की जा सकती है।

(५) अनेक स्मरणीय पद्यो एव सूक्तियो से यह रूपक सुशोभित है। इनमें कहीं व्यावहारिक आदर्श हैं कहीं जीवन की निशायें हैं, तथा वहीं काव्य सौन्दर्य विद्यमान है।

(६) इसकी भाषा शैली सरल एव रोचक है। यह नाट्य के शर्यथा अनुकूल है यहाँ पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। विविध प्राकृत भाषाओं के सफल प्रयोग की दृष्टि से तो मृच्छकटिक अद्वितीय है।

(७) मृच्छकटिक में तत्कालीन समाज का सच्चा चित्रण मिलता है। केवल राजवर्ग या ज्ञान्त वर्ग का ही नहीं, अपितु सामान्य समाज का। धाण्डाल से लेकर पूजातरवार ब्राह्मण का, वेश्या से लेकर पतिव्रता साध्वी का। अतः मृच्छकटिक जन-काव्य है।

संक्षेप में मृच्छकटिक संस्कृत-साहित्य का एक अनूठा रूपक प्रबन्ध है। यद्यपि आलोचको ने इसके विविध विषयों का विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया है तथापि इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है। भारत के ही नहीं पश्चिम के समालोचको ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अवश्य ही कालिदास की चारता और भावभ्यञ्जना यहाँ नहीं है, भवभूति की उदात्तता यहाँ उपलब्ध नहीं होती, फिर भी यहाँ एक अनुठी रोचकता एव मनोरमता है जो अग्यत्र दुर्लभ है।

---

1. Each of the twenty-seven personages who take part in the action bears a particular mark, a special trait which strongly characterizes him. Prof. Levi.

❀ मृच्छकटिकम् ❀

नाटक के पात्र  
(पुंलिंग पात्र)

सूत्रधार—प्रधान नट, अभिनय-भ्यवस्थापक  
 अ० १. चारुदत्त—नायक, उज्जयिनी का एक नागरिक  
 मंत्रेय—विद्वयक, चारुदत्त का मित्र  
 शकार—प्रतिनायक, राजा पातक का श्यालक  
 विट—शकार का सहचर  
 चेट—शकार का सेवक  
 अ० २. संवाहक—चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक, घूतकर होने के पश्चात् बौद्ध भिक्षु  
 मापुर—सभ्रिक, प्रधान घूतकर  
 हनुंरक—अन्य घूतकर  
 कर्णपूरक—वसन्तसेना का सेवक  
 अ० ३. वर्द्धमानक—(चेट)—चारुदत्त का मानवाहक  
 शबितरु—एक साहसी ब्राह्मण, मदनिका का प्रेमी  
 अ० ४. चेट—वसन्तसेना का सेवक  
 वन्युत—वेणुपुत्र, वसन्तसेना का आश्रित  
 अ० ५. कुम्भीसक—वसन्तसेना का सेवक  
 विट वसन्तसेना का मृज्जार-सहचर

अ० ६. रोहसेन—चारुदत्त का पुत्र  
 स्थावरक चेट—शकार का मानवाहक  
 आर्यक—गोपालक, राजा पातक का बन्दी, पश्चात् राजा  
 धीरक, शन्वनक—नगर-रक्षक  
 अ० ६. शोधनक—न्यायालय का सेवक  
 अधिकरनिक—न्यायाधीश  
 खेष्ठी—एक सेठ, विवादनिर्णय में अधिकरनिक का सहायक (Assessor)  
 कायस्थ—न्यायालय का लेखक (वेगकार)  
 अ० १०. चाण्डाल—धूती पर चढ़ाने वाले

मृच्छ पर न माने वाले पात्र

भूतपूर्व—चारुदत्त का मित्र  
 पातक—भवन्ती का राजा  
 रेभिल—उज्जयिनी का एक व्यापारी, चारुदत्त का मित्र, एक विशिष्ट गायक  
 सिद्ध—आर्यक की राज्य-प्राप्ति का भविष्य-वक्ता

(स्त्री पात्र)

मटी—सूत्रधार की पत्नी  
 अ० १. वसन्तसेना—नायिका, मदनिका रचनिष्ठा—चारुदत्त की परिचारिका  
 खेटी—वसन्तसेना की दासी  
 मदनिका—वसन्तसेना की प्रिय दासी  
 शबितरु की प्रेयसी

अ० ३. वृता—चारुदत्त की पत्नी  
 अ० ५. पुरघारिणी—वसन्तसेना की परिचारिका  
 अ० ६. वृद्धा, माता—वसन्तसेना की माता

अथ

# मच्छकटिकम्

प्रथमोऽङ्कः

पर्यङ्कप्रत्यिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसवीतजानो-

रन्त प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरद्धेन्द्रियस्य ।

आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरण पश्यतस्तत्त्वदृष्टया

शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयग्रह्यालग्न समाधि ॥१॥

अपि च,

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाभ्युदोपम ।

शौरीभुजलला यत्र विद्युत्सेखेव राजते ॥२॥

( मान्यन्ते )

सूत्रधारः—अलमनेन परिप्लव्कुतूहलविमर्दकारिणा पारश्रमेण । एवमह-

अथ विकीर्णितस्य प्रकरणस्य निर्विघ्नतया समाप्तिकाम तत्रमभ्यान् शूद्रकः  
आशीर्वंधनरूपा मान्दीमवतारयति—पर्यङ्कति । पर्यङ्कप्रत्यिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेष-  
जानो, अन्त प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्टया व्यपगतकरणम्  
आत्मनि आत्मानम् एव पश्यत. शम्भो शून्येक्षणघटितलयग्रह्यालग्न समाधि च पातु  
इत्यन्वयः ।

पर्यङ्कस्य योगासनविशेषस्य श्लेषः रचन तस्य शब्देन द्विगुणित च भुजगा-  
सर्पः तस्य आश्लेषेण परिवेष्टनेन सवीते यद्धे जानुनी जानुद्वय यस्य (तद्य. भूतस्य शम्भो )  
अन्त शरीराभ्यन्तरे प्राणानां प्राणादिवायूनाम् अवरोधेन निरोधेन व्युपरतसकलज्ञानानि  
व्युपरतं निवृत्त बाह्यविषयज्ञान येषां तानि रूढानि सयतानि च इन्द्रियाणि यस्य (तस्य),  
तत्त्वदृष्टया सम्यग्ज्ञानदृष्टया (निर्विकल्पकज्ञानेनेत्यर्थं) व्यपगत स्वप्नापाराद् उपरत  
करणम् इन्द्रियादिकं यथा तथा आत्मनि स्वस्मिन् आत्मानमेव स्वचिद्रूपमेव पश्यत-  
साक्षात् कुर्वत शम्भो शिवस्य शून्यस्य निराकारस्य ईक्षणेन दर्शनेन घटित्त्र निष्पादित.  
यः सद्यः तस्तीनता तेन बह्यानि लग्न समाधि च पुष्मान् साक्षाजिवान् पातु रक्षतु ।  
स्रग्धरा वृत्तम् ॥१॥

# मृच्छकटिक—हिन्दी-अनुवाद

## प्रथम अङ्क

पयंकु नामक योगामन से सन्धि-स्थल पर बाँधने से द्विगुणित सपं के लपेटने से त्रिम (त्रिभु) के घुटने (जानू) बंधे हुए हैं, (योग-बन्ध के द्वारा) प्राण-वृषु को भीतर ही रोक देने से त्रिमकी समस्त दृग्दृग् (बाह्य) ज्ञान से विरत तथा समत (सु) हो गई है, जिसने यथार्थ ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार-निरोधपूर्वक अपने भीतर आत्मा का ध्यान किया है, उस त्रिभु को समाधि जो निराकार (ब्रह्म) के ध्यान में होने वाली एकाग्रता (नद) के कारण ब्रह्म में लगी हुई है—आप सब (सभ्रातृदों) की रक्षा करें ॥१॥

त्रिभुकी का जाने वादक जैमा कण्ठ, जिसमें पार्वती की (गौर वर्ण) धुजा रूपी सना विद्युत् पंक्ति के समान शोभित होनी है, आप सब की रक्षा करें ॥२॥

(नान्दी के पञ्चान्)

सूत्रधार—मध्य जनों के कौतूहल से बाधा डालने वाले इन परिश्रम

पात्स्विनि । इयामः । नीलवर्णं, अशुभः जतद एव उपमा साहस्य यस्य तादृश, नीलकण्ठस्य शिवस्य स कण्ठः स गुह्यान् सामाजिकान् पानु रसतु । यत्र कण्ठे गौर्याः पार्वत्याः सुव्रतता धुज एव सता अथवा धुज, सता इव (वेष्टनसाम्यान् धुजे नतापा-रौः) विद्युः संशान्दरेनः एव राजने गीमने । यत्र हि 'नीलकण्ठः कण्ठः' इति सादानुमान 'धुज एव सता' इति रूपकम् । 'त्रिगुणैरेव' इति तामा च । अत्र स्यामनसुवाराणां परम्परानुवेदनया संश्रुतिः । पञ्चावकम् वृत्तम् ॥२॥

नान्दाः जने अजमाने । अशुभि देवता अस्यानिति नान्दी । तथा शोक्तम् 'आशीर्वचनमुक्ता स्तुतिर्विष्णोःकण्ठे । देवद्विजनपादीनां तस्मान्नान्दीति सजिता ।' अथवा—'आशीर्वचनमुक्तः शनोक्तः काव्यार्थमूचकः । नान्दीति कथ्यते प्राञ्ज.' । इयं हि अष्टपदाभिज्ञा पञ्चावली नाम नान्दी तन्वशापन्तु—

'यस्या वीजस्य त्रि-शानो ह्यभिष्टेयस्य वस्तुनः ।

इवेदेन सः समानोःकण्ठ नान्दी पञ्चावलीति सा ॥'

सूत्रधारः—प्रधाननटः । सूत्र प्रयोगानुष्ठानं धारयति । तदुक्तम् ।

नाटधोरवरुपादीति सूत्रमिन्द्रभिषीपते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निरुदते ॥'

परिपरां मञ्जाना कृतुताय अस्तुकस्य विषदंकारिणा हानिकरेण विघ्नकरेण



मार्यमिद्यान्प्रणिपत्य, विज्ञापयामि—यदिदं वयं मृच्छकटिक नाम प्रवरण प्रयोस्तु  
व्यवसिताः । एतत्कवि किल

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरतेन परिपूर्णन्दुमुख मुविषहृत्स्रम् ।

द्विजमुख्यतमं कविर्वभूव प्रथित शूद्रक इत्यगाधसत्रम् ॥३॥

अपि च,

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमय कला वैशिनो हृस्तिशिक्षा,

शास्त्रा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी धोपलभ्यम् ।

राजानं बोक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,

सच्छवा चायुं शताब्द दशादिनसहितं शूद्रकोर्जितं प्रविष्टम् ॥४॥

अपि च,

समरव्यसनी प्रमादशून्यं वपुद वेदविदां तपोधनस्रम् ।

परवारणबाहुपुद्गसुञ्ज सित्तिपात निस शूद्रको, वभूव ॥५॥

या परिश्रमेण अलम् अपिद्वन्द्वरनाटोपाठादिधर्मो व्यर्थ इति भावः । अस्मान् मान्यान्  
मिश्रान् अभ्यस्तबहुशास्त्रान् । मृद मकट मृच्छकट चारुदत्तपुत्ररोहतस्य द्वीडनार्थं घटे  
ऽकृते बणितम्, मृच्छकटम् अत्र अस्ति इति मृच्छकटिकम् 'अत इतिठनी' (भा० २।२।११४)  
इति ठम् । अथवा, मृत्निमित्तता शकटिका मृच्छकटिका सास्त्र्यस्मिन्निति । अथवा, मृद-  
शकटिकापरिमन्निति बहुव्रीहिः । प्रवरण इत्यर्थविशेषः । तत्सदृशं चोक्तं दत्तस्यैव—

ऽथ प्रकरणे दत्तमुत्पात सोरसथयम् ।

अभारकविप्रवणिनामेक कुर्वाण्य नापवम् ॥

धीरप्रज्ञान्त सापाय धर्मवामार्यतत्परम् ।

शैर्षं नाटवत् सपिप्रवेशवरसादिनम् ॥

नायिका तु द्विधा नेतुं कुसरणी यणिका तया ।

कश्चिदेकैकं कृतजा वेण्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥

कुसपाभ्यन्तरा बाह्या वेण्या नातिक्रमोऽनयो ।

आभिः प्रकरणं यथा सङ्कीर्णं द्युतंसङ्कुलम् ॥

'उन्मुसीवरणं तत्र प्रशासते प्रयोजनम्' इति वचनानुसारेण सामाजिकानां  
प्रीत्याहृतार्थं प्ररोचनामवतारयति—द्विरवेति । द्वौ रदो रन्तो यस्य स द्विरव- हाती,  
द्विरवेतु इन्द्र इव द्विरवेन्द्र यजपतिं तस्य यतिविव गति यस्य स तज्येन्द्रवद्  
तर्कमीरगति, चकोरस्य इव नेत्रे यस्य तादृशं परिपूर्णं सकलकलायुतं इन्दुं मुधावर-  
इव मुक्तं यस्य तादृशं, धोपल विप्रहृ मरीर यस्य तादृशं, अगाध सङ्घ इव यस्य

(मङ्गलाचरण) से बस करो । इस प्रकार मैं आप आदरणीयों (सभ्य लोगों) को प्रनाम करके सूचित करता हूँ कि हम इस मृच्छकटिक नामक प्रकरण का अभिनय करने को उद्यत हैं ।

यह कवि नि.सन्देह हाथियों (द्विरद-दो दाँतों वाला) के राजा के समान (मन्थर) गति वाला, चकोर जैसी आँखों वाला, पूर्ण चन्द्रमा के समान (कमनीय) मुख वाला, । मुन्दर गरीर (= विशुद्ध) वाला क्षत्रियो (द्विजों) में श्रेष्ठतम, अगाध बलयुक्त शूद्रक नामक प्रसिद्ध कवि हुआ । ॥३॥

और भी—

ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कलाओं, नाट्यशास्त्र और हस्तिचामन की शिक्षा प्राप्त करके, शिवजी की कृपा से अज्ञान रूनी अन्धकार से मुक्त ज्ञान-बभ्रुओं को प्राप्त करके, (अपने) पुत्र को राजा के रूप में देखकर (अपनी) परम उन्नति करने वाला अश्वमेध यज्ञ करके भी वषं और दस दिन की आयु पाकर शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥४॥

और भी—

युद्ध-प्रेमी, प्रमाद-रहित, वेद के ज्ञाताओं में प्रवीण (ककुद), तपस्वी, शत्रुओं के हाथियों के साथ बाहुयुद्ध (युधती) करने का इच्छुक शूद्रक (नाम का) राजा हुआ ॥५॥

ताहगः द्विजेषु मुख्यतमः श्रेष्ठः शूद्रक इति नाम्ना प्रथितः प्रसिद्धः कविः बभूव ।  
वचनात्कुराटः । मालमारिणी वृत्तम् ॥३॥

प्रकारान्तरेण शूद्रकं विशेषयति— ऋग्वेदमिति । ऋग्वेदं, सामवेदं, गणितं, कलां नृत्यगीतादिरूपां चतुःषष्टिमस्यका विद्याम् अथवा वैशिक्षीं कलां वेदाः नेपथ्यग्रहणं सन्मन्त्रिणां नाट्यकलायुः, हस्तिशिक्षां गजबालनादिशिक्षां च ज्ञात्वा, शश्वस्य शिवस्य प्रभावात् कृपया व्यपगतं तिमिरम् अज्ञानान्धकारः ययोः ताहगे असुधी ज्ञाननेत्रे च अन्धस्य प्राप्य, पुत्रं राजानं वीक्ष्य राज्ये स्थापयित्वा, परमः समुदयः समुत्कर्षः यस्माद् सदाभूर्तेन अश्वमेधनामके । यागेन दृष्ट्वा दशादिनसहितं शताब्दं शतवर्षमितम् शत्रुः च ताहवा शूद्रकः अग्निं प्रविष्टः । संप्रदा वृत्तम् ॥४॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण शूद्रकं प्रगच्छति—समरेति । समरेषु व्यसनी प्रसक्तः, प्रमादेन अनवधानतया शून्यः रहितः [प्रमादोजवधानता-इत्यमरः] वैशिविर्वा कशुबः श्रेष्ठः प्रमुखो वा तपोयनः तत्र एव धनं यस्य ताहगः, परेषां वारणैः शत्रुघ्नैः सह बाहुयुद्धे मत्स्ययुद्धे तुष्यः प्रसक्तः परेषां वारणरूपे बाहुयुद्धे प्रसक्तो वा; शूद्रको नाम विनिर्गतः कित्त इति (प्रसिद्धी) बभूव । तथा च सर्वयुगलम्प्रदोष्यं राजा —इति अर्थः । मानमारिणी वृत्तम् ॥५॥

भस्यां च तत्कृती

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्धवाहो युवा दरिद्र किल चारदत् ।

गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥६॥

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रय नमप्रचार व्यवहारदृष्टताम् ।

खलस्वभावं भवितव्यता तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृप ॥७॥

(परिक्रम्यादलोच्य च) अये शून्येयमस्मत्सङ्कीर्तनात् । वव नु गता कुशीलवा भविष्यन्ति । (विचिन्त्य) आ, ज्ञातम् ।

शून्यमपुत्रस्य गृह निरशून्य नास्ति यस्य सन्निवमम् ।

मूर्खस्य दिशः शून्या सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥८॥

कृत च सगीतक मया । अनेन निरुत्तगोतोपासनेन श्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकर विरगोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारणे क्षुधा ममाक्षिणी रटलदायेते । तदावदृष्टिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किञ्चित्प्रातराशो न वेति । एषोऽस्मि भो वार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी सवृत्त । भविद भविद भो, विरसो- होवात्सणेन सुवशापोवसरणात्साह विडा मे शुभुरसाए मितनाइ अद्गइ । ता जाव गेह ।

अस्य प्रवरणस्य वस्तु सशेषत बोधयति अद्यन्तीति—(अस्या च तःकृती मृच्छकटिने) अवन्तिपुर्याम् उज्जयिनी<sup>३</sup> (य) सार्धवाह सार्धं वनिक्समूहं बहति तयति इति, द्विजस्य असी सार्धवाहश्च द्विजसार्धवाह (पूर्व) वाणिज्यपरः ब्राह्मण, युवा (सम्प्रति) दरिद्र चारदत्त किल आसीत् । वसन्तस्य शोभा इव वसन्तसेना एतन्नामिका गणिका च यस्य औदार्यदाग्निष्वादिभिः शुर्णं अनुरक्ता आसीत् । उपमासङ्कार । उपेक्षयत्या वृत्तम् ॥९॥

तयोरिति—तयो. वाग्दत्तवसन्तसेनयो सन् शोभन् य सुरतोत्सवः सुरतम् एव उत्सवः सः अभयम् आधार यन् त मयस्य नीति प्रचार व्यवहारम् अथवा सत्सुरतो- र्त्सवस्य आधय विषय नीतिव्यवहारम्, व्यवहारस्य विवाहविचारस्य कुट्टतां सदीपताम्, खलानां (शकाणां) धूर्तानां स्वभाव तथा भवितव्यतां च इदं सर्वं (अस्यां स्वकृती) च शूद्रक नृप प्रचार किल प्रथितवान् । वशात्प्रवृत्तम् ॥७॥

'अये' इति विवादबोधनमध्ययम् । कुशीलवा नटा (नटारधारणाश्च कुशीलवा इत्यमरः) 'आम्' इति स्वीकृती स्मरणे वाध्ययम् शून्यमिति—अपुत्रस्य पुत्रहीनस्य गृहं शून्यम् अभिमतरार्यरहितम् ? यस्य सन्निव्रथेष्टमिन्न नास्ति तस्य चिरशून्यं निर दीर्घः समयः एव नृप समिपत्तय अभिमतरार्यगाधनत्वात्, मूर्खस्य विना स्थानानि शून्या शून्यानि दरिद्रस्य तु सर्वं गृह, यान, स्थान च शून्यम् । निधनस्य सर्वमेव दुःसकृत् अत दरिद्रस्य मम तयोत्तमाना शून्येति भावः । अपरतुत्प्रमताः-

और उसकी इस रचना (मृच्छकटिक) में—उज्जयिनी में (पहले) बाह्यग—  
ध्यापारी किन्तु (बाद में) दरिद्र युवक चारदत्त (रहता था) और वसन्त (श्रुतु) की  
मुन्दरना जंसी (रमणीय) 'वसन्तसेना' नामक वेश्या (चारदत्त) के गुणों के कारण  
(उन्में) प्रेम करती थी ॥३॥

(इस मृच्छकटिक नाटक में) उन दोनों (चारदत्त और वसन्तसेना) के श्रेष्ठ  
आन्दोलोत्सव पर आश्रित नीति का आचरण, विवाद-विचार (व्यवहार) की दोषःपन्ता  
दृष्टों का स्वभाव तथा होनहार, इन सबका राजा शूद्रक ने प्रथम किया है ॥.॥

(पुनरु और देखकर)—अरे ! हमारी यह सगीतजाला (तो) खाली है । नट  
कहाँ गये होंगे ? (सोचकर) हाँ जान लिया ।

पुनहीन का घर सूना है, जिसका अर्द्ध मित्र नहीं है उसका सभी समय  
सूना (रहता) है । मूर्ख के लिये (सर्भी) दिशाये सूनी है, निर्धन के लिये सब कुछ  
सूना है ॥८॥

मैंने गंगोत (का कार्य) कर लिया है । इतनी देर तक संगीत में तत्पर रहने से  
षचन पुनलियों वाली मेरी आँखें भूल से, मर्षों के समय में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से  
नूने हुए कमल के बीज की भाँति खटखटा रही है, तो तब तक पत्नी को बुलाकर  
पूटना है कुछ प्रातराज (कलेवा) है या नहीं । यह (मैं) कार्यवश और प्रयोगवश प्राकृत  
बोनेने वाला हो गया हूँ ।

खैद है कि देर तक संगीत का कार्य करने के कारण भूल से मेरे अग सूखे  
हुए कमलनाल की तरह मुरझा गये हैं, तो तब तक घर आकर पता लगाता हूँ कि

सङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥८॥

सङ्गीतकं नृत्य गीत तथा धार्यं त्रय सङ्गीतमुच्यते—इति सङ्गीतरत्नाकरः ।  
प्रचण्डस्य दिनेकरस्य किरणं उच्युष्क यद् पुष्करबीजं कमलबीजं तद्बद् । प्रचलिते  
तारके ययोः ते अक्षिणी ध्रुवया बुभुक्षया खटखटापेते खटखटशब्द कुस्तः (टि०)—  
इत्यमरबद्धप्रमाणेन भाषिनः शकारामरबद्धप्रमाणस्य सूचनम् इति पृथ्वीधरः । कार्यवशात्  
प्रयोगवशात् । प्रयोगवशात्—'स्योपु नाश्रावृतं बदेत्' इति मुकुमारत्वेन मुप्रयोगत्वं  
प्रावृत्तस्य—इति पृथ्वीधरः । तथा च प्रयोगवशात्=नाट्यप्रयोगनियमाद् इति काकः ।  
नाट्यप्रयोगार्थं हि बहून् दृश्यते प्रयोगशब्दव्यवहारः यथा 'यदि प्रयोग एकस्मिन्  
प्रयोगोऽन्यः प्रमुग्गते' (मा० दर्पणः ६-३६) । अत्र च नटीसूत्रधारी शोरसेनीभाषा-  
पाठो ।

अविद भविद वष्टं वष्टम् । सविधायने इति सविधानं तदेव संविधानकम्  
आशोजनम् । आपामो अनिशीर्षं तण्डुलीदक्षय तण्डुलप्रशातनत्रतस्य प्रवाहो यस्या

गबुध आगामि, अरिषि किंहु कुटुम्बणीए उठवादिह न वेति । (परिक्रम्यावसोरय च ।) एद त अम्हाण मेहम् । ता पविसामि । (प्रविश्यावसोरय च) हीणामहे । कि च बभु अम्हाण मेहे । अण्ण विअ सविहाणअ षट्ठि । अण्णमितण्डुलीदकप्रवाहा रथ्या सोहकडाहपरिवत्तणकसणसारा किदवितेउजा विअ सुअरी अहिअरं सोहदि भुनी । तिलिद्धगण्णेण उद्दीविअन्तो विअ अहिअ पायेवि म बुभुख्सा । ता कि पुण्णज्जिअ गिहाणं उअरण भवे । आहु अह उजेव बुभुख्सावो अण्णमअ श्रीअसोअ पेश्ठामि । जत्थि किल पाइरातो अम्हाण मेहे । पाणाधिअ बाधेदि म बुभुख्सा इय सव्व जव सविहाणअ षट्ठि । एका वण्णं पोतेवि अवर म्भुअइ गुम्फेदि । (विचिच्छ) कि नेहम् । मोहु कुटुम्बिअ सदाविअ परमत्थं जाणिससम् (नेपग्गामिमुसामइसोरय ।) अग्गे, इरो वाव । [अदिअ, अदिअ, भोः चिरसगी गोपासनेन शुभ्रपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यङ्गानि । तथावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति । इदं तदस्माकं गृहम् । तत्प्रविशामि । आश्चयम् । कि नु खत्वस्माकं गृहेऽप्यदिव सविधानकं वर्तते । आयामितण्डुलीदकप्रवाहा रथ्या सोहकडाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषवेव युवत्यधिकतर शोभते भूमिः । स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । तत्किं पूर्वाजितं निघानमुत्पन्नं भवेत् । अथवाहमेव बुभुक्षातोऽन्नमय जीवलोकं पश्यामि । नास्ति किल प्रातर्शोऽस्माकं गृहे । प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा इह सर्वं नवं सविधानकं वर्तते । एका वणकं पिनाष्टि, अपरा मुमनसो ग्रथ्णाति । किन्विदम् । भवतु । कुटुम्बिनी शब्दाय परमार्थं ज्ञास्यामि-आर्ये इतस्तावत् ।]

नटी—(प्रविश्य) । अज्ज इअम्हि । [आर्ये इयस्मि ।]

सूत्रधारः—अज्जे, ताअव हे [आर्ये स्वागतं ते ।]

नटी—आणवेहु अज्जो को गिओओ अण्णिच्छोअहु ति । [आज्ञापयत्वार्यं को निवोगोऽनुष्ठीयतामिति ।]

सूत्रधारः—अज्जे, (चिरसगीरोवासणेण इयादि पठित्वा) अत्थि कि पि अम्हाणं मेहे अत्थिवणं न वेति । [अर्ये, अस्ति किमप्यस्माकं मेहेऽशितव्यं न वेति ।]

नटी—अज्ज, सव्व अत्थि । [आर्ये, सर्वमस्ति ।]

सूत्रधारः—कि कि अत्थि । [किं किमस्ति ।]

नटी—तं वणा—गुडोवण घूअ बहि तण्डुलाइ अज्जेण अत्थव्वं रत्ताअणं सव्व अत्थि ति । एअं हे देवा आसासेहु । [तद्यथा—गुडोदनं घृतं दधि तण्डुलाः आर्येणात्तव्यं रस्तापनं सर्वमस्तीति । एवं तव देवा आशासन्ताम् ।]

गृहिणी ने कृद्य (खाने के लिये) बनाया भी है या नहीं। (धूमकर और देखकर) यही हमारा घर है। इसमें प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और देखकर) आश्चर्य ! हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। गली विस्तृत चावल के जल-प्रवाह से व्याप्त है। सोहे की कड़ाही को (भाजने के लिये) घुमाने से चितकबरी हुई भूमि काला तिलक लगभग हुए युवती के समान अत्यधिक घोषित हो रही है। (घो आदि की) स्निग्ध गन्ध से चंद्रोपल हुई भूख मुझे अधिक पीड़ित कर रही है, तो क्या पूर्वो द्वारा यजित सजाना (गुणधन) निकल आया। या मैं ही भूख से संसार को अन्वय देख रहा हूँ। हमारे घर में कलेबा (तो) है ही नहीं। भूख के मरे मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ-सब नया आयोजन है। एक सुगन्धित द्रव्य पीछे रहो है, दूसरी फूलों को सूख रही है। (सोचकर) यह क्या (बात) है ? अच्छा ! गृहिणी को पुकार कर शपथ बात जान लूँ। (नपथ्य की ओर देखकर) आर्य, इधर तो जाना।

नदी—(प्रवेश करके) आर्य, यह (मैं) हूँ।

सूत्रधार—आर्य, तुम्हारा स्वागत है।

नदी—आर्य, आज्ञा दें, आपकी किस आज्ञा का पालन किया जाये ?

सूत्रधार—आर्य, (बहुत देर तक संगीत का सेवन करने से, इत्यादि को पढ़कर) हमारे घर में खाने योग्य कुछ है या नहीं ?

नदी—आर्य, सब कुछ है।

सूत्रधार—क्या-क्या है ?

नदी—जैसे—गुडभात, घी, दही, चावल—आर्य के खाने योग्य सब सरसं-भोजन है। इस प्रकार आपके देवता (उन्नोक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिये) भागीदार हैं।

पशुभूता रम्या । लोहस्य कटाहः तस्य परिवर्तनेन इतस्ततः चालनेन कृष्णत्वात्  
विना भूमि कुतः विशेषकः तिलकः यथा तथाभूता युवती इव शोभते । प्राणाधिक  
प्राणेषु अधिकं = जावने सौदुम् अशक्यं यथा स्यात् तथा प्राणात्ययम् इति पाठान्तरं  
प्राणात्प्रत्ययः कस्य स्थात् तथा इत्यर्थः । उभयथापि क्रियाविशेषणम् । वृणक्तं  
स्त्पूर्वाधिकं हृदिद्रादिकं वा ।

गुडोन्नं गुडेन भोदनं गुडमिश्रितम् भोवनं वा ; रसायनं रसानाम् अपनम्  
भाष्यभूत सरसं भोज्यमिति भावः । आशासन्तां प्रसादविषयोऽनुवंतु । स्वगतम् प्रकाशं  
५ है ताटपोऽऽ । एनयोश्च लक्षणं दर्शने—“अथाभ्यं सनु यद्बस्तु तदिह स्वगतं  
पदम् । सर्वथाऽभ्यं प्रकाशं स्यात्” —इत्युक्तम् । ऐस्वति दिन्ना भगना वा

सूत्रधार—किं जम्हाण मेहे सख् अत्थि । आदु परिहससि । [विमस्माकं मेहे सर्वमस्मि । अगवा परिहससि ।]

नटी—(विगतम्) परिहससिस्स दाप । (प्रव.शम) अज्ज, अत्थि ज.वणे । [परिहसिष्यामि तावत् ।] [आर्यं अम्न्यापणं ।]

सूत्रधार—(सक्रोधम्) आ अणज्जे एण्ण दे अत्ता खिञ्जिरसदि । अभाव भ गमिस्ससि । ज राणि अह वरण्डलम्बुओ विअ दूर उविसविअ पाडिओ । [आ. अनायं. एव तवाशा छेत्स्यति । अभाव च गमिष्यसि । यदिदानीमहम्, वरण्ड-लम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातित ।]

नटी—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो । परिहासो वसु एसो । [भपतु मपत्वाय परिहास खत्त्वंप ।]

सूत्रधार—ता कि उण इव णव विअ मज्झिमाअ चट्टदि । एवता वण्णअ पीत्तेदि, अवता सुनणाओ मुम्फद इअ अ पञ्चवण्णवुमुसोपहारसोहिदा भूमो । [स.कि पुनरिद नवमिव सविधानक वर्तत । एवा वर्णक विनष्टि, जपरा मुमुनसो मुम्फत्ति, इय च पञ्चवण्णवुमुसोपहारसोभता भूमि ।]

नटी—अज्ज उवयासो गहिओ । [अच्छापवासा गृहीत् ।]

सूत्रधार—कि नामधेओ अज उवयासो । [कि नामधेयोऽयमुपवास ?]

नटी—अहिहअवदो नाम । [अभिरूपपतिर्नाम ।]

सूत्रधार—अज्जे, इहतोइओ आदु पारलोइओ । [आर्यं, इहलौकिकोऽप्यवा पारलौकिकः ?]

नटी—अज्ज, पारलोइओ । [आर्यं, पारलौकिक ।]

सूत्रधार. (सरोपम्) वेवलन्तु वेवलन्तु अज्जमिरसा । ममकेरवेण भत्तपरि-व्वारेण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअत्ति । [प्रेक्षन्ता प्रेक्षन्तामायंमिश्रा । मदीयेन भत्तपरिधय्येन पारलौकिको भर्तान्विष्यते ।]

नटी—अज्ज, वमीद वतोद । तुम ज्जेव जम्मन्तरे भविस्ससि ति । [आर्यं, प्रसीद प्रसीद । त्वमव जम्मन्तरे भविष्यसीति ।]

सूत्रधार—अय उवयासो केण दे उवदिट्ठो । [अयमुपवास. केन तवोप-दिष्ट ?]

नटी—अज्जस्स ज्जेथ पिअवअसोण जूणवुद्धेण । [आर्यंस्त्वं प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन ।]

सूत्रधार—(मवोपम्) आ दासोए पुत्त जूणवुद्ध, कदा शु वणु तुम कुदि-देण रणा पासएण णवयहूकेसत्थे विअ सुअण्ण वप्पिज्जन्त वेविलस्सम् । [आ दास्या. पुत्र जूर्णवृद्ध, कदा नु एवमु त्वा मुपित्तेन राजा पालकेन नवयधूके-हस्तमिव मुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये ।]

सूत्रधार—क्या हमारे घर में सब कुछ है, या परिहास कर रही हो ?

नटी—(अपने आप) तो परिहास करूँगी । (प्रकट रूप में) बाजार में है ।

सूत्रधार—री दुप्या । इसी प्रकार तेरी दायाा नष्ट हो जायगी और तू अभाव (नाश) को प्राप्त होगी । क्योंकि इन समय में (डेंकुलीं के) सभ्ये सट्टे से (एक कोने पर) बड़े हुए मिट्टी के टैते के समान ऊँचा उठाकर पटक दिया गया है ।

नटी—आयें, क्षमा करें, धमा करें । वास्तव में यह परिहास था ।

सूत्रधार—तो फिर यह नवीन-सा आयोजन क्या है ? एक (कुवती) सुगन्धित द्रव्य पीन रही है, दूसरी पुष्पो को गूथ रही है, और यह भूमि पचरणे पुष्पां के उपहार से गोपित है ।

नटी—आज उपवास इष्टम किया है ?

सूत्रधार—इस उपवास का क्या नाम है ?

नटी - (इमथा नाम) अभिरूपपाति (बिस्से अनुकूल पति मिलता है) व्रत है ।

सूत्रधार—आयें, इस लोक में होने वाला (पति) अदका परलोक में ?

नटी—आयें, परलोक में होने वाला ।

सूत्रधार—(शोधपूर्वक), सज्जनों देखिए, देखिए । मेरे भात के भय द्वारा पारलौकिक पति दूहा जा रहा है ।

नटी—आयें, प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये । तुम ही दूसरे जन्म में (पति) होंगे (इगतिमें व्रत कर रहो हैं) ।

सूत्रधार—यह उपवास तुम्हें किसने बताया ?

नटी—आयें के ही प्रथमिथ जूर्णवृद्ध ने !

सूत्रधार—(शोधपूर्वक) अरे दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध, शोधित राजा पातक के द्वारा, नववधू के मुखामिथ वेधराग के समान, तुम्हें खीरा जाता हुआ मैं कब देखूँगा ।

प्रविशति । अभावं विनाशम् च प्राप्स्यति—अनेन वसन्तमेनाया. प्रबहणविपदात्—  
मोहनयोः सूचनमिति पृथ्वीधरः । वरपः दीर्घाच्छ तस्य सम्बुक्तं तत्प्रान्तिनवदः  
मृतिकाम्युषः सः हि शोभा पानीपोदात्तं दूरमुत्थाप्याथ. पाल्यते—इति पृथ्वीधरः  
(विगेरस्तु टिप्पणा इष्टव्य) ।

पञ्चवर्षात् कुमुमानाम् उपहारेण गोपिता भूमिः । उपवास. उपोष्यनेऽस्मि-  
न्निति वचम् । पारलौकिक इत्यनेन एतन्नय्युदात्तेन नायकान्तरतासमूहनम्—इति ।  
पृथ्वीधरः । अभिरूप मुन्दरः विद्वान् वा पतिः यस्मात् । 'आः' इति आशेने (अव्ययम्) ।  
वेगाहृतम् इति पाठान्तर वेजकनापम्—इत्येवार्थः । ऐश्वर्यमल 'परिगन्तं'  
इति प्राकृतपाठ तस्य च जूर्णवृद्धरसे 'देवमानं' वयुरसे च 'वन्व्यमानम्' इति संस्कृतम्  
(टि०)—अनेन गहाराद्धे चाण्डालनिशङ्कसूचनम् इति पृथ्वीधरः ।



नटी पत्नीवदु अज्जो । अज्जसम एतेव पारलोहजो अज उवव सो । (इति पादयो पतति) [प्रसादत्वार्थं आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः ।]

सूत्रधार — अज्जे उट्ठेहि । कथेहि एत्थ उववासे केण कज्जम् । [आर्ये, उत्तिष्ठ । कथयात्रोपवासे केन कार्यम् ।]

नटी — अम्हारिसज्जणजोग्गेण ब्रह्मणेण उवणिमन्तिवेण । [अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन ।]

सूत्रधार — अज्जे गच्छदु अज्जो । अह्वि अम्हारिसज्जणजोग्ग ब्रह्मण उवणिमन्तेमि । [अतो गच्छत्वार्थां । अहमप्यस्मादृशजनयोग्य ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।]

नटी — ज अज्जो आणवेदि । [यदाय आज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

सूत्रधार — (परिब्रज्य) हीमाणहे । का कथ मए एत्थ सुत्तमिदंए उज्जणीए अम्हारिसज्जणजोग्गो ब्रह्मणो अण्णेत्तिवच्चो (वितोष्य) एसो चारुदत्तस्स मित्तम् मित्तेओ इओ जेक्क आणवच्चदि । भोदु । पुच्छिस्स दाव । अज्ज मित्तेअ, अम्हाण गेहे मित्तु अण्णो भोदु अज्जो । [आश्चर्यम् संस्मात्कथं मयैव सुसमृद्धाया-मुज्जयिन्यामस्मादृशजनयोग्यो ब्राह्मणोऽन्वेपितव्यः । एष चारुदत्तस्य मित्रम् मैत्रेय इत एवागच्छति । भवतु । प्रक्षयामि तावत् । अद्य मैत्रेय, अस्माकं गृहेऽशितुमप्रणीभं वत्वाय ।]

(नेपथ्ये)

भो अण्ण ब्रह्मण उवणिमन्तेदु अज्जम् । ववुओ बाणि अहम् । [भो, अन्य ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान् । ध्यापृत इदानीमहम् ।]

सूत्रधार — अज्ज, सक्कण भोअण णीसवत्त अ । अदि अ इत्तिणा वि वे च्चिस्सदि । [आय, सम्पूर्णं भोजनं निःसवत्त च । अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति ।]

(पुनर्नेपथ्ये)

भो, बाणि पढम एतेव पष्चादिदुत्थीति ता को बाणि वे णिद ग्यो पदे पदे मम् अज्जन्धेदुम् । [भो इदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि, तत्किं इदानीं ते निर्वन्ध पदे पदे मामनुदुद्घुम् ।]

सूत्रधार — पष्चादिदुत्थीहि एविणा । भोदु अण्ण ब्रह्मण उवणिमन्तेमि । [प्रत्यादिष्टोऽस्म्येतेन । भवतु । अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।] (इति निष्क्रान्तः) ।

इत्यामुत्तम्

अग्रणी अग्रसरः । नेपथ्ये वेशपरिग्रहस्थाने [अन्तर्ज्वलितवामाहुर्नेपथ्यम्] ।

नटी—आर्य, प्रसन्न हों। यह पारलौकिक उपवास तो आर्य के ही लिये है।  
(बिंसे पर गिरती है)

सूत्रधार—आर्य, उठी। बतलाओ इस उपवास में किस (व्यक्ति) से प्रयोग है।

नटी—अने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करने से।

सूत्रधार—तब आर्य (तुम) जाओ। मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

नटी—जो आर्य जाता देखें हैं। (बनी जाती है)

सूत्रधार—(धूमकर) आर्यवर्ग ! तो किस प्रकार इस सुसम्पन्न उज्जयिनी में अपने योग्य ब्राह्मण को ढूँढा जाये ? यह चाण्डाल का निज मंत्रण इस ही का रहा है। अच्छा पूछूँ तो। आर्य मंत्रण, आज आप हमारे घर भोजन करने के लिये बनी हों।

(नेपथ्य में)

अरे ! आर्य हमारे ब्राह्मण को निमन्त्रण दें। इन समय में व्यस्त हैं।

सूत्रधार—आर्य, भोजन बड़िया- (सम्पन्न) है तथा (इसमें) दूध विपत्ती भी नहीं (निःशून्य)। इसके अतिरिक्त तुम्हारी दक्षिणा भी होती।

(फिर नेपथ्य में)

अरे ! (तुम्हें जब) अभी पहने ही मना कर दिया गया है, तो इस समय पद-पद पर मुझसे अनुरोध के लिये तुम्हारा क्यों आग्रह है।

सूत्रधार—इसने (तु) मना (ही) कर दिया। अच्छा, दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

(बाहर जाता है)

(आमुष समाप्त)

आवृत्तः कार्यान्तरे व्यस्तः । सम्पन्नं मृत्यं पशुम् सन्दृष्टं वा (दि०) । निःशून्यं विपन्नहीनम् । प्रत्यागच्छितः निराश्रितः । विरक्षणं आग्रहः । अनुकूलम् अनुरोधम् ।

आमुषं प्रस्तावना । दयोक्तं साहित्यदर्पणे (६.३१-३२)—

नटी विदूषको वारि पारिवारिक एव वा ।

सूत्रधारिण महिमासंज्ञानं यत्र भुवन्ते ॥

विरक्षणार्थं स्वकामोत्थं प्रन्तुतासोनिभिदिषः ।

आमुषं तत्तु विज्ञेयं वाग्ना प्रस्तावनादि वा ॥

सा च प्रस्तावना पञ्चविंश शक्तिः । अत्र हि तेषां प्रयोगनिश्चयो नाम प्रस्तावनाभेदः । तथा हि—एषि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगेभ्यः अनुसृजते तेन प्राग्-

## (प्रथम प्रावारहस्त )

मंत्रेण—(‘अथ्य ब्रह्मण’ इति पूर्वोक्त पठित्वा)अथवा, मए वि मित्तएण परत्स आमन्तणआइ मच्चिद्धदस्साइं । हा ङ्गन्ने, तुत्तीअत्ति । जो पाम अह तत्तमवरो चावदत्तत्स रिद्धोए अहीरत्त पअत्तणत्तिद्धोइ उग्गासमुरहिण्णोहि भोदकेहि उग्गेव वत्तिहो अग्गन्तएवदुत्सालअदुआए उवविट्ठो मत्तवमदपरिवुदो वित्तअरो विअ भद्दुत्तीहि विविअ-विदिअ अक्कोमि । अअरत्तएवत्तहो विअ रोमन्थाप्रमाणो चिट्ठोम । सो र्त्तिव भहं तत्स वत्तिह्वाए अहि त्तिहि धरिअ वेह्वाारावदो विअ आवात्तणमित्त इध आ, अग्गन्नि । एते अ अग्गवात्तएत्तत्त विअवअत्तेण कुण्णकुण्णोण जादीकुसुमवात्तिसो पावारओ अणत्तेमिहो सिद्धोविददेवकज्जत्त अग्गवात्तएत्तत्त उवणेदत्तेति । ता आव अग्गवात्तवत्त वेत्तवामि । (परिक्कन्थावलोचण स ।) एते वादत्तो सिद्धोविददेवकज्जो गिह्वावेववाण वत्ति हरेत्तो इधो उग्गेव आअच्छदि । [अथवा मयापि मंत्रेणेण परत्सामन्त्रणकानि समीहितव्यानि । हा अवस्ये , सुचय्यि । यो नामाह तत्रभवत्तरवारुदत्तस्य मद्दयाहोरात्र प्रयत्नसिद्धं रद्गारमुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽप्यन्तरचतुःशलयाद्वारउपविष्टो मत्तवशतपग्वृतश्चित्रकर इवाङ्गुलीभि स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि । नगरत्तवदरवुपभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठासि । स इदागोमह तस्य दरिद्रतया यत्र तत्र चरित्वा गृहपारावत् इवावासनिमित्तमन्नागच्छामि । एष चार्थचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णव्दने जानीकुसुमवात्तितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यायं चारुदत्तस्योपनेतव्य इति । तद्यावदार्थचारुदत्तं पश्यामि । एष चारुदत्त सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवताना वत्ति हरन्ति एवागच्छति ।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टवपारुदत्तो रदनिका च)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सन्निवृत्त निश्चस्य)

याता धलिः रापदि मद्गृहदेहलीना

हंशेष च सारगण्येष च विलुप्तपूर्वः ।

प्रवेशश्चेत् प्रयोगात्तस्यस्तथा” ।

अत्र हि नियन्त्रणार्थं कस्यचिद् बाह्यान्त्यान्वेषणम् एषः प्रयोगः । तस्मिन् प्रस्तुते एष धारदत्तस्य विजय मंत्रेण इत एवाणच्छति” । इति द्वितीयः प्रयोगः । अनेन च त्रितीयेन प्रयोगेण मंत्रेणैवैवस्य धारस्य प्रवेशः, अत्र बभौदधातो नाम प्रस्तावनाभेदः इति वेपिद् ।

प्रान्तरं उत्तरोर्ध्वं हस्ते यस्य यः । तुल्यसि परीक्षते । तुल्यसि इति पाठे तुल्यस्येति तत्पूर्वस्येति इत्यर्थः ‘तत्करोति तदावष्टे’ इति तुल्यस्येति णिच् ।

(उत्तरीय हाथ में लिये प्रवेश करने)

मंत्रेय—(दूगरे काष्ठण को (इस पूर्वोक्त को पढ करके) वा, मुझ मंत्रेय को भी दूगरों के निमग्नता की वरमाना करनी चाहिए । शय्य (निर्घन) अवस्थे ! (मिरा) परीक्षा ले रही हो । जो मैं पूज्य चारदत्त की सम्पन्नता के कारण रात-दिन यत्नपूर्वक तयार किये गये, (त्वाने के बाद) जिनका उद्गार (हकार) भी सुगन्धित है, ऐसे सहृदयों (के साने) में परिनृप्त हुआ, भीतरी चतुःशाखा के द्वार पर बँठा हुआ (साथ पदार्थों से पूर्ण) मँकड़ों पात्रों में घिरा हुआ चित्रकार के समान अमुन्दिपों में घू-सू करके छोड़ देता था, नगर प्रादुर्गण के साह को नरक जुगाली कर्ता बँठा रहता था, वही मैं आज्ञात्मक उस (चारदत्त) की धनहीनता के कारण पालतू कबूतर के समान जहाँ-जहाँ घूमकर (भटक कर) वनेरे के लिये यहाँ आ जाता हूँ । साथ चारदत्त के प्रिय मित्र जूगंवृद्ध ने जाती पुष्पों (चमेली) से सुवासित यह उत्तरीय भेजा है कि देवताओं की पूजा से निवृत्त हो जाने पर आर्य चारदत्त को (इसे) देना, तो तब तक देवपूजा से निवृत्त आर्य चारदत्त को देखता हूँ । (घूमकर और देखकर) यह आर्य चारदत्त गृह-देवताओं की वलि को लिये हुए इधर ही आ रहे हैं ।

(इसके बाद यथानिदिष्ट चारदत्त और खनिका प्रवेश करने हैं ।)

चारदत्त—(ऊपर देखकर और दुःख सहित लम्बी साँस लेकर) जिन मेरे घर की देहलियों पर (टानी हुई) बलि हंस और सारसों के झुण्डों के द्वारा पहले

प्रायेण सिद्धं निष्पन्नैः । उद्गारेषु सुरभिगन्धो येषां तथापूर्तं मोदकं अशितः अशनेन  
 दृष्टः मल्लकानां पात्रविशेषाया [विद्रूपकपले-ध्वञ्जनादिप्रुरितपात्राणा, चित्रकारपद्मे-  
 बलिकापात्राणाम्] इतेन खल्वन. अयनयामि त्यजामि, अत्यन्ततुल्यत्वात् चित्रकारोऽपि  
 विन्दुपातभयान् रणिकापात्रं स्पृष्ट्वा-स्पृष्ट्वा विस्रिपति । आवागमिनिस्त त्रिषामायम् ।  
 सिद्धीकृतं निन्नादिन देवकार्यं देवाचंत येन तस्य । पृथीव्रतकृतदेवकार्यस्य इति पाठान्त-  
 रम्; षष्ठीव्रते कृत देवकार्यं देन तस्य इत्यर्थः । नर्मि पूनादव्यम् । 'प्राप्या विद्रूपकादी-  
 नाम् इति दर्पणोक्तेः विद्रुपत्रस्य प्राप्या भाषा । 'एषः चारदत्त' इ यादिना चारदत्तस्य  
 प्रवेशः नृष्यते ।

सनिर्वेदं निर्वेदेन सहिनम्; निर्वेदे- दारिद्र्यजनितदुःखम् । 'निश्चयस्य' इत्यस्य  
 क्रियाविशेषणम् ।

विगतवैभवश्चारदत्तः सविपात्रं प्रातनीमपस्या स्पृष्ट्वा नयति—यामामिति ।  
 मार्गं मरुगृहस्य देहलीना तत्र दशः इत्यर्थः अतिः अत्यन्त सपदि इति हंसः पारसगणः  
 च पूर्व पूर्वनामं बिलुप्तः भगदित्वा समाप्यते म्यः तानु एव (पूर्व बन्धनेन समुद्रानु  
 देहलीनु) सञ्जति अपुना मम दारिद्र्यावस्थायाः निति दावत् (मंस्काराभावात्) विष्कृताः

तास्वेव सप्रति विरूढतृपाडकुरामु  
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीडः ॥६॥

(इति मन्द मन्द परिक्रम्योपविशति)

विदूषकः—एतो मञ्जुचाखसो । ता आव सपद उवसप्पामि । (उपनृत्य)  
सोत्थि ममहे । बहडु मवम् । एष आयंचारुदत्त । तद्यावत्तांप्रतमुपसर्पामि ।  
स्वस्ति भवते । वर्धतां भवान् ।]

धारवत्तः—अय सर्वकानमिन्न मंभेय प्राप्तः । सते स्वागतम् ।  
आस्यताम् ।

विदूषकः - अ मव आणवेदि । (उपविश्य) भो वमस्त एतो दे विम्वमस्तेव  
कुण्णुद्वेण जाहोकुमुमवासिदो पावारओ अणुप्यसिदो सिद्धीविदरेवकण्णस अख  
आम्वसस्त तुए उवणेदमो सि । [यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य एष ते प्रिय  
वयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुमुमवासितः पावारवोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्या  
पंचारदत्तस्य त्वयोपरेतव्य इति । (समर्पयति)

(धारदत्तो गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः)

विदूषकः - भो किं इह चिन्तोभदि । भो—किमिदं चिन्त्यते]

धारवत्तः—वयस्य,

सुखं हि दुःखान्पनुभूय शोभते  
घनान्घकारेभिरव दीपदानम् ।

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां

धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥

विदूषकः—भो वमस्त, मरणादो ज्ञानिहादो वा रुदरं दे रोमदि । [भो  
वयस्य, मरणाद्द्विधाद्वा कतरन्ते रोचते]

विदूषकः—वयस्य

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।

अत्रोक्तेषां मरणं, दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥११॥

उत्पन्ना. तृणाश्चरुः। यासु तथा भूतासु कीटमुर्धः अवलीडः आवाहितः सञ्चितो वा  
बीजाञ्जलिः मञ्जुलिपरिमितं बल्यन्नं पतति । पर्यायात्तद्धारः । वसन्ततिवर्षा  
वृत्तम् ॥६॥

विदूषकः नायवस्य मित्रं तस्य शृङ्गारे सहायकः । तस्मैतत्रं चोक्तं रवेणे—  
"कुमुमवसन्तादाभिधः कर्मवपुर्वैयभाषात् ।

हास्यकः- नमदुर्गतिविदूषकः एषात् एवमंगः ॥"

(साईं बाहर) मुच्य कर दो बाजी को, आज उमे हुए वृषाङ्गुली से कुछ लट्टी देह-  
त्रियों पर लीड़ों के मुख द्राघ छाने हुए बीजों की अञ्जलि निरती है ॥६॥

(धीरे-धीरे घूमकर बैठ जाता है ।)

विदूषक—यह जानें चाहेत है, तो अब इनके समीप चलता है (समीप जाकर)  
बाजना कल्पान हो । बाप वृद्धि को प्राप्त हों ।

धारवत्—अरे सच समझों का मित्र मैत्रेय आया है । मित्र, स्वागत है ।  
बैठिये ।

विदूषक—जमी बाप आज्ञा देते हैं । (बैठकर) हे मित्र, बाती-मुपों (बनेती)  
के मुमन्त्रित यह वतरोष आरुटे द्विष मित्र जूनवृद्ध ने भेजा है और कहा है कि तुम  
(यह वतगीत) देवताओं की पूजा से निरत हुए जायें चाहेत को दे देना । (उमपित  
कर देता है) ।

(चाहेत छद्म करके विचारभ्रम हो जाते हैं)

विदूषक—अरे, यह क्या सोचा या रहा है ?

धारवत्—मित्र ! दुःखों का अनुभव करने ॥ जनन्तर मुझ भोमिष होता  
(अप्या मगता) है, जिस प्रकार बहुत अण्डकार में दीपक का दर्शन । किन्तु जो मनुष्य  
मुच से (मुच मोने के जनन्तर) निर्धनता को प्राप्त होता है, वह जो शरीर धारण  
बिदे हुए भी मृतक के कर्मान भीत अज्ञान करना है ॥१०॥

विदूषक—हे मित्र, मृत्यु और निर्धनता में से तुम्हें कौनसी लपटी लपटी है ?

धारवत् मित्र, निर्धनता और मृत्यु में से मृत्यु मुझे अच्छी मयती है, निर्धनता  
मदी । मृत्यु में मोड़ा मष्ट है, किन्तु निर्धनता कभी न समाप्त होने जाता है ॥११॥

मरं दानेषु मय्यस्तु त्रिपत्तु च मित्रम् । आशोकमुनिः सान्निः । चिन्त्या हर्हिता  
मपिन्तः ।

कुतुम्बदादिनं प्राकारकमुत्तमः 'दधुनाहं दधम्यानामपि हतेःशुद्धम्यो आहः'  
इति चिन्त्यान् चाहेतः कपद्वि—मुयं ह्यपि—धनः मण्डलताः येषु तादेषु स्थानेषु  
दीपदर्शनम् इव तु सानि अमुमुय हि मृषां शोषने न तु कुतमनुभूय दुःखनिधि धारः ।  
किन्तु (ह) नः नः मुसात् मुसमनुभूय हर्हिता निर्धनतां सानि पाप्नोति सः मनुष्यः  
शरीरेषु मृः मपि मन् मृः मृः मृः हा शोषनि धानम् धारवति । अब च पूर्व  
उपनामदुः उपायः च विरोधापायः । वंशस्यं मृमन् ॥१०॥

'साहित्यमरमनोः कुरत् से रोचते' इति विदूषकस्य विज्ञातव्यं धारवत्तः  
हृदयनि शक्तिपतिवि—हर्हितापायं मरणात् वा संशयमप्यो मय मष्टं चाहेतान्

विदूषक भो वयस्त भल तस्यपिदेण । एणइजणत्तवामिद्विहसत सुए  
 जपीदीतस्स पट्टिवच्चदस्स विअ दरिद्वसओ ॥ दे अहिमदर रमणीओ । [भो वयस्य  
 अलं सतप्तेन । प्रणयिजानसन्नमितविभवस्य सुरजनेपीतशेषस्य प्रतिपन्नदस्से  
 परिक्षयोऽपि तेऽस्मिन्नतर रमणीय ।]

धारवत्त — वयस्य न भगार्थान्प्रति दैन्यम् ॥ १२ ॥

एतत् मा दहति यद्गृह्णस्मदीय  
 शोणाथमित्यतिथय परिवर्जयन्ति ।

संशुष्वसान्द्रमदलेसामिव प्रमन्त

वासात्यये मधुकरा करिण वपोलम् ॥ १२ ॥

विदूषक — भो वयस्त, एदे वणु वासोए पुत्ता अरथवत्सवत्ता वरटाभीता त्ति  
 गोवालदारभा अरण्णे जहि जहि ण अजन्ति तहि तहि मत्थन्ति । [भो वयस्य, एते  
 सत्तु वासया पुत्ता अथंकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोरालदारका अरण्ये यत्र य  
 न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति ।]

धारवत्त — वयस्य,

सत्यं न मे विभयनाशयतास्ति चिन्ता,

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।

एतत् मा दहति नष्टधनाथयस्य

यत्सौहृदादपि जना सिधिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

अपि च,

भरण शोचते न तु दारिद्र्यम् यत् भरणम् अक्षयकलेशम् अथ कलेश यस्मिन् तारुण्य  
 अल्पसमयदुःखत्वेन तु दारिद्र्यं तु अत्र तत्र न विद्यत अतः समाप्तिं यद्यत् तारुण्य  
 दुःखम् । यावज्जीवनं दुःखरत्नासु दारिद्र्यम् अत्र तदुःखमेवेति भावः । वाग्यनिर्णय  
 सङ्कारः । धार्मिक्यम् ॥ १३ ॥

प्रणयिजनेषु विभयनेषु सक्रमिता विभया यस्य तादृशस्य ते तत्र सुरजने देव  
 पीतात् (पीतस्य) शेषस्य प्रतिषेधः शुभप्रतिपदायाः चन्द्रस्य इव (इत्युपमा) परिक्षय  
 अपि शीघ्रता विद्यता वा अपि अघिषत्तर ओषतः । तथा ओक्तं वामदेवे—धर्मार्थं  
 शीघ्रशेषस्य शीघ्रशेषमपि शोभते । गुरुं पीतावशयस्य वृष्णपक्ष विद्योत्तिव । रघुवशे  
 च—/पर्यायपीतस्य गुरुरिमाशो वनाशय वनाप्यतरो हि वृद्धे (५ १६) ।

धारवत्त — वयसतापरस्य कारणं वयस्यति—एतदिति । प्रमत्त मधुकरा  
 वासात्यये संशुष्वसान्द्रमदनेषु करिण वपोलम् इव यद् अतियय शोणाथमित्यति

विदूषक—हे मित्र ! अन्तः से बस करो (मठ करो) स्नेही जनों की सम्पत्ति बहिष्कार करने वाले आपका क्षय (दारिद्र्य) भी देवताओं के पान करने से बचे हुए प्रतिपदा त्रिपि के चन्द्रमा के (शीपता के) समान और अधिक सुन्दर है ।

चारदत्त—मित्र ! मुझे धन नष्ट हो जाने के विषय में दुःख नहीं है । देखो—

यह तो मुझे तप्त कर रहा है (पीड़ा पहुँचा रहा है) कि हमारे घर को 'धन रहित है' इससे अनिष्टि तोड़ इसी प्रकार त्याग देने हैं जिस प्रकार (मद का) समय व्यतीत हो जाने पर प्रमथ करते हुए प्रीति जिसकी घनी मदराशि मूख गई है, ऐसे हाथी के नपों को त्याग देने हैं ॥१२॥

विदूषक—हे मित्र ! ये दासी के पुत्र कलेवा (बंभे तुच्छ) धन वरं से डरे हुए गोपाल बालकों के समान वन में, वही-वही खाते हैं जहाँ खाने (भोगे, काटे) नहीं जाते हैं ।

चारदत्त—मित्र !

सर्वभूष धन-नाग-जन्म चिन्ता मुझे नहीं है (क्योंकि) भाग्य के अनुसार धन (प्राप्त) होता है या बला जाता है (किन्तु) यह तो मुझे सन्तप्त करता है कि जिसका धन कभी आशय नष्ट हो जाता है उसकी मित्रता से भी मनुष्य विपिन हो जाते हैं ॥१३॥

और भी—

अस्मदीयं गृहं परित्यजन्ति, एतत्तु मा वृहति-इत्यन्वयः ।

अमन्त-इतस्ततः गच्छन्तः मधुराः अमराः कासात्यये मदसम्प्रापगमे संगुष्काः शोष प्राप्ताः क्षान्धाः धनाः मदसैलाः दानराजयः यस्य तथाभूत करिषः एजस्य रूपोत्तं यथा परित्यजन्ति तर्पय यत् अतिषयः (इदानीम्) शोषार्थं धनहीनमेतद् गृहम् इति कृत्वा अस्मदीयं गृहं परित्यजन्ति परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्ति । एतत् तु इदमेव मां वृहति सतापयति, न तु अर्थस्य अभावः इति भावः । उपमातद्गुणः वसन्ततिलकावृत्तम् अत्र च विष्टेयाविमर्शो नाम दोषः इति केचित् ॥१२॥

वास्याः पुत्राः अथमाः । कस्ये प्रातःकाले बल्दते अनेन इति कस्यपतः प्रातराराः । अर्था. एव कस्यवर्ताः अर्थकस्यवर्ताः । इमानि धनानि यत्र नोपभुज्यन्ते तत्रैव गच्छन्ति, इत्यनानामेव दृष्टे तिष्ठन्ति इति भावः ।

सन्तापकारणमेव अथनभङ्गुषा निर्वन्ति—सत्यमिति—रायं, विमथनानेन धनपदेन कृता मे मम चिन्ता नास्ति हि यतः धनानि तु आय्यकृषेण भाग्यानुसारेण (कदाचित्) भवन्ति आदग्ने (कदाचित्) यान्ति विनश्यन्ति । किन्तु तदि चिन्ता इत्याह- यत् धनमेवाशयः धनाशयः नष्ट. धनाशयः यस्य तादृगस्य जनस्य (यम ता) सोहृत्वावधि मंत्रीभावाद् अवि ज्ञता. साधिसोभयन्ति अज्ञेयनाभावाद्. मंत्रीपति न कुर्वन्ति, एतत्



दारिद्र्याद्दिप्रयमेति ह्योपरिगत प्रध्नश्यते तेजसो  
 निस्तेजा परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।  
 निर्विष्णु शून्यमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते  
 निर्वुद्धि क्षयमेत्यहो निघ्नता सर्वोपदामास्पदम् ॥१४॥

विदूषक — भो वयस्य त इनेव अतपकस्तवत्त सुमरिअ अल सतत्पिदेण ।

[ भो वयस्य, तमेवार्थकल्यवर्तं स्मृत्वात् संतापितेन । ]

आशुदत्त — वयस्य, दारिद्र्य हि पुष्यस्य  
 निवासश्चिन्ताया परपरिभवो वैरमपर  
 जुगुप्सा मित्राणा स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।  
 यत्नं गन्त बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो  
 हृदिस्य शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥१५॥

तद्वयस्य, कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलि । गच्छ । त्वमपि चतुष्पदे  
 मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषक — न गमिस्सुभ । [ न गमिष्यामि । ]

आशुदत्त — किमर्थम् ।

विदूषक — जसो एव्य पूइज्जता पि देवता न वे पसीदन्ति । ता वो गुणो  
 वेवेसु अश्चिदेसु । [ यत् एव पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति । तत्त्वो गुणो  
 देवेष्वर्चितेषु । ]

मां दहति सनापयति । का-गलिङ्गालङ्कार । वसततितनराक्षसम् ॥१३॥

दारिद्र्यस्य सर्वापरकारणत्वं वक्ष्यति—दारिद्र्यादिति—मनुष्य दारिद्र्यात्  
 निर्धनेत्वात् हि द्वय मज्जाम् एति प्राप्नोति सज्जितो भवति । ह्योपरिगत ह्य प्राप्त  
 सज्जित पुरुष तेजस प्रतापात् प्रध्नश्यते प्रभृष्टो भवति । निस्तेजा तेजोरहित  
 परिभूयते तिरा इयति भयवारणतेजोविरहात् । परिभवात् तिरस्कारात् निर्वेद ग्लानिम्  
 आपद्यते प्राप्नोति । निर्विष्णु ग्लानिमापन्न सिद्धमना वा शुच्य शोनम् एति वृथा  
 जीवनमिति चिन्तयति । शोकापिहित घोषयुक्त बुद्ध्या विवेकेन परित्यज्यते । निर्वुद्धि  
 बुद्धिहीनश्च मनुज क्षय विनाशम् एति उत्तश्च 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' । अहो, निघ्नता  
 निघ्नत धन यस्मात्स निघ्नत तस्य भाव दरिद्रता सर्वात्ताम् आपद्यो विपदाम् आस्पदं  
 स्थानम् । दारणनालालङ्कार । शार्दूलवित्रीहित वृत्तम् ॥१४॥

निघ्नता इति—दारिद्र्य हि पुष्यस्य (इति वचभागेनावय) चिन्ताना

दरिद्रता से (मनुष्य) लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जा को प्राप्त (व्यक्ति) तेज से घ्रष्ट (तेजरहित) हो जाता है, तेजहीन अपमानित होता है। अनादर से ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, ग्लानि युक्त शोक को प्राप्त होता है, शोकाकुल व्यक्ति को विवेक के द्वारा त्याग दिया जाता है, विवेकशून्य नाश को प्राप्त हो जाता है। यही ! निधनता सब आपदाओं का निवास स्थान है ॥१४॥

विदूषक—हे मित्र ! धन का स्मरण करके गन्ताप मत करो ।

चारदत्त—मित्र ! दरिद्रता ही पुरुषों की चिन्ता का घर (निवास स्थान) है, परम अनादर (का कारण) है, दूसरी (अनोखी) शत्रुता है, मित्रों की घृणा, स्वजन तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है, वन में चले जाने का मन होता है, और पत्नी द्वारा (भी) तिरस्कार होता है, हृदय में स्थित शोकाकुल घस्म नहीं कर देता, सन्तप्त कर रहा है ॥१५॥

तो मित्र ! मैंने गृह-देवताओं को बलि दे दी है। जाओ, तुम भी धीराहें पर मानु-देवियों को बलि भेंट कर दो।

विदूषक—मैं नहीं जाऊँगा।

चारदत्त—क्यों ?

विदूषक—जब इस प्रकार (विधिवत्) पूजे जाते हुए भी देवता तुम पर प्रसन्न नहीं होते हैं तो देवताओं की पूजा करने से क्या लाभ (पूजित देवों में क्या गुण है) ?

[यद्य मया जीवन निर्वाहमेवंप्रकाराः निवासः आश्रयः, परेषां परिभय तिरस्कार तिरस्कारस्य स्थानमिति भावः। अथवा परश्रवामी परिभवश्चेति कर्मधारयः। अपरम् अन्यत् विलक्षण वा बरं ददित् प्रति निर्हंतुकमेव बरं जायते। मित्राणां जुगुप्सा घृणा तत्कारणमिति यावत्, स्वजनानां वन्धुनां जनानां भाषारणजनानां च विद्वेषस्य कारणं साधनं च भवति। यत्रचन दरिद्रस्य क्लेशात् स्वभार्यात् (अपि) परिभवः अनादरो भवति अतस्तस्य वरं गन्तुं बुद्धिर्जायते [भवति चेति चकारो हेतो वनगमने क्लेश-परिभवो हेतुः इति पृथ्वीपरः तथा च दारिद्र्यम् हृदिस्य हृदये स्थितः शोकस्य अग्निः (मः) न च दहति भस्ममात् तु न करोति सतापयपि च विन्दु संतपं जनयति। अत्र च अतिशयोक्ति—उत्तेज—रूपक—विशेषोक्तिप्रभृतयोऽन्तद्गुराः। तिरस्कारो-वृत्तम् ॥१२॥

विदूषकेण उपोन्नतस्य देवाचनस्य अवश्यवर्तमानतां निरूपयति—वदस्येति। तदनु तपस्यया मनसा ध्यायन्न शान्तिः श्वर्यः स्तुतिपाठैः वा बलिकर्मभिरत्र पूजिताः अधिताः देवताः शान्तिनां मय एता विद्यन्ते इति शान्तिः तेषां (पत्नान्नाप्तावपि कोऽगृह्णानामिति भावः) निच्य मन्तं तुष्यन्ति गन्तुष्टाः भवन्ति, अतः विचारितं।

चारदत्तः—वयस्य, मा भवम् । गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः ।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।

तुष्यन्ति शमिना नित्य देवताः किं विचारितैः ॥१६॥

तद्गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विकृतक — भो न गमिष्यम् । अण्णो को वि पउज्जोअबु । मय उण दग्ग-  
णस्स तच्च उजेद विपरोद परिणमदि । आवसगता विअ छाया वामतो इस्सिणा  
इस्सिणादो वामा । अण्ण अ एवाए पदोसवेत्ताए इध राअमग्गे गणिआ विडा वेरा  
राजवल्सहा अ पुरिसा सचरन्ति । ता मण्डुअलुद्धस्स कालसप्पस्स मूषिको विअ  
अहिमुहावदिशे वग्गो वाणि भविस्सम् । तुमं इध उपविट्ठो किं करिस्ससि । [भो  
न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनर्वाह्यणस्य सर्वमैव विपरीत  
परिणमिति । आदर्शंगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा । अन्यच्चैतस्या  
प्रदोपवेलायामिह राजमार्गं गणिका विटाश्चेटा राजवल्सभाश्च पुरुषा सचरन्ति ।  
तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भवि-  
ष्यामि । स्वमिह उपविष्ट किं करिष्यसि ।

चारदत्त — भक्तु । तिष्ठ तानत् । अहं तर्भाविं निर्बर्तयामि ।

(नेपथ्ये)

तिष्ठ वसन्तसेने तिष्ठ ।

(ततः प्रविशति विटलकारवेटरनुषम्यमाना वसन्तसेना ।)

विट—वसन्तसेने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं त्वं भवेन परिवर्तितसौकुमार्या

नृत्यप्रयोगविशदो चरणी क्षिपन्ती ।

उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टहृष्टि-

भ्याघानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥१७॥

वितर्कः किं किं प्रयोजनम् ? नित्यविधीनामनुष्ठाने सफल निष्पन्नं वेति वितर्को न कार्यः  
इति भावः । अनुष्टुप् चतुष्टु ॥११॥

प्रयुज्यताम् नियुज्यताम् । आवसंगता दर्पणमता । गणिका वेश्या । राजवल्सभा-  
राजः प्रियाः । अत्र गणिकाशब्देन वसन्तसेना राजवल्सभाशब्देन च शकारः सूच्यते ।  
अत्र च 'नासूचितस्य प्रवेशः' इति नाट्यसिद्धान्तानुसारेण गणिकादीनां  
सञ्चारं वर्णयित्वा तेषां प्रवेशः सूच्यते । मण्डूकनुष्ठस्य मण्डूकभक्षणभित्तापिणः  
कालसर्पस्य सम्मुत्सागतः मूषिको यथा बध्यो भवति तथाऽहं भविष्यामि । निबर्तयामि

चारदल—मित्र ! ऐसा नहीं, गृहस्थी का यह (देवताओं की पूजा करना) नेत्य कर्म है ।

तप, मन वचन एवं बलि-कर्मों के द्वारा पूजा किये गये देवता शान्त मन वाले लोगों से सदा सन्तुष्ट रहते हैं, (इस विषय में) विचार करने से क्या ॥१६॥

तो जाओ, मातृदेवियों को बलि भेंट कर दो ।

विद्वेषक—जी, मैं नहीं जाऊँगा । किसी और को भेज दो । फिर मुझ (बेचारे) शाहूण के निये सब उल्टा ही फल होता है जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाली परछाईं हाथों से दाहिनी ओर दावों से बाईं ओर (होती है) ।

और इस रात्रि (के प्रथम पहर) में यहाँ राजपथ (सड़क) पर गणेशायें, बिट, चेट और राजा के स्नेही जन घूम रहे हैं, जिन्हें मेड़क के लोभी काले सर्प के सामने आये हुए चूहे के समान अब (मैं) बध्म हो जाऊँगा । तुम यहाँ बँठे हुए क्या करोगे ?

चारदल—अच्छा, तब तक ठहरो । मैं सन्ध्या (समाधि) समाप्त करता हूँ ।

(नेपथ्य में)

ठहर, वसन्तसेना ठहर .

(इसके अनन्तर बिट, शकार और चेट से पीछा की जाती हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है) ।

बिट—वसन्तसेने, ठहर ठहर ।

भय से मुकुमारता को त्याग देने वाली, नृत्य के प्रयोग से दक्ष शरणी को भीघता में रखती हुई, व्याकुल एवं चञ्चल कटाक्षों से दृष्टिपात करती हुई तुम शिकारी के पीछा करने से चकित हुई हरिणी के समान क्यों आ-रही हो ॥१७॥

पूर्ण करोमि ।

वेद्यानागारिकयोः मन्देश परस्परं विटति इति विटः तत्त्वक्षणं सूक्तं दर्पणे-  
सम्भोगहीनमम्पिडितस्तु धूर्तं कर्तृकदेशज्ञः । वेतोपचारमुक्तो वाग्यो यद्युरोऽप्य बहुमतो  
गोष्ठपाम् (३.४१) । भयेन त्वरितगमना वसन्तसेना प्रति तदनुयायी विटः कथयति—  
किमिति त्वं वसन्तसेने, भयेन परिवर्तित द्रुतगमनाय अन्यथावृत्तं सौकुमार्यं मुकुमारता  
यना सा नृत्यप्रयोगेण नृत्याभ्यामेन विसादो स्वच्छो दशो य शरणी शिपन्ती इतस्ततः  
पातयन्ति जिद्भिनेन व्याकुलेन चञ्चलेन च कटाक्षेण अपाङ्गदक्षिणेन विसृष्टा परिशिप्ता  
दृष्टिः यना सा श्याग्रस्य अनुसारेण अनुगमनेन चकिता प्रस्ता हरिणीव मृगीव कि कथं  
योनि? उभयानन्दुरः । वसन्तत्रिनकावृत्तम् ॥१७॥

शकार—विष्यत् शकारोनिर्णयः ।

किं यासि धावसि पलायसि पक्वसन्ती  
 वासु प्रसीद न मरिष्यसि चिट्टु दाव ।  
 कामेण दञ्जदि हु मे हृदके तवशशी,  
 अङ्गारलाशिगडिदे विअ मशखण्डे ॥१८॥

(तिष्ठ यस्तन्तोनि, तिष्ठ ।)

[किं यासि धावसि पलायसि प्रस्वन्ती,  
 वासु प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत ।  
 कामेन दह्यते खलु मे हृदय तपस्वि,  
 अङ्गारराशिपतितमिव मासखण्डम् ॥]

षेट—अञ्जुके निट्टु चिट्टु ।

उत्ताशिता गच्छसि अन्तिका मे शंपुष्णपच्छा विअ गिम्हमोरी ।  
 ओवण्णदी शामिअभट्टे मे वण्ण गडे कुपफडशावणे व्व ॥१९॥

(आर्ये, तिष्ठ तिष्ठ ।)

[उत्ताशिता गच्छस्वन्तिवाग्मिणः संपुष्णपक्षे श्रीष्ममयूरी ।

अवन्तगति स्वामिभट्टारतो मम वने गत कुक्कुटशावक इव ॥]

वि—वस्तन्तोने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं यासि बालवदलीव विकम्पमाना,  
 रक्ताशुक पवनलोलदश बहन्ती ।

रक्तोत्पलप्रकरवुडमलमुत्सृजन्ती

दङ्कमेन शिलगुह्य विदार्यमाणा ॥ २० ॥

शकार राट्टिय, 'शकारो राट्टिय रणु' इति शब्दात् । इत्येवमप्युक्तं  
 'मदमूर्खताभिमानो दुष्कृतैश्चयसमुत्त । सोऽयमनूवाध्याता, राज इयात् शकार  
 इत्युक्तं । शकारस्य वचनं तु—अपायमत्र न व्यर्थं पुनरक्त हतोपमम्, सोऽयमप्यित्युक्तं  
 शकारवचनं विदुः ।

स्वरितगमना यस्य तस्य नामनुसरन् शकार कथयति—किं यासि । हे वासु कामे,  
 एवं प्रस्तुतयो प्रस्तुतान् बुवतो सती किं यासि धावसि पलायसि (इति शकार-

शकार—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो ।

भस्मडातो हुई नरो जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो । बाले, प्रसन्न हो, मरोगी नहीं तनिक ठहरो । अङ्गारों के ढेर में गिरे हुए मास के टुकड़ों के समान मेरा बेचारा हृदय काम के द्वारा उनीचा जा रहा है ।

वेद—आप ठहरो, ठहरो ।

(तुष) मेरे राम से भद्रभीत हुई सम्पूर्ण पत्नी वाली शीघ्र काल की मयूरी के समान जा रही हो । मेरा स्वामी (शकार) वन में गये हुए मुझे के बन्धु के समान (तुम्हारे-बीछे) उठावती के साथ आ रहा है ॥१६॥

गिट—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो ।

अमिनव कहती के समान (मय मे) काँपनी हुई, वायु के द्वारा चम्पल बंधल (दगा) बाले साल रोगी बदन को धारण करती हुई, टांकी द्वारा छेदी जाती हुई मनः गिना की बन्दरा (से निकलने वाली चिनकारियों) के समान (केषपात में गुंथे हुए) रक्त-कमलों की कणियों को (बेग में दौड़ने के कारण) बिलराती हुई कहीं जा रही हो ? ॥२०॥

वसन्तसेना वीनरक्तपम् । प्रमीद प्रतापा भव, तिष्ठ तावत् स्थितावपि न माप्यसि । मे मन तपसि वराक हृदय भङ्गारराशी वसित जग्निनुञ्जपतितं मानसमभिव कामेन दहते खनु । उपमातदुारः । वसन्ततिवका वृत्तम् ॥१६॥

वसन्तसेनामुद्दिश्व घंटोऽपि कथयति उत्प्रासितेति । मय—अतिक्रान्त् सर्वापाद् सम्पूर्णपत्नी परिपूर्णपुञ्जनुक्ता शीघ्रमयूरी इव उत्प्रासिता भीता गच्छसि । वने गतः कुक्कुटस्य शावकः गिगुः इव मन स्वामी भट्टारकः नृपः (नृप इव प्रभावयुक्तः) अबधस्यति समप्रमन् आगच्छति । उपमातदुार । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥१६॥

मूयोनि विट. सातुरोत्र कथयति - कि यासीति । हे वसन्तसेने, त्वं बालकवती इव नूतनकदवी इव विकल्पमाना काँपना पवनेन सोलदशा चम्पलदशा यस्य तादृशं रक्तोष्ण रक्तवर्ण वसन बहनी धारयन्ती तथा टङ्कूः पाशापदारणोः विदार्यमाना मनः गितायाः गुहा इव रक्तोत्पत्तानां रक्तवर्णकमताना प्रकटः समूह- तन्निमित्तमात्ययिति यावद् तस्त् कुक्कुटस्य कनिकाम् उत्प्लुजन्ती गमनप्रवाहेन पानयन्ती भवः गितायां विदारणमभेदं रक्तोत्पन्नकनिका इव प्रादुर्भवन्ति तथा—'पशे रक्तोत्पन्नरक्तवन् कुक्कुटान् कुक्कुटपनदृग्दम्प्यरणशान् उरि-शयन्ती' इति कामेनहोदयः । कि कथं यासि ? भव उत्प्रेसा उपना च । वसन्ततिवका वृत्तम् ॥२०॥

शकार — चिद् वसन्तसेनि ए चिद् ।

मम मङ्गमणङ्ग मम्मथ वड्डअन्ती

निशि अ शयनके मे निद्रा आविखवन्ती ।

पशलशि भयभोदा प्रस्खलन्ती स्खलन्ती ।

ममवशमणुजादा रावणस्येव कुन्ती ॥२१॥

[तिष्ठ वसन्तसेने, तिष्ठ ।

मम मदनमनङ्ग मम्मथ वयघन्ती

निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती ।

प्रसरसि भयभोता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती

मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥]

बिट—वसन्तसेने,

कि त्व पर्दभंम पदानि विशेषयन्ती

व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ।

वेगादह प्रविसृत पवन न रुच्य

त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि न म प्रयत्न ॥२२॥

शकार — भावे भाव,

एशा पाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका

णिष्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मञ्जूशिका ।

एशा वेशवहू शुवेशणिलभा वेशङ्गणा वेशिवा

एशे शे दश ग्रामके मइ कले अञ्जावि म षेच्छादि ॥२३॥

पुन शकार एव वसन्तसेनामुद्दिश्य प्रत्यति—ममेति । मम मदनम् अनङ्गं वड्डयन्ती उद्दीपयन्ती, निशि रात्री च शयनके शय्याया मम निद्रा स्वविन्दनेन आक्षिपन्ती विक्षिपन्ती, अधुना भयभोता प्रस्खलन्ती स्खलन कुर्वती प्रसरसि धावति रावणस्य कुन्ती इव मम वश स्वम् अनुयाता आगता । शकारवचनत्पादत्र मदनमनङ्गम् इत्यादि पुनरक्तम्, रावणस्येव कुन्ती इति ह्युपमम् । मालिनीश्रुतम् ॥२१॥

तथापि वेगेन प्रसरन्ती वसन्तसेना विलोक्ष्य बिट वक्ष्यति—स्मिन्ति । त्व पर्दे स्वपदविशेषं मम पदानि विशेषयन्ती अतिशयाना पतगेन्द्रात् वरडात् यद् मम तेन अनिभूता शत्रान्ता व्यालीव इव सर्पी इव कि वक्ष्यासि ? हे वरगात्रि, अह

शकार—उदर, वसन्तसेना, ठहर ।

मेरे मदन, अनङ्ग, मन्मथ (काम) को बड़ाती हुई, और रात्रि में बिस्तर पर घेरी नोंद को उचटानी हुई (तुम) धमकील होकर नङ्गलड़ाती हुई भाग रही हो (किन्तु तुम) उमा प्रकार मेरे बग में आ गई हो बिम प्रकार रावण के बग में कुन्ती (जा गई थी) ॥२१॥

विट—हे वसन्तसेना !

पभिरात्र (मरु) से बदमास हुई लुत्तियों के समान धरमं डगों से मेरे डगों को भी अतिहास्य करती हुई तुम क्यों आ रहीं हो ? वेद से डौड़कर (व्या) में (बलवत् होइवानी) बाधु को (पी) नहीं रोक सकता ? (अवग रोक सकता है) हे मुन्दर शरीर बानी, मेरा प्रयत्न तुम्हें (बनाव्) रोकने का नहीं है ॥२२॥

शकार—महानुभाव, महानुभाव !

यह (वसन्तसेना) नामक (गिवाङ्कचिह्नित निष्के) को पुराने बाले (चोरों) के निधे काम-बाधना की कथा (कोरा अर्थात् प्रेरक, उद्दीपक), बछनी खाने वाली नन्दी, नीची नाक वाली (अप्रतिष्ठित), कून को नष्ट करने वाली, बग में न होने वाली (स्वच्छन्द), काम की विदारों यह वेग्यालय की स्त्री, मुन्दर वेग्यालय में निवास करने वाली, वेग्यालय की कामिनी, वेग्या—ये दस नाम मैंने इसके रखे हैं. अब भी यह मुझे नहीं चाहती है ॥२३॥

वेग्यात् प्रविभूतः प्रचलितः एवमन् न इच्छ्याम् (बाधना) किं न इच्छ्याम् ? अपि तु इच्छ्याम् एव निगच्छ्याम् इति पाठान्तरं निरोधुं शक्यताम् इत्यर्थः], स्वनिष्ठैः त्व इदं तु न मे प्रयत्नः अनायासेन एव त्वा इहांशुं अर्थात् इति भावः । यथा त्वां बनाव् इहीषुषहं न प्रप्रे अरिन् अनुवयेन एवेति भावः । उपनासङ्गात् । वसन्तसेना इति ॥२२॥

पुराणि शकारा विटमुद्दिश्य वदन्ति—एवेति । एषा वसन्तसेना नामकानि इच्छ्यात्प्रवितानि मुञ्चन्ति इति नष्टकर्मोपनिः तेषां कामस्य शरिका कथा लक्षणात् कामस्य प्रेरिकेत्यर्थः वलङ्कच-जहदराः पाण्डकाः दूताः कुञ्ज-शाल-अनास्रवा निहितराग्यन्नेशानाद्या कामा प्रायेण बलभाः इति, मत्स्याशिका मत्स्यपशिका, ताशिका नन्दी, निर्नामा निम्ननामा [प्रतिष्ठाशून्या इति भावः निस्वाशा इति पाठान्तरं निःस्वाना निर्धनानाम् आशा इत्यर्थे (अनभ्यन्वादाशामाभवेन केवतम्—काले), कृतस्य शरिका, अशरिका दानेनानि कस्यापि बभे नापति इति, कामस्य मञ्जुविका ऐतिहा एषा वसन्तसेना वेशः वेग्यालयः तस्य वयु मुवेकानां मुन्दरपरिधानानां निपनः बाधनः कपडा मुवेकः मुन्दरवेग्यालयः एव निपनः यस्याः तदादृशा, वेग्यास्य अङ्गना रमणी, वेतिका वेग्यावती (वेग्याश्या अम्नीति) एतानि द्वा नामानि मया शकारेण वृष्टानि; किन्तु अष्टानि इत्ं मा वेच्छति नर्तनयति । अब शकारोपेत्यां पुनश्चिः । शाङ्कितिकीतिवत् इत्यम् ॥२३॥



भाव भाव

[एवा नाणकभोगिकामकशिका मत्स्याशका सासिका  
निनासा कलनाशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका ।  
एषा वेदवधुः सुवैशनिलया वेशाङ्गना वेशिका  
एतान्मस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मा नेच्छति ॥]

विटः—

प्रसरसि भयविवलवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलपृष्ठगण्डपाशर्वा ।  
विटजननखघट्टितं वीणा जलधरगजितभीतसारसीय ॥२४॥

शकार —

क्षणज्झणन्तवहुभूषणशद्मिष्य  
किं दोवदी विअ पलाअशि तामभोदा ।  
एणे हलामि शहणति जघा हणूम  
विश्यावशुष्ण वहिणि विअ त शुभद्म ॥२५॥  
[क्षणज्झणद् बहुभूषणशब्दमिथ किं द्वीपदीव पलायसे रामभीता ।  
एष हारामि सहमेति यया हनूमान्विश्वावसोभंगिनीमिथ ता सुभद्राम् ॥]

वेटः—

लामेहि अ लामवल्लह सो वसाहिंसि मच्छमशकम् ।  
एदेहि मच्छमशकेहि गुणजा मलअ ण शेवन्ति ॥२६॥  
[गमय च राजवल्लभ तत खादिप्यसि मत्स्यमासकम् ।  
एताभ्या मत्स्यमासाभ्या श्वानो मृतकं न रोवन्ते ॥]

विटः—भवति वृत्ततोने,

कं एव कटीतटनिनेजितमुद्दहन्ती  
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।  
वदयेण निर्मयितचूर्णमन शिलेन  
यस्तादमुत नगरदेवतदत्प्रयासि ॥२७॥

पुनरपि विट वसन्तसेना वचयति—प्रसरतीति—विटजननखघट्टिता वीणा इत्य प्रचलितकुण्डलपृष्ठगण्डपाशर्वा (एव) जलधरगजितभीतसारसीय भयविवलवा किमर्थं प्रसरसि ? इत्यन्वयः ।

विटजनाना नखं विघट्टिता परिमृष्टा ताडिता वा वीणा इत्य प्रचलिताभ्यां

षिट—षिट लोषों के नख से घषित्त वीणा ने समान (भागने के कारण) हिलते हुए कुण्डलों (के बार बार स्पर्श) से घषित कपोलों वाली (तुम) बादन के गर्भत से भयभीत सारसी को भीति भयातुर होकर क्यों भागी जा रही हो ॥२४॥

शकार राम ने डरी हुई द्रौपदी के समान अनेक आभूषणों के सन्द से मिथित जनसदाहृ के साथ तुम क्यों भागी जा रही हो ? हनुमान ने विश्वावसु की उस (विश्यात) घहिन मृगदा का जिस प्रकार अपहरण किया था, उसी प्रकार यह मैं बलाद् तुम्हारा हरण करूँगा है ॥२५॥

षेट—राजा के कृपापात्र (शकार) के साथ रमण करो, सब तुम मछली और मांस खाता । इन दोनों मछली और मांस के कारण (परितृष्ट हुए शकार के) कुत्ते मृतक (मृत पशु आदि की लाश) का सेवन नहीं करते हैं ॥२६॥

षिट—सुधी वसन्तमेने, कटि-द्राग्ल से बंधी हुई, तारों के समान विचित्र और सुन्दर मेलता (तण्डी) को धारण करती हुई, पूर्वोद्भूत मन-शिला (मनसिल) को भी (अपने गुलाबी वर्ष से) तिरस्कृत करने वाले मुख से युक्त, भयभीत हुई नवर देवता की भीति विचित्र रूप से क्यों भागी जा रही हो ॥२७॥

षञ्चलाभ्यां कुण्डलभ्यां घृष्ट गण्डमोः कपोनयोः पार्श्वे यस्याः तादृशी स्वं वसन्तसेना  
 मूनीहरवाद् शब्दवत्पादौ वीणातुल्यत्वम् इति पृथ्वीघटः अलखरस्य मेघस्य गजिनेन  
 भीष्मा सारसी इव भयेन विमलया म्यानुः सती किमर्षं प्रससति स्वरितं गन्धर्वि ।  
 मासोपमानद्वाटः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥२४॥

पुनः शकारः वसन्तमेनामुद्रिय कथयति—अपारिति शण्डगणधिति । बहुभूष-  
 षानां शब्दः तेषु निश्रं यथा स्याद् तथा (विश्याविशेषणम्) (अणञ्जवापमानइति पाठाः  
 स्तरम् समसतयायमानानि वृद्धिनि भूषणानि तेषां शब्देन निश्रं यथा स्यादेवम् हर्यर्षः)  
 एताद् सीता द्रौपदी इव किं कथं वनायते ? यथा हनुमान् विश्वावसोः एतन्मानकस्य  
 विद्वदातीतस्य नृपस्य मणिनी ता प्रसिद्धां मृगदां हरति स्म तथा अहं शकारः सहसा  
 बलाद् त्वा वसन्तमेना हरामि । वसन्तनिनक वृत्तम् ॥२५॥

षेटोऽपि वसन्तमेना इति पुनः कथयति—रमयेति । हे वसन्तमेने, रादयस्सर्षं  
 नूनतेः त्रिं शक्यमानमिति यावत् रमय ततः तस्मान् मत्स्यारब्धं मांसं च मत्स्यमांसं तदेव  
 भास्यमांसकं एवं खाद्विष्यसि । (अस्त्वं गृहे) एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां हेतुभ्यां मत्स्यमांस-  
 प्राप्नुषीत् इति भावः । शङ्कः बुद्धुरा. मृतकं न सेवते न ग्राहन्ति । मायांसमकं छन्दः  
 इति पृथ्वीघटः । मार्यावृत्तम् इत्यने ॥२६॥

वसन्तमेनामनुवरत् षिट. पुनः कथयति—किं स्वमिति । हे वसन्तमेने । त्वं  
 कृदिशदनिर्देशं वाप्यविषयविदं रचनाकनामम् उद्गृह्णी निर्दिष्टपूर्वमन्तः

शकारः—

अःहेःह चण्ड अहिशालिअन्ती वण शिआली विअ कुबकुलेहि ।

पलाशि शिअ तुलिद शवेग शवेष्टण मे हलअ हलन्ती ॥२८॥

[अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कृबकुः ।

पलायसे भीष्म त्वरित सवेग सवृन्त मम हृदय हरन्ती ॥]

वसन्तसेना—पल्लवभा पल्लवभा, परहृदिए परहृदिए [पल्लवक पल्लवक,  
परभृतिके परिभृतिके ।]

शकार—(समयम्) चाये चाये, मधुरशो मधुरशो । भव भाव मनुष्या  
मनुष्याः ।]

षिट—म भेतव्य न भेतव्यम् ।

वसन्तसेना—माहृदिए माहृदिए । [माघविके माघविके ।]

षिट—(सहासम् ।) मूलं परमनोऽन्विव्यते ।

शकार—चाये चाये, इतिमा मणेशवि । [भाव भाव, 'स्त्रियमन्वेययति]

षिट—अथ किम् ।

शकार—इतिमाण शव माभेमि । शूये हये । [स्त्रीणा शत मारयामि ।  
शूरोऽहम् ।]

वसन्तसेना—(शून्यमवलोक्य ।) हृडी हृडी, कथ परिअणो वि परिअट्टो ।  
एष मए अस्या शअ उजेव रविलवणो । [हा धिक् । हा धिक् । कथ परिअणोऽपि  
परिअष्ट । अद मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः ।]

षिट—अन्विव्यतामन्विव्यताम् ।

शकार—वसन्तसेणिए, विलव विलवपरहृदिए वा पल्लवअ वा शअ एव  
वसन्तमाशङ् । मए अहिशालिअन्ती तुम की पलित्ताइशवि ।

कि भीमणेणे जमदग्निपुत्ते वृन्तीशुदे वा दशकच्छले वा ।

एशो हये गेण्हिअ वेसहृत्ते दुशशाणशशाण्किदि कलेमि ॥२९॥

॥ देवस न देवस ।

शिलेन वचनेण तस्ता नगरदेवतवद् अद्भुत कि प्रयासि इत्यन्वयः ।

एव कटितटे निवेशित सत्पापित ताराभि मुक्ताभि विचित्ररथात्तो .वचिरवच  
तं रशनाकमल मेखनामूषणम् उद्धन्ती धारयन्ती, निर्मेषिता तिरस्त्रता पूणा  
पूणाहिता मत.मिमा येन तारकेन वचनेण मुधेन उपलक्षिता ('एषमूलतशणे' इति  
दृष्टीया) अथवा निर्मेषिता आशुव पूणा या यन शिला तनुत्येन मुधेन लक्षिता प्रहता  
पुष्पौणा मती नगरदेवतेन पुष्प नगरदेवतवत् अद्भुत यथा स्यात् तथा ('इतम्'

शकार—कुत्तों के झंझा पीछा की जाती हुई भृपाली के समान हमारे द्वारा तीव्र गति से अनुकरण की जाती हुई मेरे हृदय को समूत हरण करती हुई (तुम) शीघ्र, तुरन्त और बेवपूर्वक भाग रही हो ॥२८॥

वसन्तमेना—हे पल्लवक ! पल्लवक !, परभृतिके ! परभृतिके !

शकार—(अपमहित) भाव ! मनुष्य, मनुष्य ।

वित—हरना नहीं चाहिये, हरना नहीं चाहिये ।

वसन्तमेना—माघविके ! माघविके !

वित—[श्रीमो पूर्वक मूर्ख, भृगु को दूढ़ रही है ।

शकार—श्री को दूढ़ रही है ।

वित—और क्या ?

शकार—सौ शत्रुओं को मार डालूंगा । मैं दूर हूँ ।

वसन्तमेना—(भूना देनकर) हाय ! हाय ! क्या सेवक भी छूट गये । यहाँ मुझे स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

वित—दूँडा जाये, दुँडा जाये ।

शकार—हूँ वसन्तमेना ! विलाप कर ! विलाप कर, परभृतिका के लिये; पल्लवक के लिये या मारे वसन्त नाम के लिये । मेरे द्वारा अभिसरण की जाती हुई तुमको कौन बचायेगा ?

क्या जमदग्नि का पुत्र भीमसेन; या कुन्ती का पुत्र या दशशौच (रावण ?) यह मैं (तुम्हारे) केवलवाच को बन्द कर दुःखान्त का अनुकरण करता हूँ ॥२९॥  
देखो तो, देखो तो,

इति पाठान्तरम्) कि केन हेतुना प्रयाति दग्धसि ? तद्विदोभ्या उत्रेष्वा वा । वसन्ता-  
त्रिनकावृत्तम् ॥२७॥

पुनः शकारः वसन्तमेनादिस्य कथयति—अस्माभिरिति । कने कुक्कुरः  
भृगुपत्नी इव अत्र अस्माभिः खाद्यं शीघ्रम् अभिमायंमाणः अनुदम्यमाना त्वं मम हृदयं  
सर्वन्तं ममूनवन्तं हरन्ती शीघ्रं त्वरितं स्वयं मया म्यावु तथा पलायसे । शकारोक्ति  
त्वान् शीघ्रत्वादीनां पुनरक्तिः । उरमानन्दारः । उरत्रुति वृत्तम् ॥२८॥

पल्लवकः वसन्तमेनायाः परिवारकः परभृतिका माघविका परिवारिके । भाव  
इत्यादिसूचकः मन्त्रोपनम् । परितनः सेवकः ।

वसन्तमेना भीमपुत्रः शकारः कथयति—विमिति । भीमसेनः, जमदग्निपुत्रः  
परापुरानः, कुन्तीपुत्रः, अत्रुनः कर्णो वा अपवा रसाङ्गत् टटप्रियः रावणः किं त्वा  
रक्षितुं समर्थः इति शोकः । एवमिदम् शकारः केवाहमे केवलनाये शूरीत्या धृत्वा  
ःपुमानवस्य अनुहृतिम् अनुकरण करोमि । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥२९॥

अशो श्रुतिवखे वलिदे अ मत्यके  
कप्येम शीश उद मालएम वा ।

अल तवदेण पलाइदेण

मुनुयसु अ होदि ण शे वसु जीअदि ॥३०॥

[वसन्तसेनिके' विलप विलप परभृतिका वा पल्लवकः वा सर्व वा वसन्त-  
वासम् । मयाभिसायमाणो त्वा क परित्रास्यते ।

किं भीमसेनो जमदग्निपुत्र कुन्तीसुतो वा दशकल्धरो वा ।

एवोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःखासनस्यानुकृतिं करोमि ।

[मनु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व ।

असि सुतोदणा यन्नित्त च भस्तकं कल्पये शीर्षमुत्त मारयामि वा ।

अल तवैतेन पलायितेन मुमुषूर्णो भवति न स खलु जीयति ॥]

वसन्तसेना—अज, ममला वशु महम् । [आयं अबला खल्यतम् ।]

विट—अतएव टिायते ।

शकार—अतो ज्ञेय न भासोअति । [अतएव न मार्यसे।]

वसन्तसेना—(रवगतम् ।) वध अशुभो वि शो वध उपवेदि । मोहु । एष  
दाय । (प्रकारम् ।) अज, इनादो विवि अलकरण तवकीअदि । [कथमनुनयाऽप्यस्य  
भयमुत्पादयति । भवतु । एव तावत् । आय, अस्मात्किमप्यलङ्कारण तर्क्यति ।]

विट—शान्तम् । अर्थात् वसन्तसेने, न पुष्पमोषमहंत्युच्चावसता । तद्गृह्तममद्-  
करणम् ।

वसन्तसेना—ता कि वतु गामिम् । [तत्किं खल्विदानीम् ।]

शकार—हमे परपुंसिमगुरके वागुदेवके कामदवन्ने [अहं वरपुंस्यमनुम्पो  
यासुदेव, यामयितभ्यः ।]

वसन्तसेना—(तशोभम् ।) शन्त शन्नम् । अवेदि । अणम्य मन्तेति । [शान्तं  
शान्तम् । अपेदि । गनार्थं मन्त्यसि ।]

शकार—(सतार्तिजं विहाय ।) भाये भाये वेक्स दाव । मं शन्तसेन  
शुशान्तिदा 'एषा यणिअतदासिभा यम् । जेण म मयादि 'एहि । शन्तेति  
कित्तिन्नेति' ति । ह्ये न यामयत ण ययततस वा वडे । अउदरे, इनादि  
भावरा शीघ्र अरणकेहि पावेहि तव । ज्ञेय्य पत्रथापुपरिअए भाहिइदन्ते शन्ते

अतिरिक्तं मयं भवति. इत्याण शुभोदय अतिरिक्तं तव वस्तुके च वरितं तानितं  
सुन्दरं वा वर्तते । शीर्षं विर कल्पये दिवदि पारप्रायं वा अतएव तव एतेन पलायि-

तलवार इन्ही तीक्ष्ण है और तुम्हारा मस्तक बड़ा सुन्दर है, मैं तुम्हारा मिर-  
काट डालूँगा या मार डालूँगा । तुम्हारा इन प्रकार भागना निरर्थक है, (क्योंकि) जो  
मरने वाला होता है वह निश्चित रूप में जीवित नहीं रहता ॥३०॥

वसन्तसेना—आप ! मैं तो अबला हूँ ।

विट—इसीलिये (तुम अब तक) जीवन धारण कर रही हो ।

शाकार—इसीलिये तुम नहीं मारी जा रही हो ।

वसन्तसेना—(अपने आप) इसकी नम्रता भी किस प्रकार भय उत्पन्न करती  
है ? अच्छा, तो ऐसा करूँ । (प्रकट रूप में) आर्य ! मुझसे किसी आभूषण की  
मपेक्षा है ?

विट—पाप शान्त हो ! हे वसन्तसेना, उद्यान-लता पुष्प-हरण के योग्य नहीं  
है । इसलिये आभूषणों को रहने दो ।

वसन्तसेना—तो अब क्या ?

शाकार—भुझ पुरुषश्रेष्ठ, मनुष्य वामुदेव की (तुम्हें) कामना करनी चाहिए ।

वसन्तसेना—(क्रोध महित) पाप शान्त हो ! दूर । अशुभ (आपों के अयोग्य)  
बात कहता है ।

शाकार—(ताली बजाकर और हँस कर) भाव ! भाव ! तनिक दसों तो  
सही । यह देशानुशी वास्तव में मुझसे प्रेम करती है, जिसमें मुझे यह कहती है  
"आओ, धरूँ गये हो किन्न हो गये हो ।" मैं न किसी दूसरे बाँध को पका था, न  
किसी दूसरे नगर को गया था । मेट्रानिके, मैं अपने पैरों में महानुभाव (विट) के सिर  
की शपथ उठाता हूँ कि तुम्हारे ही पीछे-पीछे प्रेमता हुआ शान्त (धरूँ हुआ) और  
किन्न हो गया हूँ ।

तेन पत्न्यानेन अर्धं अर्धमिति भावः (यत्.) यः मुमुर्षुः आसन्नमरणः भवति स तस्य  
निश्चयेन न जीवति । अत्र प्रथमचतुर्थचरणयोः वंशस्थं द्वितीये तृतीये च इत्यत्रया ।  
अतः उपजातिवृत्तम् ॥३०॥

द्विपत्ने अर्धमिति । अनुनयः अनुकूलता । तद्यते अन्विष्यते । शान्तं पापम् न दंभं  
तथा कुर्यात् । पुष्पभोगं पुष्पशोदनम् । अयं भावः यथा उद्यानलताया पुष्पशोदनेन  
शोभाहानिर्वापने तर्पणं अतश्चावहरणेन तत्र शोभयंहानिर्भावविध्यति तच्च नोचितम् ।

शान्तं न वाच्यमेतद् । अपेहि दूरं गच्छ । अनायम् अनुचितम् । सहस्रतास  
हस्ततानिकापूर्वकम् । माम् अन्तरेण मय विषये ('अन्तरान्तरेण युक्ते द्वितीया' इति  
द्वितीया) । मुनिगया साम्बम् अनुरक्तम् । शपे शपथं करोमि । पृष्ठानुपृष्टक्या पश्चाद्,  
पश्चाद् । आहिण्यमानः प्राप्स्यन् । पेशे वेश्यातले शप्त तस्य विद्वं प्रतिभूतम् ।

किलित्ते भिह् शंयुत्ते । [भाव भाव, प्रेक्षस्व तावत् । मामन्तरेण सुस्तिगधैपा गणिकादारिका ननु । येन मा भणति—'एहि । आन्तोऽसि' बलान्तोऽसि' इति । अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः । भट्टालिके शपे भावस्य शीर्षमात्मी-  
याम्या पादाभ्याम् । तत्रैव पृष्ठानुपृष्ठिक्याहिण्डमान आन्त बलान्तोऽस्मि संवृत्तः ।

विट — (स्वगतम् ।) अये, फय शान्तमित्यभित्ति आन्त इत्यवगच्छति  
मूर्खः । (प्रकाशम् ।) वमन्तसेने, वेशवासविरट्टमभिहितं भवत्या । पश्य,

तच्छणजनसहायश्चिन्त्यता वेशवासो

विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव ।

वहसि हि धनहार्ये पण्यभूत शरीर

सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च ॥३१॥

अपि च—

वाप्या स्नाति विचक्षणो द्विज्वरो मूर्खोऽपि वर्षाधमः

फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बहिणा ।

ब्रह्मक्षेत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तर्पवेतरे

त्वं वापीव लतेव नौरिव ज्वरं वेश्यासि सर्वं भज ॥३१॥

वसन्तसेना—गुणो बलु अणुराग्रम्ब कारणम्, ष उण यत्तपारो । [गुणः

खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्वनात्क.र ] ।

शकार — भावे भावे एषा यश्चदासी कामवेवाभवपुज्जलादी पट्टुहि ताह  
वतिद्वेषालुवताह अगुलता न म कामेवि । वामदो तदश चलम् । शधा तथ मम म  
हृत्पावो ष एषा वलिद्वेषादि तथा कलेदु भावे । [भाव भाव, एषा गर्भदासी काम-  
देवायतनीशानाग्रभृति तस्य दग्धिचास्वत्तस्यानुगता न मा कामपते । वामतस्तस्य  
गृहम् । यया तव मम च हस्तान्नेगा परिभ्रम्यति तथा करोतु भावः] ।

विट — (स्वगतम् ।) यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः । कथं वसन्त-  
सेनार्यचास्वत्तमनुगता । सुधु खल्विदमुच्यते—'रत्न रत्नेन संगच्छते' इति ।  
तद्गच्छतु । किमनेन मूर्खेण । (प्रकाशम् ।) काणेलीमातः, यामतस्तस्य सार्ध-  
माहस्य गृहम् ?

वसन्तसेनाया. वचनं वेशवासविरट्टमिति विट. द्वाभ्यां वचयति—तरणेति-  
वेशावात् वेद्यास्ये निवातः तच्छणजन युवजन सहयो यस्य तादृश तच्छणजनापेक्षी  
इत्यर्थः इति चिन्त्यताम् विचार्यताम् । त्वं च मार्गजाता मार्गं उत्पन्ना लताइव गणिका  
इति विगणय विचारय । हि यत्तत्त्वं पण्यभूत विज्ञेयस्त्वस्य तथा च धनहार्यं धनेन

विट्—(अपने आप) अरे ! यह मूर्ख किस प्रकार 'शान्त' ऐसा नहे ज ने पर  
 ज्ञान (पका हुआ) समझ रहा है ? (प्रकट रूप से) वसन्तसेने, आपने (अपने) वेश्यालय  
 के वाम (जीवन) के विरुद्ध कहा है । देवी—

वेश्यालय के जीवन (वास) को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो, सोचो,  
 [म मार्ग में उगी हुई लता के समान वेश्या हो, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्रम्य  
 वस्तुरूप शरीर को तुम धारण करती हो इसलिये हे भद्र महिला, प्रिय और अप्रिय  
 दोनों का समान रूप में सेवन करो ॥३१॥

और भी—

विद्वान् बाह्यतः तथा नीच जाति वाला मूर्ख भी एक चापी (बाणही) में स्नान  
 करता है. जो पुण्यित लता पहले मयूर के द्वारा (बँठकर) झुकाई गई थी, उमी लता  
 को (उम पर बँठकर) कोआ भी झुका देता है, बाह्यतः सप्रिय और वंश्य जिम नाव से  
 पार उतरते हैं उमी से दूसरे लोग भी । तुम वेश्या हो (इसलिये) चापी (बाणही) के  
 समान, लता की भाँति और नाव की तरह ही सब जनों का सेवन करो ॥३२॥

वसन्तसेना—प्रेम का वास्तविक कारण गुण है न कि बलात्कार ।

शकार—भाव, भाव, यह जन्म-दासी कामदेवापतन उद्यान (में जाने) से लेकर  
 उस दरिद्र चाण्डाल से प्रेम करने लगी है, मेरो कामना नहीं करती है । बाईं ओर  
 उसका पार है, जिमसे तुम्हारे और मेरे हाथ से यह निकलने न पाये, आप बैना  
 (उपाय) करें ।

विट्—(अपने आप) मूर्ख वही कह रहा है जो धोड़ने योग्य है । क्या वसन्त-  
 सेना आपें चाण्डाल से प्रेम करती है ? यह वस्तुतः ठीक ही कहा जाता है कि—'रत्न  
 रत्न के साथ (ही) समुक्त होता है ।' तो जाने दो । इस मूल से क्या ? (प्रकट रूप से)  
 वाग्देवी के पुत्र, उम मार्यवाह चाण्डाल का घर बाईं ओर है ?

बाह्य शरीर अर्थात् धारयति अतः हे मन्त्रे बन्ध्यानि सुप्रिय च अप्रिय च समान-  
 रूपेण उपचर सेवस्व । उपमा काम्यनिर्ज्ज्वलं चालङ्कारो । भाविनीवृत्तम् ॥३१॥

बाष्पाविति—विचक्षणः विद्वान् द्विजवटः अपि बाह्यणोऽपि बाष्पां दीपिवायां  
 स्नाति स्नान करोति, वर्षेन अघम. शूद्रादिः सुषोऽपि च स्नाति । या लता बहिष्णा  
 मयूरेण तामिता भवति ॥ कुस्तां पुण्यितां सतां चापसः अपि काकोऽपि माम्यति नमपति  
 (नाम्यतीति वन्द्यादि पाठान् 'नाम करोति' इत्यर्थे यकि अवारलोपे च रूपम् इति  
 पृथ्याघटः) । यया च नाम नीत्या बह्यस्तत्रविता बाह्यतःप्रियवेश्याः तरन्ति तथा एष  
 इतरे शूद्रादयोऽपि तरन्ति । त्व वेश्या अमि अन चापी इव लता इव नो. इव च अति  
 तस्मात् सर्वं अन सुप्रियम् अप्रियम् वा अत्र मेवम्य । मा नोयमा काम्यनिर्ज्ज्वलं चालङ्कारो ।  
 शांतिविश्रीतिव वसम् ॥३२॥

गमंदासो जन्मप्रभृति दामो । कामदेवस्य आपतन स्थान तदेव उद्यानम् एतन्नाम-  
 सुदानम् इति भावः । मदेव परिहृतं त्वत्तथ्यम् उदाहरति कथयति । चारश्तरय  
 इह समोने बर्देते शक्ति वदन नोचिन तदेव च मूर्ख. शकारः कथयति । 'वसन्तसेना'



शकारः—उघ इ । यामदो तरसा घतम् । [उघ किम् । वामतस्तः  
गृहम् ।]

वसन्तसेना—(स्वगतम् ।) अग्रहे । यामदो तरसा गेहं ति जं शब्दम्, अदरश्चने  
वि दुर्जनेण उच्यते, जेण विअसङ्गम पाविदम् । [आश्चर्यम् । वामतस्तस्य  
गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनैर्नोपनृतम्, येन प्रियसङ्गमः प्रापितः ।]

शकारः—भावे भावे, बलिम् बलु अन्धजाते पाशासासिपट्टि विअ मसिगुटिका  
हीरादो ज्ञेय पण्टा वसन्तसेनिआ । [भाव भाव बलीयसि खल्वन्धकारे भाषयसि-  
प्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानंय प्रनष्टा वसन्तसेना ।]

विटः—अहो, बलवान्धकारः । तयाहि ।

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।

उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥३३॥

नपि च—

तिम्बतीव तमोऽङ्गानि वपंतीवाञ्जन नभ ।

असत्पुरपसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥३४॥

शकारः—भावे भावे, भण्णोसामि वसन्तसेनिअम् । [भाव भाव, अन्विष्यामि  
वसन्तसेनिकाम् ।]

विटः—काणेलीमातः अरित किञ्चिन्चिह्नं यदुपलक्ष्यसि ?

शकारः—भावे भावे, कि विअ । [भाव भाव, किमिव ।]

विटः—भूषणशब्दं सीरुम्पानुविद्धं माल्यगन्धं वा ।

शकारः—गुणामि मल्लगन्धम्, अन्धजातपूतियाए उण जासिभाए ण गुण्त  
वेवपामि भूषणशब्दम् । [भृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारवृत्तिया पुनर्नासिस्मान  
गुण्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम् ।]

विटः—(जनान्तरम् ।) वसन्तसेने

शारदोऽनुरागा' इति शकारमुखात् निगम्य विटः, मथयति यत् रत्नस्य सदगति रत्नेन  
साधं भवति । वसन्तसेना चारदस्तस्य एतौ रत्नदुल्यो एतयोश्च अनुरागः स्पृहणीय एवेति  
भावः । काणेलीमातः काणेली वन्या असती वा माता यत्र तन्सम्बुद्धौ ।

अपराध्यता अपराधं नुवंता । भाषाणां रामो पविष्टा प्रशिप्ता या मसीगुटिका  
तद्दृष्ट्वा प्रपमाना एव वसन्तसेना प्रनष्टा अदृश्या जाता ।

विटः द्वाभ्यां बलीशब्दां पर्यायशब्दं वर्णयति—आलोकेति-आलोके प्रकाशे  
दर्शने वा विशाला विस्तृता महती वा मे मम दृष्टिः सहसा निमिरे भवेशः तेन विचिन्ना

शकार—ओर क्या ? उसका घर बाई ओर है ।

बनभमेना—(अपने आप) आन्तर्यं यदि सचमुच बाई ओर उसका घर है; (नीं) अन्वय करने हुए भी दृष्ट ने उपहार कर दिया, जिसने प्रिय ममानम तो प्राप्त कराया ।

शकार—भाव, भाव, गहन अन्धकार में माय (उर्ध्व) के ढेर में प्रविष्ट हुई स्थायी की दिक्का के समान—दृष्टिघोचर होनी हुई ही बसन्तसेना विरोधित हो गयी ।

बिट—अहां, प्रबल अन्धकार है, क्योंकि—

प्रकाश में विसृज (दूर तक देखने वाली) मेरी दृष्टि अन्धकार में प्रवेश करने में मत्मा अवलम्ब हो गई । मेरी आँखें सुली होकर भी अन्धकार ने बन्द-खी दर दी है ॥३३॥

ओर भी—

अन्धकार धड़ों को निस्त-स्त कर रहा है, आकाश मानो काजल (अंजन) बरसा रहा है । दृष्ट मनुष्यों की मवा की भाँति मेरी दृष्टि विष्कलता को प्राप्त हो गई है ॥३४॥

शकार—भाव, भाव, बसन्तसेना को दूँडा हूँ ।

बिट—हाथेली के पुत्र, कुछ चिह्न है जो (बनभमेना को) दूँ रहे हों ।

शकार—भाव, भाव, कैना (चिह्न) ?

बिट—आभूषण की ध्वनि या सुगन्धयुक्त माता की गन्ध को ?

शकार—माता की गन्ध (ध्वनि) मुन रहा है, (किन्तु) अन्धकारयुक्त नाक से आभूषणों के शब्द को स्पष्ट नहीं देख रहा हूँ ।

बिट (जनान्तिक) हे बसन्तमेने !

विनष्टा गता उन्मीलिका अत्र च दृष्टिः अन्धकारेण निष्पीलिका मुद्रिता । इव उत्प्रेक्षा-  
सङ्कारः । आर्षाद्वैलम् ॥३३॥

विमर्शोक्ति—तत्र, अन्धकारः अङ्गुलिनिम्बान् इव तत्र, आकाशम् अन्धकारं  
करञ्जव वर्धन इव । दृष्टिः अतन्तुरवस्य अथमन्तुरवस्य सेवा इव विकलतां विगतं फलं  
धाम्नाः ना विकला तस्याः भाव, ता निष्कलताः यत्र अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षा उत्तरार्द्धे च  
उत्प्रेक्षा । तयोः संसृष्टिः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥३४॥

चिह्नं भूषणशब्दादि । सौरभ्येण सुगन्धेन अनुविद्धं व्याप्तम् । शृणोमि मातृ-  
गन्धम् इत्यादि शकारस्य अयम्बुद्धोक्तिः ।

जनान्तिकम् इति नाट्योक्तिभेदः तस्य । च तत्रानुक्तं दर्शने—

‘त्रिदशककरोपान्जानरवानान्तरा कथाम् ।

अन्वेषणमन्तरं यत् स्यामन्तरान्ते जनान्तिकम् ॥’ (टि०)

कामं प्रदोषपतिमिरेण दृश्यसे त्व  
 सौदारमिनीव जलदोदरसन्धिलीना ।  
 त्वा सूचयिष्यति तु मात्पसमुद्भवोऽय  
 गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ॥३१॥

श्रुतं वसन्तसेने ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) सुख गृह्य अ । (नाट्येन नूपुराण्युत्तारं मात्पानि  
 आपनीय किञ्चित् परिव्रज्य हस्तन परामृश्य ।) अम्मो, भित्ति-परामरितसुहृद् एवञ्च  
 आरब्धं बभू एवम् । जानामि अ सभोएण गेहस्य सवृद् एवञ्चदुआरअम् । [श्रुतं गृहीत  
 च । अहो, भित्तिपरामशंसूचित पक्षद्वारक खल्वेतत् । जानामि च सभोएण  
 गेहस्य सवृत्त पक्षद्वारकम् ।]

आरब्धं वयस्य, समाप्तजपोऽस्मि । तत्साम्प्रतं गच्छ । मातृम्बो  
 बलिमुपहर ।

विदूषक — भो, ज गमिरसम् । [भो, न गमिष्यामि ।]

आरब्धं — धिक्कष्टम् ।

दारिद्र्यात्पुरुषस्य श्वान्धवञ्जनो वानपे न सतिष्ठते

सुस्निग्धा विमुसीभवन्ति सुहृद् स्फागीभवन्स्थापद ।

सत्त्व ह्यासमुपतिं शीलशशिन वान्ति परिम्लायते

पाप कर्म च यत्परैरपि वृतं तत्तस्य सभाव्यते ॥३६॥

अपि च—

सङ्ग नैव हि नाशिवदस्य कुरते सनापते नादरा—

त्सप्राप्तोऽ गृहमुत्सवेषु घनिना सावजमलोवयते ।

विट वसन्तसेना प्रति वचयति— काममिति हे भीर, काम यद्यपि त्व जलदानं  
 मेवानाम् उदरसन्धी मध्ये लीना अन्तहिता सौदारमिनी विद्युत् इव प्रदोषतिमिरेण  
 प्रदोषस्य निशामुखस्य तिमिरेण अन्यदारेण न दृश्यते तु विद्युत् मात्पसमुद्भव मात्प  
 निर्गत अय गन्धः त्वां वसन्तसेना सूचयिष्यति मुखराणि शब्दयुतानि नूपुराणि चण-  
 भूपणानि सूचयिष्यन्ति । आत्परक्षार्यं अवसरानुगुणं ब्रियताम् इति व्यग्यते । उपमा-  
 सद्धारः । वसन्ततिलवा वृत्तम् ॥३१॥

भित्ते परामशेन स्पञ्जेन सूचितम् । पक्षस्य पार्श्वभागस्य डारम् । संघोतेन स्पञ्जे-  
 नेन्द्रियानुभवेन । समाप्तजप समाप्त जप येन स ।

बादलों के भीतर सन्धि-स्थल में छिपी हुई दिवली के समान तुम भले ही रात्रि के प्रथम भाग (प्रदोष)-के अन्तकारवश न दिखाई देती हो, परन्तु हे उरफोक (भीष्ट) ! (तुम्हारी) माना से उत्पन्न होने वाली यह गन्ध बोर झट्ट करने वाले नूपुर तुम्हें प्रकट (सूचित) कर दोगे ॥३५॥

मुना, वसन्तसेना !

वसन्तसेना—(अपने आप) मुना और ममज लिया । (माटघ से नूपुरों को उतार कर और मालाओं को फँक कर कुछ घूमकर हाव से छुकर) अहो ! दोवार (भित्ति) के छन से ज्ञात हुआ यह अवश्य ही बगल वा दरवाजा (पक्षडार) है और लगता है दैवयोग (मयोग) से घर वा (यह) पक्षडार बन्द है ।

चारदत्त—मित्र ! (मैं) जब समाप्त कर चुका हूँ । तो अब जाओ । मातृ-देवियों के लिये बलि ले जाओ ।

विदूषक—हे (मित्र) ! नहीं जाऊँगा ।

चारदत्त—हाय ! बड़ा दुःख है ।

बन्धु सोग भी निघ्नता के कारण (निघ्न) पुरुष के कहने में नहीं रहने, अत्यन्त स्नेही मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, आपत्तियाँ अधिष्ठ हो जाती हैं । शक्ति क्षय को प्राप्त हो जाती है, चरित्र (शील) रूपो चन्द्रमा की भाँसा झुँधनी हो जाती है, जो दूसरों के द्वारा भी किया गया पाप-कर्म है, वह उभी वा (रिया हुआ) समझा जाता है ॥३६॥

कोई हमका मंग नहीं करता, न ही (कोई उनके साथ) आदर से बोलता है, घनों लोगों के घर (विवाहादि) उमरा में गया हुआ अनादरपूर्वक देखा जाता है,

यदा मैत्रेय क्षतिप्रदानाय गन्तुं गच्छतो भवति चारदत्तोऽप्य आत्मान्द्रस्य कारणं दरिद्रतैवेति मन्वान मैत्रेय प्रति (उनोऽत्रवेण) कथयति-चारिद्र्याद् इति । चारिद्र्यात् घनाभावात् बाण्यवदन्तः पुण्यव्य वाचये न सन्निष्ठते वचनं न पातयति । मुनिनाथा अतिस्नेहपुत्राः मद्रुव निश्चिन्ति अपि विमुक्तोभवन्ति विमुक्ताः जायन्ते । भापव आपतय स्फारोभवन्ति विस्तार यन्ति । मत्त्व इत हास क्षीणताम् अपन्ति मच्छन्ति । शीतसातित शीतक्षयस्य चन्द्रस्य क्षान्ति परिष्कापने क्षीणताम् आप्नोति । यच्च पाप कर्म बीर्षादिकं निन्दित कार्यं परैः अन्यै अपि कृतं यत्रति तत् तस्य संमाप्यते तेनैव कृतम् इति जामदग्नये । रूपकानन्दारः । शार्दूलविशोदित वृत्तम् ॥३६॥

मद्रुमिति-क्षिचदपि जन. अस्य निघ्नस्य सद्गं नैव कुरते, आदरान् कादरपूर्वकं न सम्भाषणे । उत्पद्येयु घनिना कृते मश्राप्य गमापतः म जेने सावतम् अवजया घर्हितं निरस्कारपूर्वकम् अजलोषणे । म च अत्यच्छदः उत्तवस्त्र. सन् सज्जया महाजनस्य कुरादेव ग्ठिगति मच्छति । अनात्तं मन्वे निघ्नना अपनम् अन्यत् वष्टं प्रकामं प्रकृष्टं

दूरादेव महाजनस्य विहरत्येत्यच्छदो लज्जया'

मन्ये निर्घनता प्रकाममपरं पृष्ठ महापातकम् ॥३७॥

अपि च—

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीर सुहृदित्युपित्वा ।

विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ॥३८॥

विदूषक.—(सर्वतथ्यम्) भो वयस्य, जइ मए गन्तव्यम्, ता एतापि मे सहा-  
इणी रवणिभा भोदु । [भो वयस्य, यदि मया गन्तव्यम्, तदेपापि मम सहायिनी  
रदनिका भवतु ;]

पारुषत्.—रदनिके, मैत्रेयमनुगच्छ ।

चेटी—ज अजो आणवेवि । [यदायं आज्ञापयति] ।

विदूषक—भोदु रवणिए, गेण्ह बलि पदीव अ । अह् अवाधुव पवत्तुआरअ  
करोमि । [भवति रदनिके, गृहाण बलि प्रदीप च अहमपावृत पक्षद्वारक करोमि]  
(तथा करोति ।)

वसन्तसेना—मम अभ्युववत्तिणिमित्त विभ अवाधुव पवत्तुआरअम् । ता जाव  
पवित्तामि । (रुण्णा) ह्ण्डी ह्ण्डी । कर्ण ववीवो । [ममाभ्युपपत्तिनिमित्तमिवापावृतं  
पक्षद्वारकम् । तद्यावत्प्रविशामि । हा धिक्, हा धिक् । कर्ण प्रदीपः] (पदान्तन  
निर्वाप्य प्रविष्टा ।)

पारुषत्.—मैत्रेय किमेतत् ।

विदूषक—अवाधुवपवत्तुआरएण विण्हीभूदेण वादेण निष्वाधिवो पदीवो ।  
भोदि रवणिए, निबकम तुम पवत्तुआरएण । अह्पि अक्कन्तरथदुरसातावो पदीव  
पंग्जासिभ आअच्छामि । [अपावृतपक्षद्वारेण विण्हीभूतेन वातेन निर्वापितः  
प्रदीपः । भवति रदनिके, निष्क्राम त्व पक्षद्वारकेण अहमप्यभ्यन्तरचतुःशातातः  
प्रदाप प्रज्वाल्यागच्छामि ।] [इति निष्क्रान्तः ।]

शकार.—भावे भावे अण्णेशामि वसन्तसेनिअम् । [भाव भाव, अन्देपयामि  
वसन्तसेनिकाम् ।]

चिट.—अन्विष्यतामस्विष्यताम् ।

शकार.—(तथा कृत्वा) भावे भावे, गहिदा गहिदा । [भाव भाव, गृहीता  
गृहीता] ।

चिटः—मूर्खं, नन्वहम् ।

शकार.—इदो दाव पधिम एअन्ते भावे चिट्ठदु । (पुनरन्विष्य चेट गृहीत्वा) ।  
भावे भावे, गहिदा, गहिदा (इतस्तानद्भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु । भाव भाव,  
गृहीता गृहीता) ।

अल्प वस्त्र वाला होने से लज्जा के कारण बड़े लोगों से दूर ही धूमता है। मानता है कि (मेरे विचार में) निर्धनता भी एक अन्य छटा महापाप है ॥३७॥

और भी—

हे दारिद्र्य, तुम्हारे विषय में (मैं) इस प्रकार दुःखी होता हूँ कि मेरे शरीर में मित्र के समान बास करके मुझ अभाग्य के शरीर त्याग देने (मर जाने) पर तुम कहाँ जाओगे ? मुझे यही चिन्ता है ॥३८॥

विदूषक—(तज्जापूर्वक) हे मित्र ! यदि मुझ जाना (ही) है तो यह रदनिका भी (बलिदानों से चलने में) मेरी सहायिका होव ।

चारदत्त—रदनिके, मैत्रेय का अनुगमन करो ।

रदनिका—जो आर्य आज्ञा देते हैं ।

विदूषक—हे रदनिके, बलि और दीपक को पकड़ो । मैं बगल के दरवाजे (दक्षिण) को खोलता हूँ (बैठा करता हूँ) ।

वसन्तसेना—भागों मुझ पर अनुग्रह (= अम्भुसपत्ति) करने के लिये बगल का द्वार खुल गया है तो (जब तक) प्रवेश करती हूँ । (देखकर) हाय ! हाय ! ! क्या दीपक (जल रहा) है ? (वस्त्र के धोर से बुझाकर प्रविष्ट हो जाती है) ।

चारदत्त—मैत्रेय, यह क्या ?

विदूषक—बगल का द्वार खुलने के कारण एकत्रीभूत वायु (के मोके) ने दीपक बुझा दिया । हे रदनिके ! पश्चात्तर से तुम बाहर चलो । मैं भी भीतरी बनु-छाता से दीपक जला कर आ रहा हूँ । (निकल जाता है) ।

शकार—भाव, भाव वसन्तसेना को डूँडना है ।

बिट—वूँडिये, वूँडिये ।

शकार—(बैसा करके) भाव, भाव, पकड़ ली, पकड़ ली ।

बिट—मूर्ख ! (यह ली) मैं हूँ ।

शकार—तो आप (भाव) इधर होकर एकान्त में सड़े रहें (फिर वूँडकर बेट को पकड़ कर) भाव, भाव पकड़ ली, पकड़ ली ।

महापातकम् अस्ति । अनुना पञ्च महापातकानि उक्तानि "असह्यताः सुपापानं, स्त्रीय युव नृनापव । महानि पातकान्याहुः समग्रवाति तं सह ।" उक्तानि च दारिद्र्यं पण्डं पातकम् इति भावः । उत्प्रेक्षातद्वाचः । गार्होनिर्विभीदित वृत्तम् ॥३७॥

दारिद्र्य इति—हे दारिद्र्य, अन्त एव सोषामि यन् स्वन् अस्माकं शरीरे मुद्गः इति 'अत्र ह्य मित्रमिति' बुद्ध्या उपलब्धा वामं कृत्वा, अयुता च मयि मन्दभागे विदग्धेरे विपन्नः देशः यस्य तस्मिन् विनष्टदेहे त्वं चर एमिष्यसि इति मय चिन्ता चर्चव । अत्र 'दारिद्र्यम्' इति तन्मुखजन 'भवन्तम्' इति वृत्ति-निर्देशवित्तः । उदवाति वृत्तम् ॥३८॥

चेट — मटके, चेडे ह्ये । [मट्टाक चेटोट्टम]

शकार — इयो भावे, इयो चेडे । भावे, चेडे, चेटे भावे । तुह्ये टाव एअन्ते चिट्ठ । (पुनरन्विय रदनिरा वेशेषु गृहीत्वा ।) भावे भावे शब्द गहिदा गहिदा यशन्तसेनिभा ।

अन्धआले पलाअन्ती मल्लगन्धेण शूइदा ।

केशविन्दे पलामिट्टा चाणक्येणव्व दोवदी ॥३६॥

[इतो भाव, इतश्चेट । भावश्चेट, चेटो भाव । युवा तावदेकान्ते तिष्ठतम् । भाव भाव, साप्रत गृहीता वयन्तसेनिना ।]

[अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता ।

केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी ॥]

बिट —

एपासि वपसो दर्पाकुलपुत्तानुसारिणी ।

केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्पिता ॥४०॥

शकार —

एशाशि वाश् शिलशि ग्गहोदा वंशेषु बालेषु शिलोसुहेषु ।

अक्कोश विक्कोश लवाहिनण्ड शम्भु शकलमीश्वर वा ॥४१॥

, एपासि वामु शिरांस गृहाता वशेषु बानेषु शिरोरुहेषु ।

आहोश विक्कोश लपाधिचण्ड शम्भु शिव शङ्करमीश्वर वा ॥

रदनिका—(ममयम् ।) इ अजमित्तेहि ववसिदम् । [किमार्यमिध्रैव्यव-

सितम् ।]

बिट — वाणलीमात, अन्य एवैप स्वरसंयोग ।

शकार — भावे भावे, यथा रहितारवतिनुढाए मग्गालिए शलपतिवत्ते होरि तथा दासीए धीए शलपतिवत्ते रुडे । [भाव भाव, यथा दाधशरपरिलुब्धाया मार्जारिकाया स्वरपरिवृत्तिर्भवति, तथा दास्या पुत्र्या स्वरपरिवृत्ति कृता ।

बिट — वथ स्वरपरिवत्त कृत । अहो विप्रम् । अथवा विमश चित्रम् ।

अपावृतम् उदपाटितम् । अप्पुपपत्तिनिमित्तम् अनुग्रहायम् । अपावृत तत् पक्षद्वार तेन निमित्तन । विण्डीभूतेन एवीभूतेन ।

शकार वचयति—अन्धकारे इति अन्धकारे पलायमाना धावन्ती वसन्तसेना माल्यगन्धेन सूचिता चाणक्येन द्रौपदी इव केशवृन्दे पञ्जपाशे परामृष्टा गृहीता ।

चेट स्वामिन्, मैं तो केवक हूँ ।

शकार— इषर भाव (विट), इषर चेट । भाव-चेट, चेट-भाव, । तुम दोनों तो एकांत में सहे रहो । (द्विर दूँदकर रदनिका को केसों से पकड़कर) भाव, भाव, अब बसन्तसेना पकड़ ली, पकड़ ली ।

अपकार में म पती हुई नाता की कथ मे मुचिउ बसन्तसेना मेरे दाटा इस प्रकार केसों से पकड़ ली गई है, जैसे चापक्य के द्वारा द्रौपदी ॥३६॥

विट - (भीवन) अबन्धा के दर से कुलीन पुत्र (चारदत्त) का अनुगमन करने वाली दह (तुन) पुत्रपुत्र, सेवा (रक्षा) करने योग्य बानों से (पनड़कर) लीधी जा रही हो ॥४०॥

शकार—हे बाने, दह (तुन) चिर के बालों के (गिरोरह, चिर पर उत्पन्न होने बाने बालों के) दाटा पकड़ ली गई हो अब बालों दो, चित्ताबो, शम्भु, गिब, शकर या ईश्वर को पुकारो (हमें जिन्हीं में पय नहीं है) ॥४१॥

रदनिका—(भगवूँक) (बाद) महानुभावों ने (पट) क्या किया ?

विट—अरे कांतो के पुत्र, यह स्वर तो दूनग सा (सदता) है ।

शकार—भाव, भाव, जिन प्रकार वही की बनाई की इच्छुक (मुग्ध) बिल्ली के स्वर में परिवर्तन हो जाता है तर्फी प्रकार (इन) बालों की पुत्री (नीच बसन्तसेना) ने स्वर में परिवर्तन कर निना है ।

विट—क्या स्वर में परिवर्तन कर निना ? अहो आश्चर्य है ! या हय (स्वर-परिवर्तन) में आश्चर्य ही क्या है ?

शकारवाक्यात् अमम्बडोवना । अनुपुत्र वृत्तम् ॥३६॥

विटः कथमनि - एनेति । वचन भीवनावन्धाना र्थात् कुलपुत्रानुमात्रिणी कुपुत्र चारदत्त इति समनशीला एता वनन्तसेना स्व सेविनभ्येषु सेनामोक्षेषु कुनुमाहनेषु पुनः कृत्येषु अनहृदयेषु इत्यर्थे केसेषु कथिता बनाद् रूहीता कथि । अनुपुत्र वृत्तम् ॥४०॥

शकार वनन्तसेनामुद्दिश्य कथमनि - एषामीनि । हे वानु बाने एता वनन्तसेना इव गिरानि केसेषु बानेषु गिरोरधेषु गुरीना कथि । अनुना आशोक गानं देहि, शिरोता आदर कथि अपता शम्भु गिब शङ्करम् ईश्वर वा प्रति अधिबधम् अनुपुत्रं तव शिवान कु । इन्द्रवत्या वृत्तम् ॥४१॥

अर्थपर्यः मान्यः । स्थविनम् आरम्भम् । शिवांगर. दत्त. उरिभाद. इति पृथोक्तर, तत्र परिवृत्तानाः चरिभ्यः ।



इय रङ्गप्रवेशेन कलाना चोपशिक्षया ।

वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरर्नपुष्यमाश्रिता ॥४२॥

(प्रविश्य ।)

विदूषक — ही ही भो, पदोपमन्दमारुदेण पशुबन्धोवणीवस्त विभ छागलस्त  
हिअअम् फुरफुराअदि पदीयो । (उपसृत्य रदनिका दृष्ट्वा ।) भो रदणिए । [आश्चर्यं  
भो प्रदोपमन्दमारुतेन पशुबन्धोवणीवस्तयेव छागलस्य हृदयम्, फुरफुरायते  
प्रदाप । भो रदनिके ।]

शकार — भावे भावे, मणुशो मणुशो । [भाव भाव मनुष्यो मनुष्य ।]

विदूषक — जुत नेदम्, सरित्त, नेदम ज अजचारदत्तरत्त दत्तिहदाए सपव  
परपुरिता गेह पवित्तन्ति । [युक्त नेदम् सदृश नेदम, यदायं चारुदत्तस्य दरिद्राया  
साप्रत परपुरिता गेह प्रविशन्ति ।]

रदनिका — अज मित्तंअ पेवळ मे परिहवन् । [आय मंत्रेय, प्रक्षत्वं मे  
परिभवम् ।]

विदूषक — कि तव परिहयी । आडु अग्हाणम् । [किं तव परिभव ।  
अधवास्माकम् ।]

रदनिका — ण तुम्हाण ञ्जेव । [ननु युष्माकमेव ।]

विदूषक — कि एसो बलवकारो । [किमेव बलात्कार ।]

रदनिका — अध इ [अयं किम् ।]

विदूषक — सच्चम् । [सत्यम्]

रदनिका — सच्चम् । [सत्यम् ।]

विदूषक — (सत्रोद्य दण्डकाष्ठमुद्यम्य) मा दाय । जी, सके गेहे कुक्कुरो वि  
दाव चण्णो मोवि, कि उग अह बहणो । ता एदिणा अह्मारित्तअणमाअघेअकुडित्तेण  
दण्डकट्टेण कुट्टरत्त विभ सुवत्थानवेणुअस्त मत्थअ दे पहारेहि कुट्टइस्तम् । [मा  
सावत् । भो., स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति किं पुनरहं ताहाण ।  
सदेतेनास्मादुशजनभागधेयवृष्टिलेन दण्डकाष्ठेन दृष्टस्येव श्ववेणकस्य मस्तक  
त्ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि ।]

विट वसन्तेनाया स्वरर्नपुष्य हेतु दक्षमति-इयमिति । इय वसन्तेना रङ्गः  
नृत्यशास्त्रात् तत्र प्रवेशेन कलाना समीतादीना च उपशिक्षया अभ्यासेन, वञ्चनायां  
लोकप्रतारणाय पण्डितत्वेन नैपुष्येन स्वरर्नपुष्य स्वरपरिवर्तनकोशलम् आश्रिता  
प्राप्तवती । समुञ्चयानङ्कार (वाते) । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥४२॥

इम (वसन्तसेना) ने रङ्गशाला (नाट्यशाला) में प्रवेश तथा कलाओं की शिक्षा के द्वारा (दूमरो को) ठगने में कुशल हो जाने के कारण स्वर (परिवर्तन) में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥४२॥

(प्रवेश करके)

विदूषक—अरे आश्चर्य है ।

राजि के प्रथम पहर की धीमी-धीमी चामु में यूपकाण्ड, वध्य षणु की बाँधने के लूटे के ममीप ने जाये गये वक्त्रे के हृदय के समान, दीपक काँप रहा है । (ममीप आकर रदनिका को देखकर) हे रदनिके !

शकार—भाव, भाव, मनुष्य, मनुष्य ।

विदूषक—यह उचिन नहीं है, यह योग्य नहीं है कि आर्य चारदल की निर्धनता के कारण भ्राजवन दूसरे लीप (उमके) घर में प्रवेश करते हैं ।

रदनिका—आर्य संश्रेय ! मेरा अनादर (तो) देखो ।

विदूषक—बेया तुम्हारा अनादर अथवा हमारा ?

रदनिका—आप सबका ही ।

विदूषक—बेया यह बलात्कार ?

रदनिका—और क्या ?

विदूषक—सचमुच ।

रदनिका—सचमुच ।

विदूषक—(त्रोप्रपूर्वक तकड़ी का टण्डा उठाकर) ऐसा नहीं (होगा) । अरे ! अपने घर में तो कृत्ता भा बमवान् (शेर) होता है, फिर मैं ब्राह्मण तो क्या ?

अनः इम हमारे भ्राय्य जैसे टेढ़े काठ के टण्डे से विद्वत् (दुष्ट) मूले हुए बीस के समान तेरे मस्तक को प्रहारों के द्वारा टूट डालूंगा ।

षणुः बध्यते अत्र इति षणुकथः गुपराण्ड तत्र उन्नीतस्य प्रापितस्य । फुरफुरावने अन्तं प्रकम्पते । परिवचः निरस्कारः । चण्डः शीघ्रः । बलीयान् वा अस्मादृशजनानां मादनानां जनानां मापद्येयवन् भ्राय्यवन् कुक्षितेन बज्रः । दुष्टस्य दोषशुद्धस्य विद्वत्स्य । सरमानकः इति शकारस्य नाम । उपमर्दं-निरस्कारः ।

शकारइतमग्माल दारिद्र्यपटेतुसमिति मन्वानः संश्रेयः कपयति—मेति । दुर्गतः दरिद्र इति एष मर्त्वा परित्यक्तः तिरस्कारः वा न कर्त्तव्यः यतः कृतान्तस्य

विट — महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय ।

विदूषक — (विट हट्ट्वा) न एत्थ एसो अवरज्जदि (शकार हट्ट्वा), एसो षण्णु एत्थ अवरज्जदि । अरे रे रामसात्तअ सट्ठाणअ दुज्जण दुग्गणुस्स, जुत्त वेदम् । णइ वि णाम तत्तभक्क अज्जच्चारदत्तो दत्तिहो सवृत्तो ता कि तस्स गुणेहि ण अत्तकिदा उज्जहणी । जेण नेह पवित्तिअ परिअणत्त ईरिमो उच्चमहो करीअदि ।

मा दुग्गदोत्ति परिहवो णात्थि वअन्तस्स दुग्गदो णाम ।

चारित्तण विहीणो अहदो वि अ दुग्गदो हांइ ॥४३॥

[नात्र एषाऽपराध्यति । एष खल्वनापराध्याति । अरे रे राजश्यालक सस्यानक दुजा दुमनुष्य, युक्त नेदम् । यद्यपि नाम तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्र सवृत्त । तर्हि तस्य गुणैर्नास्ति हृत्तोऽत्रपिणी । येन तस्य ग्रह प्रविश्य परिक्रम-स्येदृश उपमर्द क्रियत ।

मा दुर्गंत इति परिभवां नास्ति कृतान्नस्य दुर्गतां नाम ।

चारित्र्येण विहीन आद्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥,

विट — (सर्वेनध्यम) महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्वि-दमनुष्ठितम्, न ददाति । पश्य,

सकामान्विध्यतेऽस्माभि ।

विदूषक — कि इअम् । [किमियम्]

विट — शान्त पापम् ।

काचित्स्वाधीनयीवना ।

सा मष्टा शङ्कया तस्या प्राप्तेय शीलवञ्चना ॥४४॥

सर्वथा इदमनूनयसर्वस्व गृह्यताम् । (इति सद्गमुग्ध्य वृताञ्जलि पादयो पतति ।)

ममराजस्य देवस्य वा समस्तो दुर्गंत निधेन नास्ति माम् इति सभावातायाम् अपि च प्रत्युत तस्य तु चारित्र्येण सदाचारेण विहीन आद्य सप्तदोऽपि दुर्गंत दरिद्र एव भवति । दुर्दंशा वाप्नोति । गायत्र्य इत्तम् ॥४३॥

विट—महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो ।

विदूषक—(विट को देखकर) यहाँ वह अपराध नहीं कर रहा है । (शंकर को बो देखकर) निश्चय ही यह अपराध कर रहा है । अरे, रे रामश्यालक (राजा के लाले) संस्थानक ! दुष्ट ! दुर्मनुष्य ! यह ठीक नहीं है । यद्यपि पूजनीय आर्य चाण्डल निर्धन हो गये हैं । तो (भी) क्या उनके गुणों से उज्जयिनी भूषित नहीं है ? जिससे हमके घर में पुष्कर उमके सेवक का, इम प्रकार अपमान किया जा रहा है । 'दरिद्र है' यह जानकर अपमान मत करो, यमराज के (समझ) निर्धन (कोई) नहीं है और चरित्रहीन घनवान् भी दुर्दशा (दुर्गति) को प्राप्त होता है ॥४३॥

विट (लज्जापूर्वक) महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो । भारतवर्ष में यह (रदनिका के केश पकड़ने का कार्य) हमारे व्यक्ति के मन्देह के कारण बिधा गया है, सर्व से नहीं । देखो—हमारे द्वारा (एक) कामासक्त (पुवती) डूबी जा रही है ।

विदूषक— क्या यह (रदनिका) ?

विट—पाप शान्त हो ।

कोई अपने जीवन की स्वामिनी स्त्री । वह लो गई उसी की आशंका के कारण (रदनिका को पकड़ने से) यह शीघ्र की हानि हुई है ॥४४॥

(आप) सब प्रकार से मेरी इस विनती (मनौती) को स्वीकार कीजिए (ऐसा कहकर तलवार रथाग कर अञ्जलि बाँधकर पैरों पर गिर जाता है) ।

क्षमा याचमानः विटः वस्तुन्य्य वर्णयति—सकामेति । 'यस्माभिः सकामा वामोत्सुका युवती अन्विष्टयते विमिय रदनिकैव सकामा ? इति विदूषकस्य शङ्कायां सत्यां वचयति—वाचित् स्वार्थेनार्थवत्त्वा स्वार्थानं जीवन मत्थाः स्वैच्छया विहारिणी वेश्या इति वाक्यम् । सकामान्वयाद्यनयोचना—इति विज्ञेयणाभ्यां 'मा वेश्या' इति सूच्यते तथा च तस्याः धारण न दोषाय । सा पूर्वोक्ता युवती च नष्टा अदमनीया जाता तस्याः शङ्काया एव इयं शोच्यञ्चना रदनिकाऽपटपटया दुश्चरितसमावना प्राप्ता संजाता । नास्माकं हरिन्दु दोषः इति भावः । पश्चाच्चक्रं वृतम् ॥४४॥

अनुनयसर्वस्व अनुनयस्य आदरानिद्रयस्य अनुकूनीकरणस्य सर्वस्वम् । उपासक्यः उपासक्यं श्रापितः अनुनयामि अनुत्नीकरोमि । ममयतः रूपयत, समयः क्रियावन्ध- ('मत्तं' इति भाष्येणाम्) ।

विदूषक — सप्पुरिस, उट्ठेहि उट्ठेहि । अजानन्तेण मए तुम उयालद्धे । सपव  
जण जाणन्तो अणुणेमि । [सप्पुरिव, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । अजानता मया त्वमुपा-  
लब्ध । साम्प्रत पुनर्जनिन्ननुनयामि ।]

विट — ननु भवानेवायानुनेय । तदुत्तिष्ठामि समयत ।

विदूषक — भणानु भवम् [भणतु भवान् ।]

विट — यदीम वृत्तान्तमार्यचारदत्तस्य नाहयास्यसि ।

विदूषक — न कथइस्सम् । [न कथयि-यामि]

विट —

एष ते प्रणयो विप्र शिरसा धार्यते मया ।

गुणशस्त्रैव येन शस्त्रवन्तोऽपि निजिता ॥४५॥

शकार — (साधुयम्) किनिमित्त उच्यते, एवञ्च दुष्टवदुभयं किञ्चिज-  
ञ्जलि कदुभ पाएशु निग्रहदे । [किनिमित्त पुनर्भाव, एतस्य दुष्टवदुकस्य  
कृपणाञ्जलि कृत्वा पादयोनिपतित ।]

विट — भीतोऽस्मि ।

शकारः — कश्चि तुम भीदे । [कस्मात्त्व भीत. ।]

विटः — तस्य चारुदत्तस्य गुणैभ्य ।

शकार — के तस्य गुणा जवरा पेह पविशिम अशिवश्च वि णत्थि । [के तस्य  
गुणा यस्य गृहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति ।]

विट — मा मेवम् ।

सोऽन्मद्विधाना प्रणये कृशीकृतो

न तेन वशिवद्विभवे विमानित ।

निदायकलेप्यत्र सोदको हृदो

नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥४६॥

दृग्भयपराध चादत्ताय न कथयिष्यामि इति विदूषकवचनं निहाय विटः  
विदूषकमभिनन्दयति—एष इति । हे विप्र एष ते प्रणय स्नेह मया विटेन शिरसा  
धार्यते तेन यस्मात् कारणत् (टि०) शस्त्रवन्त शस्त्रधारिणोऽपि यद्य गुणशस्त्रं गुणा-  
एव शस्त्राणि सैः (साधनभूतैः) निजिता । रूपबालद्वार । पय्यावन्न वृत्तम् ॥४५॥  
कृपणाञ्जलि टीनाञ्जलिम् । अशितश्च गात्रम् ।



शकारः—(सर्वम्) के शे गम्यदासीए पुते ?

शूले विवकन्ते पाण्डवे शेदवेद्

पुते लाघाए लावणे इन्ददत्ते ।

आहो कुन्तीए तेण लामेण जादे

अश्वत्यामे धम्मपुत्ते जडाउ ॥४७॥

[श स गर्भदास्या पुष ।

शूरो विक्रान्त पाण्डव श्चेतीतु पुनो राघाया. रावण इन्द्रदत्त ।

आहो कुन्त्या तेन रामेण जात अश्वत्यामा धर्मपुत्रो जटायु ॥]

विट —मूर्ख, आर्यचारदत्त रात्वसो ।

दीनाना मल्पवृक्ष स्वगुणफलनत सञ्जनाना कुटुम्बी

आदशां शिक्षिताना सुचरितनिष्ठ शीलवेलासमुद्र ।

सरकर्ता नावमन्ता पुरुपगुणनिधिदक्षिणोदारसत्त्वो

स्य क प्रलाभ्य स जीवतमधिबगुणतया चोच्यसन्तीय धान्ये ॥४८॥

सदितो गच्छाम ।

शकारः—अगोनिहअ वरान्तगोनिभम् [अगृहीत्वा वरान्तरोनाम् ।]

विट —मृष्टा वरान्तरोना ।

शकार —अथ विभ । [यथमिज ।]

विट —

अन्धस्य दृष्टिरिय पुष्टिरियातुरस्य

मूर्खस्य बुष्टिरिय सिद्धिगियालगस्य ।

स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिन परमेव विद्या

स्या प्राभ्य सा रनिरिवारिजने प्रनष्टा ॥४९॥

विटस्य वचन धृत्वा शकार सङ्घोष गृह्यति—शूर इति । अ सः विद्वान्त  
परारम्भी शूर ? स वि पाण्डव पाण्डुपुत्र स्वेतवेसु अथवा इन्द्रेण प्रदत्त. राघाया  
पुत्र रावण ? आहो अथवा तेन प्रसिद्धेन रामेण कुन्त्या जात समुत्पन्न अश्वरथामा  
अथवा धर्मस्य पुत्र जटायु ? इद सर्वम् असम्बद्धायंभम् ॥४७॥

शकारमुक्त्वा चारुदत्तविषयबभ्रुपालम्भ निगम्य विट चारुदत्तस्य गुणान्  
वर्णयति दीनानामिति । स चारुदत्तः दीनानां हृते स्वस्य आत्मन गुणा एव क्लानि  
संभतः नष्ट बल्पवृक्ष, सञ्जनानां कुटुम्बी बभ्रु, शिक्षितानां शिक्षितजानाम्

शकार—(रोषपूर्वक) कौन है वह जन्मदासी का पुत्र ।

धूरवीर पाण्डुपुत्र स्वेतकेतु ? अथवा इन्द्र-प्रदत्त राधा का पुत्र रावण (है) या उग्र प्रसिद्ध राम से उत्पन्न कुन्ती का (पुत्र) अश्वत्थामा (है) अथवा धर्मपुत्र जटायु है ॥४७॥

विट—मूर्ख, यह तो आर्य चारुदत्त है ।

जो दीन लोगों के लिये अपने गुणस्वी फलों से नम्र कल्पवृक्ष हैं- सत्पुरुषों के परिपालक (कुटुम्बी), शिक्षितों के आदर्श, सच्चरित की कसौटी, सदाचरण स्वी मर्यादा के (न लागने वाले) सागर, सत्कार करने वाले, किसी का बनादर न करने वाले, मनुष्योचित गुणों के भाषार सरल तथा उदार स्वभाव वाले हैं, गुणों की प्रचुरता के कारण एक सराहनीय बही (आर्य चारुदत्त सच्चे अर्थों में) जीवित हैं दूसरे ल ग तो सिसकते ही हैं ॥४८॥

तो यहाँ से चलो ।

शकार—वसन्तसेना को लिये बिना ?

विट—वसन्तसेना तो अदृश्य हो गई ।

शकार—कैसे !

विट—अग्ने की दृष्टि के समान, रौंगी के बल के समान, मूर्ख की बुद्धि की भाँति, आलसी की सकलता की भाँति, अल्पस्मृति वाले दुर्गुणासक्त की उत्तम विद्या के महग, शत्रुओं में प्रेम के तुल्य तुम्हें प्राप्त करके वह नुप्त हो गई ॥४९॥

मदरांः आदर्शभूतः, सुचरितानां निषेधः परीक्षणवाचाणः (कसौटी), शीलं सद्वृत्त-  
मेव वेत्ता मर्यादा तस्याः समुद्रः यथा सागरः मर्यादा न लङ्घयति तथाऽप्यमपि कदाचित्  
शीलं न लङ्घयति इति भावः, सत्कर्ता सर्वेषां सत्कारकर्ता, न कस्यचिदपि अवमन्ता  
तिरस्वर्ता, पुरुषगुणानां उदारतादीनां निधिः, शिक्षणं सरसम् उदार महद् च  
सत्त्वं स्वभावो यस्य सः तादृगः । सः चारुदत्तः एकः केवलः हि सत्तु अधिष्ठातृगुणतया  
अधिष्ठा गुणाः यस्य स तस्य भावः तथा इतरातिशायिगुणवशेन जीवति प्राणाद्  
धारयति । अन्ये च जनाः उच्छ्वसन्ति इव केवल (धर्ममत्सना इव) उच्छ्वासं कुर्वन्ति  
न तु वस्तुतः जीवन्ति इति भावः । अत्र उल्लेखः, रूपकम्, उभया, उत्प्रेक्षा चालङ्काराः ।  
शङ्करावृत्तम् ॥४८॥

रूपमिव धमन्तसेना मदरांसीया जानेति शकारस्य प्रसन्नं निगम्य विटः  
रूपयति—अग्न्यप्येति । सा वसन्तसेना एवां शकार प्राप्य अग्न्यस्य दृष्टिः दान-  
शक्तिः इव, आतुरस्य व्याधिपीडितस्य दृष्टिः शारीरिकशक्तिः इव, पुरुषस्य बुद्धिः  
दिवारशक्तिः इव, अन्नमस्य सिद्धिः कार्यमकलता इव, स्वस्यां स्मृतिः यस्य तस्य  
धर्मदिनः आपतिपलस्य सृताहिम्बसनामकस्य वा धर्मो उत्कृष्टा विद्या इव तथा  
अग्निने शत्रुने रतिः अनुराग इव प्रनष्टा अवगोर्न गता । मानोऽमानकृष्टः ।  
वसन्तविमका वृत्तम् ॥४९॥



शकारः—अनेष्टुअ वान्त्सोदिअ ए गमिराम् । [पृहीत्वा वसन्तत्वेणं न गमिष्यामि ।]

षिट्—एतदपि न क्षुत त्वया ।

बालानि गृह्यते हस्तौ बाजी वल्गानु-गृह्यते ।

हृदये गृह्यत नारी यदिद नास्ति गन्पताम् ॥१०॥

शकारः—यदि वच्छति, वच्छ तुमम् । हने च गमिराम् । [यदि गच्छति, गच्छ त्वम् । अहं न गमिष्यामि ।]

षिट्—एवम् । गच्छामि । (इति निष्कान्त) ।

शकारः—गडे श्नु भावे अभावम् । (विदूषक-नुदिश्य) अने काकपदतीरानन्दका बुद्बुका, उपविता उपविता । [गतं श्नु भावोऽभावम् । अरे काकपदतीर्यमस्तक दुष्टवटुक, उपविशोपविश ।]

विदूषकः—उपवेसिता ज्ञेय अम्हे । [उपवेसिता एव वयम् ।]

शकारः—केय । [केन ।]

विदूषकः—इअन्तेण । [कृतान्तेन ।]

शकारः—उट्ठेहि उट्ठेहि । [उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।]

विदूषकः—उट्ठिस्सामो । [उत्थास्यामः ।]

शकारः—इदा । [कदा ।]

विदूषकः—अदा पुणो वि देव अणुज्जत भवित्थसि । [अदा पुनरपि देवमन-कूल भविष्यति ।]

शकारः—अने, सोर सोर । [अरे, रुदिहि रुदिहि ।]

विदूषकः—रोदाविदा, ज्ञेय अम्हे । [रोदिता एव वयम् ।]

शकारः—केय । [केन ।]

विदूषकः—दुग्गदोए । [दुर्गत्या ।]

शकारः—अने, हस हस । [अरे, हस हस ।]

विदूषकः—हसिस्सामो । [हसिष्यामि ।]

शकारः—इदा । [कदा ।]

विदूषकः—पुणो वि ऋद्धोए अण्णचारदत्तस । [पुनरपि ऋद्धपायंचारु-दत्तम् ।]

शकारः—अने बुद्बुका, अणेसि मम वअपेय त इतिदृषापुदत्तम्—  
एसा शपुदण्णा शहितण्णा णवणारअदशणुट्ठिदा शुत्तघासि म्ब वसन्तोणा-  
णाम गणिभारविआ कामदेवाअदणुग्गणादो पट्टि तुम अणुत्ता, अम्हेहि

शकार—वसन्तसेना को दिना लिये नहीं जाऊँगा ।

विट—यह भी नहीं मुना तुमने—दायी छप्पे (मे बांधने) से रोका जाता है ।  
 पौड़ा रागाम मे रोका जाता है, स्त्री हृदय से (प्रेम करने से) वृष में की जाती है,  
 यदि यह (हृदय' मे प्रेम) नष्ट है तो जादये ॥१०॥

शकार—यदि जाने हो तो तुम जाओ । मैं नहीं जाऊँगा ।

विट—अच्छा (ऐन ही), जाता हूँ (निकल जाता है) ।

शकार—भाव तो अभाव को प्राप्त हुए (चले गये) ॥ (विदूषक को लक्ष्य करके)  
 अरे कीए के पजे के समान गिर वाले दुष्ट बटुक, बैठ जा, बैठ जा ।

विदूषक—हम तो बंटा ही रहते हैं ।

शकार—किमने ?

विदूषक—भाम्य ने ।

शकार—तडा हो सडा हो ।

विदूषक—उठगे ।

शकार—कब ?

विदूषक—जब फिर भी भाम्य अनुकूल होगा ।

शकार—अरे रोओ, रोओ ।

विदूषक—हम तो बना ही रहते हैं ।

शकार—किमने ?

विदूषक—दुर्दशा ने ।

शकार—अरे, हैस, हैस ।

विदूषक—हैसैये ।

शकार—कब ?

विदूषक—पुनः आम्य चारदत्त की समृद्धि से ।

शकार—अरे दुष्ट बटुक, मेरे बचन (मेरी ओर) से उस दष्टि चारदत्त से  
 बहना—“यह सुन्दर वर्म (रंग) वाली सुवर्ण (के आभूषणों) से युक्त, नूतन नाटक के  
 प्रदर्शन के लिए बस कर सही हुई कृष्ण नदी जैसी वसन्तसेना नाम की बेग्याशुत्री

आताने इति । हस्तो आमाने बन्धनस्यम्भे शृण्वते वतीश्रियते । बाओ वरुः  
 वल्मानु सुगररज्जुशृण्वते । नातो हृदये अनुरागपूर्व मनसि दृष्टते । यदि इरम् भनुताप-  
 पूर्णं हृदयं भास्ति तदा गम्यन्ताम् । नात्र सिद्यता बोधि साधः इति भावः । पन्थावर्षं  
 वृत्त्म् ॥१०॥

अमाद्यन् अरगानम् । वाश्यवद्वन् (कुटिलं पञ्चप्रां विमर्षं वा) शीर्षं  
 मस्तर्षं च दन्ध अवनशानुक्तमग्नदः इत्यर्थः समुवर्णा शोभनवर्णमहिता, सद्दिरप्यां

यत्तवकासापुणोभ्रमाणा सुद गेहं पविष्टा । ता जइ मम हृत्ये राज ज्जेव पट्टाधिअ एण  
सम्पेसि, ततो अघिअत्तणे ववहात्त विणा सहु णिज्जावमाणाह तव षए अणवट्टा पोथे  
हविशशदि । आहु अणिज्जावमाणाह मसणन्तिके वेत्ते हविरशदि । अवि म पेस ।

कश्चालुका गोच्छडलित्तवेण्टा

शाके अ शुक्त्रे तलित्ते हु मणे ।

भत्ते अ हेमन्तिअलत्तिशिद्धे लीणे

अ वेत्ते ण हु होदि पूदी ॥५१॥

शोरतक भणेशि सहक भणेशि । तथा भणेशि यथा ह्ये अत्तणकेतिकाप  
याशादवात्तणकवोदवालियाए खवविट्ठे शुण्णमि । अण्णया जदि भणेशि, ता  
कवालपविट्टकवित्तयगुडिम विअ भरतअ . दे मडमडाइशम् [शरे दुष्टवट्टक,  
भणिप्यसि मम वचनेन त दरिद्रचारुदत्तकम्—'एषा समुवर्णा सहिरण्या  
नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायत-  
नोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिवंलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।  
तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्येना समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहार विना  
लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्ध प्रीतिर्भविष्यति । अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं  
धैरं भविष्यति । अपि च प्रेक्षस्व—

कूप्माण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलित्तं खलु मांसम् ।

भनतं च हैमन्तिकत्तान्तिद्धं लीनाया च वेलाया न खलु भवति पूति ॥

शोभन भणिप्यसि, लघुकं भणिप्यसि । तथा भणिप्यसि यथाहमात्मकीयाया  
प्रासादवालाप्रकपीतपालिकायामुपविष्टः शृणोमि । अन्यथा यदि भणसि,  
तदा कपाटप्रविष्टकपित्तयगुलिकमिव मस्तकं ते मडमडायिष्यामि ।]

विदूषकः—भणिस्तम् । [भणिष्यामि । ]

शकार.—(अपवाये) चेटे, गडे शच्चक ज्जेव भावे । चेट, गत. सत्यमेव  
भावः । ]

चेट—अयह । अथ विम् ।

शकार.—ता तिग्घ अवक्कमम्ह । [तच्छीघ्रमपक्रानाव. । ]

चेट—ता वेण्हदु षट्टके अत्तिम् । [तद्गृह्णातु भट्टारकोऽर्जितम् । ]

शकार.—तव ज्जेव हृत्ये चिट्टु । [तदेव हस्ते तिष्ठतु । ]

सुवर्णमुपर्णः मुक्ता । नवनाटकस्य दर्शनाय प्रदर्शनाय उत्थिता उद्यता ।  
अज्ञात्कारेण अनुनीयमाना प्रसादमाना । अधिकरणे न्यायालये । व्यवहारं निवारम्

जो कि कामदेवायतनोद्यान (मे जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बल पूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गई है। तो यदि स्वयं ही भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में विवाद (मुकदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायेगा, अथवा न लौटाने पर मृत्युपर्यन्त शत्रुता हो जायेगी।”

और भी देखो—

गोबर से लिप्त इण्ठन वाला कुम्हड़ा (कुम्भाण्ड), सूखा हुआ शाक, तला हुआ मांस, हेमन्त (श्रुतु) की रात्रि में बनाया हुआ भात, (अधिक) काल बीत जाने पर भी विहृत नहीं होते हैं ॥५२॥

भली प्रकार कहोगे, शीघ्र कहोगे, उस प्रकार कहोगे जिससे मे मत्तवारीणी से चिह्नित (लक्षित) छत्रों की कपोतपालिका पर बैठा हुआ सुनता रहूँ। यदि ऐसे नहीं कहोगे, तो किवाड़ों के बीच में फँसे हुए कपिरथ (कंय) के गोले के समान तेरा मस्तक कुचल दूँगा (मरोड़ दूँगा)।

विदूषक—कह दूँगा।

शाकार—(अलग हटकर) घेठ, सचमुच ही भाव (विट) चले गये ?

घेठ—और क्या ?

शाकार—तो (हम दोनों) शीघ्र चलें।

घेठ—तो स्वामी तलवार ग्रहण करें।

शाकार—तुम्हारे ही हाथ में रहे।

अभिषेकं वा (अनेन ध्यवहारनाम्नी नवमाङ्कस्य सूचनमिति पृथ्वीघट) सप्तु शोभं ।  
निर्मातपतः समर्पयतः । अनुब्रुवा दृशः ।

अप्रस्तुतप्रशसया प्रकार वचयति—कूष्माण्डीति । गोमयेन लिप्त देष्टितं इन्त यस्या सा कूष्माण्डी, शुष्क च शाक, तलित पृतादिना संभृष्टं मांसं, हेमन्ति-कराप्रौ हेमन्तस्य रात्रौ सिद्ध पक्व च भक्तम् अन्न (‘भक्तमन्धोऽन्नम्’ इत्यमरः) च वेत्तायां सीतायां काले व्यतीते सति पूति दुर्गन्धयुत न भवति । समर्पणस्य च काला-तिपाते प्रीतिविच्छेदो भविष्यति अत्र अप्रस्तुतानां कूष्माण्डीदीना कालातिपातेऽपि दुर्गन्धतायाः अभाववर्षानान् प्रस्तुतस्य (वसन्तसेनायाः समर्पणाभावे) वैररूपदोषस्य प्रतीतिः—इति अप्रस्तुतप्रशंसा । उपजाति वृत्तम् ॥५१॥

प्रासादस्य आलाप्य मत्तवारणं (टि०) तेन उपमशितायां कपोतपालिकायां दृष्टोपरिभागे तत्र उपविष्टः भूनीमि । कपाटे प्रविष्टं सर्वं वचिष्यगुप्तिकं कपिरथरत्नं, (नैच द्विनि भाषायाम्) तदिव तव मन्तकं भद्रमहादिव्यामि सुचंयिष्यामि (टि०) ।

चेट — एते षट्पातके । गेहहृद् ष षट्के अतिम् । [एष भट्टारक ।  
मृल्लात्वेन भट्टारकोऽसिम् ।]

शवार — (विपरीत गृहीत्वा ।)

निर्व्वक्त्रन् मूलकपेशिवर्ण खन्धेण घेत्तूण अ कोशसुप्तम् ।

कुक्केहि कुक्कीहि अ बुक्क अन्ते जघा शिलात्वे शलण पलामि ॥५२॥

[निर्व्वक्त्रन् मूलकपेशिवर्ण स्वन्धेन गृहीत्वा ख कोशसुप्तम् ।

कुक्कुरे कुक्कुरीभिश्च बुक्कयमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि ॥]

(परिग्रह्य निज्जान्ती)

विदूषक — भोदि रदणिण् ष षणु वे अंअ भवमाणो तत्तभवदो चारु-  
दत्तस्स निवेदइवदो । भोगइपीडिअस्स मण्णे दिउणदरा पीडा वुविस्सवि ।  
[भवति रदनिके, न खलु तस्य भवमानगतत्रभवतरचारुदत्तस्य निवेदयितव्य ।  
दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति ।]

-रदनिका अज्ज मित्तेअ, रदणिजा षणु अह सज्जमुही । [आय मैत्रेय,  
रदनिवा खल्वह सयत्तमुखी ।]

विदूषक — एव णिवम् । [एवमिदम् ।]

चारुदत्त — (वसन्तसेनानुद्दिश्य) रदनिके, मास्ताभिलाषी ऋदोपसमय-  
शीतार्त्तो रोहसेन । तत्त प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छाद-  
यन्म् । [इति प्रावारकं प्रपच्छति ।]

वसन्तसेना — (स्वपत्तम्) कथं परिव्रजोस्ति स अन्नगच्छदि । (प्रावारकं  
गृहीत्वा समाधाय च स्वगतं सस्पृहम्) अह्हे, जादोकुमुमवासित्वे प्रावारको । अणुदासीण  
त्तं जोश्वण पडिमासेदि । [वधं परिव्रजन इति मामवगच्छति । आश्चयम्,  
जातीकुमुमवासितं प्रावारकं । अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।]  
(अपवारित्वेन प्रावृणोति ।)

चारुदत्त — ननु रदनिके, रोहणेन गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्तसेना — (स्वपत्तम्) मन्दाभाडणी षणु अहं तुह्णे अहंमन्तरस्स ।

[मन्दभागिनी खल्वह तवाम्यन्तरस्य ।]

चारुदत्त — ननु रदनिके, प्रतिवचनमपि नास्ति । कष्टम् ।

अप्यार्षेति तस्य लक्षणं सूक्तं दण्डम् — 'तद्भवदप्यारिणम् । रहस्यं तु यद् यस्य  
परावृत्त्यं प्रयागतं ।'

शवार अस्ति गृहीत्वा स्वगमास्य वणनं करोति — निर्व्वक्त्रकृतमिति । निमित्तं

चेष्टा यह (तलवार), स्वामी को है (अतएव) तलवार को स्वामी ग्रहण करें ।  
 शरार—(उल्टे पनडकर) गन्ध (कोशरहित) दशा में मूनी के छिलके के  
 सहग (कुछ लान) रंग बानी कोष (ग्यान) में स्थित तलवार को कंधे पर रखकर मैं  
 कुत्ते और कुतियों के द्वारा भक्ति गये पियार के समान घर को जाता हूँ ॥१२॥

(धूमकर निश्चल जाते हैं)

अधुपकः—अरी, रदनिका अपने इन अनादर को पूज्य चारदत्त से निवेदन  
 नहीं करना चाहिए । मैं समझता हूँ (यह दुःखद समाचार सुनकर) दुर्दगा से पीड़ित  
 (आर्य चारदत्त) की पीडा दुगुनी हो जायेगी ।

रदनिका—आर्य संशेष, मैं रदनिका मुख (बिहता) को संयम में रखने वाली हूँ ।

बिभूषक—हां, (यह) ऐसा हूं है ।

चारदत्त—(बतानेना को शक्य करके) हे रदनिके, वापु (सेवन) का इच्छुक  
 रोहमेन रात्रि के प्रथम पहर की ठण्ड से पीड़ित है । इसलिये इसे भीतर ले जाओ ।  
 इस उत्तरीय में इसे ढक दो । (उत्तरीय प्रदान करता है)

बतानेना—(अपने आप) क्या (धून से) मुझे परिजन समझ रहे हैं । (उत्तरीय  
 ग्रहण करते और मू बकर अपने आप अमिनापात्रुंबक) आश्चर्य ! उत्तरीय जाती पुष्पों  
 से मुकामिन है । इसका बीबन उदासीनता रहित (आश्चर्या) प्रतीत होता है । (अल्प  
 हटकर अपने आप को ढक सेती है)

चारदत्त—अरी रदनिके रोहमेन को लेकर भीतर जाओ ।

बतानेना—(अपने आप) मुझारे अन्तःपुर के (प्रवेश के) लिए मैं मन्द भाव  
 वाली हूँ—

चारदत्त—अरी रदनिके ! उत्तर भी नहीं, संद है

अथैन सशयया कोष. यस्य त नानासम्यं धूनस्य वेति. त्वक् तदुयः इव वर्णः यस्य  
 तं (अनि) कोशमुपलं कोशमिधं कृत्वा स्वग्येन दृष्टोत्वा अह तर्पेण शरणं दृह प्रयामि  
 गच्छामि यथा कुशकुरंतः कुशकुरीभिः च धुरजजनान भयमं कृत्वा अनुसिद्धमालाः शृणुता  
 शरणं अरण्येण स्थानं गच्छति । उमानद्वारः । उपजातिवृत्तम् ॥२५॥

संपन्नपुत्रो ममत्तं नियन्त्रितं सुयं यस्य (दि०) । मारतामितायो वापुसेवनस्य  
 इच्छुकः । प्रयोगममस्य शत्रुः प्रथमग्रहरस्य शीनेन जातः । रोहमेन चारदत्तस्य  
 पुत्रः । प्रवारणेन उत्तरीयस्य अनुदासीनस्य औदासीन्यरहितं मामितायम् । अथवारि-  
 तकेन अशयानं पृथक् धून्वा रनि यत्तत् । अथ्यन्तरस्य मन्दभाषिणो अभाषिणो इति  
 पाठान्तरम् अहं वेगशान्ति, अतः धवनः दृष्टे प्रवेशं नाहामि रनि भावः ।

यदा तु भाग्यक्षयपीडिता दशा नर कृतान्तोपहिता प्रपद्यते ।  
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रता चिरानुरक्तोऽपि विरज्यत जन ॥५३॥'

(रदनिवामुपसृत्य)

विदूषक — भो, इमं सा रदनिवा । [भो, इयं सा रदनिवा ।]

चारदत्त — इयं सा रदनिवा । इयमपरा का ।

अविज्ञातावसक्तेन दूयिता मम वाससा ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) ण भूतिदा । [ननु भूयिता ।]

चारदत्त —

छादिना शरदध्रेण चन्द्रनेखेव दृश्यत ॥५४॥

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम् ।

विदूषक — भो, अल परकलत्रदशनशङ्काए । एसा वसन्तसेना कामदेवा-  
भदणुज्जाणादो पट्टुदि भवन्तमणुरता । [भो, अल परकलत्रदशनशङ्काया एसा  
वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्ता ।]

चारदत्त — इयं वसन्तसेना । (स्वगतम्)

यथा मे जनितं नाम क्षीणे विभवविस्तरे ।

क्रोधं मुपुरुषस्येव स्वगायन्ध्वेयं रोदति ॥५५॥

विदूषक — भो वभारत, एसो श्लु राअसालो भणति । [भो वयस्य, एष  
खलु राजश्यालो भणति ।]

चारदत्त — किम् ।

विदूषक — एसा समुवण्णा सहिलण्णा शयणादभदणुद्विवा शुत्तघाति  
इव वसन्तसेना नाम गणिवादातिमा कामदेवाभदणुज्जाणादो पट्टुदि तुम भणुत्ता  
अन्हेहि वलकालाणुणीभमाणा तुह गेह पविट्टा । [एसा समुवण्णा सहिरण्य  
नवनाटकदशनोत्थिता सूत्रघारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिवादारिया कामदेवायत-  
नोद्याना प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिवलण्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।]

चारदत्त स्वकथनस्य प्रतिवचनं न प्राप्नोति तस्मात् क्षिन्त्वा सन् वक्ष्यति—  
यदेति । यदा तु नर मानव कृतान्तेन देवेन उपहिता प्रापिता भाग्यक्षयेण विभवनाशेन  
शोभनकर्मनाशेन वा पीडिता अस्मात् अवस्थां प्रपद्यते प्राप्नोति तदा अस्य मित्राणि अपि  
अमित्रतां स्नेहराहित्यं याति । विरेण अनुरक्तं प्रोक्तं अपि च जनं विरज्यते विरक्तं  
भवति । अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । वक्ष्येति ॥५३॥

रदनिवाशुद्धया अन्यथा वा मम वस्त्रेण अपवित्रीकृता ? इति चारदत्त विदूषकं  
पृच्छति-अविज्ञातेति । या अविज्ञाता यथापरूपेण अज्ञाता अतः अयत्तक्तेन स्पृष्टेन

जब मनुष्य देव (इतान्त) द्वारा प्राप्त कराई गयी, भाष्यनाश के कारण दत्त (पीडित) दगा को प्राप्त हो जाता है, तब इस (निघंन) के मित्र भी मनुष्य को प्राप्त हो जाते हैं, दीर्घकाल से अनुराग करने वाला व्यक्ति भी विरक्त हो जाता है ॥१३॥

विदूषक—(रदनिका के पास जाकर) अरे ! यह वह रदनिका है ।

चारदत्त—यह वह रदनिका है । यह दूसरी कौन है ? जो अनजाने में स्वयं क्रिये हुए मेरे वस्त्र से दूषित हो गई ।

वसन्तसेना—(अपने आप) अपितु भूषित हो गई ।

चारदत्त—भरद् (ऋतु) के मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला के तुल्य दृष्टिगोचर होती है ॥१४॥

या पराई स्त्री का दर्शन करना उचित नहीं ।

विदूषक—अरे ! पराई स्त्री के दर्शन को घाड्डा से बस (मत) करो । यह वसन्तसेना कामदेवापतनोद्यान (मे गमन) से लेकर तुम में अनुरक्त है ।

चारदत्त—यह वसन्तसेना है !—(अपने आप) धनराशि के क्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा उत्सव की हुई मेरी कामवासना कायर मनुष्य के क्रोध की भाँति अपनी देह में ही विनष्ट हो जाती है ॥१५॥

विदूषक—हे मित्र ! यह राजशास (घकार) कहता है—

चारदत्त—क्या ?

विदूषक—यह सुन्दर वर्ण (रंग) वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्त नूतन नाटक के प्रदर्शन के निम्ने उठकर खड़ी हुई मुख नदी जैसी वसन्तसेना नाम की बेयाशु पुत्री जो कि कामदेवापतनोद्यान (मे जान) से लेकर तुममें प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे पर प्रविष्ट हो गई है ।

अथवा अविज्ञात वया तथा अवमिक्तेन (वाने) मम वामता वस्त्रेण दूषिता परपुरुष-  
घनवसनस्य स्वर्गनाद् इति भावः । या च शररः अर्धेण मेघेन द्यारिता आच्छादिता  
चन्द्रलेता चन्द्रकला इव दृश्यते । उन्मानशुभ्रः । पम्पावकत्रं वृत्तम् ॥१४॥

अथ 'अन परकलत्रतद्दृश्या इत्यागम्य 'अये ॥ वसन्तसेना' इत्यन्तेन नापकीद-  
कारिकाया अर्थतन्मत्तेरवयमात् प्रथमं पदाभास्यानम् (काते) ।

'इम वसन्तसेना' इति ध्रुवा चारदत्तः मन्त्रिं चिन्तयति—यदेति । विमर्षविस्तरे  
धनराशौ क्षीणे विनष्टे सति यथा वसन्तसेना जनिवः उत्प्रादित्र-मे मय चारदत्तस्य  
कामः अभितापः साकल्याभावात् कुतुहलस्य कुतिसितस्य जनस्य क्रोध इव स्वगात्रेषु स्वा-  
ङ्गेषु एव सीदति मन्त्रिः । यथा निम्नेजकस्य पुरास्य ब्रौधोऽर्धचिन्तितः तथैव मम  
अभिज्ञापोऽपि निष्कन्तः जातः घनाभावाद् इति भावः । उपमातद्भावात् । पम्पावकत्रं  
वृत्तम् ॥१५॥



वसन्तसेना—(स्वगतम्) बलवकालाणुणीअमाणेति अ सच्चम्, अतंस्दिहि  
एवाहं अक्खरेहि । [बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलङ्कृतास्म्येतैरस्य १]

विदूषक—ता जइ मम हृत्ये सअ उजेव पट्टादिअ एण समप्येसि, तदो अदि-  
अलंशे यवहात्त विणा सह णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा षोदी हुविस्तदि ।  
अण्णधा मत्तणन्तिके वेत्ते हुविस्तवि । [तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्येता  
समपयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहार विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीति-  
र्भविष्यति । अन्यथा मरणान्तिक वैर भविष्यति ।]

धारवत्त—(सावजम्) अजोऽसो । (स्वगतम्) अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या  
युवतिरियम् । तेन खलु तस्या वंसायाम् ।

प्रविण गृहमिति प्रतोद्यमाना

न चसति भाग्यकृता दशामवेक्ष्य ।

पुरपपरिचयेन च प्रगल्भ

न यदति यद्यपि भापते बहूनि ॥५६॥

वसन्तसेना—एदिणा अणुच्चिदभूमिआरोहणेण अवरग्गा अज्ज सीसेण  
पणमिअ पसादेमि । [एतेनानुचितभूमिआरोहणेनापराद्वार्यं शीर्षेण प्रणम्य  
प्रसादयामि ।]

विदूषक—ओ, दुवेवि सुग्हे सुत्त पणमिअ कलमकेदारअ अण्णोण्णं सीसेण  
सीस समाअया । अहं पि इदिणा करहज्जाणुसरिसेण सीसेण दुवेवि सुग्हे पसादेमि ।  
[ओ, द्वावपि युवा सुत्त प्रणम्य कलमकेदारवस्योन्य शीर्षेण शीर्षं समागतौ  
अहमप्यमुना करभज्जानुसहणेन शीर्षेण द्वावपि युवा प्रसादयामि ।]  
(इत्युत्तिष्ठति)

धारवत्त—भवतु । तिष्ठतु प्रणयः ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) अदुरो भधुरो अ अअ उयण्णासो । अ जुत्त

अलङ्कृतास्मि 'तस्या अन्यत्र अभिलाषो नास्ति' इति 'बलात्कारानुनीयमाना'  
इत्यनेन शब्देन व्यज्यते, अतः सा अनेन शब्देन अलङ्कृता । देवता इव उपस्थान देवतो-  
पस्थान तद्योग्या अथवा देवताया उपस्थान देवपूजा तद्योग्या देवतोः पूज्येति भावः ।

धारवत्त रोहमनस्य अभ्यन्तरप्रवेशाज्ञासमये प्रकटिता वसन्तसेनाया चालीनतां  
विधारयति-प्रविशेत् । गृहम् अभ्यन्तरं प्रविशेत् प्रतोद्यमाना मया प्रेषमाणा भाग्यकृता

वसन्तसेना—'बलात् मचाई जाती हुई' यदि सत्य है तो मैं इन अशरों से भलङ्कृत हो गई।

विदूषक—'तो यदि स्वयं भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में विवाद (भृकुदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारे मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायेगा। अन्यथा मृत्युपर्यन्त शत्रुता ही जायेगी।

चाण्डल—(अनादरपूर्वक) वह मूर्ख है। (अपने आप) अरे ! यह कौती देवता के सुल्प पूजा करने के योग्य युवती है। तभी तो उस समय—

(रोड़ने लगी तो लेकर) 'घर में प्रवेश करो', इस प्रकार प्रेरित की गई भ्रातृकृत दशा की देवकर (भीतर) नहीं गई। यद्यपि यह (गणिना है अतः) बहूत बोलने वाली है तथापि मेरे जैसे पुरुष की उपस्थिति में (टि०) धृष्टता से नहीं बोलती ॥२६॥

(प्रकट रूप में) हे वसन्तसेने, अज्ञान के कारण ठीक से न जानी गई तुम्हारे माप सेवक के समान व्यवहार करने में अराधी हूँ अतः मैं आपकी सिर झुकाकर मनीनी करता हूँ।

वसन्तसेना—(पक्ष द्वार से प्रवेश आदि) अनुचित कार्य करने के कारण अपराधिनी मैं (वसन्तसेना) सिर से प्रणाम करके आर्ष को प्रसन्न करती हूँ।

विदूषक—अरे ! भुक्तपूर्वक प्रणाम करने आप बोनो, धान की दो स्वारियों के समान मिर से मिर गये। मैं भी ऊँट के बच्चे के घुटने जैसे इस सिर से आप दोनों को ही प्रसन्न करता हूँ।

(उठता है)

चारदल—जाने दो। औपचारिकता (प्रणय) को रहने दो।

वसन्तसेना—(अपने आप) यह कथन (त्रिष्ठु प्रणयः) चतुर और मधुर है।

दुर्देवकृता दगाम् अवस्थाम् अवैश्य विचार्य न क्षति अभ्यन्तरं ॥ गता। यद्यपि च इयं गणिना अत्र। बहूनि माधते तथापि पुरुषपरिचयेन माहभारय पुरुषस्य सङ्गेन सङ्ग प्राप्तेनि यावन् प्रणमं धृष्टं न क्षति सज्जावशात्। विवादास्त्रदमस्य पदस्य शब्दमः (टि०) पुष्पिताया बृत्तम् ॥२६॥

अविज्ञानान् अज्ञानान्। अपरिज्ञातायां त्वयि परिजनवत् सेवकवद् उपचारेण आशाप्रदानादिव्यवहारेण अनुचितभूमिभारोद्गमम्, पदाशारेण आवास-प्रवेगादिभम् (पृथ्वी०)। अस्मान्। ज्ञानीना केवारी धोत्री समागनी करम-उद्गमिणुः त्वम् जानु तत्तुन्देन। प्रणयः स्नेहः। उपन्यायः प्रयोगः प्रस्तावः।

अञ्ज एरितेण इष धामदाए मए पडिबसिदुमु । भोडु । एष्व षड् मणिस्तपु ।  
 (प्रकाशम्) अञ्ज, जड एष्वं अह अञ्जस्त अणुगेज्जा ता इच्छे अहं इमं  
 अलकारअ अञ्जस्य गेहे निखिलविदुमु । असकारस्त निमित्त एदे पावा अनुसरन्ति ।  
 [चतुरो मधुरश्चायमुपन्यामु । न युक्तमखेटशेनेहागतया भया प्रतिवस्तुम् ।  
 भवतु एवं तावद्गण्डिधामि । आर्यं, यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छा-  
 म्यहमिममलङ्कारकमार्यम्य गेहे निक्षेप्तुम् । अलङ्कारस्य निमित्तमेते पावा  
 अनुसरन्ति ।

शाब्दस्त — अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम् ।

वसन्तसेना— अञ्ज, अलीकम् । पुपुत्तेषु नासा निखिलविअन्ति, न उच्य  
 नेहेषु । [आर्यं अलीकम् । पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु ।]

शाब्दस्त — मैत्रेय, गृह्यतामयमलङ्कार ।

वसन्तसेना— अणुगहोदहि [अनुगृहीतास्मि ।] (इत्यलङ्कारमप्यति ।)

विदूषक — (गृहीता) सोत्थि मोक्षे । [स्वस्ति भवत्ये ॥]

शाब्दस्त — धिङ् मूलं, न्यास सत्वयम् ।

विदूषक — (अपवार्यं) जड एष्व ता चोरेहि हरिञ्जज । [यद्येव तदा  
 चोरेहियताम् १०]

शाब्दस्त — अचिरेणैव कालेन ।

विदूषकः— एतो ते अह्माण विष्णातो । [एयोऽस्या अस्माकं विन्यास ॥

शाब्दस्त — निर्यातयिष्ये ।

वसन्तसेना— अञ्ज, इन्द्रे अहम् इमिणा अञ्जेण अणुगच्छिञ्जन्ती तर्कं नेह  
 गन्तुम् । [आर्यं, इच्छाम्यहमनेनार्येणनुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम् ।]

शाब्दस्त — मैत्रेय, अनुगच्छ तत्रभवतीम् ।

विदूषकः— सुम उनेव एहं कसहंसगामिणी अणुगच्छन्तो-राअहसो विअ  
 सोहसि अह उण बहणो जहि जणेहि अज्जपहोवणीरो उवहारो कुक्कुरेहि विअ  
 अज्जमाणो विअअहसम् । [त्वमेवैता कलहंसगामिनीमनुगच्छन्राजहंस इव  
 शोभसे । अहं पुनर्ग्राहणी यत्र तत्र जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः कुक्कुरैरिव  
 खाद्यमानो विपत्स्ये ।

शाब्दस्त — एव भवतु । स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम् । तदाजमागं-  
 विश्वासयोग्याः प्रज्ज्वाल्यन्ता प्रदीपिका ।

विदूषकः— बद्धमाणअ, पञ्जासेहि परोविआओ । [वर्धमानक, प्रज्ज्वालय  
 प्रदीपकान् ।]

चेटी— (जनान्तिरम्) असे, तेत्तेण विना परोविआओ पञ्जालीअन्ति ।]

[अरे, संलेन विना प्रदीपका- प्रज्ज्वाल्यन्ते ।]

इस प्रकार (बिना बुनाये) आईं मेरे द्वारा बाज (यहाँ) रहना उपयुक्त नहीं है ।  
अच्छा ! तो इस प्रकार कहूँगी । (प्रफट रूप से) आर्य ! यदि इस प्रकार मैं आर्य के  
द्वारा अनुग्रहीत की जाती हूँ, तो मैं इस आभूषण को आर्य के घर में धरोहर रखना  
चाहती हूँ । आभूषण के निमित्त ये पापी मेरा पीछा कर रहे हैं ।

चारदत्त—यह घर धरोहर के योग्य नहीं है ।

वसन्तसेना—आर्य, झूठ है । पुछों पर धरोहर रखनी जाती है, न कि  
घरों में ।

चारदत्त—मैत्रेय, यह आभूषण ले लो ।

वसन्तसेना—अनुग्रहीत हुईं ; (आभूषण दे देती है) ।

विद्रुपक—(लेकर) आपका कल्याण हो ।

चारदत्त—शिवकार मूर्ख ! यह तो धरोहर है ।

विद्रुपक—(अनग हटकर) यदि ऐसा है तो चोरों के द्वारा भले ही यह  
(आभूषण) चुरा लिया जाय ।

चारदत्त—स्वल्प समय में ही.....

विद्रुपक—यह उसकी हमारे महा विक्षेप धरोहर है ।

चारदत्त—नौटा दूंगा ।

वसन्तसेना—आर्य मैं इस आर्य (मैत्रेय) के द्वारा अनुमरण की जाती हुई  
बचने घर जाना चाहती हूँ ।

चारदत्त—मैत्रेय ! आपका अनुगमन करो (साथ जाओ) ।

विद्रुपक—तुम ही इस कनक के समान (मुन्दर) गमन करने वाली  
(वसन्तसेना) का अनुगमन करने हुए रात्रहंस के समान शोभित होने हो । फिर मैं  
(बेचारा) ब्राह्मण उभी प्रकार मारा जाऊँगा जिस प्रकार जहाँ-तहाँ चीराहे पर मनुष्यों  
द्वारा सार्द (बन्धन) हुईं बनि वृत्तों द्वारा खा ली जाती है ।

चारदत्त—ऐसा ही हो । स्वयं ही आपका अनुगमन करता हूँ । तो रात्रमागों  
में विश्वमनीय दीपकों को जलाओ ।

विद्रुपक—वर्षमानक दीपक जलाओ ।

चेटी—(अनग में) अरे, तेन के जिना दीपक जलाये जाते हैं ?

ईदृशेन एतदतन्त्रेण, अदृशीनमभोगोपकरणपादिना (पृथ्वी०) क्षीणैः हियताम् इति  
सन्धिन्द्रेऽनाम्पत्नीपाद्व्यय मूषनम् । तेन वृतीयं पनावास्थानकमुत्तम् (काले) ।  
कनकम् इव कन्दर्पिण सन्दीपा इति कनककामिनी ताम् । उपनीतः समन्तः

विदूषक — (जनान्तिवम्) ही ताजो बलु अम्हाण पदोविआभो अयमाणद-  
निद्वणकामुआ विअ गणिआ निरित्तणेहाभो दाणि सवुत्तर । [आश्चर्यम्, ता  
सत्वस्माक प्रदीपिका अपमानितनिधनवामुवा इव गणिका नि स्नेहा इदानी  
सवृत्ताः ।]

चारदत्त — भयेय, भवतु । पदीपिवाधि । पश्य ।

उदयति हि शशाङ्क नामिनीगण्डपाण्डु

ग्रहगणपरिवारा राजमामप्रदीपः ।

तिमिरनिर्गम्ये गम्यो यस्य गीर्वा

सुतजल इव पङ्के क्षी घारा पतन्ति ॥५७॥

(सानुरागम्) भयति वसन्तसेना, इद भयत्या गृहम् । प्रविशतु भवती ।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्प्रान्ता)

चारदत्त — त्रयस्य, गता वसन्तसेना । तदेहि । गृहमेव गच्छाव ।

राजमार्गो हि शून्योऽय रक्षिण सचरन्ति च ।

यत्पना परिहृत्या बहुदोषा हि शर्करा ॥५८॥

(परिद्वम्) इद च गुवर्णभाण्ड रक्षितस्य त्वया रात्री, वर्धमानवेनापि दिवा ।

विदूषक — अथा भव आणवेदि । [यथा भवानाज्ञापयति ।]

(इति निष्प्रान्ती)

इति मृच्छकटिकेऽलङ्कारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्कः ।

विपत्स्ये मरिष्यामि विपत्तिप्रती या भविष्यामि । अपमानित तिरस्कृत निधन-  
वामुव. यथा सा, (निधनत्वदिव अपमानित ) नि स्नेहा तैलरहिता अनुरागरहिता च;  
स्नेहोऽनुराग तैल च । कृतम अलम् सम्प्रति प्रदीपिकानाम् आवश्यकता नास्ति, इति  
भावः ।

चारदत्त प्रदीपिकाना व्यर्थतामेव प्रकटयति—उदयतीति । हि यतः नामिन्याः  
गण्ड कपोल इव पाण्डु गौरवर्णं, ग्रहगण नक्षत्रसमूह एव परिवार यस्य तादृश  
राजमार्गस्य प्रदीप. शशाङ्क चन्द्र उदयति । यस्य चन्द्रस्य गीरा शुभ्रा, रश्मय  
किरणा सुत गत जल यस्मात् तादृशे पङ्के क्षीरस्य दुग्धस्य घारा इव तिमिरनि-  
करस्य अन्धकारसमूहस्य मध्ये पतन्ति । नामिनीगण्डपाण्डु इत्यत्र सुप्तोपमा । राज-  
मार्गप्रदीप इति रूपकम् । उत्तरार्धे च श्रीनो उपमा । मालिनी कृतम् ॥५७॥

विदूषकः—(अलग से) आश्चर्य ! वस्तुतः वे हमारी प्रदीपिकायें धनहीन कानुकों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के सदृश आजकल स्नेहहीन (वेरया पक्ष में प्रेम-रहित, प्रदीपिका पक्ष में—वेत रहित) हो गई हैं ।

चारदल—मंत्रेय रहने दो । प्रदीपिकाओं की आवश्यकता नहीं है । देखो—  
तक्षी के कपोल के समान गौरवर्ण, नक्षत्र ममुदाय रूची परिवार वाला तथा राजमार्ग का दीपक चन्द्रमा उदित हो रहा है । अन्धकार-समूह के बीच में जिसकी उज्यवन किरणें जल-रहित कीचड़ में दूध की धारामों के समान पड़ रही हैं ॥१७॥

(प्रेमपूर्वक) वसन्तमेने, यह आपका घर है । आप प्रवेश करें । (वसन्तसेना प्रेमपूर्वक देखती हुई निकल जाती है ।

चारदल—मित्र, वसन्तसेना गयी, तो आओ । घर की ही चल्ते । यह राजमार्ग मूना है और रक्षक लोग (पहरेदार) घूम रहे हैं, उग्री (चोरी) से बचाना चाहिये (क्योंकि) रात्रि वास्तव में बड़ी दीपपूर्ण होती है ॥१८॥

(धूमकर) और इस स्वर्ण-पात्र (Jewel-case or golden casket R. P. Oliver) की तुझे रात्रि में और वर्धमानक को दिन में रक्षा करनी चाहिए ।

विदूषक—जैमी आप आज्ञा देने है ।

(निकल जाते हैं ।)

अतद्द्वारन्यास नामक प्रथम अङ्क समाप्त ।

चारदलः विदूषकं प्रति कथयति—राजमार्ग इति । आवां एतमेव गच्छावः हि यतः अयं राजमार्गः घृन्वः जनरहितः रक्षणः रक्षकाः च सम्भरन्ति इतस्ततः गच्छन्ति तथापि अज्ञाना प्रवारणा (अनङ्कारहरणरूपा) परिहृत्या निवारणीया हि यतः शर्वरी रात्रिः बहुदोषा बहवः दोषा चोरादिभ्यः उपद्रवाः दस्यां तादृशी भवति । काव्यसिद्धम् अर्पितान्यासमरधान्दारी । तयोः अङ्गाद्विद्वेन सद्दुः । पय्यावकत्र वृत्तम् ॥१८॥

'इति समाप्तौ । अतद्द्वारन्यास नामक प्रथम अङ्क समाप्तः । अङ्कस्य नक्षत्रे तुषां रूपं (दि०) ।

(९, १३-१६).

इति वृष्णदत्तविद्यायां प्रथमोऽङ्कः ।

## द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्य)

चेटी—अत्ताए अज्जआसआसं संबेसेण वेसिदम्हि । ता जाव पयिगाअ अज्ज-  
आसआसं गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एता अज्जआ हिअएण किपि आसिहन्ती  
विट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । [मात्रार्यामकाश संदेजेन प्रेषितास्मि । तद्या-  
वत्प्रविश्यार्यासकाशं गच्छामि । एपार्या हृदयेन किमप्यातिखन्ती तिष्ठति ।  
तद्यावदुपसार्पामि ।]

(तत प्रविशायासनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हज्जे, तवो तवो । [चेटी ततस्तः]

चेटी—अज्जए थ किपि मन्तेसि । कि तवो तवो । [आर्ये, न किमपि मन्त्र-  
यसि कि ततस्ततः ।]

वसन्तसेना—कि मए भणिदम् । [किं मया भणितम् ।]

चेटी—तवो तवो त्ति । [ततस्तत इति ।]

वसन्तसेना—(सम्भ्रक्षेभम्) आं, एव्वम् । [आम् एवम् ।]

(उपमृत्य)

प्रथमा चेटी—अज्जए, अत्ता आदिसदि—‘ग्हादा भविअ देवदानं पूअं णिण्वत्तेहि  
त्ति’ । [आर्ये, मातादिणत्ति—‘स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्तय’ इति ।]

वसन्तसेना—हज्जे, किण्वेहि अत्तम्—अज्ज थ ग्हाइस्तम् । ता यत्तणो ष्जेअ  
पूअं णिण्वत्तेदुत्ति । [चेटि, विज्ञापय मातरम्—‘अद्य न स्नास्यामि । तद्ब्राह्मण  
एव पूजां निर्वर्तयतु’ इति ।]

चेटी—अं अज्जआ आणवेदि । [मदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्प्रान्ताः) ।

मदनिका—अज्जए, सिण्णेहो पुच्छदि थ पुरोभाइवा, ता कि णेरम् । [आर्ये,  
स्नेहः पृच्छति, न पुरोभांगिता, तत्किन्विदम् ।]

वसन्तसेना—मदणए, केरिसि मं येवत्ति । [मदनिके, कीदृशीं मां  
प्रेक्षसे ।]

मात्रा वसन्तसेनामात्रा । सन्देशेन सन्देशं दत्वा । आलिप्तन्ती चिन्तयन्ती  
उपसर्पामि समीपे गच्छामि । सोत्कण्ठा उत्कण्ठया सहिता । मन्त्रयति वयसि । हज्जे  
इति चेटीमन्त्रोद्यमम् । आं स्मरणार्थं च व्ययम् ।

## द्वितीय अङ्क

(प्रवेश करके)

चेटी—माता ने आर्या (वसन्तसेना) के पास सम्देश लेकर भेजी है। तो जब तक प्रवेश करके आर्या के समीप जानी है। (धूमकर और देखकर) यह आर्या हृदय से यह विचार करती हुई बैठी है। तो जब तक उसके समीप चमती है।

(इसके बाद आम्न पर बैठो हुई उत्कण्ठित वसन्तसेना तथा मदनिका प्रविष्ट होती हैं)

वसन्तसेना—चेटी ! इसके बाद ?

चेटी—आर्यो ! कुछ भी नहीं कह रही हूँ, 'इसके बाद' क्या ?

वसन्तसेना—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके बाद'।

वसन्तसेना—(हाँ चढ़ाकर)—हाँ, इसी प्रकार।

(समीप जाकर)

पहली चेटी—आर्यो ! माता जी यह आज्ञा दे रही हैं कि 'स्नान करके देवताओं की पूजा को निबटा लो।'

वसन्तसेना—चेटी ! माता जी को यह सूचना दो कि आज नहीं मंहाऊँगी क्तलिये बाह्यग ही पूजा को निबटा लें।

चेटी—ओ आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

मदनिका—आर्यो ! दोषदृष्टि नहीं अपितु प्रेम पूरने को प्रेरित करता है कि यह क्या (बात) है ?

वसन्तसेना—मुझे कौमी देख रही हो ?

---

मदनिकानाम्नी चेटी पृच्छति—स्नेहः इत्यपि । स्नेहः पृच्छति स्नेहात् पृच्छामि-  
अथवा स्नेहो मा प्रच्छं प्रेरयति । पुरोभाषिता दोषदर्शिता । 'कुतः तदेवमि दद्या जाता'  
इति स्नेहवशात् पृच्छामि न तु दोषदृष्ट्येति भावः ।

परस्य हृदयग्रहणे चित्तवृत्तिज्ञाने पण्डिता चतुरा । एष सत्तु भगवान् कामः  
प्रवराणा (वसन्तसेना) अनुद्वेष्टः (दि०) । पः कामः तरणजनस्य दुश्चरणांश्च चरन्



मदनिका—अञ्जाभाए सुष्णह्रिअसत्तणेण जाणामि ह्रिअगदं क्वपि अञ्जआ अहितसदि ति । [आर्याया शून्यहृदयत्वेन जानामि हृदयगतं कमप्यार्याभिलषतीति ।]

वसन्तसेना—सुट्ठु तुए जाणिवम् । परह्रिअगगहणपण्डिआ मदणिआ ष्णु सुमम् । [सुष्णु त्वया ज्ञातम् । परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम् ।]

मदनिका—पिअ मे पिअम् । कामो ष्णु पास एसो अअवं अणगहिदो महसवो स्रहणजनसस । सा कधेदु अञ्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा सेयअदि । [प्रिय मे पियम् । काम खलु नामेप भगवान् अनुगृहीतो महोत्सवस्तरणजनस्य । तत्कल्पयत्वार्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, रमिदुमिच्छामि ण सेविदुम् । [चेटि, रत्तुमिच्छामि, न सेवितुम् ।]

मदनिका—विअजावितेसात्तंकिदो किं कोपि बहाणसुआ कामीअदि । [विद्या-विशेषालङ्कृतं किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ।]

वसन्तसेना—पूअणीओ मे बहणजनो । [पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः ।]

मदनिका—किं अणेअणअराह्रिअगणजणिविहवविथारो वाणिअनुआ वा कामोअदि ? [किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे उवाह्वदतिणेहं पि षणइअणं परिच्चइअ वैतन्तरगमणेण वाणिअजनो महन्त विओअअ इवल उपादेदि । [चेटि, उपाह्वदस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महद्वियोगजं दुःखमुत्पादयति ।]

मदनिका—अञ्जए, ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बहणो, ण वाणिअजनो । सा को वाणि सो सट्टिआरिए कामीअदि ? [आर्ये, न राजा, न राजवल्लभः, न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः । तत्क इदानीं स भर्तृदारिक्या काम्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे सुम मए मह कामदेवाअदणुअजाणं गदा आसि । [चेटि, त्वं भयां सह कामदेवायतनीद्यां गतासीः ।]

मदनिका—अञ्जए, गदाहि । [आर्ये गतास्मि ।]

वसन्तसेना—सह वि मं उदासीणा विअ पुच्छसि । [तथापि मामुदासीनवपृच्छसि ।]

मदनिका—जाणिवम् । किं सो उजेव जेण अञ्जआ सरणाअदा अन्नुववण्णा । [ज्ञातम् । किं स एव येनार्या शरणागताभ्युपपन्ना ।]

वसन्तसेना—किणामहेओ ष्णु सो ? [किं नामधेयः खलु सः ?]

मदनिका—आर्षा के शून्य हृदय के कारण यह जान रही हैं कि हृदयस्थ किसी (प्रेमी) को आर्षा चाहती हैं ?

वसन्तसेना—तुमने ठीक जाना । वस्तुतः तुम दूसरे के हृदय (की बातों) को दृष्ट करके मैं कुछ 'मदनिका' ही ।

मदनिका - मेरा बहुत प्रिय हुआ । सचमुच यह भववान् कामदेव जो युवा पुरुषों का महोत्सव है आपके द्वारा अनुगृहीत हो गया है, तो आर्षा बतलाये कि क्या राजा या राजा का प्रिय नेविन रिया जा रहा है ।

वसन्तसेना - बेटी ! रम्य करने की इच्छा करती हूँ न कि (धन प्राप्ति की इच्छा में) सेवा करने की ।

मदनिका - क्या विद्विष्ट विद्या में अलङ्कृत किसी ब्राह्मण युवक की कामना की जा रही है ?

वसन्तसेना—ब्राह्मण सीधे तो मेरे पूज्य है ।

मदनिका - क्या अनेक नगरों में गमन में प्रचुर सम्पत्ति अर्जित करने वाले व्यापारी युवक की कामना की जा रही है ?

वसन्तसेना - हे बेटी ! व्यापारी पुरुष प्रवृद्ध प्रेम जाने प्रेमीजन को छोड़ कर विदेश घने जाने से महान् वियोग जन्म दुःख को उत्पन्न करता है ।

मदनिका—जायें ! न राजा, न राजपुत्र्य, न ब्राह्मण, न व्यापारी । तो कौन है वह जो अब स्वामिनी के द्वारा चाहा जा रहा है ।

वसन्तसेना—बेटी ! तुम मेरे साथ कामदेवामनन उद्यान में गई थी ।

मदनिका—आयें ! गई थी ।

वसन्तसेना—फिर भी अनजान के ममान मुझ में पूछ रही हो ?

मदनिका—जान लिया । क्या वही विमने गरण के आई हुई आर्षा की (गरण देना) स्वीकार किया था ।

वसन्तसेना—वह किम नाम जाता है (उमना क्या नाम है) ?

एतन्नि तथा समानि नविनःप्रयत्नित्विप्यति इति हृदि निषाद्य मदविक्रया विषं मे विषम्' एतुक्तम् । रन्तु' रमनं वरुम् कामोपभोगरमिना अम्मि न द्रव्यादिनोति भावः ।

विद्याविशिष्य अलङ्कृत । पूजनीय । पूजनीयाः सन्तु न रमणयोग्या इति भावः । अनेकनगरम् अविषयनेन व्यापारार्थं समनेन अतिवः विमवस्य समत्ते । विस्तारः

देन तादृजः वागिबपुवा ।

मदनिका—सो षष्ठु सेट्ठचत्तरे पडिवसदि । [स खलु श्रेष्टिचत्तरे प्रतिवसति ।

यसन्तसेना—अइ णाम से पुच्छिदासि । [अयि, नाम्मास्य पृष्टासि ।]

मदनिका—सो षष्ठु अज्जए, सुगुहीतनामधेयो अज्जचारुत्तो णाम । [स खलु आर्ये, सुगुहीतनामधेय आर्यचारुत्तो नाम ।]

यसन्तसेना—(सहपंम्) साहु मदणिए, साहु । सट्ठु तुए जाणिवम् । [साधु मदनिके, साधु । सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]

मदनिका—(स्वगतम्) एव्व दाव । (प्रकाशम्) अज्जए, दसिहो षष्ठु सुगो । अवि । [एवं तावत् । आर्ये, दरिद्र खलु स श्रूयते ।]

यसन्तसेना—अदो उज्जेव कामीअदि । इतिदुपरिससकन्तमणा षष्ठु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि । [अत एव काम्यते । दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमना खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति ।]

मदनिका—अज्जए कि हीनकुसुम सहआरणादव महअरीओ उण सेवन्ति ? [आर्ये, कि हीनकुसुम सहआरणादव मधुवय पुनः सेवन्ते ?]

यसन्तसेना—अदो उज्जेव ताओ महअरीओ पुष्चन्ति । [अत एव ता मधुवयं उच्यन्ते ।]

मदनिका—अज्जए, अइ सो मणीसिदो ता कीए दाणि सहसा ण अहिंसारीअदि ? [आर्ये, यदि ता मनीपितरतत्किमयंमिदानीं सट्ठा नाभिसार्यन्ते ?]

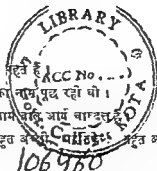
यसन्तसेना—हज्जे, सहसा अहिंसारीअन्तो वस्सुअआरदुग्गवलाए, वा दाव, जणो दुत्तहदसणो पुणो भविससदि । [चेटि, सहसाभिसार्यमाणं प्रत्युपकार-दुर्बलतया, मा तावत्, जनी दुर्तभदर्शनं पुनर्भविष्यति ।]

मदनिका—कि अदो उज्जेव सो अलआरओ तरत हत्थे गिस्सित्तो । [किमन एव सोऽनङ्कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ।]

यसन्तसेना—हज्जे, सट्ठु दे जाणिवम् । [चेटि, सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]  
(नपथ्ये)

अले भट्टा, इत्तसुयणसरस सुद्धु अदवठ पपत्तीणु पापत्तीणु । ता गेह गेह । बिट्ठु बिट्ठु । इत्तात्पबिट्ठो नि । [अरे भट्टारक, द्रशसुवर्णस्य रद्धो सूतंकरं प्रपत्ता-पितं प्रपत्तायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ । दृरात्प्रहृष्टोऽसि ।]

उत्तमं विदुः स्त्री-यस्य तयाभ्यामपि प्रणाविजनं विमज्जनम् । उदासीना मध्यम्या अपरिचितेव दूरवर्षे । शरणागता शरणं प्राप्ता । अन्धुपपन्ना स्वीहृता ।



मदनिका—वह सेठो के चौक में रहते हैं।

वसन्तमेना—अरी (मैं तो) उनके नाम प्रिय रहो यो।

मदनिका—आर्य ! वह सुन्दर नाम है। आर्य चाण्डाल हैं।

वसन्तमेना—(प्रसन्ननापूर्वक) बहुत अच्छी हैं। बहुत अच्छी। तुमने ठीक (अच्छा) जाना।

मदनिका—(अपने आप) नो ऐसा है। (प्रकट रूप में) आर्य ! ऐसा मुना जाना है कि वह निर्धन है।

वसन्तमेना—इसीलिए चाहा जाता है। निर्धन व्यक्ति में मन लगाने (प्रेम करने) वाली वेश्या नि मन्देह समार में निन्दनीय नहीं होती।

मदनिका—आर्य ! क्या भ्रमरियां बौर (बुसुम) रहित आम के वृक्ष का भी सेवन करती हैं ?

वसन्तमेना—इसीलिए तो वे 'मधुवरियां' कही जाती हैं।

मदनिका—आर्य ! यदि वह मनचाहा (वाञ्छित प्रेमी) है तो क्यों नहीं तुरन्त इसी समय अभिमार करती हो ?

वसन्तमेना—बेटे ! महमा अभिसरण किये जाने पर प्रत्युपकार करने में अगत होने के कारण, ऐसा न हो, कि फिर इस जन (आर्य चाण्डाल) का दर्शन भी दुर्लभ हो जाये।

मदनिका—क्या इसीलिए वह आर्भूषण उनके हाथ में धरोहर रक्ता है ?

वसन्तमेना—बेटे ! तुमने ठीक जाना।

(निपट्य में)

हे स्वामी ! हम मुक़्त (उम मय्य का सोने का सिक्का—देरिए टिप्पणी) के लिए रोकने दूआ जुआरी भाग गया। तो पकड़ो, पकड़ो ! ठहर, ठहर दूर से ही दिसलाई दे गया है।

मुमुक्षुर्देवो दातृन्वेन धोभनं (धन्या) गृहीत नामधेयं नाम यस्य सः । इतिपुराणे  
 सञ्चाल मत्तः मनः यस्याः तादृशी अवचनोप्या निन्दनीया न भवति यतो हि न  
 धनाभिभाषेण तस्या अनुरागो भवति किन्तु पुणानुरागेण । मद्य कुर्वन्ति मेवमेव नताः  
 इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः । तस्मादेव ता मधुकर्यः कथ्यन्ते ।

मनोपिनः अभिनयिनः । अभिमार्त्तने तं प्रत्यभिरणं क्रियते । सहमा विवशामो-  
 त्पाशान् प्राग् अभिमार्त्तमाणाः प्रत्युपकारे दुर्बलतया धनाभावात् मनोपकार क्तुं  
 अममर्षतया । दुर्बलदर्शनं, दुर्बल दर्शनं यस्य सः । अतएव नाह धनमभिलषामि अर्थात् तु  
 भारद्वाजानुरक्तं वेनि विश्वायोप्याशनायैव ।

(प्रविश्यापटीसोपेण सभ्रान्त )

राधाहकः—हीमाणहे । कष्टे एषो जूदित्तभावे ।

णवबन्धणमुक्काए विअ

गद्दीए हा ताडिहो म्हि गद्दीए ।

अङ्गसाअमुक्काए विअ शतीए

घडुक्की विअ घादिदो म्हि शतीए ॥१॥

लेखअवानडहिअअ शहिअ दट्टूण सत्ति पन्भट्टे

एण्ह मग्गणिवडिदो क णु क्खु शलण पपञ्जे ॥२॥

ता जाव एवे सहिअज्जुविअला अण्णदो न अण्णेसन्ति, ताव हक्के विप्पहीवैह  
पादेहि एव शुण्णदेउल पविशिम देवी भविरसम् । [आश्चर्यम् । कष्ट एव द्यूतकर-  
भानः ।]

नवंबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।

अङ्गराजमुक्तयेव शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या ॥

लेखकन्मापृतहृदय सभिक दृष्ट्वा शर्दिति प्रभ्रष्टः ।

इदानीं मार्गनिपतितः क नु खलु शरण प्रपद्ये ॥

[तद्भावदेतो सभिकद्यूतकरावन्धतो भामन्विष्यत, तावदह विपरीताभ्या  
पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुल प्रविश्य देवीभविष्यामि । ] (बहुविध नाट्यं कृत्वा तथा  
स्मितः)

(ततः प्रविशति मामुरो द्यूतकरस्य)

मामुरः—अले मट्टा दशसुवण्ह सुद्ध जूदकक पपतीणु पपतीण । ता नेण्ह  
नेण्ह । घिट्ठ घिट्ठ । दूरात्पदिट्टोऽसि । अरे भट्टारक, दशसुवणंस्य रद्धो द्यूत-  
करः प्रपलायितः । तद्गृहाण गृहाण । निष्ठ तिष्ठ । दूरात्प्रदुट्टोसि ।]

द्यूतकरः—

जइ वज्जसि पादालं इन्द शलण च सपद जासि ।

सहिअं वज्जिम एवक रद्धो वि ण रनिखडुं तरइ ॥३॥

[यदि वज्जसि पातालमिन्द्रं शरण च साप्रतं यासि ।

सभिकं वज्जयित्वैक रद्धोऽपि न रक्षितुं तरति ॥]

दशसुवणंस्य शृते रद्धः । द्यूतकरस्य भाव द्यूतकरत्व द्यूतक्रीडा इति भाव ।  
द्यूतक्रीडया सिन्न सवाहयं वपयति—नवेति । नवबन्धनात् मुक्त्या गर्दभ्या

[बिना पर्दा पिये घबराता हुआ प्रवेश करके]

सबाहक—आश्चर्य ! यह जुआरीपन भी कष्टदायक है—

हाय ! नवीन बन्धन से खुली हुई गदंभी (गधी) के समान यदभी नामक पासे ने मुझे मार दिया । अङ्गराज (कर्ण) द्वारा छोड़ी हुई शक्ति से घटोत्कच के समान मैं भी शक्ति (जुए में क्रीडियों की एक विशेष चाल) के द्वारा मारा गया ॥१॥

सभिक (छूत क्रीड़ा कराने वाले) का लेख (सूतक्रीड़ा का लिखित विवरण) को खोर मन लगाये देखकर तुरन्त भागा । अब मायं पर आ पहुँचा हूँ, किस की शरण में जाऊँ ? ॥२॥

तो जब तक सभिक और जुआरी मुझे दूसरी ओर दूँडे तब तक मैं उल्टे पैरों से इस सूने देव मन्दिर में घुसकर देवी हो जाऊँ । (बहुत प्रकार का अभिनय करके बैठा हो जाता है) ।

(इसके पंचवान् मायुर जुआरी के साथ प्रवेश करता है)

मायुर—अरं स्वामां, दम मुत्रणं वे नित्यं शोका हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया । तो पकड़ो, पकड़ो । ठहरो, ठहरो । दूर से ही दितार्ही दे गया है ।

जुआरी—बदि (अपनी रक्षा के लिये तुम) पातास में जाने हो या इन्द्र की शरण में चलने हो तो इस समय एकमात्र सभिक को छोड़कर शिव भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता ॥३॥

पशुविशेषेण इव गदंभ्या एनन्नामघेयया सूतवराटिकया ताडितः अस्मि । अङ्गराजेन कर्णेन मुक्तया शनःया अस्त्रविशेषेण घटोत्कचः भीममेनमुन इव अहं शक्या एनन्नामघेयया सूतवराटिकया ताडितः अस्मि । उत्तरादे पूर्वार्द्धे चोपमानङ्कारः । तयोः समृष्टिः । चित्रजाति वृत्तम् ॥१॥

सैसकेति । सैसः सैरान तदेव सैराक स्वार्थे वन् (काले) । सैने स्यादृत तत्परं हृदय यस्या तदाभूतं सभिक दृत्तायक दृष्टया शक्तिनि त्वरित प्रस्रष्टः अदशनं गतः पन्नापितो वा । इदानीं मायं राजमायं निवर्तित स्थितः कं नु ससु इति विमर्शं शरणं प्रथमं प्राप्नोमि । माया वृत्तम् ॥२॥

गुण्यं प्रतिमारहितम् । देवकुस देवमन्दिरम् ।

दुतरः संवाहकमुद्दिश्य वयवनि—यदोति । यदि त्वं पन्नात व्रजति भ्रातृ-रसायं गच्छामि, सात्प्रतम् ददानोम् इन्द्र च शरणं मायं शरणार्थं गच्छामि । त्वयानि एव सभिक दृत्तायक वर्जयित्वा त्यक्त्वा रटः अपि शिवः अरि स्वा रक्षितु न तरति शक्नोति । माया वृत्तम् ॥३॥

मायुर.—

कहि कहि सुसहिअविष्पलम्भजा  
पलासि ले भअपलिवेविदङ्गआ ।

पदे पदे समविसम खलन्तजा  
कल जसं अदिकसण कलेन्तजा ॥४॥

[कुत्र कुत्र सुमभिकविप्रलम्भक पत्नायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक ।  
पदे पदे समविषम स्खलन्कुल यशोऽतिकृष्ण कुर्वन् ॥]

घृतकर — (पदयो बोधः) एसो वज्जदि । इअ षण्ठा पदयो । [एष व्रजति ।  
इय प्रगष्टा पदयो ।]

मायुर—(आलोक्य सवितकंम्) अले, विष्परोदु पादु । पडिमायुण्णु वेउतु  
(विधित्तय) घुत्तु अरकह विष्परोवेहि पारेहि वेउस पबिदुो । [अरे, विप्रतीपा पादो ।  
प्रतिमाशून्य देवकुलम् । घृतो घृतकरो विप्रतीपाभ्या पादान्या देवकुल  
प्रविष्ट ।]

घृतकर — ता अणुत्तरेह । [ततोऽनुसराव ।]

मायुर—एष्व भोदु । [एव भयतु ।]

(उभौ देवभुजप्रवेश निरूपयत । दृष्टवान्योऽप सत्ताप्य)

घृतकर—कथ इदमयो पडिमा । [कथ काष्ठमयी प्रतिमा ।]

मायुर—अले गहू चहू । शैलपडिमा । (इति बहुविधं धालयति । सत्ताप्य च)  
एष्व भोदु । एहि । जूर किलेह । [अरे, न खलु न खलु । शैलप्रतिमा । एव  
भवतु । एहि । घृतं क्रीडाव ।] (इति बहुविध घृत शोडति)

सबाहक—(घृतेच्छाविहारसवरण बहुविध इत्वा स्वगतम्) अले,

कत्ताशहे णिण्णाणअशश हसइ हडक मनुशशश ।

ढवयशहे ध्व णडाघिवरश पव्भट्टलज्जश ॥५॥

सबाहकमुद्दिश्य मायुरः वचयति—मुत्रेति । रे मुत्तभिवरस्य ध्येष्टघृतकारकस्य  
विप्रलम्भक वज्जक, भयेन परिवेपितानि अङ्गानि यस्य तन्मयुद्धो भयपरिपतगात्र त्व  
पदे पदे समविषम त्वान् स्खलन् (यमविषम यथा स्यात्तमा स्खलन् वा) कृतं यतारव

मापुर—अरे धैर्य क्षमिक को ठगने वाले तथा मय से प्रकम्पित अङ्ग वाले (संवाहक) अपने कुछ ली कौटिल को अत्यन्त कापी करता हुआ ऊँची-नीची भूमि पर नडखड़ा हुआ वहाँ भाग रहा है ॥४॥

जुमारी—(पैरों को देखकर) बह जा रहा है । यह मार्ग अशुभ हो गया ।

मापुर—(अनुमानपूर्वक देखकर) अरे उच्छे पैर ! झूठगहित देवनन्दिर ! झूठे जुमारी उच्छे पैरों से देवनन्दिर में प्रविष्ट हो गया है ।

जुमारी—इतनीच पीछा करने हैं ।

मापुर—ऐना ही हों ।

(दोनों देवनन्दिर में प्रवेग करने का अभिनय करते हैं । देखकर और एक दूसरे को संकेत करते)

जुमारी—क्या काठ की मूर्ति ?

मापुर—अरे नहीं नहीं । पत्थर की मूर्ति (है) । नाना प्रकार से उने हिजाडा है । (संकेत करते) । (ऐना ही करें) जाओ हुआ संतत हैं । (नाना प्रकारसे जुमा बेगडा है) ।

संवाहक—(जुड़ की इच्छा से उद्यन होने वाले विकारों (भावों) का नाना प्रकार से संवरण करके चलने जान)—अरे,

जिन प्रकार छष्ट राजा वाले राजा के हृदय को रक्का (नामक बाण, पदह) का रण्य हर लेता है उनी प्रकार बना (बाइ, जुड़ का एक विशेष चिह्न) धनपहित भी (जुमारी) मनुज के मन को हर लेता है ॥५॥

अतिवृत्तं कर्तुं शक्नुं कुत्र कुत्र कश्चिन् न्यसने पचासने । स्विषा वृत्तम् ॥४॥

प्रमथ्य अङ्गुलं जात्रा, पदवी मलयं, पदचिह्नभावात् ततः परं मार्गं न दृश्यते इति भावः ।

मापुरद्वारादौ दृष्ट्वा महाहूकं स्वभवति विचारयति—वसति । ह्यत्र भागं नमकं दृष्ट्वाद्यत्र तस्य राज्ञः ध्वनिविशेषः निर्वाचकस्य नास्ति नामकं धनं यस्य उभय निर्देशस्य हृदयं तथा हृदयं जातयति तथा दृष्ट्वाभावात् प्रकथ्य राज्ञं यन्म कर्तुं न शक्यते इत्यत्र हृदयं इति । उच्यते च मापुरः । विदुषा वनम् ॥



जाणामि ण कील्लिश्श शुभेलुसिहलपडणणिह जूअम् ।

तह वि ङ्ग कोइलमहले कत्ताशद्दे मण हलदि ॥६॥

[अरे, कत्ताशब्दो निर्माणकस्य हरति हृदय, मनुष्यस्य ।

ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्यः॥]

[जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसनिभ द्यूतम् ।

तथापि खलु कोकिलमधुर कत्ताशब्दो मनोऽहरति ॥]

द्यूतकर — मम पाठे मम पाठे । [मम पाठे, मम पाठ]

माधुर — ण ह मम पाठे, मम पाठे । [न खलु मम पाठ, मम पाठ ।]

सबाहक (अ मत सहसोपमृत्य) ण म पाठे । [ननु मम पाठ ।]

द्यूतकर — लद्धे गोहे । [लब्ध पुरप ।]

माधुर — (सहोस्वा) अले लुप्तदण्डा गृहीदोति । पप्रच्छ त दत्तमुवणम् ।

[अरे लुप्तदण्डक गृहीताऽसि । प्रयच्छ तद्दृशमुवणम् ।]

सबाहक — अज्ज दइइशम् । [अथ दास्यामि ।]

माधुर — अहणा पप्रच्छ । [धुना प्रयच्छ ।]

सबाहक — दइइशम् । पशाव कलेहि । [दास्यामि । प्रसाद कुर ।]

माधुर — अले ण सपद पप्रच्छ । [अर, ननु साप्रत प्रयच्छ ।]

सबाहक — शिलु पडदि । [शिर पतति ।] (इति भूमी पतति) ।

(उभौ बहुविध ताडयत )

माधुर — एणु तुम ह जूदिअरमण्डलीए बढोति । [एणु त्व खलु द्यूतकरम  
ण्डल्या बढोऽसि ।]

सबाहक — (उत्थाय सविपादम्) कथं जूदिअरमण्डलीए बढोति हि । । ही,  
एषो अहाणं जूदिअलाण भल्लङ्घणीए शमए । ता कुदो दइइशम् । [यद्य द्यूतकरम-  
ण्डल्या बढोऽस्मि । वष्टम्, एपाऽस्माक द्यूतकराणामलङ्घनीय समय ।  
तस्मात् कृतो दास्यामि ।]

माधुर — अले, गण्डे कुत्तु कुत्तु । [अरे, गण्ड क्रियता त्रियताम् ।]

सबाहक — एव्व जत्तेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्ध ते देमि, अद्ध मे  
मुञ्चतु । [एव वरोमि अद्य ते ददामि, अद्य म मुञ्चतु ।]

द्यूतकर — एव्व भोदु । [एव भवतु]

सबाहक — (सभिरमुपगम्य) अद्धश गण्डे जत्तेमि । अद्ध पि मे अरजो  
मुञ्चतु [अद्यस्य गण्ड वरोमि । अद्यमपि म आर्यो मञ्चतु ।]

बान्ता है कि नुमेर (पर्वत) की चोटी में गिरने जैसे (दुःखदानी) जुए की वही संन्यास, फिर भी कोयल के (मञ्जुर स्वर) जैसा कत्ता का शब्द मन को हर ही लेता है ॥६॥

जुआरी—मेरा दांव, मेरा दांव ।

मायुर—नहीं । मेरा दांव है, मेरा दांव है ।

संवाहक—(दूसरी ओर से अचानक पास आकर) दांव तो मेरा है ।

जुआरी—(अनराधी) व्यक्ति मिन गया ।

मायुर—(पकड़ कर) अरे दण्ड न देने बाते, पकड़ लिये गये हो, तो वह इस सुवर्ण दो ।

संवाहक—आज दे दूंगा ।

मायुर—इसी समय दो ।

संवाहक—दे दूंगा, दना करो ।

मायुर—अरे, नहीं इसी समय दो ।

संवाहक—मिर खरार छा रहा है । (भूमि पर फिर पड़ता है) (दोनों माता प्रकार से फोटने हैं) ।

मायुर—यह तुम जुआरियों की मण्डली के द्वारा निबद्ध हो ।

संवाहक—(विदापूर्वक उठकर) क्या जुआरियों की मण्डली के द्वारा निबद्ध हो गया है । कुछ है, यह हम जुआरियों का न उल्लंघन करने योग्य नियम (समय) है । इस लिये कहाँ से दूँ ।

मायुर—अरे, बान्ता (पण्ड) करो ।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ (जुआरी की छत्र) बाधा तुम्हें दिने देता है, बाधा मेरे लिये छोड़ दें ।

जुआरी—ऐसा ही हो ।

संवाहक—समिद्ध के पाल जाकर आये का बान्ता करता हूँ । आर्य, बाधा मेरे लिये छोड़ दें ।

जानामोनि—मुमेरोः शृङ्गात् पतनमनिमं पतनमहासं कष्टकरं द्रुतं न होशिम्यामि इत्यहं जानामि । तथापि कोकिलगच्छन् मयुः कत्ताशब्दः मम मनः हरति । वरमान्द्रुः । विजुता वृत्तम् ॥६॥

मुत्तराहकः मुत्तं बण्डः देन । प्रमादं दृषाम् ।

अमदुपनीयः मद्रुपनिनुम् अयोग्यः । समयः नियमः क्षापादि । पण्डः शत्रुः । वान्ताशब्दः वान्ताः ।

मायुर—को दोसु । एवं भोतु । [दोष । एवं भवतु ।]

सबाहकः—(प्रवाशम्) अज्ज, अडे तुए मुषके । [आर्य, अर्घं त्वया मुक्तम् ।]

मायुर—मुषके [मुक्तम् ।]

संवाहक—(घृतकर प्रति) अडे तुए वि मुषके । [अर्घं त्वायापि मुक्तम् ।]

घृतकर—मुषके । [मुक्तम् ।]

सबाहकः—सपद गमिस्साम् । [साप्रतं गमिष्यामि ।]

मायुर—पअच्छ ॥ दशसुवणम् कीह गच्छति । [प्रयच्छ तं दशसुवर्णम् । कुत्र गच्छसि ?]

सबाहक—पेवत्थ पेवत्थ भट्टालभा । हा, सपद ज्जेव एक्काह अडे गडे कडे, भवत्ताह अडे मुषके । तहवि म अबल सपद ज्जेव मग्गदि । प्रेक्षध्व प्रेक्षणा भट्टारखा । हा, साप्रतमेव एवस्याधे गण्ड कृतः, अपरार्धं मुक्त । तथापि मामबल साप्रतमेव याचते ।]

मायुर—(श्रीरथा) घत्तु मायुर अह जिउत्तु । एत्थ तुए न अह मुत्तिज्जापि । सा पअच्छ ॥ मुत्तदण्डभा, सय्य सुवण्णे सपदम । [धूर्तं, मायुरोऽहं निपुणः । अत्र त्वया नाह धूर्तंयामि, तत्प्रयच्छ त लुप्तदण्डक, सर्वं सुवर्णं साम्प्रतम् ।]

सबाहक—कुदो दइरगम । [कुतो दास्यामि ।]

मायुर—पितरं विक्किज्जिज्ज पअच्छ । [पितरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

संवाहकः—कुदो मे पिदा । [कुतो मे पिता ।]

मायुर—मातरं विक्किज्जिज्ज पअच्छ । [मातरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

सबाहकः—कुदो मे मादा । [कुतो मे माता ।]

मायुर—अपणां विक्किज्जिज्ज पअच्छ । [आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ ।]

सबाहक—कलेध पशादम् । जेध म साजमागम् । [कुरते प्रसादम् । नयत मां राजमार्गम् ।]

मायुर.—पसद । [प्रसर ।]

साम्प्रतं गमिष्यामि उभाभ्यां राशिरेव मुक्त इति मुक्तदेयत्वात् यामि इति कृते । (पृथ्वी०) । अबलं निबलम् । धूर्तंयामि धूर्तरमं करोमि ।

आकाशे दृष्ट्वा एषा हि आवाशमापित नाम नाट्योक्तिः । तस्याः सप्तमं सूक्तं दर्शने—

किं श्रवीपीति यन्नाट्ये बिना पात्रं प्रयुज्यते ।

ध्रुवेष्वानुव्रतमप्यर्थं तत् स्थापनागमापितम् ॥

मायुर—क्या बुराई है ? ऐसा ही हो ।

संवाहक—(शकट रूप में) आयाँ, आधा तुमने छोड़ दिया ।

मायुर—छोड़ दिया ।

संवाहक—(जुआरी के प्रति) आधा तुमने भी छोड़ दिया ।

जुआरी—छोड़ दिया ।

संवाहक—अब जाऊँ ।

मायुर—वह दम सुवर्ण दो, वहाँ जाने हो ?

संवाहक—राजकीय पुरुषो ! देखिये, देखिये । हाथ अभी तो एक से आधे का बायदा किया है, दूमरे ने भी आधा छोड़ दिया है । फिर भी मुझ निर्बल से इसी समय माँगता है ।

मायुर—(पकड़ कर) घूत, मैं कुशल मायुर हूँ । यहाँ मैं घूतता नहीं कर रहा हूँ, तो दण्ड न देने वाले, वह सभी सोना इसी समय दो ।

संवाहक—कहाँ से दू ?

मायुर—पिता को बेचकर पों ।

संवाहक—मेरे पिता वहाँ है ?

मायुर—माता को बेचकर दो ।

संवाहक—मेरी माता कहीं हैं ।

मायुर—अपने को बेचकर दो ।

संवाहक—कृपा कीजिये । मुझे राजमार्ग पर ले चलिये ।

मायुर—चलो ।

कर्मकरः भृत्यः अवधीयं उपेक्ष्य । विघटिते नष्टे सति । एष गृहाहसारं स्यो वतं सम्प्राप्तः ।

दुर्दरुः क्षुत्तस्य प्रशमां करोति—न गणपतोति । क्षुत्तहि नाम नृपतिः इय क्षुत्तः स्वर्गदरि कर्मदरि परतमख निररुकार न यत्तयति, नृपः स्वमागम्योत् क्षुत्तं च क्षुत्तदराणा मातापमानयोः क्षविवधनात् । निग्यम् अयंजात घनःसूहं हरति धर्म-मति इराति च क्षुत्ते नृ विचितात्, पन हियने जेने च दीयते राजार्ग्यं प्रजाप्यः यति

संवाहक — एषं भोदु (परिव्राजति) अज्जा, विकणिघ ॥ इमंश शहिभरता  
 हत्यादो दशोहि शुयण्णकेहि । (दृष्ट्वा आवाशे) किं जणाघ 'किं बसइशसति'  
 त्ति । गेहे वे कम्मकत्ते हुविशसम । कथम् अदइअ पडिवअणं गदे । भोदु एवम्  
 इम अण्णं भणइशसम् । (पुनस्तदेव पठति) कथम् । एशे वि म अवधीसिअ गदे । हा,  
 अज्जघालुवत्तस विह्वे विहइडे एशे यइठामि मन्दभाए । [एव भवतु । आर्या,  
 क्रीणीएव मामस्य सभिकस्य हस्तादृशभि सुवणंके । किं भणत 'किं करि-  
 प्यसि' इति । गेहे ते कम्मंत्तगे भविष्यामि । कथम् अदस्वा प्रतिवचन गत ।  
 भवरवेवम् । इममग्य भणिष्यामि । कथम् एपोअपि मामवधीर्यं गतः । हा,  
 आयंचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एव वर्ते मन्दभाग्य ।]

मायुर — ण देहि । [ननु देहि ।]

संवाहक — कुदो बइइशम् । [बुतो वारयामि ।] (इति पतति)  
 (मायुर वपति)

संवाहक — अज्जा, पलित्तअघ पलित्तअघ । [आर्या, परित्रायध्वं  
 परित्रायध्वम् ।

(सत प्रविशति पदुरंरु )

पदुरंरुः — भो धत् हि नाम पुरपस्यासिहासन राज्यम् ।

न गणयति पराभवं नुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।

नृपतिरिव निवाममायदर्शो विभ्रवता समुपास्यते जनेन ॥७॥

अपि च —

द्रव्य लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्र द्यूतेनैव ।

दत्तं भुवतं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥८॥

अपि च —

श्रेणाहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोपितशरीर ।

नदितदशितभार्गं कटेन विनिपातितो यामि ॥९॥

हरति कर्मचारिभ्यश्च ददाति । निकामम् अत्यन्तम् आय्य घनागमं हस्तंयति इति  
 समानभुभमोः पशयोः । इदं च द्यूतं राज्ञा इव विमलयता ऐश्वर्यंयुक्तेन अपि जनेन  
 समुपास्यते सेष्यते । अतः द्यूतं हि सिंहासनरहितं राज्यमेव । पूर्णोपमा । पुष्पिताघ्रा  
 द्यूतम् ॥७॥

द्रव्यमिति (मया दर्दुरवेण) द्यूतेन एव द्रव्यं द्यूतेन एव दारा लब्धा मित्र  
 च सम्पद्यते, द्यूतेन एव दत्तं दानादिव द्यूतं, युक्तं युष्मादिभोगं द्यूतं, द्यूतेन एव सर्वं  
 घृतादिभं नष्टं द्यूतिरस्यम् । विषमालककार, । विद्युन्माला द्यूतम् ॥८॥

संवाहक—ऐसा ही हो। (धूमता है) शत्रुपुरुषों! इस सभिक (द्यूतकारक) के हाथ से मुझे दस मुवर्णों से खरीद लीजिए। (आकाश की ओर देखकर) क्या यह कहते हो "क्या करोगे?" तुम्हारे घर में नौकर हो जाऊँगा। क्यों? उत्तर दिये बिना ही चला गया? अन्ध्रा रहने दो। इस दूसरे (व्यक्ति) से कहूँगा। (फिर वही पढ़ता है) क्यों? वह भी मेरी उपासना करके चला गया? हाथ आर्यचारुदत्त की सम्पत्ति के क्षीण हो जाने पर मैं अभागा इस दशा में हो गया हूँ।

भापुर—दो न!

संवाहक—कहाँ से दूँ? (गिर जाता है)

(भापुर खीचता है)

संवाहक—शत्रुपुरुषों, रक्षा करो, रक्षा करो।

(इसके पश्चात् ददुरक प्रवेश करता है)

ददुरक—अरे, जुआ भी मनुष्य का बिना सिंहासन का राज्य है।

(जुआ) अपमान होने को नहीं गिनता है (चिन्ता नहीं करता है), कहीं से (धन) हर लेता है और (जीतने वाले को) निरन्तर धनराशि देता रहता है। राजा के सदृश अत्यन्त लाभ दिलाने वाला (जुआ) सम्पत्तिशास्त्री पुरुष के द्वारा सेवन किया जाता है ॥७॥

और भी—

मैंने द्यूत द्वारा ही धन प्राप्त किया, स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किए; जुए से ही (किसी को दानादि) दिया और खाया तथा जुए से ही सब कुछ नष्ट कर दिया ॥८॥

और भी—

प्रेता ('तीया' नामक एक विशेष दाँव) के द्वारा सर्वस्व गँवा देने वाला, पावर ('दूआ' नामक दाँव-विशेष) से शुष्क शरीर वाला, नदित ('नक्का' नामक विशेष दाँव) के द्वारा (धर का) रास्ता दिखाया जाने वाला, कट ('पूरा' नामक दाँव विशेष) के द्वारा मारा हुआ, मैं जाता हूँ ॥९॥

प्रेतेति । प्रेतयां 'तीया' इति प्रसिद्धेन द्यूतविशेषेण हृतं सर्वस्वं यस्य सः, पावरस्य 'दूआ' इति प्रसिद्धस्य पतनाद् च शोषितं शरीरं यस्य तथाभूतः, नदितेन 'नान्दो' (नक्का) इति प्रसिद्धेन दशितः मार्गः पलायन-मार्गः यस्य तादृशः, कटेन 'पूरा' इति प्रसिद्धेन च विनिपातितः सर्वथा प्रप्टः अहं ददुरकः यामि वच्छामि । पावरः पूरा, कटो दूआ इति केचित् (शुष्की०) ॥९॥

(अप्रतोऽनोक्त्य) अयमस्माकं पूर्वसत्रिको मायुर इत एवाभिवर्तते । भवतु ।  
अपक्रमितुं न शक्यते । तदवगुण्ठयाम्यात्मानम् (बहुविध नाट्यं कृत्वा स्थितः ।  
उत्तरीय निरीक्ष्य ।)

अयं पटः सूत्रदरिद्रता गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः ।

अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः सवृत एव शोभते ॥१०॥

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति । यो हि

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भ्रूतसे ।

तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः ॥११॥

मायुर — दापय दापय । [दापय दापय ।]

सबाहकः—कुटो दइरकम् । [कुतो दास्यामि ।]

(मायुर वपति)

ददुरक — अये, निभेतदप्रतः । (भाकाशे) किं भवानाह—'अयं धूनकरः  
सभिन्नेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति ।' इति । नन्वयं ददुरो मोचयति ।  
(उपसृत्य) अन्तरमन्तरम् । (हृद्वा) अये, कयं मायुरो धूर्तः । अयमपि तपस्वी  
सबाहकः ।

यं स्तब्धं दिवसन्तमानतशिराः नास्ते समुल्लम्बितो ।

यस्योदघर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ॥

स्वकीयं जीर्णमुत्तरीयं हृद्वा ददुरकं वपयति—अयमिति । अयं पटः सूत्राणां  
तन्तूनां दरिद्रतां क्षीणतां गतः प्राप्तः । अयं पटः छिद्रशतैः शतसङ्ख्याकैः छिद्रैः अलङ्कृतः  
मुक्तः । अयं पटः प्रावरितुं परिघातुं न शक्यते हि निश्चितम् अयं पटः सवृतं वेष्टितं  
एव शोभते । वशस्य वृत्तम् ॥१०॥

तपस्वी—वराकः, क्षुद्रः इति यावत् ।

ददुरकः मायुरस्य भीषणतां ध्यात्वा स्वकीयां माहृत्पुतां विचारयति—यो  
होति । यं अहम् एकेन पादेन गगने आकाशे द्वितीयेन च भ्रूतसे उल्लम्बितं ऊर्ध्वं  
सम्बितशरीरः सन् तावत् तिष्ठामि, यावत् कालं भास्करः सूर्यं तिष्ठति अस्तं न  
गच्छति । एतादृशस्य मम मायुराद् अयं नास्तीति भावः । पथ्यावन्न वृत्तम् ॥११॥

खलीक्रियते भन्त्यंते । अन्तरमन्तरम् इति जनसमर्पे प्रवेशाय अवकाशप्रापेना  
(पृष्ठो०) ।

ददुरे हि नाम महाकृष्टसाध्यं, यन्न सबाहकसदृशं जनं क्लेशं न सोऽं शक्नोति  
तस्य ददुरेन हि प्रयोजनमित्याशयेन ददुरेकमाह—य इति । यः समुल्लम्बितः श्वानत-

(सामने देखकर) यह हुआ कि भूतपूर्व सभिक (जुआ कराने वाला) मापुर इधर आ रहा है। वस्तु, भाग्य तो जा नहीं सकता। तो अपने को देखता है। अनेक का अभिनय करके खड़ा हो जाता है (उत्तरीय को देखकर)

यह वस्त्र धागों की दरिद्रता (सौगता अथवा नाश को प्राप्त हो गया है), यह तो मेकड़ो छिद्रो से भोगित है (अर्थात् अन्यन्त जीर्ण-शीर्ष है), यह वस्त्र (शरीर) बर नहीं सकता है, नास्त्व मे यह वस्त्र लिपटा हुआ (सदृश) ही अच्छा जा है ॥१०॥

यह बेचारा (मापुर) क्या करेगा ? जो (मैं) —

एक पैर से आकाश में और दूसरे से पृथ्वी पर, सभी तक लटका हुआ ठहर गया है जब तक मूर्ख रहता है अर्थात् मारे दिन इतने कष्टप्रद कार्य को भी कर जाता है, मापुर बेचारा तो इससे कठिन क्या दृष्ट देया ॥११॥

मापुर—दिलामो, दिलामो !

मंवाहक—कहाँ से हूँ ?

(मापुर लीचता है)

दुर्बक—भरे, यह सामने क्या है ? (आकाश की ओर) क्या यह कहा जायने कि 'यह जुआ' कराने वाले (सभिक) के द्वारा अस्तित्व (अपमानित किया जा रहा है), कोई नहीं छुड़ाना है। सो यह दुर्बक छुड़ाना है। (अधीप जाकर) यावत् छोड़िये। (देखकर) भरे, क्या भूत मापुर ? यह भी बेचारा मंवाहक —

जो (मेरे समान) दिन के अन्त तक नीचे मिर करके (और ऊपर पैर करके) पुनः लटका हुआ नहीं रह सकता, धर्षण करने वाले देवों के द्वारा जिसकी पीठ पर बिम्ब (किंग जनप्राया मे घटा, चंटे का निशान) नहीं पड़ा और जिसका यह

गिरा दिवमान्तं स्वर्गं न भास्ते, यस्य पृष्ठे उदर्यन्ततोप्यर्कः अपि सदा किमः न वातः । यस्य च एतद् जहान्तरं कुकुरैः महः महः न चप्यते, तस्य अत्यायतकोपतस्य मरणं दूतप्रकटनीन किम् ? इत्यन्वयः ।

य जनः मह्यिष संयुक्तम्वित्तः ऊर्ध्वं सम्प्रधानः आनतगिराः आनतं गिरौ यस्य तादृशः (अथ गिरः कृत्वा ऊर्ध्वं च पादौ विधाय इत्यर्थः) दिवमान्तं मूर्धास्तं एतद् स्वर्गं निरवलं न भास्ते न स्थातुं शक्नोति । यस्य च पृष्ठे उदर्यन्ततोप्यर्कः इति उदर्यन्तानि तानि च लोटकानि तैः सदा किमः शुल्कवचनः न जातः । यस्य च एतद् दुर्योदधि जहान्तरं जहान्तरमायः कुकुरैः महः महः प्रतिदिनं न चप्यते न भास्ते । तस्य तादृशस्य अत्यायतरश्च अतिधीर्षः च अनी कोपतसश्च तस्य यस्य



यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जहान्तर च०पंते ।

तस्यात्यायतकोमलस्य सतत द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥१२॥

भवतु, माधुर तावत्सान्त्वयामि (उपगम्य) माधुर अभिवादेय ।

(माधुर प्रत्यभिवादयते)

ददुरक — किमेतत ।

माधुर — अथ दशसुवर्णं घातेदि । [अथ दशसुवर्णं धारयति ।]

ददुरक — ननु कल्पवर्तमेतत ।

माधुर — (ददुरकस्य वसततल्लुण्ठीवृत पटमाहृष्य) भद्रा, पश्यत परात ।  
जज्जरपटम्पावुदो अयं पुनिसो दशसुवर्णं कल्पवर्तं भणादि । [भर्तारि, पश्यत  
पश्यत । जज्जरपटप्रावृतोऽप्य पुषुवो दशसुवर्णं कल्पवर्तं भणति ।]

ददुरक — अरे मूर्खं नन्वहं दशसुवर्णाङ्कितवरणेन प्रयच्छामि । तर्क  
यस्यास्ति घन स किं क्रोडे कृत्वा वशयति । अरे,

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणतः ।

पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥१३॥

माधुर — भद्रा, वृष्ट दशसुवर्ण्यु कल्पवस्तु । मए एमु विहृष्टु । [भर्त, तव  
दशसुवर्णं कल्पवर्तं । ममप विभव ।]

ददुरक — यद्येवम्, श्रूयता तर्हि । अन्यास्तावद्दशसुवर्णानिस्वैव प्रयच्छ ।  
अयमपि द्यूत शीलयतु ।

माधुरः — तर्क मोदु । [तर्क भवतु ।]

ददुरक — यदि लेष्यति तदा दास्यति ।

माधुर — अहं नं जिणादि । [अथ न जयति ।]

ददुरक — तदा न दास्यति ।

माधुरः — अहं नं ज्ञुतं जल्पिदुम् । एष्यं अक्षतन्तो मुम पयच्छ घृतजा । अहं पि  
नाम माधुर घृतु ज्जुद भिरथा भादसजामि । अण्णस्म वि अहं नं विभेमि । घृता,  
खण्डिअवुतोसि मुमम् । [अथ न युक्तं जल्पितुम् । एवमाचक्षाणस्त्वं प्रयच्छ घृतं ।  
अहमपि नाम माधुरो घृतो घृतं मिय्या दर्शयामि । अन्यास्मादप्यहं न विभेमि ।  
घृतं, खण्डितवृतोऽसि त्वम् ।

सवाहस्य सतत निरन्तर द्यूतप्रसङ्गेन द्यूतव्यापारेण किं प्रथोभनम् । न किमपीति  
भाव । सतद्गतविशीडित वृत्तम् ॥१३॥

कल्पवर्तं प्रातर्भोजनम् । तद्वद स्वल्पमिति भावः ।

बया का भौतरी भाग कुत्तों क द्वारा प्रतिदिन नही चबाया जाता, उस लम्बे शरीर वाले तथा कोयल (गुवाहक) को निरन्तर छूतकार्य से बचा प्रयोजन ॥१२॥

बसु, तब तक मायुर को सान्त्वना देता है । (समीप जाकर) मायुर, प्रणाम करता है ।  
(मायुर प्रणाम का उत्तर देता है)

दुर्जरक—यह क्या है ?

मायुर—यह दस सुवर्ण लिये हुए है ।

दुर्जरक—यह तो कनेवे जैसा (तुच्छ घन) है ।

मायुर—(दुर्जरक की बगल में दबाये हुए कपड़े को सूतीचकर) प्रभुगण, देखिए शीघ्र, शीपं-शीपं बदन में टका हुआ यह व्यक्ति दस सुवर्ण को कलेवा मात्र बता रहा है ।

दुर्जरक—अरे मूर्ख, मैं तो दस सुवर्ण को बायदे के द्वारा ('बट' फेंककर) दे साता हूँ । तो क्या जिसके पास घन होता है वह गेड में (रख) करके दिखताता है ? अरे—(गुम) वर्णाश्रम (नीच) हो भ्रष्ट हो । दस सुवर्ण के कारण पाँच इन्द्रियों ने पुक्त पर्य तुम्हारे द्वारा मारा जा रहा है ॥१३॥

मायुर—महाराज, दस सुवर्ण तुम्हारे लिए कलेवा (तुच्छ) हैं । यह (दस) सुवर्ण ही मेरी तो सम्पत्ति है ।

दुर्जरक—यदि ऐसा है, तो मुनो, इसको दस सुवर्ण ही और दो । यह भी गुमा लेते ।

मायुर—तो क्या होगा ?

दुर्जरक—यदि जीत जायेगा तो दे देया ।

मायुर—यदि नहीं जीतना है ?

दुर्जरक—तब नहीं देगा ।

मायुर—और प्रणाम (नववास) करना उचित नहीं है । रे घूर्त, ऐसा कहते हो, तो तुम्हीं दे दो । मैं भी तो घूर्त मायुर हूँ, जुए का मिथ्या प्रदर्शन करता हूँ । दूसरे तो भी नहीं डरता है । घूर्त, तुम चरित्रहीन हो ।

कश्चित्ते सुग्रीहः केष्टितं गोपित वा । भट्टा इति आशरमूचकं सम्बोधनम् ।  
अशरमूचकः जीर्णवस्त्रवस्तुतः । अष्टकरणेन पूरापतयेन इति शरणे, सामयिकप्रतिभाषाः  
करणेन इत्यन्वे ।

दुर्जरक. मायुरं प्रति कथयति—सुवर्णः इति । हे मायुर, त्वं सुवर्णः दुष्टः सर्वः  
सर्व वर्णाश्रमः नीच. इत्यर्थः असि, विनष्टः (अराचरणात्) भ्रष्टः असि । अद् स्वया  
मायुरेण दासवर्णाश्रम कारणत्वात् पञ्चेन्द्रियं. नेशादिभिः ममायुक्त नष्ट मनुष्यः व्यापादते  
इत्यर्थः । काम्यतिङ्गमचट्टाटः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१३॥

दुर्दुरक — अरे, क खण्डितवृत्त ।

मायुर तुम ह खण्डितवृत्तो । [ त्व खलु खण्डितवृत्त । ]

दुर्दुरक — पिता ते खण्डितवृत्त (सवाहवस्यापत्रमितु सज्ञा ददाति)

मायुर — गोसावित्रापुत्रा, एष्व भवेव नूद तुए सेविदम् । [वेश्यापुत्र, एवमेव द्यूत त्वया सेवितम् ।] ६

दुर्दुरक — मयैव द्यूतमासेवितम् ।

मायुर — भले सवाहभा, पत्रच्छं त दद्यातुवत्सम् । [अरे सवाहक, प्रयच्छं तद्दशसुवणम् ।]

सवाहक — भञ्ज ददशसम् दात्र ददशसम् । [अद्य दास्यामि । तावदास्यामि ।]  
(मायुर वपंति)

दुर्दुरक — भूलं, परोक्षे खलीकतुं शक्यते, न ममाग्रत खलीकतुंम् ।

(मायुर, सवाहकमाहृष्य घोणायां मुष्टिप्रहार ददाति । सवाहक सशोणित भूषणां नाटयन् भूमौ पतति । दुर्दुरक उपमृत्यान्तरयति । मायुरो दुर्दुरक ताडयति । दुर्दुरको विप्रतीप ताडयति ।)

मायुर — भले बुद्ध दिग्गतासिआपुत्रञ्च, फलं वि पाविहसि । [अरे अरे दुष्ट पु श्वलीपुत्रक, फलमपि प्राप्स्यसि ।]

दुर्दुरक — अरे भूर्स अह त्वया मागंगत एव ताडित । श्वो यदि राज-कुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि ।

मायुर — एमु वेक्खितसम् । [एय प्रेक्षिये ।]

दुर्दुरक — कथ द्रक्ष्यसि ।

मायुर — (प्रसायं वधुयी) एष्व वेक्खितसम् । [एवं प्रेक्षिये, ।]

(दुर्दुरको मायुरस्य पासुना पक्षुपी पूरयित्वा सवाहवस्यापत्रमितु सज्ञा ददाति । मायुरोऽभिणी निगृह्य भूमौ पतति । सवाहकोऽपत्रामति ।)

भावभाषण वचनम् । अहमपि.....न विभेमि इत्यर्थ— 'अहमेवाय निभंय' प्रतारमानं न तु मामन्य' इत्यर्थ इति पृथ्वीघर । 'अहमपि नाम मायुरो द्यूतो द्यूतं मिष्याऽऽदर्शयामीति वापुः । पणमप्रतियोगितं त्यजन् हि द्यूतमेव वितयति । नाहमेव द्यूतस्य व्यपदेशं दूषयामीत्यर्थ' । नेद घनस्पृहया पीडनं किं तर्हि द्यूतघमंरक्षायमिति भाव — इति श्रीनिवासाचार्यं' (कासेमहीदयेन उदघृतम्) खण्डितवृत्त खण्डित वृत्त दरम । चरित्रहीन इत्यर्थ । अपत्रमितु पसायितुम् ।

दुर्दरक—अरे, कौन है चरित्रहीन !

मायुर—मुम्ही चरित्रहीन हो ।

दुर्दरक—तेरा पिता चरित्रहीन है । (संवाहक को भापने के विषे मरंत देना है)

मायुर—बेन्गगुन, तुमने ऐसे ही जुआ खेना है ।

दुर्दरक—मैंने ऐसे ही जुआ खेना है ।

मायुर—अरे संवाहक, बह दम सुवन दो ।

संवाहक—आब दे दूंगा । तब तक दे दूंगा ।

(मायुर शीघ्रता है)

दुर्दरक—सूर्य, (मेरे) पीछे अग्रमानिन कर मरते हो, मेरे आवे अग्रमानिन नहीं कर मरते । [मायुर संवाहक को शीघ्रकर (उमकी) गाल पर धूसा भगता है । संवाहक उत्त-अवाहक पूर्वक धूर्छा का अभिनय करता हुआ धरती पर गिरता है । दुर्दरक मर्मान आकर बीच में पड़ता है । मायुर दुर्दरक को पीटता है । दुर्दरक उल्टा (मायुर को पीटता है ।]

मायुर—अरे, अरे दुष्ट कुलठापुन (इस दुर्ध्वंशर का) फल भी पाओगे ।

दुर्दरक—अरे सूर्य तुम्हारे द्वारा (निर्दोष) मैं माप में चलता हुआ ही पीटा गया है, कब को यदि गजकुच में पीटोदि, तब देवना ।

मायुर—यह मैं देण लूंगा ।

दुर्दरक—कैसे देण लोमे ?

मायुर—(अनि काइकर) ऐसे देण लूँदा ।

(दुर्दरक मायुर की आँखों को धून से भरकर संवाहक को भापने का मरंत दे देता है । मायुर आँखों को पकड़ कर धूमि पर गिर पड़ता है) संवाहक भाग जाता है ।)

परोक्षे अहः परम् इति परोक्षम् । सतीकृतुं तिरस्कृतुं । शीघ्रात्प्रां मापिकापानम् ।

अन्तरपति अन्तरं स्ववधानं करोति । चित्रतीर्थं विपरीतम् ।

पांयुक्तं धूमिनद्रुतेन । निद्रुह्य निद्रोष्य । मिद्विष्य आदेशेन निद्रोक्षेन । समाविष्टः

निद्रिष्टः । अनपावृतम् उद्घाटितं पञ्चद्वारं मन्त्रं तद् दृष्टम् । विरोहि कावृष्टु । मपावृष्टु

चरपावृष्टु ।

दुर्दरक —(स्वगतम्) प्रधानसभिको मायुरो मया विरोधित । तन्नाव युज्यते स्यात्तुम् । कथितं च मम प्रियवयस्येन शविलकेन, यथा किल—'आयं-कनामा गोपालदारक सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति ।' इति । सर्वश्चास्मद्रिद्यो जनस्तमनुसरति । तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । (इति निष्क्रान्तम्) ।

सबाहक —(सत्रास परिक्रम्य दृष्ट्वा) एते कश्चिन्म अणपाबुदपक्षदुभालके शुहे । ता एत्थ पविशिशम् । (प्रवेश रूपयित्वा वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे, शरणागवे म्हि । [एतत्त्वस्याप्यनपावृतपक्षद्वारक, गेहम् । तदत्र प्रविशामि । आयं, शरणागतोऽस्मि ।]

वसन्तसेना—असन्न शरणागतस्त । हज्जे, दक्केहि पवन्नदुभारम् । [अभयं शरणागतस्य । चेटि, पिधेहि पक्षद्वारकम् ।]

(चेटि तथा करोति)

वसन्तसेना—कुदो वे भयम् । [कुतस्ते भयम्]

सबाहक —अज्जे धनिकादो । [आयं धनिकात्]

वसन्तसेना—हज्जे, सपव अवावुणु पवन्नदुभारम् । चेटि साप्रतमपावृणु पक्षद्वारकम् ।]

सबाहक —(आत्मगतम्) कथं धनिकादो तुलितसो भयबालणम् । शुद्धं षु एष बुच्चवि ।

जे अत्तबल जाणिअ भाल तुलित वहेइ माणुस्से ।

ताह खलण ण जाअदि ण अ कन्तालगदो विवज्जदि ॥१४॥

एत्थ सन्निकदोम्हि । [कथं धनिकात्तुलितमस्या भयकारणम् । सुष्ठु एतद्वैवमुच्यते ।

य आत्मबल ज्ञात्वा भार तुलित वहति मनुष्य ।

तस्य स्वलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते ॥

अत्र लक्षितोऽस्मि ।]

मायुर —(अक्षिणीं प्रमृज्य द्यूतकरं प्रति) अले, देहि देहि । [अरे, देहि देहि ।]

द्यूतकर—भट्टा, यावदेव अहं द्यूतुरेण वसहाइरा तावदेव सो गोहो अय-कन्तो । [भर्त, यावदेव वयं दुर्दरेण वलहायितास्तावदेव स पुरपोऽपक्रान्त ।]

मायुर —तस्मिन् जूदवस्तस्मिन् मुष्टिपहालेण नासिवा भग्ना आसि । ता एहि । दहिरपहं अणुतरेहं । [तस्य द्यूतनरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिवा भग्नासीत् । तदेहि । दधिरपयमनुसराव ।]

दुर्वरक—(अपने आप) मुख्य द्यूतकारक मेरे द्वारा विरोधी बना लिया गया है, तो यहाँ टहरना उपयुक्त नहीं है और मेरे प्रिय मित्र धनिक ने यह कहा भी है कि निन्द के आदेश के द्वारा निन्दित आर्यक नामक गोपाल-आलक राजा होगा। और इनारे जूँसा-प्रत्येक व्यक्ति उसका अनुसरण करता है। तो मैं भी उसके ण्य ही जाता हूँ। (निकन जाता है)

संवाहक—(मनसूबक घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसका पक्ष द्वार (बगन का दरवाजा—Side door) खुला है। तो यहाँ प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करने का अभिनय करके बत्तमेना को देखकर) आर्य शरणागत हूँ।

बत्तमेना—शरणागत के लिये अभय है। बेटि, पक्ष द्वार को बन्द कर दो।

(बेटि बँधा करती है)

बत्तमेना—तुम्हें किस से डर है ?

संवाहक—आर्य, धनिक से।

बत्तमेना—बेटि, अब पक्षद्वार को खोल दो।

संवाहक—(अपने आप) क्यों ? धनिक से इसके भय का कारण सीमित (कम) ही क्या ? वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है—

जो मनुष्य अपने बल को जानकर उसके अनुसार (तुलित=मित) भार को बहन करता है, उसका पतन नहीं होता है, वह दुर्गमपथ पर चलने से भी विपद्ग्रस्त नहीं होता है ॥१४॥

एव विपद में मैं परल (देख) लिया गया हूँ।

मापुर—(आँसू पोंदकर जुआरी के प्रति) अरे दो-दो।

जुआरी—स्वामिन्, जैसे ही हम दुर्वरक के साथ झगड़ा करने लगे, तभी वह दुःख भाग गया।

मापुर—उन जुआरी की नाक सूँठ के प्रहार से टूट गई दो। तो भागो। लड़ मिलने के पथ का अनुसरण करें।

यदि धनिकाद् भयं तर्हि अनावृत्तु पक्षद्वारकम् इति बत्तमेनायाः वचनं श्रुत्वा संवाहकः मनसि करोति वचनम् इति। आशयं धनिकाद् अस्याः बत्तमेनायाः भय-कारणं तुलितम् आश्रितं नितं वा जातम् ! अस्तु शोभनं समु उच्यते नृपः। य इति। यः मनुष्यः आत्मबलं स्वमानस्यं ज्ञात्वा तुलितं तुल्यं नित वा भारं वहति धारयति तस्य मनुष्यस्य तसमत्तं पतनं न जायते स च कान्धारपनः दुर्गमनामपठिनः अति न विपद्यते विपद्यतो न भवति। अत्रन्दुर्वरकमागतद्वारः। आर्यं वृत्तम् ॥१४॥

अत्र अस्मिन् विषये सजितः परीक्षितः अस्मि। अस्मिन् एतौकोत्तरिषये

(अनुसृत्य)

दूतकर — भट्टा, वसन्तसेनागेह पविट्टो सो । [भर्त, वसन्तसेनागृह प्रविष्टः ।]

■ ।]

मायुर — भूबाइ सुवर्णाह । [भूतानि सुवर्णानि ।]

दूतकर — सामजल गबुम निवेदेमह । [राजकुल गत्वा निवेदयाव ।]

मायुरः—एसो धुतो अदो निक्कमिअ अण्णत्त गमिस्सदि । ता उअरोपेण्ण  
गेण्हेमह । [एसो धूर्तोऽसौ निष्क्रम्याम्यत्र गमिष्यति । तदुपरोधेनैव पृथ्नीव ।]

(वसन्तसेना भदनिवाया सजां ददाति)

भदनिका—कुधो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ? किं वा वित्ति  
अज्जो उवज्जोअदि ? कुरो वा सभम् ? [धुत आर्य ? को वार्य ? कस्य वार्य ?  
का वा वृत्तिमार्य उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?]

सवाहक — शुणाहु अज्जआ । अज्जे पाइस्सिउत्ते मे जम्मभूमो । गह्यइवाल्लके  
हणे । सवाहअरश वित्ति उवज्जोआमि । [शृणोत्वार्या । आर्ये, पाटलिपुत्र मे जन्म-  
भूमि । गृहपतिदारकोऽहम् । सवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि ।]

वसन्तसेना— सुउमारा षण्णु कला सिक्खिदा अज्जेण । [सुसुमारा खलु कला  
शिक्षितार्येण ।]

सवाहक — अज्जए, कलेत्ति सिक्खिदा । आजीविआ वाणि सवुत्ता । [आर्ये,  
कलेत्ति शिक्षिता । आजीविकेऽदानीं सवृत्ता ।]

चेटो—अदिनिव्विण्ण अज्जेण पडिअण्ण हिण्णम् । तवो तवो । [अतिनिव्विण्ण-  
मार्येण प्रतिवचन इत्तम् । ततस्तत ।]

सवाहक — तवो अज्जए एणो तिअगेहे आहिण्णवण्णं मुहारो शुणिअ अणुएवदेश-  
इरणकुइहलेण इह आगवे । [अ] अर परिअण्ण उज्जइणि एएके अज्जे शुगुशिरे ।  
जे तात्तिरो विअदशणे पिअमाशी वइअ षण्ण रिसेदि, अणुएव विअणुसेदि । किं एहणा  
पलत्तेण । दविअण्णदाए पलकेअअ थिअ अत्ताणअ अवयएइदि, शलणागमवएइसे अ ।  
[तत आर्ये, एष निजगृह आहिण्डकानां मुखाच्छ्रुत्वा पूर्वदेशदर्शनं तूहलेनेहागतः ।  
इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्येः शृणु पितः । यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रिय-  
यादी, दत्त्वा न कीर्तयति, अपकृतं विस्मरति । किं बहुना प्रलपितेन । दक्षिणतया  
परकीयमिवात्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च ।]

(अनुसरण करके)

बुआरी—स्वामिन्, वह वसन्तसेना के घर में प्रविष्ट हो गया है।

मायुर—(तब नौ) सुवर्ण प्राप्त हो गये।

बुआरी—राजकुम में जाकर निवेदन किये देते हैं।

मायुर—यह दृष्ट यहाँ से निरूपण अग्यत्र पला जायेगा। तो (वसन्तसेना के) अनुप (अमुरोध) के द्वारा ही (सवाहक को) पकड़ लें। (वसन्तसेना मदनिका को संकेत देना है)

मदनिका—आर्य वहाँ में (आ रहे हैं) ? अथवा आर्य कौन है ? आर्य किसके (पुत्र) हैं आप किम वृत्ति से जीवनयापन करते हैं ? और किम मे डर है ?

सवाहक—आर्या सुने। आर्य पाटलिपुत्र (पटना) मेरी जन्मभूमि हैं। मैं गृहस्थ का बानक हूँ। सवाहक (गरीर दवाने वाले) की वृत्ति के द्वारा जीवन-यापन करता हूँ।

वसन्तसेना—आर्य ने वास्तव में सुकुमार कला सीखी है।

संपाहक—आर्य कला (मान करके) सीखी थी। इस समय तो (वह) कारीविका हो गई है।

वसन्तसेना—आर्य ने अत्यन्त दुःखपूर्ण उत्तर दिया है। इसके बाद ?

सवाहक—इसके अनन्तर आर्य अपने घर पर यात्रियों के मुख से (इस प्रदेश के विषय में सुनकर) अपूर्व देश का दर्शन करने के कौतूहल में यहाँ आया। यहाँ भी उज्जयिनी में प्रवेश करके मैंने एक सज्जन की सेवा की, जो ऐसा सुन्दर आहृति वाला है, प्रिय बोलने वाला है, देकर बचन नहीं करता, बुरा किये हुए को भूल जाता है। अधिक कहने में क्या ? उदारता के कारण अपने को दूसरों का-सा समझता है और गरम में आये हुए को प्रेम करने वाला है।

बंधार्थेण दृष्टान्श्रीभूतोऽस्मि इति भावः। रेटीमहोदयेनापि (Mr. Raddi) तयं च ध्यान्नातम् स्वर्ग्यतिशनातोच्य दूने प्रहृनोऽहनिशयस्य मयि सभन्वयास्तद्वयता प्राप्तोऽस्मि (बाले नोट्स पृ० २२)।

भूतानि मुचर्नानि प्राप्नानि, शरपापनवत्सना वसन्तसेना दाम्पनीत्यर्थः। तदुपरोधेन तस्याः वसन्तसेनायाः उपरोधेन अनुनेयेन अथवा तद् दत्तः उपरोधेन वसन्तसेनागृहस्थ उररोधनेन सवाहकं गृह्णीकः। सभां मद्भूतेनम् ददाति। सवाहकस्य परिवच पृच्छति कटाक्षेण मुचयति। कां वृत्तिम् उपजोवति का जीविसाम् आश्रयति।



चेटी—को ाण अज्जअए मनोरहन्तरस्स गुणाइ घोरिअ उज्जइणि अत्तइ-  
रेदि । [क इदानीमार्याया मनोरथान्तरस्य गुणाश्चोरमित्वीज्जयिनीमलङ्क-  
रोति ।]

वसन्तसेना—साहू हञ्जे, साहू । मए वि एण्य हजेय हिअएण मन्तिवम् ।  
[साधु चेदि, साधु । मयाप्येवमेव हृदयेन मन्त्रितम् ।]

चेटी—अज्ज, तवो तवो । [आर्ये, ततस्तत ।]

सवाहक—अज्जए, शो ङाणि अणुवकोशविदेहि पदाणेहि । [आर्ये, स इदानी-  
मनुक्रीयाकृते प्रदाने ।]

वसन्तसेना—कि उवरदयिहवो सयुत्तो । [निमुपरतविभय सयुत्त ।]

संवाहक—अणाजबिलवे एजेव कथ अज्जअए विण्णावम् । [अनाध्यातमेव  
कथमार्याया विज्ञातम् ।]

वसन्तसेना—कि एत्थ जाणीअदि । दुस्सहा गुणा जिहवा अ । अपेएणु तडाएणु  
घट्टवर उवअं भोदि । [किमत्र ज्ञातव्यम् । दुर्लभा गुणा विभवाएच । अपेयेणु  
तडागेणु बहूतरमुदकं भवति ।]

चेटी—अज्ज किणामधेओ वणु सो । [आर्ये, किनामधेय खलु स ।]

संवाहक—अज्जे, के ङाणि तइश भूतलमिअज्जस्स नाम न जानादि । शो वणु  
शेट्ठिचत्तले पडिक्कसिदि । तत्ताहिणज्जणामधेए अज्जचासुवत्ते नाम । [आर्ये, व इदानी  
तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति । स एणु श्रेष्ठिचत्तवरे प्रतिवसति । श्लाघ-  
नीयनामधेय आदंचारदत्तो नाम ।]

वसन्तसेना—(सहृद्यमासनादवतीर्य) अज्जस्स अत्तणचेरए एव नेहम् । हञ्जे, देहि  
से आत्तणम् । तालवेष्टेअ नेह । परिस्समो अज्जस्स वाधेदि । [आर्यस्यात्तमीयमेतद्-  
नेहम् । चेदि, देह्यस्यात्तनम् । तालवृत्तकं गृहाण । परिश्रम आर्यस्य वाधते ।]

(चेदि तथा करोति)

संवाहक—(स्वगतम्) कथ अज्जचासुवत्तस्स नामशक्वीत्तणेण ईविशो मे आदत्ते ।  
साहू अज्जचासुवत्तो, साहू । पट्टथोए सुम एक्के जीवसि शोवे उण जणे रासादि । (इति  
पादयोनिपत्य) भोडु । अज्जए, भोडु । आसणे णिसोदवु अज्जआ । [कथमार्यांचारदत्तस्य  
नामसंवीर्तनेनेदृशो म आदरः । साधु आर्यचारदत्त, साधु । पृथिव्या त्वमेवो  
जीवसि । शोव पुनर्जन- श्वसिति । भवत्वार्ये, भवतु । आसने निपीदर्यार्या ।]

सेटी—(गंगा) कौन है जो आजकल आर्य (वसन्तसेना) के मनोरथामिमुख (प्रिय, आर्य चारदत्त) के गुणों का हरण करके उज्वलिन की मूर्धित कर रहा है।

वसन्तसेना—बहुत अच्छा, चेष्टि बहुत अच्छा। मैंने भी हृदय से यही बिचारा था।

सेटी—आर्य तन्यश्चात्।

संवाहक—आर्य वह इस समय दया के कारण किए हुए दान में...

वसन्तसेना—क्या क्षीणवर्भव (सम्पत्तिहीन) हो गए ?

संवाहक—बिना कहे ही आर्यों ने कैसे जान लिया ?

वसन्तसेना—यहाँ जानने योग्य ही क्या है ? गुण और सम्पत्ति (का एकत्र पाया जाना) दुर्लभ है। न पीने योग्य (पानी वाले) तालाबों में बहुत पानी होता है।

सेटी—आर्य, वह किस नाम वाले हैं ?

संवाहक—आर्य, इस समय इस पृथ्वी के चन्द्रनाम का नाम कौन नहीं जानता ? वह सेटी के मुहम्मने में रहते हैं। वह प्रक्रमनीय नाम वाले 'आर्य चारदत्त' हैं।

वसन्तसेना—(हर्षपूर्वक आसन से उठकर) आर्य का यह अपना ही घर है। चेष्टि, इन्हें आसन दो। पंथा ले लो। आर्य का एकान (परिधम) लीकित कर रही है।

(सेटी बैसा जाती है)

संवाहक—(अपने आप) क्या आर्य चारदत्त का नाम लेने में मेरा ऐम, सम्मान ? अन्य आर्य चारदत्त, अन्य ही। पृथ्वी पर (वास्तव में) तुम अनेके ही जीते हो, जब कि श्रेय मनुष्य ही केवल सीम लेते हैं। (पैरों पर गिरकर) छूने दो, माह रहने दो। आर्य आसन पर बैठें।

गुरुपतिः दामाद्वय, दृष्टवामी वा, तस्य दारकः पुत्र । सवाहकस्य शरीर-  
मर्दम् । मुकुमारा कोमला । आनीविका वृत्ति । संसृता संज्ञाना । अतिनिर्विकल्प  
अतिनिर्वेदकुम् । अनिबन्धनम् उत्तरम् । आश्लिष्टकानां पर्यटकानाम् । अदुर्बेराय  
अदुर्बेरायम् । अिनं दर्शनं यस्य तादृगः स्फुराहृतिः । अयहानम् अन्कारम् । अतिप-  
तया आश्लिष्टेन (नयनया उदारतया-च) ।

मनोरथस्य जन्तर तस्य, मनोरथामिदुनस्य दिग्ग्य काश्चस्य वा । मन्त्रि-  
विचारितम् । अनुशोभा, करुणा तेन कृतः प्रहर्षः उपरत, नष्टः विभव मूर्धनिः यस्य  
नयनः नष्टजनः ।

वसन्तसेना—(आसने समुपविष्टम्) अञ्ज कुदो सो घणितो । [आर्य, कृत  
स घनिक ।]

सवाहक —

माननालघणै ननु शञ्जण काह ण हाइ चलाचले घणे ।  
जे पूइदु पि ण जाणादि शे पूआविशश पि जाणादि ॥१५॥  
[सत्कारघन खल सञ्जन वस्य न भवति चलाचल घनम् ।  
य पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥  
वसन्तसेना—तदो तदो । [ततस्तत ।]

सवाहक —तदो तेण अञ्जेण शबिन्ती पतिचात्तके किदो म्हि । चात्तित्तवणे  
अ तस्सि जूदोवजोषो म्हि ऋवुत्ते । तदो भाअघेअविशमदाए दशमुवणअ नूदे हाति  
धम् । [ततस्तेनायेंण सगृत्ति परिचारक वृत्तोऽस्मि । चारिअ्यावशये च तस्मि  
न्यू तोपजोवप्रस्मि सवृत्त । तता भागधेयविपमतया दशमुवणं छूतै हारितम् ।]

मापुर—उत्पादिदो म्हि । मुसिदो म्हि । [उत्पादितोऽस्मि । मूपितोऽस्मि ।]

सवाहक —एदे दे सहिअज्जुदिअत्ता म अणु शयअन्ति । शपद गुणिअ अज्जअ  
पमाणम् । [एतो तो सभिकयूतवरी मामनुसघत्त । साप्रत श्रुत्वार्थ प्रमाणम् ।]

वसन्तसेना—मदणिए वासपादवविसटुलदाए परिल्लणो इदो तदो वि आहि  
ण्डित । हज्जे, ता गच्छ । एदाण सहिअज्जुदिअराणम् अअ अज्जो पडिदादे ति  
इम हत्याभरणअ तुम देहि [मदनिरे, वासपादवविसटुलतया पक्षिण इतन्त  
तोऽप्याहिण्डन्ते । चेटि, तद्गच्छ । एतयो सभिकयूतकरयो, अयमाय एव  
प्रतिपादयतीति, इद हस्नाभरण त्व देहि ।] (इति हस्तारकटकमाहृष्ट्य चेटया  
प्रयच्छति)

गुणा औदार्यादय विमवात्तच एकत्र दुलभा । यत्र उदारतादय गुणा सन्ति  
तत्र सम्पत्ति न चिर तिष्ठतीति भाव । एतस्मै न समघनाय कथयति यद् अनेषु पादुम्  
अयोष्येषु तडागेषु बहुतरम् अत्यधिकम् उदक भवति न तु पेषु तथा । अप्रस्तुतप्ररा  
सद्गार । भूतमेस्य मृषाङ्कु चन्द्र तस्य । शलाघनेय प्रशसनीय नामधेय यस्य  
सादृश ।

वसन्तसेना—(आसन पर बैठकर) आर्य, वह (आर्य चारदत्त) धनी (कैसे) कहीं से हों ?

संवाहक—दूसरो का सत्कार करना ही मत्पुरषों का धन होता है । अञ्चल (अस्थायी क्षणिक) सम्पत्ति किसके पास नहीं होती ? जो (दूसरो का) सम्मान करना भी नहीं जानता, (क्या) वह (अपने प्रति किये गये) विशेष सम्मान को जान सकता है ? ॥१३॥

वसन्तसेना—तदनन्तर ?

संवाहक—तब उम आर्य ने (मुझे) सवैतन सेवक बना लिया । उनके चरित्र मात्र देखे रह जाने (धनहीन हो जाने) पर छूत से जीविका चलाने वाला हो गया । इसके पश्चात् भाग्य की विपमता (वक्रता) से जुए में दस सुवर्ण हथ दिये ।

मापुर—नष्ट हो गया हूँ । मूट लिया गया हूँ ।

संवाहक—ये दोनों वे सभिक और जुआरी मुझे बूँद रहे हैं । अब मेरी कहानी मुरकर जाय निर्णय करें (क्या किया जाये) ।

वसन्तसेना—मदनिके, निवास-दृष्टि की अस्थिरता के कारण पक्षी इधर उधर ही भटकते हैं । घेदि, तो जाओ । इन दोनों सभिक जुआरी को यह हाथ का आभूषण (पह पहकर) तुम दे दो कि यह आर्य (संवाहक) ही दे रहे हैं

(हाथ में कयन उतार कर देनी है)

नाममंकीर्तनेन नामरूपनेन । सः श्रीशार्यादिमुक्तः चारदत्तः धनिकः कुतः भवेद इति भावः ।

संवाहकः अग्रस्तुतप्रशंसया चारदत्तस्य प्रशंसां करोति—सत्करोति । सत्कारः श्रमपागतानां मत्करणम् एव धन यस्य सः सञ्जनः श्रेष्ठो जनो भवति । इदं वसाधत्तं अञ्चनं धनं कस्य न भवति सर्वस्यैव जनस्य भवितुं शक्यते इति भावः । सः जनः पूर्वदिन परेषा सम्मानं कर्तुं न जानाति सः पूजाविशेषं स्वं प्रति कृतम् आदरविशेषम् अत्रि जानाति किम् ? इति काकु, न जानात्वेव इत्यर्थः । यदि तु तृतीयचरणे नकारो नास्ति तर्हि—सः अन्येषां सम्मानं कर्तुं जानाति स स्वं प्रति कृतं सत्कारविशेषमपि अनुभवितुं शक्नोति इत्यर्थः । अग्रस्तुतप्रशंसात्पुनः । भाषासमक वृत्तम् ॥१३॥

चेटी—(गृहीत्वा) न अज्जमा माणवेदी । [यद्रार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

माधुर —उच्छादिबो म्हि । सुत्तिबो म्हि । [उच्चादितोऽस्मि मुपितोऽस्मि ।]

चेटी—जया एवे उद वेवलन्ति, दीह णीमसन्ति अहिसहन्ति अ बुआरणिहि वलोभणा, तथा तक्केमि, एदे वे सहिअज्जुदियरा ह्विस्सन्ति । (उपगम्य अज्ज, वन्हामि ।, [यथैतावूर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निप्रवसत अभिउपतश्च द्वारनिहितलोचनौ, तथा तर्क्यामि, एतो तौ सभिवच्चूतकरो भविष्यत । आर्यं, वन्दे ।]

माधुर —गृह सुए होइ । [मुख तव भवतु ।]

चेटी—अज्ज, वक्कमो पुम्हाण सहिओ । [आय, कतरो युवयो सभिव ।]

माधुर —

वत्सा तुह्ण तणुमज्जे अहरेण रददटठदुध्विणीदेण ।

जल्पसि मणोह्वणवअण आलोअन्ती वटवलेण ॥१६ ।

अरिय मम विहवो अण्णत एवज ।

[वस्य त्व तनुमध्ये अधरेण रतदष्टदुविने तेन ।

जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ॥

नास्ति मम विभव । अन्यत्र वज ।]

चेटी—अइ ईदिमाइ ण मनेमि, ता ण होसि जूदिअरो । अरिय कोवि पुम्हाणं वारओ । [यदीदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि चूतकर । अस्ति कोऽपि युग्मानं धारक ।]

माधुर —अरिय दशसुवण्ण धालेदि । वि तस्स । [अस्ति । दशसुवर्णं धारयति । वि तस्य ।]

चेटी —तस्य वाग्णादो अज्जजा इम हत्थाअरण पडिवावेदि । नहि नहि सो ण्णैव पडिवावेदि । [तस्य वारणाद्रायेंद हस्ताभरणं प्रतिपादयति । नहि नहि स एव प्रतिपादयति ।]

माधुर —(सहर्षं गृहीत्वा) अत्ते मणोसि त कुलपुत्तम् 'पूरु दुए गण्ठे माअन्ध । पुणो जूद रमअ' [अरे, मणसि त कुलपुत्रम्—भूतस्तव गण्ड । आगच्छ । पुनचूत रमस्व' ।]

(इति निष्क्रान्ती)

चेटी—(वसन्ततानामुष्णमृत्यु) अज्जए, पडितुट्टा गवा सहिअज्जुदियरा ; [आर्ये परितुष्टो गतो सभिवच्चूतकरो' ।]

चेटी—(लेकर) जो बायाँ आजा देती है (निकल जाती है)

मापुर—नष्ट हो गया है, लुट गया है।

चेटी—क्योंकि ये ऊपर को देख रहे हैं, सब्बे सांस ले रहे हैं, द्वार पर बाँतें गड़ाये बाँतें कर रहे हैं, इसमें अनुमान लगाती हूँ, (कि) ये दोनों वे ही सभिक और जुआरी होंगे। (मनोप जाकर) आर्य प्रणाम करती है।

मापुर—तुम्हें मुझ हो।

चेटी—आपें आप दोनों में से सभिक कौन से हैं ?

मापुर—हे सीप कटि वाली, कटाज से देखती हुई रत्निकाल में क्षत इस घृष्ट (दुर्विनीत) मोठ से मनोहर वचन किससे बोल रही हो ॥१६॥

मेरे पाप सम्पत्ति नहीं है, अम्यत्र जाओ।

चेटी—यदि तुम ऐसी बान करने हो, तब तुम जुआरी नहीं हो (सकते) क्या आप लोगों का कोई श्रेष्ठी है ?

मापुर—है। दस स्वर्ण का श्रेष्ठी है। उसका क्या ?

चेटी—उसके कारण में आयाँ यह कंगन दे रही हैं। नहीं, नहीं वही दे रहा है।

मापुर—(हर्षपूर्वक लेकर) अरी उम कुलीन पुत्र श्रेष्ठ कह देना, तुम्हारा शपथ (पूर्व) हो गया। आओ फिर जुआ खेलो।

(बाहर चले जाते हैं)

चेटी—(वसन्तसेना के निकट आकर) आर्य सभिक और जुआरी सन्तुष्ट होकर चले गये।

सङ्घतिः सवेननः। चारिण्यानशोर्वे चारिष्यम् एव अवशेषो यस्य स तस्मिन् चारिष्यमात्रावशेषे घनहीने जाते सति। श्रुतम् उपजीवति इति दूनोपजीवी। भाग-  
धेयस्य विषमनया वक्रतया उत्साहितः विनाशितः। मुषितः शोषितः, नुष्टितः।  
मनुमघराः अन्वेषणं कुरतः। आर्या तत्रभवती वसन्तसेना। प्रमाथम् निर्पायिका।

वासपादपस्य निवासवृक्षस्य विसृष्टतया अम्बिरतया अस्तस्यस्ततया।  
आहिङ्गन्ते भ्रमन्ति। चारुदत्तस्य दरिद्रतया तस्य उपजीविनीर्षिं इतरततः भ्रमन्तीति  
भाः। अग्रस्तुतप्रपंसा। अथपार्यः सवाहक एव प्रतिपारयति चशनि।

द्वारे निहिते स्थिते सोचनं ययो तो। तर्क्यामि कल्पयामि। मदनिकायाः  
वचनं श्रुत्वा मापुरः पृच्छति-अस्येति। हे तनुमध्ये तनु सीपं मध्ये यस्याः तसम्बद्धो  
हृगोदरि, त्वं कटाक्षेण आसोक्ष्यन्ती रते दष्टः अतएव दुर्विनीतः घृष्टः रत्नमूषाशंवायु  
तेन अघरेण मनोहरवचनं मधुरं वचनं कस्य क शनि जल्पति ? याया वृत्तम् ॥१६॥

वसन्तसेना—ता गच्छतु । अञ्ज बन्धुअणो समस्ससत्तु । तद्गच्छतु । अद्य बन्धुजन समारवसितु ।]

सवाहक—अञ्जए जइ एव्व ता इअ कत्ता पत्तिअणहत्थगदा कत्तीअहु । [आर्ये, यद्येव तदिय कला परिजनहस्तगता क्रियताम् ।]

वसन्तसेना—अञ्ज, जस्स कारणादो इअ वत्ता सिवत्तीअदि, सो ज्जेण अञ्जेण सुस्सुत्तिवपुब्बो सुस्सुत्तिदब्बो । [आर्ये, यस्य कारणादिय कला शिक्षयते, स एवा-  
र्येण शुश्रूषितपूर्वं शुश्रूषितव्य ।]

सवाहक—(स्वगतम्) अञ्जआए णिउअ पच्चाविट्ठीं म्हि । कथ पच्चुवकत्तिरशम् (प्रकाशम्) अञ्जए, अह एदिणा जूदिअत्तावमाणेण शकशमणके हुविशम् । ता शवाहके जूदिअत्ते शकशमणके शकुत्तेति सुमत्तिदब्बा अञ्जआए एवे अवल्लसु । [आर्येया निपुण प्रत्यादिष्टोऽस्मि । वय प्रत्युपकरिष्ये । आर्ये अहमेतेन द्यूतकरा मानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । तत्सवाहयो द्यूतकर शाक्यश्रमणक सवृत्त इति स्मृतव्याख्याययैतान्यक्षराणि ।]

वसन्तसेना—अञ्ज, अल साहसेण । [आर्ये, अल साहसेन ।]

सवाहक—अञ्जए वत्ते णिच्चए । [आर्ये, कृतो निश्चयः ।] इति परिब्रम् ।

जूदेण त कद मे ज वीहत्थ जणशश शठपशश ।

एणाहि पाअडणीणे पत्तिन्दमग्गेण विहरिणम् ॥१७॥

[एतेन तत्कृत मम यद्विद्वस्त जनस्य सवस्य ।

इदानीं प्रकटशीर्षो, नरेन्द्रभाग्येण विहरिष्यामि ॥]

(नेष्ये बलवत् )

सवाहक—(आनर्थं) अत्ते, कि णोदम् (आवाजे) कि भणाद्य 'एसो वसु वसन्तसेनामाए सुष्टमोडके णाम दुट्टहत्थो विअत्तेरि' इति । अहो, अञ्जआए गण्णम पेविलररा गहुअ । अहवा कि मम एदिणा । अघावत्तेशिद अणुत्तिठिरराम् । [अरे, किन्विदम् । कि भणत—'एए खलु वसन्तसेनाया सुष्टमोडको नाम दुष्टहत्थो विचरति' इति । अहो, आर्याया गन्धगज प्रेदिष्ये गत्वा अथवा किं ममेतेन । यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।] (इति निव्रान्त )

(तत प्रविशत्यपटीक्षेणेण प्रहृष्टो विवटोऽञ्जसवेव, वचंपूरण )

१ ॥

"धारक धारयतीति अधमर्णं" ऋषी । कुत्तपुत्र सद्वणजात्रम् दुत्तीनम् । गण्ड  
समय, शपथ ।

इद वत्ता सवाहनरूपा । परिजनस्य भवत्परिचारिवाया हस्तगता प्राप्ता (सिद्धिता) । 'त्वया अनुमन्यते चेदह धनदग्दे नियत्नात् स्थित्वा भवत्या सेविता-

बन्धनेना—तो अब (आप भी) जायें । आज बान्धकों को मान्दना दें ।

संवाहक—आपें, यदि ऐसा है तो यह (अहमदन को) कना (अपनी) मेविका को हस्तपत्र (पत्र) करा दें ?

बन्धनेना—जिसके कारण में यह कना भीखी गई है, वही (शायं चाफ़त) को आंठे द्वारा पढ़ने सेविन हुआ है, (अब भी) सेविन होना चाहिये ।

संवाहक—(अपने आप) आपां के द्वारा बुद्धनतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया गया है । इनका प्रभुपकार कैसे करूं ? (प्रकट रूप में) आपें, मैं इत जुआरी के (रूप में) अपमान के कारण बौद्ध भिक्षु हों जाऊँगा तो 'संवाहक जुआरी बौद्धभिक्षु हों क्या है' में असर आपां को स्मरण रखने चाहिये ।

बन्धनेना—आपें माहम से बच करों ।

संवाहक—आपें, (मैंने) निगबब कर लिया है । (धूमकर) जुए ने मेरे तिथें देना जिना कि सब व्यक्तियों के व्याकुल (अस्मानित) करा डाला । इस समय मुझे निर रायनामं में (रत) दूखूंगा ॥१७॥

(नेरद में स्तकन)

संवाहक—(मुन रुद) अरे, यह क्या है ? (आकाश की ओर) क्या रहने हो ? यह बन्धनेना का मुण्डमोडक (बोधन मन्म को तोड़ने वाला) नाम वाला दुष्टहाथी घुन रहा है । अही जाकर आपां के मण्डप (देखिये टिपणी) तो देखें । अपना मेरा इनमें क्या सम्बन्ध ? निश्चयानुसार कबोग (निकल जाना है) ।

(नदनन्तर पदों के बिना निगे, प्रदल एवं मयदुर उगवच देगवाला कणोदरक प्रोग करना है) ।

विदन् अहमदनविद्या विद्विष्या स्वस्थानं समिप्यतीति धार ' (I V. नवीन मन्धरन, हाने) । पूर्वं मुभुषितं दाने मुभुषितपूर्वं । प्रत्यादिष्टः निराहृतः, प्रयागानः । शाक्यधर्मकः बौद्धभिक्षुः ।

बन्धनेनाया. बधनं कृत्वा संवाहकं वयसि—दूरेवेति । दूरेण मम संवाहकं कथं त्वं माहमं कृतम् एवं सर्वेति जनस्य सर्वेतिमात् वनात् विहस्य व्याकुलीकरणम् (विहस्य व्याकुली मनो) अवनातविति भावः । इदानीं मन्मति दूरेदेदममुवली-निर्वातकाने बौद्धभिक्षुः कृत्वा प्रकटशोकः प्रकटं शीघ्रं मय (मण्डपिम्बान्) तथाप्यः नरेदमालेन राजनामने विहरिष्यामि स्वतन्त्र प्रविष्यामि । आपां वृणन् ॥१७॥

मुण्डमोडकः कृष्टे मन्मं मोडयति इति, मन्ममन्धक. मन्ममन्ध मन्ध-मन्म. दयः मन्धरायः । यदीन्द्र—'दस्य दस्य मममन्धाय न निर्दन्ति प्रविष्टिकः त मन्धमिन् प्रहन्नुपतोर्विदनावहन् ।' यथाव्यवसिन स्वस्तित निम्बिनम् अन्विष्य निगवनादुत्तर परिश्रमं कृतमिति भावः । अनुष्ठास्यामि हरिष्यामि ।



कर्णपूरक—कहिं बहिं अज्जआ । [बुत्त कुत्रार्या ।]

पेटो—दुग्मणुस्स किं ते उद्वेजकालणम् अ अग्गदो घटिठद अन्वअ ण पेवससि । [दुग्मणुस्स, किं त उद्वेजवारणम् यदग्रतोऽवरियतामार्या न प्रेक्षसे ।]

कर्णपूरक—(हृष्टवा) अज्जए वन्दामि । [आर्ये, वन्दे]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ पण्णित्तुमुहो सखोअसि । ता किं णोदम् । [कर्ण-पूरक परितुष्टमुखो लक्ष्यसे । तत्किं न्विदम् ।]

कर्णपूरक—(सविस्मयम्) अज्जए वञ्चिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरअस्स पराक्रमो ण विट्ठो । [आर्ये, वञ्चिवासि यथाच कणपूरकस्य पराक्रमो न हृष्ट ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, किं किम् । 'कर्णपूरक' किं किम् ।

कर्णपूरक—युत्तानु अज्जआ । जो सो अज्जआए घुष्टमोडको णाम बुट्टहत्थी सो आलाणत्थम् अज्जिअ महमेत्थं यावादिअ महन्त सखोह करन्तो राममाग ओदि-ण्णो । तदो एत्थन्तरे उत्तुट्ट जणेण—

अवणेघ वालअलण तरिद आरुद्धं वुक्खपासादम् ।

किं ण हु पेक्खध पुरदो दट्ठो हत्थी इदो एदि ॥१८॥

अवि च ।

विचलइ णंउरजुअल छिज्जन्ति अ मेहला मणिलइथा ।

वलमा अ सुन्दरदरा रणइकुरजालपटिवद्धा ॥१९॥

तदो तेण बुट्टहत्थिणा कलचरणरदोहं फुल्लनत्तिणि विअ णअरि उज्जहणि अवणा हमाणेण समासादितो परिघ्राजको । तच्च परिघ्रदण्डकुण्डिभाभाभण सोअरेहिं तिञ्चिअ दन्तन्तरे सिस्सं पेवित्तं पुणोवि उत्तुट्ट जणेण—'हा परिघ्राजको वादादी-भवि'ति [शुणोत्वार्या । य स आर्याया घुष्टमोडको नाम दुष्टहस्ती स आलानस्रम्भ भङ्क्त्वा महाभात्र व्यापाद्य महान्तं सक्षोभं बुवंराजमार्ग-मवतीर्णं । ततोऽज्जान्तरे उद घुष्ट जनेन—

'अपनयत बालकजन त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम् ।

किं न खलु प्रेक्ष्य पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ॥१८॥

अपि च ।

विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिलचिता ।

वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धा ॥१९॥

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदने फुल्लनत्तिनीमिव नगरोमुज्जयिनीमव-गाहमानेन समासादित परिघ्राजकः । तच्च परिघ्रदण्डकुण्डिवाभाजनं शीकरं मिकत्वा दन्तान्तरे सिस्सं प्रेक्ष्य घुनरघ्युदघुष्ट जनेन—'हा, परि-घ्राजको व्यापाद्यते' इति ॥]

अपटोक्षेपेण विना जवनिवापातमेव । विवट उज्ज्वलश्च घेय दस्य तथाभूत ।

कर्णपूरक—वहाँ हैं, कहीं हैं, आर्या !

चेटी—ये दुर्जन, तुम्हारी यशराहत का क्या कारण है जो सामने स्वित आर्या को नहीं देखने हो ?

कर्णपूरक—(देखकर) आर्य प्रणाम करता है ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, अत्यन्त प्रसन्नमुख दिखाई दे रहे हो । तो यह क्या (राज) है ।

कर्णपूरक—(आश्चर्यपूर्वक) आर्या वञ्चित रह गयी (क्योंकि) तुमने आज कर्णपूरक का पराक्रम नहीं देखा ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, क्या, क्या ?

कर्णपूरक—आर्यो मुने । वह जो आपका (आर्या का) तुण्टमोहक नामक दुष्ट हाथी है वह वनस्तम्भ को तोड़कर, महावन को मारकर महान् उपद्रव करता हुआ सङ्क (राजनाथ) पर उतर आया । तब इसी बीच में मनुष्यों ने घोषणा की—

'बानको को हटा तो, तुलन्त पेड़ो या परो पर पड जाओ । क्या देख नहीं रहे हो (कि) सामने से दुष्ट हाथी इधर आ रहा है ॥१८॥

और भी—

नूपुरों का जोड़ा गिर पड़ा है, मणिजटित मेखलायें तथा सधुरलसमूह से जड़े हुए अति सुन्दर कमल (भागने से परस्पर सपर्य होने के कारण) टूट रहे हैं ॥१९॥

इसके पश्चात् (अपने) सँड, पंर और दाँतों के द्वारा उज्जयिनी नगरी की विषे कमलों बानी सरसी के तुल्य मथते हुए वह दुष्ट हाथी एक सन्यासी पर पड़बा । जिसका दण्ड और कमण्डलु गिर गए हैं, ऐसे उस (सन्यासी) को बलविन्दुओं से सींचकर दाँतों के बीच में रकत । दृष्टा देखकर जनता ने फिर से यह बोलाहन किया—हान ! सन्यासी मारा जा रहा है ।

परिद्वन्द्वं मुलं यम तादृशः ।

महमात्रं—हस्तिपालकं, हस्तिचालकं वा ।

वसन्तसेना—भङ्गवा राजमार्गे ममागत वसन्तसेनायाः राजं विलोडय जनैरेतद् वस्तुद्वयमिति कर्णपूरकः शययति—अपनीयत इति । बानकव्रतम् अपनीयत राजमार्गात् दूरं गतः, पुंसं प्रमादं च त्वरितम् आरोहत् किं न सन्तु प्रेक्ष्यं पश्यथ नूनम् ? पुरतः वसन्तः कुष्ठः हस्ती इव. एतदिना प्रति एति आयच्छति । माया वृत्तम् ॥१८॥

विचरन्तीति । (मन्त्रमयान् नारीणां गमनवेगात्) नूपुरयुगलं (पादभ्यः) विचलति सन्यासान् ॥१९॥ मणिजटितान् मणिजटितान्. मेतत्ताः रत्नाङ्गुराणां सधुरलसामां बालैः प्रमुनेः प्रतिबद्धा. जटितान् मुन्दरतराः बलया कटराः च दिग्गन्ते दिग्गा भवन्ति । पश्यावताम् ॥१९॥

वसन्तसेना—(ससध्रमम्) अही पमादो, अहो पमादो । [अहो प्रमाद, अहो प्रमाद. ।]

कणपूरक —अत सममेण । मुणाडु दाव अज्जआ । तवो विच्छिन्नविसदुल-  
सिद्धुत्तास्तावक उद्वहन्त दन्तन्तरपरिग्राहिद परिध्वाजम उद्वहन्त त पेविसम कण-  
ऊरण मए, नहि नहि अज्जआए अण्णपिण्डपुट्टेण दासेण, वामचरणेण अङ्गुलिसम  
उगुसिसअ उगुसिसअ तुरिद आवणावो सोहदण्ड गेहिण्ण आभारिवो सो इट्टहत्यो । [अत  
सध्रमेण । शूणोतु तावदार्या । ततो विच्छिन्नविसम्बुलशृङ्खलाकलापमुद्वहन्त  
दन्तान्तरपरिगृहीत परिध्वाजकमुद्वहन्त त प्रेक्ष्य कणपूरकेण मया, नहि नहि,  
आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन नामचरणेन द्यूतलेखक उदुघुप्योदुघुप्य त्व  
रितमापणात्त्वोहदण्ड गृहीत्वाकारित स दुष्टहस्ती ।]

वसन्तसेना—तवो तवो । [नतस्तत ।]

कणपूरक —

आहृण्णसरोस त हरिण विच्छिन्नसंसिहराभम ।

मोभाविवो मए सो दन्तन्तरसठिओ परिध्वाजओ ॥२०॥

[आहत्य सरोष त हस्तिन विन्ध्यशैलशिखराभम् ।

मोचितो मया स दन्तान्तरसस्थित परिध्वाजक ॥]

वसन्तसेना—मुट्टु वे किडम् । तवो तवो । [सुप्तु त्वया कृतम् । ततस्तत ।]

कणपूरक —तवो अज्जए, साहु रे कण्णऊरम, 'साहु' ति एतिसमैत्तं भणती  
विसमभरवकन्ता विज जावा, एकवो वत्तहत्ता समत्ता उग्गइणी भासि । तवो अज्जए  
एवकेण मुणाडु आहरणट्ठाणाइ परामुसिसम उद्व पेविसम बीह णीतसिम मम पावा-  
रओ मम उवरि कित्तो । [तत आर्ये 'साधु' र कणपूरक, 'साधु' इत्येतावन्मान्  
भणन्ती, विषमभराक्रान्ता इव नो एकत पर्यस्ता सकलोज्जयित्वासीत् । तत  
आर्ये, एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामुश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं नि श्वस्यार्यं  
प्रावारको ममोपरि क्षिप्त ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरम, जाणीहि दाव कि एतो जावोतुमुमवातिवो पावारओ  
न वेति । [कणपूरक, जानीहि तावलिमेध जाताकुमुमवादित प्रावारओ न  
वेति ।]

कणपूरक —अज्जए, मदगणेण मुट्टु त गन्ध न जानामि । [आर्ये मद-  
गन्धेन सुप्तु त गन्ध न जानामि ।]

वसन्तसेना—(धबडाहटपूर्वक) अहो अनवधानता (नापरवाही) ! अहो अनवधानता !

कण्ठपूरक—धबडाहट से बस करे । आयां सुनें तो । तदनन्तर दूटी हुई तथा अस्थिर (हिलने वाली) शृङ्खला (जंजीर) को धारण किये हुये दाँतो के बीच में गृहीत सन्ध्यामी को उठाने वाले उस दुष्ट हाथी को देखकर मुझ कण्ठपूरक ने, नहीं नहीं, आया के मन्त्रविण्ड से गुप्त हुए सबक ने छूतलेसक को बार बार चेताकर सुरन्त-बाजार से लौहे का डगडा लेकर बाईं और चल करके (बाईं और पं तथा बदलने से) उन दुष्ट हाथी को लाने का । (टिप्पणी भी देखिये)

वसन्तसेना—तस्मिन्वात् ।

कण्ठपूरक—विण्डपयवंत की छोटी जंसे (विमान) एवं क्रोधित उस हाथी पर प्रहार करके मैंने वह (हाथी के) दाँतो के बीच में दबा हुआ (या स्थित) सन्ध्यामी छुड़ा दिया ।

वसन्तसेना—तुमने बड़ा अच्छा किया । तदनन्तर ?

कण्ठपूरक—इसके पश्चात् आयाँ 'घन्य रे कण्ठपूरक, घन्य !' एकमात्र यही कहती हुई सम्पूर्ण उज्जयिनी, विषम भार से दबी हुई लोका के समान एक ओर झुक गई । तब आयाँ, एक (नागरिक) ने अपने शून्य भाभूषण-स्थानी (जिन बज्जो में पहले भाभूषण धारण करना था और अब जो भाभूषणहीन थे ऐसे बज्जो) को छुकर ऊपर देखकर, लम्बी साँस लेकर यह उत्तरीय मेरे ऊपर फेंक दिया ।

वसन्तसेना—कण्ठपूरक, देखो तो, क्या यह उत्तरीय चमेली के पुण्डो से मुवा-सित है या नहीं ?

कण्ठपूरक—आयाँ, मद की वृष के कारण भली प्रकार उस (चमेली की लज्ज) को नहीं पहचान रहा हूँ ।

कुत्राणि विकसितानि नतिनानि कमलानि यस्यां तां कुस्तपद्यां सारणीम् इव अभाहमानेन ममन कुर्वता । समासाधितः प्राप्तः, दृष्टो वा । दण्डकुण्डिकाभाजने य दण्डकुण्डिकाभाजने, परिप्लुष्टे हस्ताभ्यां पतिते दण्डकुण्डिकाभाजने यस्य तं शौर्यः जनविन्दुभिः । इन्तान्तरे दन्तमध्ये । श्यापाद्यते हन्यते ।

साम्नः उद्वेगः । विधिद्वयः नृपितः अत्रएव कित्तुलः अस्थिरः इतस्ततः विकीर्णो वा सः शृङ्खलास्तथा शृङ्खलासमुहः तम् उद्वहन्त धारयन्त । अत्रविण्डेन अन्नशलेन पुष्टः पालितः तेन । उद्वपुष्य उत्राप्यं । आकारितः साहूतः ।

साहयेति—विण्डपयवंतितरस्य आशा इव आशा यस्य तं सारोयं दण्ड-मुक्तं हस्तिनम् साहस्य लोहदण्डेन प्रहृत्य मया कण्ठपूरकेण इन्तान्तरे दन्तमध्ये संस्थितः पृथीयः यः परिप्लुष्टः मोषितः । यापाद्यताम् ॥२०॥

वसन्तसेना—वाम वि दाव वेवस । [नामापि तावत्प्रेक्षस्व ।]

कर्णपूरक—इम पाप अन्नया एष्व साएडु । [इद नामार्थैव वाचयत् ।]

(इति प्रावारकमुपनयति ।)

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्य । [वार्थचारुदत्तस्य ।] (इति वाचयित्वा  
सस्पृहं वृहोत्वा प्रावृणोति ।)

चेटी—कण्णऊरअ, सोहदि अज्जभाए पावारओ । [कर्णपूरक, शोभत  
आर्याया प्रावारक ।]

कर्णपूरक—ओ सोहदि अज्जाए पावारओ । [मा शोभत आर्याया  
प्रावारक ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, इद रे पारितोत्तिअस्सु । [कर्णपूरक, इद ते पारि-  
तोपिकम् ।] (इत्यामरण प्रयच्छति)

कर्णपूरक—(गिरता वृहीत्वा प्रणम्य च) सपह सुट्ठु सोहदि अज्जभाए  
पावारओ । [साम्त सुण्ठु शोभत आर्याया प्रावारक- ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, एबाए बेसाए कहि अज्जचारुदत्तो । [कर्णपूरक,  
एतस्या वेलाया कुत्रायंचारुदत्त ।]

कर्णपूरक—एदेण एणेण ममेण पवुत्तो गन्तु गेहम् । [एतेनैव मार्गेण  
प्रवृत्तो गन्तु गेहम् ।]

वसन्तसेना—हउजे, उवरिदण अलिन्दअ आरहिअ अज्जचारुदत्त वेरवेग्गु ।  
[चेटी, उपरितनमतिन्दव मारुह्यार्थचारयत्त पश्याम ।]

(इति निष्क्रान्ता सवै)

इति सूतकरसमाह्वी नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

विषयमारेण सुस्तरभारेण आगन्ता नो इव सकता उज्जयिनी एवत एव-  
दितायां पर्यगता आमता, एवत्रीभूता वा । परतपूरय स्पृष्ट्वा, विचार्य वा मरु-

वसन्तसेना—तो नाम भी देखो ।

कर्मपूरक—यह नाम आर्या ही पडेँ (उत्तरीय दे देता है)

वसन्तसेना—आर्य चारदत्त का । (यह पढ़कर प्रेमपूर्वक लेकर बोद लेती है)

शेटो—कर्मपूरक, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है

कर्मपूरक—हाँ, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है ।

वसन्तसेना—कर्मपूरक, यह तुम्हारा पुरस्कार है । (माभूषण देती है)

कर्मपूरक—(मुँके सिंद से ग्रहण करके और प्रणाम करके) अब आर्या के

उत्तरीय अधिक अच्छा लगता है ।

वसन्तसेना—कर्मपूरक, इस समय आर्य चारदत्त कहाँ हैं ?

कर्मपूरक—इसी मार्ग से जाने लगे हैं ।

वसन्तसेना—चेटि, ऊपर छत पर चढ़कर आर्य चारदत्त को देखें ।

(सब निकल जाते हैं)

दूतकर संवाहक नामक द्वितीय अङ्क समाप्त

हस्तिनदन्व गन्धेन । मुष्टु सम्प्रभूषेण त्रिधाविशेषणम् । अतिन्दकं बहिर्द्विष्यतोऽकम् ।

दूतकरः संवाहकः हस्तिन् द्विदेयेषु वपितः तदाभूतोऽर्थ द्वितीयः अङ्कः

समाप्तः ।

इति मृच्छङ्किकाटीकायां द्वितीयोऽङ्कः

## तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेट)

चेट—

शूअणे वखु भिञ्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शौहदि ।  
पिशुणे उण दब्बगन्विदे दुष्कले खु पत्तिणामदालुणे ॥१॥

अनि अ ।

शशशपलक्कवलददे ण शक्कि वालिद  
अण्णकलत्तपशत्ते ण अक्कि वालिदुम् ।  
जूदपशत्तमणुशे ण शक्कि वालिदु  
जे वि शहाविअदोणे ण शक्कि वालिदुम् ॥२॥

का वि वेत्ता अञ्जचारवत्तसा मध्वं शुणिवु मवसा । अदिक्कमदि मद्धतज्जी  
अञ्ज वि ण अअन्धरि । ता जाव बाहिलवुआत्तरात्ताए, मवुअ शुक्कराम् ।

[सुजनं खलु भूत्यानुकम्पक स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते ।  
पिशुन पुनद्रन्ध्रगवितो दुष्कर खलु परिणामदारुण ॥]

अपि च ।

सस्यलम्पटवलीवदो न शक्यो वारयितु-  
मग्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।  
धूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितु  
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥

[कापि वेलार्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य । अतिक्रामत्यर्धरजनी ॥  
अद्यापि नागञ्छति तद्यथावद् वहिर्द्वारपालायां गत्वा स्वप्स्यामि ।] (इति तत्र  
परोति)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषणश्च)

चारुदत्त—अहो अहो, साधु साधु रेभित्तेन गीतम् । कीणा हि नामा-  
रमुदोत्पित रत्नम् । नूत —

## तृतीय अङ्क

(तत्परिवाद् चेट प्रवेग करता है)

चेट—तेजकों पर दया करने वाला सज्जन स्वामी धनहीन होता हुआ भी शोचिन होता है । किन्तु धन से गवित दुर्जन (स्वामी) दुख से सेवा करने योग्य एक बन्ध में भयंकर होता है ॥१॥

और भी—

ग्राम्य का सोफी बँध रोका नहीं जा सकता, दूधरे की स्त्री में वास्तव पुरख को रोका नहीं जा सकता, जुए में अनुरक्त मनुष्य को रोका नहीं जा सकता, जो भी स्वभाविक बुराई होती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता ॥२॥

गाँव (गाग्रव) मुनने के सिधे गये हुए आर्य-भारत को चितवा समये हो पया ? अंधरात्रि व्यतीत हो रही है । अब भी नहीं आ रहे हैं, तो अब तक बाहरी दरवाजे वाली कौठरी में जाकर सोजें । (बँसा करता है) ।

(इसके परिवाद् चारदत्त और विदुषक प्रवेग करते हैं)

चारदत्त—जहो, अहो, रैमिन ने बहुत मच्छा पाया । बीणा तो वास्तव में रिता समुद्र से निकला हुआ रत्न है । क्योंकि—

चारदत्तस्य चेटः वर्धमानकः स्वकीयस्वामिनः चारदत्तस्य स्वभार्य चित्तपद्  
 कपयति—मुञ्चत इति । मुञ्चतः सज्जनः शूद्राणाम् अनुकम्पकः सेवकेषु दत्ताणाम् स्वामी  
 निर्धनकः अपि निर्धनः अपि सन् शोभते सप्त । दुःखः किन्तु स इवमपवितः इत्येव गवितः  
 चित्तुः दुर्जनः, वेद दुष्करः दुःखेन सेवनीयः उचितोऽपि सन् च परिषामे फलदानसमये  
 शान्तः मन्मथः भवति । यद्यपि मम स्वामी चारदत्तो निर्धनः तथापि शूद्रानुकम्पकोऽः  
 शोभते इति व्यन्यते । अथ च अस्तुतुः सामान्याद् अस्तुतस्य विशेषस्य (चारदत्तस्य)  
 प्रीतेः अस्तुतुप्रसंगानुकारः । यतानीयं वृत्तम् ॥१॥

तत्पैपि । तत्पैपस्यः सत्यमप्ये प्रसक्तः असौवर्देः कृपमः चारदितुं न शक्यः ।  
 कल्पेन कल्पेन प्रसक्तः अनुकम्पः चारदितुं न शक्यः । कृते प्रसक्तः मनुष्यः चारदितुं न  
 शक्यते । एवं चः अपि मनुष्यस्य स्वभाविकः स्वभाविकः शोच भवति सः अपि  
 चारदितुं न शक्यते । मम स्वामिनः चारदत्तस्य कठोरित्तदानत्वं स्वभावशेष एव तन्म न  
 तन्म शक्यते इति भावः । अस्तुतुप्रसंगानुकारः । शक्यो जातिः वृत्तम् ॥२॥

कल्पेन कल्पेन मम शक्यं नोदम् ।



उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या  
सङ्केतवे चिरयति प्रवरो विनोद ।

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणा  
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकर प्रमोद ॥३॥

विदूषक—भो, एहि । गेह मन्देह । [ भो, एहि । गृह मन्दाव ।  
घारदत्त — अहो, सुष्ठु भावरेभिलेन गीताम् ।

विदूषक—मम दास कुवेहि भोजे हस्व जाअदि । इत्थिआए सबकम पठन्तीए,  
मनुस्तेग म कामतीं गाअन्तेण । इत्थिआ दाव सबकम पठन्ती, दिग्गणवयस्ता विअ  
गिट्ठी, अहिअ सुसुआअदि । मनुस्तेो वि कामतीं गाअन्ती, सुखसुमनोदामवेट्टिरे  
सुखपुरोहितो विअ मत्त जयतो विद मे न रोअदि । [ मम तावदद्दाम्भ्यामप हास्य  
जायते । स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकली गायता । स्त्री तावत्  
संस्कृतं पठन्ती दत्तनवनस्येव मृष्टि अधिकं मूसूखन्द करोति । मनुष्योऽपि  
काकलीं गायन् शुष्कतुमनोदामवेटितो मृदुपुरोहित इव मन्त्रं जपन् हृद न  
रोचते । ]

घारदत्त—वयस्य सुष्ठु सत्वद्य गीत भावरेभिलेन । न च भवान्  
परितुष्टः ।

रपत् च नाम मधुरं च समं स्फुटं च  
भावाभिव्यक्तं च ललितं च मनोहरं च ।

विद्या प्रशस्तवचनैर्वदुभिर्मदुवतै—  
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥४॥

रेभिल घारदत्तस्य मित्रं वशिष्ठं सार्वबाहू, एते विपुला गायन । समुद्रं  
उपित समुद्रोत्थित इति न समुद्रोत्थितम् अक्षमुद्रोत्थितम् । सयोत्थवचनान्तरं घारदत्त  
वीणाया प्रशंसा करोति—उत्कण्ठितस्येति । वीणा हि उत्कण्ठितस्य उत्कण्ठां सञ्जात  
अस्य अतो उत्कण्ठितं तस्य विरहोत्सुकस्य हृदयानुगुणा हृदयानुरुपा ध्वरता सती ।  
सङ्केतके सङ्केतवाचिनि प्रियजने चिरयति विस्मयं भुजति प्रवरो उत्तम विनोद ।  
विरहेण प्रियविभोगेन आतुराणां भगवता प्रियतमा अरघ्यप्रिया संस्थापना आगन्त-  
प्रदात्री । रक्तस्य अनुरक्तस्य जात्ये च रक्तस्य अनुरक्तस्य परिसृष्टिकर एवमप्यत्र प्रमोद  
विनोद । विविधामु परिसृष्टितेषु वीणापादनं मनाविनोदस्योत्कण्ठं साधनमिति भावः ।  
रूपेणानुप्राणितं उत्तममनोहरं । मन्त्रवित्तरा वृत्तम् ॥३॥

भावा विद्वान् । भावशपातो रेभिलश्च भावरभिलेन तेन ।

(बीणा) उत्कृष्टत (मनुष्य) की मनचाही (हृदय के अनुकूल) सखी है । सखेत (वायदा) करने वाले प्रेमी के देर कर देने पर एक उत्कृष्ट मनोरंजन है । विरह-पीड़ितों को अत्यन्त प्रिय समाशवासन देने वाली है । यह मनोरंजन (बीणावादन) प्रेमी के अनुराग को बढ़ाने वाला है ॥४॥

विदूषक—श्रीमान् जी, आइये घर की चर्चें ।

धारदत्त—अहो ! रेभिल महोदय (भाव) ने अच्छा गाया ।

विदूषक—मुझे तो दोनों से ही हँसी उत्पन्न होती है । संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री से, मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाते हुए पुरुष से । स्त्री तो संस्कृत पढ़ती हुई, नवीन रज्जु वाली हुई एक बार प्रसूत गाय (शुष्टि) की भाँति अधिक 'सू, सू' शब्द करती है । शुष्क पुष्पमाला से वेष्टित (पहने हुए) मन्त्र जपते हुए वृद्ध पुरोहित की भाँति, मनुष्य भी मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाता हुआ मुझे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता ।

धारदत्त—मित्र, रेभिल महोदय ने आज वास्तव में बहुत अच्छा गाया और आज सन्तुष्ट नहीं हुए ।

(भाव रेभिल का वह गीत)—रागपूर्ण, मधुर, (स्वर) तथा तय आदि की समता वाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, सलिल एवं मनोहर (था) । या घेरे कहे बहुत से प्रशंसा के बचनों से क्या ? ऐसा, लगता था कि (रेभिल के रूप में) स्त्री छिपी हुई हो ॥४॥

काकलीं सूक्ष्ममधुरध्वनि ("काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनी" इत्यमरः) । इत्ता एषा मत्स्या नासिकाविवररज्जुः यस्यै सा शुष्टिः सहस्रसूता गीः ॥ इव । शुष्काणां पुष्पमालां पुष्पाणां दाम्ना मालया वेष्टित वृद्धपुरोहित इव । शूष्नेत्यादि विशेषणैर्न चिरसामञ्जयप्रवणता व्यज्यते । यथा स वृद्धपुरोहितः विराय मन्त्रं जपन् न रोषते एवं काकलीं गायन् पुरुषोऽपि ।

विदूषकस्य बचनं निशाम्य धारदत्तः श्रुयः रेभिलस्य गीतस्य प्रशंसा करोति—  
रक्षमिति । तस्य गीतं हि च नाम रक्तं रागयुक्तं च मधुरं श्रुतिमुक्तं च सभं स्वरापा  
शान्द्रस्यमुक्तं स्फुटं च स्पष्टं सुश्राव्यमिति यावत् भावान्वितं च भावपूर्णं सलिलं च  
सलित्वाद्यधर्मविशेषज्ञानि (पृथ्वी०) मनोहरं च हृदयकार्यकं च आसीत् । या अपथा  
शुक्तिः मनुक्त्तः मया कथितः प्रशंसितबचनैः प्रशंसितबचनैः किं को साधः ? यदि वनिता  
सूत्री, अन्तहिता रेभिलरूपेण प्रच्छन्ना भवेत् इति मन्ये संभावयामि । अन्तहिता  
योपदेशे गायति न रेभिलः इति प्रतीयते । अनेन गीतस्य माधुर्यातिरेको व्यज्यते—  
वन्देमानङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४॥

अपि च ।

त तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिर शिलष्टं च तन्वीस्यनं  
वर्णानामपि मूच्छंनान्तरगत तारं विरामे मृदुम् ।

हेलासंयमित पुनश्च मलित रागाद्विच्छन्वारितं

यस्यस्य विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि श्रुष्वन्निव ॥१॥

विक्रपक—भो यमस्त, आवणन्तररच्छाविभाएगु सुह कुवकुरा वि सुत्ता । ता  
गेह गच्छेह । (अप्रतोऽवलोक्य) यमस्त, येवत येवत । एतो वि अन्धभाररत विभ  
भवभात देतो अन्तरिक्त्तपासादयो ओदरदि भ्रमव चन्दो । भो ययस्य, अ पणा-  
न्तररच्छाविभागेषु सुरा कुरकुरा अपि सुत्ता । तद्वृह गच्छाव । ययस्य, पश्य  
पश्य । एपोऽप्यन्धकारस्मेलाव नाश दददन्तरिक्षाप्रसादादयतरति भगवाश्पन्द्र । ]

भारवत्—सम्यगाह भवान् ।

असौ हि दत्त्वा निमिरावातामस्त प्रजारमुन्नतरोटिरिन्दु ।

जलागगाढस्य घनद्विपस्य तीक्ष्ण विपाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥६॥

विक्रपक—भो, २४ अम्हाण गेहम् । यद्ददमानभ, यद्ददमानभ उगघाटेहि  
बुभारभम् । [ भा, ददमस्माकं गृहम् । यधमानं यधमानं, उदघाटय द्वारम् । ]

चेट—अञ्जमित्तेभस्त शतशजोए शृणीमदि । आनये अञ्ज, चातुदत्ते । ता  
जाव बुभासभ शे उगघाटेमि । (तथा कृत्वा) अञ्ज वन्दामि । मित्तेभ, तुमपि वन्दानि  
एष्य विरिधश्चे भासणे जितीऽन्तु अञ्जा । [ आर्यं नैर्नैयस्य स्वरसंयोग श्रूयते ।  
आगत आयचारदत्त । तच्छावद्वारमस्योदघाटयामि । आर्यं, यन्दे । नैर्नैय, त्वा-  
मपि वन्दे । अत्र विस्तीर्ण आसने निपीदतमाथो । ]

(उभो नाटधेन प्रविश्योपविशत )

विक्रपक—यद्ददमानभ, रभनिभ तद्दावेहि पावार्दं धोरुम् । [ यधमानक,  
रदनियामावारय । पादो घायितुम् । ]

तमिति । तस्य यत् गीतसमये विरते अपि वर्णानां मूच्छंनान्तरगतम् अपि तारं  
विराम मृदु पुनश्च हेलासयमित रागाद्विच्छन्वारित तस्य (रभिलस्य) मधुरगिर त त्पर-  
संक्रम शिलष्ट तन्वीस्यनं च श्रुष्वन् इव अह गच्छामि-इत्यन्वयः ।

इदं तस्य यत् गीतसमये गीतवाक्ये विरते व्यतीत अपि तस्य रेभिलस्य मधुरगिर-  
मधुन्वाण्या, तं तदानीं श्रुत स्वरसंक्रम स्वराना निपादादीना सप्तानां सङ्गम तमीचीन  
क्रमं सङ्गार वा शिलष्टं गीतादारैरभिन्नतया श्रूयमाणं तन्वा वीणाया एवम इति

और भी—

सत्य है, कि गीत (गाने) का समय बीत जाने पर भी वर्णों की मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के अन्तर्गत (आरोह के समय) अत्युच्च, विराम के समय कोमल और फिर सीलापूर्वक (हितया) नियन्त्रित, सुन्दर, एवं रागो में दो बार उच्चारण की हुई उस (रेभिल) की कोमल वर्णों की उस स्वरयोजना को एवं (उससे) मिली हुई वीणा की ध्वनि को, मैं मुनता-भा जा रहा हूँ ॥५॥

विदूषक—हे मित्र, बाजार की मध्यवर्तिनी गलियों की शालाओं में कुत्ते भी मुल्ल से लो गये हैं। लो पर धल्लें (सामने देखकर) मित्र, देखो देखो। यह भी अंधेरे को अवकाश मा देते हुए भगवान् चन्द्रमा आकाशरूपी महन से उतर रहे हैं।

चारदत्त—आपने ठीक कहा।

अन्धकार को अवकाश प्रदान करके उन्नत अग्रभाग वाला यह चन्द्रमा इसी प्रकार अस्त होने जा रहा है जिस प्रकार जस में डूबे हुए बन्ध हाथी के दाँत का तीक्ष्ण अग्रभाग (पानी में डूबने से) जेष रह गया हो ॥६॥

विदूषक—श्रीमान् जी यह हमारा घर है। बघंमानक, बघंमानक, दरवाजा खोलो।

घेठ—आर्य मैत्रेय का स्वरसंयोग सुनाई दे रहा है। आर्य चारदत्त आ गये। लो अब दरवाजा खोलता हूँ। बैसा करके) आर्य प्रणाम करता हूँ। मैत्रेय, तुम्हें भी वन्दना करता हूँ। मझी विष्टे हुए आमन पर आप दोनों बैठें।

(धनों अभिनय के द्वारा प्रवेश करने बैठ जाते हैं।)

विदूषक—बघंमानक, पैर धोने के लिए रदनिका को बुलाओ।

न इदानीमपि शृण्वन् इव अहं (चारदत्तः) गच्छामि । स्वरसंक्रममेव विशिनष्टि, कीदृशं स्वरसंक्रमम् ? वर्णानां गीताक्षराणां मूर्च्छना स्वराणां क्रमेण आरोहावरोही तस्याः अन्तरगतं मध्ये स्थितमपि तारम् उच्च विरामे वर्णानां विद्यामे च । वृद्धं कोमलम् । पुनश्च हेमपः सीलयो मध्विन् नियन्त्रितं रागेषु मगीतविद्यायाः रागविशेषेषु हि । वाद्ययम् उच्चारितम् । उद्देशान्कारः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥५॥

आपणस्य हट्टस्य अन्तरे मध्ये ये रघ्यानां विभागाः तेषु । अन्तरिक्षमेव प्रासादः तरमान् ।

चारदत्तोऽर्तं गच्छन् चन्द्रमग बघंयति—असाविति जते अवगादस्य निम-  
गम्य वनद्विपस्य वनगजस्य अवसाष्ट जनावगाहनात् शिष्टं लोषणं विषाणापम् इव  
दन्म्य अग्रभाग इव दृश्यमानः हि सन्नु उन्नता कोटिः अग्रभागो यस्य तथाभूतः अमो  
इन्दुः चन्द्रः तिमिरस्य अन्धकारस्य अवकाश प्रसरणावसर इत्या अस्त ध्रजति गच्छति ।  
उपमातद्धारः । उपजातिः वृत्तम् ॥६॥

धारवत्त—(सानुशम्पम्)अल सुप्तजन प्रबोधयितुम् ।

वेद —अञ्जमित्तेभ, अह पाणिभ मेहे । तुम पादाइ धोवेहि । [आयंमंत्रेय, अह पानीय गृह्णामि । त्व पादो धाव ।]

विदूषक—(सक्रोधम्) भो वअस्त, एतो दाणि ब्रासीए'पुतो भविअ पाणिअं मेहेदि । म उण बग्हेण पादाइ धोवावेवि । [भो वयस्य, एष इदानी दास्या पुत्रो भूत्वा पानीय गृह्णाति । मा पुनब्राह्मण पादो धावयति ।]

धारवत्त —वयस्य मंत्रेय, त्वमुदकं गृह्णाण । वर्धमानक पादो प्रक्षालयतु ।

वेद —अञ्जमित्तेभ, देहि उवमम् । [आयंमंत्रेय, देह्युदकम् ।]

(विदूषकस्तथा वरोति । वेदवचारवत्तस्य पादो प्रक्षाल्यापसरति)

धारवत्त —दीयता ब्राह्मणस्य पादोकम् ।

विदूषक—कि मम पादोदकं । भूमिइ उजेव मए ताडितगहहेण विअ पुणोवि लोठितवमम् । [कि मम पादोदकं । भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितवमम् ।]

वेद —अञ्जमित्तेभ, बग्हेणे वत्तु तुमम् । [आयंमंत्रेय, ब्राह्मणः खलु त्वम् ।]

विदूषक—अथा सभ्वणागान भग्गो दुग्गुओ तथा सस्वबग्हेणाण भग्गो अह बग्हेणो [यथा सर्वनागाना मध्ये दुग्गुम, तथा सर्वब्राह्मणाना मध्येऽह ब्राह्मण ।]

वेद —अञ्जमित्तेभ, तथा वि धोइदधाम् । (तथा इत्वा) अञ्जमित्तेभ, एव त शुवण्णमण्डअ मम विवा, तुह सति च । ता मेह् । (इति दएवा निष्पात्त ) आयं-मंत्रेय, तथापि धाविष्यामि । आयंमंत्रेय, एतत्तत्तुवर्णभाण्ड मम दिवा, तव रात्रौ च । तद्गृह्णाण ।]

विदूषक—(गृहीत्वा) अञ्ज वि एव चिट्ठवि । वि एए उञ्जइणीए चीरो वि णिय, ओ एइ ब्रासीए पुस जिहाचोरे ण अबहरदि । भो वअस्त अभन्तरचतु-स्तालभ पवेतभामि णम् । [अद्याप्येतत्तिष्ठति । किमत्रोञ्जयिन्या चीरोऽपि नास्ति य एतं दास्या पुत्र निद्राचोरे नापहरति । भो वयस्य, अभ्यन्तरचतु-शालकं प्रवेशयाम्येनम् ।]

धारवत्त —

अलं खलु शालमिमं प्रवेश्य प्रनाशनारीयुत एव यस्मात् ।

तस्मात्स्ययं धारय विप्र तावद्यावन् तस्या खलु भो सम्प्यते ॥७॥

(निद्रां नाटयन्' त तस्य स्वरसङ्गमम्—'(१/५) इति पुन पठति)

धाररत्न—(दया सहित) सोने हुए जन (रत्निका) को बगाने की रूने दो ।

चेट—आयं मंत्रेय, मैं पानी लेता हूँ । तुम पर्यो को छोड़ो ।

विद्वेषक—(कोधपूर्वक) यह (चेट) दासी का पुत्र होकर आप पानी लेता है और मुझ ब्राह्मण से परे धुनवाता है ।

धाररत्न—मित्र मंत्रेय, तुम पानी लो । वर्धमानक पर्यो को छोड़ो ।

चेट—आयं मंत्रेय पानी दो ।

(विद्वेषक बैसा करता है । चेट धाररत्न के पर्यो को बोककर हट जाता है)

धाररत्न—शास्त्र के लिए पादोदक ढींजिए ।

विद्वेषक—पादोदक से मेरा क्या ? छोटे हुए पदों की भाँति मुझे तो फिर धरती पर ही नेटना होगा ।

चेट—आयं मंत्रेय तुम ब्राह्मण हो ।

विद्वेषक - तिम प्रकार सब साँवों के बीच में (विपरहित) जन सपं (हुद्दुम) है, उनी प्रकार सब ब्राह्मणों के बीच में मैं (तेजहीन) ब्राह्मण हूँ ।

चेट—फिर भी धुनाऊँगा । (बैसा करके) आयं मंत्रेय, यह स्वयं-यात्र दिन में मेरा और रात में तुम्हारा (है) । तो लो (देकर निरुन आना है) ।

विद्वेषक—(निकर) यह आज भी स्थित है । क्या यहाँ उज्जयिनी में खौर भी नहीं है जो इस दासी के पुत्र नींद के खौर (सुवर्णपात्र) को नहीं धुवा लेता है । मित्र ! इनकी मौनपी बनु-जाला में प्रविष्ट कराता (रखता) हूँ ।

धाररत्न—इस (सुवर्णपात्र) को बनु-जाला में धुँवाने को रूने दो, क्योंकि यह वेग्या के डारा रक्सा गया है । इसलिए हे शास्त्र, इनको ठव ठक स्वयं रक्खो, नर हक उरुवा यह (पात्र) मौटा नहीं दिना जाता ॥३॥

(निद्रा का जदिनप करता हुआ, 'बसही उय स्वयं-यात्रा को—(३/१) यह फिर पढ़ता है)

इन्द्रमः जनसर्पः । यथा सन्नेषु बलसर्पः विषहीनो भवति तथैव बहुमपि ब्रह्मणेषु बहुतेषोऽदीनोऽस्मि—इति भावः । .

इत्यसिद्धिः । इति बसन्नुत्तेनायाः सुवर्णपात्रं बनुजाला इत्येव बलं प्रविष्टं न. कुच सन्नात् पठः एवः प्रकाशनायै वेदना धृतः आसीद्वृतः [धृतः परिहितः, धृतः कुमुम्बिन्यन धारनिवेगनम्पाने स्थापित्पुत्रोय इत्यर्थः—इति जाने] तस्मात् कारणात् भोः विद, त्वत्पु कायं स्वयं धारय रत्न पात्रम् अनु तस्माः बसन्नुत्तेनायाः (बधं धार्यः) न समर्पते न दीयते । उपकारिः वृत्तम् ॥३॥

विदूषक—अंवि निहाभदि षषम् । [अपि निद्राति भवान् ।]

धारदत्त.—अय किम् ।

इय हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।

अट्टशरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्व परिभूय वर्धते ॥८॥

विदूषक—सा मुवेह्य । [तत्स्वपिवः ।] (नाट्येन स्वपिति)

(तत् प्रविशति शबिलक)

शबिलक—

कृत्वा शरीरपरिणाहमुखप्रवेशं

शिक्षाबलेन च बलेन च कर्मभागम् ।

गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टसर्ब्वो

निमुञ्च्यमान इह जीणतमुमुञ्ज्ङ् ॥९॥

(नमोऽवतोरय सहर्षम्) अये, कथमस्तमुपगच्छात स भगवान् मृगाङ्क ।

तथा हि—

नृपतिपुरुषशक्तिप्रधार परगृहदपणनिश्चितकवीरम् ।

यनपटलतमो निरुद्धतारा रजनिरिय जननीव सवृणोति ॥१०॥

विदूषकप्रवृत्त्योत्तर ददानश्चाहदत्त निद्रायाः आगमन वर्णयति इत्यिति ।  
ललाटदेशात् हि नयनावलम्बिनी इव इय निद्रा माम् उपसर्पति या अट्टशरूपा चपला  
जरा इव मनुष्यसत्त्व परिभूय वर्धते, इत्यन्वय (टि०) । यतः (=हि) ललाटदेशात्  
मस्तरुद्रदेशान् नयने अकन्यजने इति नयनावलम्बिनी तेषांश्रियिणी इव इयम् अनुभूय-  
माना निद्रा माम् उपसर्पति अय समीपम् आशङ्कति इव । या निद्रा अहम् इव  
यस्याः तेषामुक्ता अप्रत्यक्षा चपला चञ्चला जरा वृद्धावस्था इव मनुष्याणां सत्त्व बल  
परिभूय तिरस्कृत्य वर्धते परिसरति । उल्लेसा उपमा च । वशस्य वृत्तम् ॥८॥

नाट्येन स्वपिति स्वापस्य अभिनय करोति ।

शौचकर्मणि तत्पर शबिलकः स्वकीय कर्म वर्णयति इत्येति । शिक्षा बलेन  
शौचकर्मणायाः शिक्षासाधन्येन बलेन शरीरशक्त्या च शरीरस्य परिणाह् विशालता तस्य  
मुखेन प्रवेशो यत्र तद्यत्पूत कर्मभावे तन्पिच्छेद (टि०) इत्या निमुञ्च्यमान कञ्चुकेन  
हीयमान जीर्णं तनु यस्य ॥ मुञ्ज्ङ् सर्प इव भूमौ परिसर्पणेन घृष्टो घर्षमपूरतो  
पार्ष्णी यस्य तेषामुक्तं मन् गच्छामि । उपमा । वसन्ततितनावृत्तम् ॥९॥

विदूषक—अरे आप तो सो (निद्रिया) रहे हैं ?

चारुदत्त—और क्या ? क्योंकि मस्तक प्रदेश से नेत्रों में उतरती-सी यह निद्रा मेरी ओर आ रही है। जो अदृश्य रूप वाली चञ्चल वृद्धावस्था के समान मनुष्य के मन की अभिभूत करके बहती है ॥८॥

विदूषक—तो सोते हैं। (अभिनय के द्वाग सो जाता है)

(तत्परचात् शविकक प्रवेश करता है)

शविकक—गिरा के बल एव शक्ति के द्वारा देह की विगलता के मुख से प्रवेश करने योग्य सेंध (कर्मसागं) करके भूमि पर रेंगने से घषित (झिंके हुए) पार्श्व-भाग वाला मैं (शविकक) केंचुली को छोड़ने हुए जखर देह वाले सर्प के समान सेंध में जाता हूँ ॥९॥

(आकाश की ओर देखकर हर्षपूर्वक) अरे ! क्या वह भगवान् चन्द्रमा अस्त होने जा रहे हैं। क्योंकि—

राजकुमारों के द्वारा शिक के समनाममन में भी लड्डा की जाती है, तथा जो दूसरे के घटों को दूषित करने में निश्चित (माना हुआ) एकमात्र बौर है, ऐसे मुख की—यने अन्धकार-समूह के कारण आच्छन्न हो गये हैं तारे शिममं [माता के पक्ष में पटन नामक रोगविशेष स्त्री अन्धकार से व्याप्त हैं पुनती शिमकी]—येही यह रात्रि माता के दुःख ढक रही है ॥१०॥

अस्तं दच्छन्न चन्द्रवत् हृष्ट्वा शविककः स्वमनामि करोति-नृपतीति । धन निविष्टं वरत्नं सङ्ग्रहो मय्य तदाभूतेन तममा निष्ठा आच्छन्ना ताराः यत्र सा इयं रवितिः रात्रिः [ 'धननिविष्टनिष्ठासर्वभावा' इति वा पाठः धननिविष्टेन निष्ठाः सर्वे भावाः यत्र इत्यर्थः ] नृपतिनृपस्यैः राजनुरस्यैः शक्तिः शब्दाविषयीकृतः प्रचारः सञ्चरनं मय्य तादृशं परंरूहाणां दूषये निश्चिनः एष्वीरः प्रधानवीरः तं मां शक्तिं बन् यत् मदनं रोषविशेषः तस्य तममा निष्ठाः ताराः बनीनिष्ठाः यस्याः [ पाठान्तरे तु धननिविष्टं प्रेमान्धता नेन निष्ठाः सर्वे भावाः इत्यादि भा वेषु ] तादृशी बननी इव संकृष्यति गोरापति । यथा बाल्यत्पुत्रत्परा माता राजनुरस्यैः शब्दास्तदं परंरूहाणां दूषयति य स्वपुत्रं शोभयति तथेवं रात्रि-रवि मां शोभयति-इति भावः । उरमान्शुभारः । पुष्पितासा वृत्तम् ॥१०॥



वृक्षवाटिकापरितारे सन्धि कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम् । तद्यावदिदानीं  
चतुःशालकमपि दूषयामि । भो ,

कामं नीचमिदं वदन्तु पुराणा स्वप्ने च यद्वर्धते

विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।

स्वाधीना वचनीयतापि हि परं बद्धो न सेवाञ्जलि-

मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥

तत्कस्मिन्नुद्देशे सन्धिमुत्पादयामि ।

देशः को नु जलावरोकशिषिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-

ङ्गित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।

क्षारसीभतया च लोष्टनकृश जीर्णं बव हर्म्यं भवे-

त्कस्मिन्सौजनदर्शनं च न भवेत्स्यादधंसिद्धिश्च मे ॥१२॥

वृक्षवाटिकाया परितारे समीपवर्तिदेशे ।

शबिलकः चौर्यवर्मेवियये तर्कयति—शामिति । यत् स्वप्ने निद्रायाम् न तु  
जाग्रदवस्थायां वधेने प्रसरति, विश्वस्तेषु निश्वासात् आपन्नेषु शब्दार्थितेषु वा जनेषु  
वञ्चनाया इत्यादिदृष्टेन परिष्वत्तिर्यकारः भवति तत् तयाभूतं चौर्यं चौरकर्म न  
शौर्यं न शूराणां कर्म न पराक्रम इति यावत् । तस्मात् कामं पुराणा इदं चौरकर्म  
शौचं वदन्तु वयमन्तु तथापि वचनीयता इति निन्दनीयता इति निन्दायाः निमित्तं  
वर्धयति भावः, यदि स्वाधीना स्वायत्ता तथा हि विश्वस्तेषु परं श्रेष्ठं न सेवाञ्जलि  
सेवायाः अञ्जलि बद्धः तथा । सेवा हि श्रवणं तदपेक्षया स्वाधीनं शौर्यदिग्गमनि  
निन्दितं कर्म श्रेष्ठमिति भावः । यत्. (—हि) एष मार्गं विश्वस्तानां वञ्चनारूपः  
पूर्वं पुरा एव नरेन्द्रस्य युधिष्ठिरस्य पुत्राणां सौप्तिकवधे गुप्तावस्थायां यद्ये कृतः  
निमित्तः । 'सौप्तिकम्' इति भावकथनान्नाद् अम्यात्मादित्वाद्दृष्टं (पृच्छी०) । वाप्यनिङ्गम्  
अर्धान्तरं गच्छत् । शान्तिं लवित्रीदितं कृतम् ॥१३॥

वृक्ष-नाटिका के समीप संघ करके चारदीवारी के अन्दर घुस गया है । तो अब तनिक चतुःशाला को भी (गन्धि करके) दूषित करता है ।

जो लोगों के मो ज्ञान पर वृद्धि पाता है, विश्वस्त जनों का इव्यहरण (बध्धना) रूपों पराभव करने जाना है वह चौर्यकर्म प्रारंभ का कार्य नहीं है । इसीलिये मनुष्य इसे भले ही नीच कार्य कह, तथापि निन्दनीय कार्य भी जो स्वाधीन है, वह श्रेष्ठ है, सेवा में जाय जोड़ना अच्छा नहीं और यह (चोरी का) मार्ग तो पहले ही राजा (पाण्डव) के सोने हुए (घोघाओं या पुत्रों) के वध में द्रोणाचार्य के पुत्र (भगवत्यामा) ने बना (दिखा) दिया था ॥११॥

तो किस स्थान पर संघ बनाई ।

जन के निष्पन्न से शिथिल हुआ दीवारी का कौनसा ऐसा स्थान है जिसमें (संघ लगाने में) शब्द न हो, संघ विज्ञान (=कराल) हो जयिं बिन्दु दृष्टिगोचर न हो [अथवा यह संघ चौर्य गान्ध में विहित नियमों से विपरित (कराल) न हो जाय] ? और, वहाँ घर (=हृद्य) क्षार (वार-अथवा रेह) से क्षीण हो जाने के कारण दुर्बल है तो में युक्त एवं जीर्ण है ? किस स्थान पर स्त्रीजन का दर्शन न होगा तथा मेरे प्रयाजन (चोरी) में सफलता हो जायेगी ? ॥१२॥

शवित्तवः सन्धिकरणयोग्यं स्थान विचारयति—देश इति । कः तु मित्तीनी देश जनाशोबमिथिलः भवेत् यस्मिन् शब्द न भवेत्, सन्धि च करालः भवेत् न च दगान्तरमनः, स च हृद्यं क्षारक्षीयतया सोष्टकृशं जीर्णं च भवेत्, यस्मिन् स्त्री-जनदर्शनं च न भवेत्, अर्थमिद्धिः च मे स्यात् । इत्यन्वयः ।

क. तु मित्तीनी देश भाग जलस्य अवसोकेन पतनेन शिथिलः भवेत्, यस्मिन् जनजन्य शब्दः न स्यात्, सन्धि च करालः विज्ञानो भाषणी वा भवेत् न च दगान्तर-रानः दृष्टिक्रिय प्राप्तः भवेत् । यत्र रसकपुष्पा न द्रष्टुं प्रभवेयुरिति भावः । दगान्तरं जनजन्यादिभनविशेषम् तदनुगतं तदुर्बोधितं । करालो विपरितः इति वृत्तौपरः । च हृद्यं गृहं गृहमितिर्वा क्षारेण शोणितया दुर्बलतया सोष्टकृशं कृमानि सोष्टकानि यत्र (आश्लिनाग्यादित्वान् कृमरब्धस्य पग्नियान्) तथाभूतमत एव जोषं च भवेत् । यस्मिन् प्रदेशे स्त्रीजनस्य दर्शनं न भवेत् तत्र चौर्यक्षारने निषिद्धत्वात् । शवित्त-वस्य मे मम अर्थस्य प्रयोजनं च सिद्धिं च स्यात् । शार्दूलविशीलित वृत्तम् ॥१२॥

(निमित्त परानृप) नित्यादित्यदर्शनोदवसेचनेन . दूषितेयं भूमिः धारणीया ।  
 मृषिकोत्कारश्चेह । हस्त ! सिद्धोऽयमर्थः । प्रथममेतत्स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्ष-  
 णम् । अत्र कमंशररम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिमुत्पादयामि । इह ह्यसु भगवता  
 कनकशक्तिनाः चतुर्विधं सन्धुपायो दर्शितः । सद्यया पववेष्टकानामाकर्षणम्,  
 आमोष्टयानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटननिमित्तः । तदत्र  
 पववेष्टके इष्टिवाकर्षणम् । तत्र,

पद्मध्याकोशं भास्वरं वातचन्द्रं

यापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूण्वुम्भम् ।

तत्पश्चिन्देले दर्शयाम्यात्मशिल्पं

दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं याति पीरा ॥१३५॥

तदत्र पववेष्टके पूण्वुम्भं एव शोभते । तनुत्पादयामि ।

अन्यासु भित्तिषु मया निर्दिशं पाटितसु

क्षान्क्षान्तसु विषमसु च वरपनासु ।

दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशियसौ

दोषाश्च मे वदति कमणि कीशले च ॥१३६॥

आंशुत्वदर्शनस्य गृहदण्डसंयन्त्रिन उदरस्य रोषनेन । सुविवाणाम् उत्कर  
 उद्धृतधूमिपुञ्जः । हस्त इति शर्वभूतवमध्यम् । स्कन्दपुत्राणां स्कन्दसिद्ध्याणां पीरा-  
 णाम् एतत् प्रथमं प्रधानं सिद्धिलक्षणं संप्रदायाः विज्ञम् । कमणस्य शक्तिं भायुध-  
 विशेषः यस्य तेन कनकशक्तिनामकेन शीर्षशास्त्रकारेण ।

आमानस्य अपवधानस्य इष्टवर्णस्य । पिण्डमयानां मृत्तिकासोष्टकनिमित्ता-  
 णाम् । शीर्षशास्त्रे श्रोतानां सप्तारिषामां सन्धीनां मध्येऽत्र कीदृशं विधातव्यं इति  
 तर्कयति पद्मेति । तत्र शीर्षशास्त्रे सप्त शयस्य प्राणाः । पद्मध्याकोशादयः तेषां नामानि  
 सप्तानि— १ पद्मवत् पद्मकोशं विनर्तितम्, २, भास्वरस्य गोलाकारं विमानम्  
 ३ वातचन्द्रं ४ वायुरधारः, ५ यापीगहनं, ६ विस्तीर्णं विनृतम्, ६ स्वस्तिकं  
 स्वस्तिकभित्तिसदृशं, ७ पूण्वुम्भम् यद्यत् पूण्वुम्भम् उच्यते . च इत्यम् । तद् ततः कतिमम्  
 वेदे तस्यो आत्मसिद्धस्य आत्मगीणस्य दर्शयामि दर्शयामि इत्युच्यते यं शीर्षं

(दीवार को छूकर) नित्य मूर्ध्न दर्शन के समय जल देने (सिंचन करने) में यह भूमि दूषित है और रेह से जर्जर है। यहाँ चूहों द्वारा किया हुआ (मिट्टी आदि का) ढेर (मूषिकोत्करः) भी है। हर्ष है ! यह प्रयोजन (चोरी) सफल हो गया। रत्न के पुत्रों (शिष्य—अर्थात् चोरों) की सफलता का यह प्रथम चिह्न है।

यहाँ कार्य प्रारम्भ करने पर कौसी संघ बनाऊँ ? वस्तुतः इस सम्बन्ध में भगवान् कनकशक्ति (चोरोन्मात्र के एक आचार्य) ने चार प्रकार का संघ लगाने का उपाय प्रदर्शित किया है, जैसे कि—पक्की इंटों (वाले भवनों में इंटों) का लोचना, कच्ची इंटों (के घरों में इंटों) का छेदना, मिट्टी के ढेरों (गोदों) से निर्मित (घरों में भित्ति) का सिञ्चन करना, काष्ठ निर्मित (घरों में काष्ठ) का उल्लाड़ना। तो यहाँ पक्की इंटों (वाले भवन) में इंटों का लोचना (उचित है)।

वहाँ—

विना टूटा कमल, मूर्ध्न (गोल), बाल चन्द्रमा (अर्धचन्द्राकार), बावड़ी (जैसी) विम्बून, स्वस्तिक के चिह्न जैसा, पूर्ण कुम्भ—(संघ लगाने के इन सात प्रकार में से क्रमका क्रमोत्तर करके) जिस स्थान पर अपना कौशल दिखलाऊँ जिसे देखकर कल को नागरिक लोग आश्चर्य को प्राप्त हो जायें ॥१३॥

तो यहाँ पक्की इंटों (वाले घर) में पूर्ण कुम्भ (नामक संघ) ही अच्छी लगती है। वही बनाना है।

वहाँमिथों का समुदाय प्राण-काल देखकर मेरे द्वारा रात्रि के समय फोड़ी गई धार-रेह) में ज्वरित हुई अन्य भित्तियों में तथा (मेरी) विषम (दुष्कर) कल्पनाओं में मेरे दोषों को एवं कार्य-बीगत को कहेगा ही ॥१४॥

दृष्ट्वा इव पीराः पुरे भवा नागरिका विस्मयम् आश्चर्यं यान्ति प्राप्नुवन्ति । धैर्यवेवो वृत्तम् ॥१३॥

अन्वार्त्स्विति । प्रतिवेनिवर्गः प्रभानसमये दृष्ट्वा मया निर्गि पाटितान् अन्याम् धारप्रानाम् भित्तिषु, विषमाम् कल्पनाम् च मे दोषान्, कर्मणि कोशन् च वदति इत्यन्वयः ।

प्रतिवेनिना पान्वेवनिना वयं. समुदायः प्राण काले (सन्वृत मन्धि) दृष्ट्वा मया मन्दिनेन निर्गि रात्री पाटितान् विशाग्निनाम् अन्याम् शारेण शत्रुनाम् जीर्णान् भित्तिषु विषमाम् अन्यः दुष्करान् कल्पनाम् रचनाम् च मे मम दोषान् अपवादान् कर्मणि मन्दिनार्ये कौशलं नैपुण्यं च वदति (१३) । तुन्योगितासङ्कारः । वसन्ततितका पृतम् ॥१४॥

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकभाक्तये ब्रह्मप्यदेवाम देवप्रताप नमो  
भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याह प्रथमं शिष्य । तेन च परितुष्टेन  
योगरोचना मे दत्ता ।

अनया हि समात्तव्यं न मा द्रक्ष्यन्ति रत्निण ।

शस्त्रं च पतितं मात्रे रज नोत्पादयिष्यति ॥१५॥

(तथा करोति) धिक्कष्टम् । प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम् । (विचिन्त्व) आ, इदं यज्ञो-  
पवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति । यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्,  
विशेषतोऽस्मद्विषयः । कुतः ।

एतेन भाषयति भित्तिषु कर्ममार्ग-

मेतेन भोषयति भूषणसप्रयोगान् ।

उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे

दष्टस्य कोटभुजगे परिवेष्टनं च ॥१६॥

भाषयित्वा कम समात्मने । (तथा इत्वावतोक्त्य च) एकलोष्टावसोपौत्र्य  
सन्धिः । धिक्कष्टम् । अहिना दष्टोऽस्मि । (यज्ञोपवीतेनाङ्गुली बद्ध्वा विषयेषु  
भाषयति । विचिन्त्वा इत्वा) स्वस्पोऽस्मि । (पुनः कर्म कृत्वा । दष्ट्वा च) अये,  
ज्वलति प्रदीपः । तथा हि—

शिला प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा महीतले सन्धिमुखेन निर्गता ।

विभाति पर्यन्ततमं समावृता सुवर्णरेखेव कप निवेशिता ॥१७॥

कार्तिकेयः परमगुरुः । “ब्रह्मप्यदेवादयोऽपरमुखा इत्याहु सर्वे” इति पृथ्वीधरः ।

अपवा कनकभाक्तये नमः कीर्तयाम ब्रह्मणि साधु ब्रह्मप्यः स चातो देवश्च तस्मै ।  
पुनः कीर्तयाम देवानां वरं यस्मिन् तथाभूताय योगरोचना योगेन साधिता रोचना  
द्रव्यविशेषः ।

शब्दिसकः योगरोचनाया प्रभावः वर्णयति—अनयेति । निवचनेन हि अनया  
योगरोचनाया समात्तव्यं निवृत्तरीरं वा शब्दिसकं रत्निणः रत्नपुर्या न द्रक्ष्यन्ति ।  
मात्रे नमः देहे च पतितं शस्त्रं रजः पीडा न उत्पादयिष्यति । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१५॥

शब्दिसकः आत्मविद्यायां जनानां हृदये यज्ञोपवीतस्योपयोगं वर्णयति—एतेनेति ।  
मादुशा चौरजन एतेन यज्ञोपवीतेन भित्तिषु कर्मणः चौर्यकर्मणः मार्गं सन्निवृत्त्य  
भाषयति । एतेन च भूषणानां कटकवस्त्रपादीनां सप्रयोगान् स्तिव्येषाम् भोषयति  
शोधितो करोति । यज्ञेन अर्गनादिना दृढे कपाटे उद्घाटकं भवति । श्लोकः कुजः

यह प्रदान करने वाले कुमार कार्तिकेय के लिये नमस्कार है, कनकशक्ति ब्रह्मदेव एवं देवदत्त के लिये नमस्कार है, भास्करनन्दी के लिये नमस्कार है योधाचार्य के लिये नमस्कार है जिसका मैं प्रथम शिष्य हूँ। सन्तुष्ट हुए उस (योधाचार्य) ने योगरोचना (ऐसी वस्तु जिसमें मनुष्य ब्रह्म हो सके और सत्त्वादि के प्रहार से षोडश लगे) मेरे लिये दी है।

इस (योगरोचना) से स्नेहन किया हुए मुक्तको रजक सांग नहीं देख पायेंगे और शरीर पर पड़ा हुआ शस्त्र पीड़ा उत्पन्न नहीं करेगा। (बँसा करता है)।

हाथ, पैर, ! अपना नानने का घाया (प्रमाणसूत्र) भ्रूण व्याप्य। (सौचकर) हूँ, यह यज्ञोपवीत नानने का घाया बन जायेगा। यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण की बड़ी उपयोगी वस्तु है, विशेषतः हम जैसे की।

शर्तिका—

इसमें (स्पर्श) दोवारों में संघ नापता है, इसमें आधूपणों के बोट (संघिष्यत) सोन देता है। जिवाड़ के पत्र (मिटकनी) में बन्द किये होने पर (उसका) सोमने वाला होता है तथा यह कीड़े और सर्पों के द्वारा काटे हुए का (विष निवारण के लिये) सदादे जाने वाला बन्द बन्धन (बाधने की वस्तु) हो जाता है ॥१६॥

नापकर कार्य (संघ मगाना) आरम्भ करता है। (बँसा करके और देखकर) इस संघ में एक ईंट बची है। हाथ, कष्ट। साँप के द्वारा काट लिया गया है।

(यज्ञोपवीत में अगुनी को बांधकर विषवेग का अभिनय करता है। बिक्रिया करके)

स्वयं हो गया है। (निर कार्य करने और देखकर) अरे ! दीपक जल रहा है ! बयारि—

स्वयं जंभी पीपी, संघ के मार्ग में (बाहर) धूमि पर निकली हुई (तथा) बाहों और अंगुष्ठादि में आहत दीपक की गिरा ऐसी शोभित हो रही है जैसे कसौटी पर लीची गई स्वयं की रेखा ॥१७॥

मनैः च ब्रह्मस्य इदं यज्ञोपवीतं धरितेष्वनं यज्ञं च भवति । मनुष्ययोगेन्द्राः ।  
बननदितया वृत्तम् ॥१६॥

एकः सौष्टः अगुनी यत्र सः ।

स्वयः स्वग्निं स्वयं निष्ठाति ।

पृथग्ने प्रज्ज्वलितस्य प्रदीपस्य बहिरामकृती प्रभा बधयति शक्तिः  
शक्तिः—सुवर्णवत् निरारा निष्कृतवर्णा, सन्धियुक्तेन महोत्पत्ते बहिः। धूम्या  
निपन्ता नि मृता तथा पयन्तेषु परितः तमसा अन्धकारेण समावृता वेष्टिता प्रदीपस्य  
दिवाः प्रभा रूपे सुवर्णविक्रमे निवेष्टिता सुवर्णरेखा इव विद्यति शोभते । उन्मानेन्द्राः ।  
ब्रह्मस्य वृत्तम् ॥१७॥

(पुन कर्म कृत्वा) समाप्तो य सन्धि । भवतु । प्रविशामि । अथवा न तावत्प्र-  
विशामि । प्रतिपुरुष निवेशयामि । (तथा कृत्वा) अये, न कश्चित् । नम का-  
त्तिवेयाय । (प्रविष्य दृष्ट्वा च) अये, पुरुषद्वय सुप्तम् । भवतु । आत्मरक्षणं  
द्वारमुद्घाटयामि । कथं जीर्णत्वाद् गृहस्थ विरोति कपाटम् । तथावत्सलिल-  
मन्वेपयामि । ननु खलु सलिल भविष्यति । (इतस्तथो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा  
शिवन्तशब्दम्) या तावद्भूमौ पतच्छब्दमुत्पादयेत् । भवतु । एव तावत् ।  
(पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाट्य च) भवतु । एव तावत् । इदानीं परीक्षे किं  
लक्ष्यसुप्तम्, उत परमायसुप्तमिदं द्वयम् । (नासवित्वा परीक्ष्य च) अये, पर-  
मायंसुप्तोऽनेन भवितव्यम् । तथा हि—

निश्वासोऽस्य न शङ्कित सुविशदस्तुत्यान्तरं वर्तते  
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।

गात्रं द्यस्तशरीरसन्धिश्चिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं

दीपं चापि न मर्पयेदभिमुखं स्यात्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥१८॥

(समाप्तादवलोच्य) अये, यथ मृदङ्ग । अगं ददुरं । अयं पणव । इयमपि  
वीणा । एते वजा । अमी पुस्तका । कथं नाटयाचार्यस्य गृहामदम् । अथवा  
भवनप्रत्यक्षात्प्रविष्टोऽस्मि । तर्हि परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभावाच्चोर-  
भयाद्वा भूमिष्ठ इत्येव धारयति । तस्ममापि नाम श्वित्त्वस्य भूमिष्ठ इत्यम् ।  
भवतु । वीजं प्रक्षिपामि (तथा कृत्वा) निदिष्टं वीजं न कर्वाचस्फारी भवति ।  
अये, परमार्थदरिद्रोऽयम् । भवतु गच्छामि ।

विदूषक — (उत्सवनावते ।) भो यस्स, सद्यो विजं हिरादि । चोरं विप्रं  
देवतामि । ता नेष्टु भय एव मुत्सवमभम् । [भो वयस्य, सन्धिरिव दृश्यते  
चौरमिव पश्यामि । तद्गृह्णातु भवानिदं गुवर्णभाण्डम् ।

प्रतिपुरुषं वाप्यादिनिमित्ता गृह्यस्य प्रतिष्ठितम् ।

सशयसुप्तं व्याजसुप्तम् । परमार्थेन यथायतं सुप्तम् ।

इह पुरुषद्वयं परमार्थसुप्तमिति निश्चिनोति श्वित्त्वम्—निश्चयत इति ।  
अस्य पुरुषद्वयस्य निश्चयतं श्वित्त्वम् अद्यामुत्तं न, अपि तु सुविशदं मुत्सवत् तुल्यं  
समानम् अन्तरे यथा रथात् तथा च वर्तते । अस्य दृष्टिर्गाढं निमीलिता वर्तते ।  
न तु व्याजसुप्तस्य इव विकला, अन्त्यन्तरे मध्यं चञ्चला च । अस्य गात्रं शरीरं  
द्यस्तः शिथिलता ये शरीरमन्ध्यं तं शिथिलं शब्दाया प्रमाणात् अधिकम्  
(अङ्गानां रंरं प्रमाणात्) च वर्तते । यदि च सद्येण व्याजेन सुप्तं रथात् अभिमुखं  
समाप्तं दीपम् अपि न मर्पयेत् सहा । एभिः तदर्थं परमायसुप्तमिति प्रतीयते । अस्य  
च समर्थनाय कारणमुदाहरणाभिधानात् समुच्चयात्कारणम् । शार्ङ्गलविश्रीहितं  
वृत्तम् ॥१८॥

(फिर कायं करके) यह सेंध समाप्त हो गई है। अच्छा प्रवेश करता है या तब तक प्रवेश नहीं करता है। प्रतिपुरुष (मनुष्य के बनायटी पुतले) को प्रवेश कराता है। (बैसा करके) अरे ! कोई नहीं है। कातिकेय के लिये नमस्कार है। (घुसकर और देखकर) अरे ! दो मनुष्य सोये हैं। अच्छा, अपनी रक्षा के लिये द्वार खोलता है। क्यों ? घर के पुराना होने के कारण फ़िवाड शब्द करते हैं तो जब तक पानी दूँडता है। पानी होगा कहाँ ? (इधर उधर देखकर पानी लेकर झट्टासहित ढालता हुआ) पृथ्वी पर गिरता हुआ (यह जल) शब्द उत्पन्न न करे। अच्छा, तो ऐसा (कहूँ) (पीछे की ओर देखकर और किबाडो को खोलकर)- अच्छा। तो ऐसा (कहूँ)। अब परीक्षा करूँगा कि ये दोनों छल से सो रहे हैं या वास्तव में सोये हुए हैं। (डरा कर और परीक्षा करके) अरे ये तो वास्तव में सोये हुए होने चाहिये। क्योंकि—

इनकी सास झट्टायुक्त नहीं है, स्पष्ट एवं समान अन्तर वाली है, मसि भली प्रकार बन्द है, बेचैन (बिबल) नहीं है, न भीतर (पुतसियाँ) ही चञ्चल हैं। देह डीली पड़ी हुई शरीर की गन्धियों के कारण झिझिल है, एवं शय्या के आकार से अधिक है (अर्थात् नाड भिन्ना के कारण शरीर के अग शय्या के नीचे भी चटक रहे हैं) यदि छल से सोये हुए होंगे तो सामने दीपक (के प्रकाश) को नहीं महन करने ॥१२॥

(घारो ओर देखकर) अरे ! क्या मृदग (पगावज, डोलक जैसा एक बाजा) ? यह दहुर (एक बाजा)। यह पणक (बाद्ययन्त्र विशेष)। यह बीणा। ये बांसुरियाँ। ये पुस्तकें हैं। क्या नाट्याचार्य का घर है ? या भवन के विश्वास (घर की बाहरी शोभा) से प्रविष्ट हुआ है, तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है या राजा अथवा घोर के दर से परती में छिपे हुए धन की रखना है (धारण करता है)। तो क्या मुझ शक्तिक के लिये भी भूमि में छिपा हुआ धन (अप्राप्य) है ? अच्छा बीज फेरता है। (बैसा करके) फीका हुआ बीज कही नहीं फल रहा है। अरे यह तो वास्तव में दरिद्र है। अच्छा, जाता है।

बिदुषकः—(स्वप्न देखता हुआ बोधता है) हे मित्र, सेंध-सी दिस्तार्दे दे रही है। घोर-मा देख रहा है। अतः प्राय इम स्वर्णभाण्ड को लें।

मघनस्य प्रत्ययान् समृद्धेः विश्वासान् प्रतीतेः वा। अस्मिष्ठ भूमौ स्थितम्। अस्मिन्त्रितो बीजविशेषो धनमहितमूनेने शितो बहुमीभवतीति प्रसिद्धिः—इति पृथ्वीघरः।

उःस्वनायने स्वप्ने वदति।



शक्तिरु—किं नु सत्वमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपह-  
सति । तर्हि व्यागदयामि उत लघुत्वादुल्लव्णायते । (एष्ट्वा) अये, ज्वर-  
स्नानशाटीनिबद्ध दीपप्रभयोद्दीपित सत्वमेवैतदलङ्करणभाण्डम् । भवतु ।  
गृह्णामि । अथवा न युक्तं तुल्यावस्य कुलपुत्रजन पीडयितुम् । तद् गच्छामि ।

विदूषक—भो वधस्त, साविदोति गोब्रह्मणकाम्यया, जइ एद सुवण्णमण्डम ए  
तेहसि । भो वयस्य, शापितोप्रसि गोब्राह्मणकाम्यया, यथैतत्सुवर्णभाण्डं न  
गृह्णासि ।

शक्तिरु—अनतिक्रमणीया भगवतो गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्-  
गृह्णामि अथवा ज्वलति प्रदीपः । अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थं भागनेय-  
कीटा घायते । त तावत्प्रवेचयामि । तस्याय देचरात । एष मुक्तो मया  
कीटो यात्वेवास्य दीपस्थोपरि भण्डलैर्विचित्रं चरितुम् । एष पक्षद्वयानिलेन  
निर्वापितो भद्रपीठन । धिक्कृतमग्न्यकान्म् । अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुले  
न धिक्कृतमग्न्यकारम् । अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिघ्नकरस्य पुनः शक्तिरु  
नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्यंमकायमनुत्पष्टाम इदानीं कराम ब्राह्मणस्य  
प्रणयन् । (इति जिपृथनि ।)

विदूषक—भो वधस्त, सीदतो दे अगहत्वो । [भो वरस्य शीतलस्ते-  
ऽग्रहस्त ।]

शक्तिरु—धिनप्रमाद । सनित्तपकर्णच्छीतलो मेऽग्रहस्त । भयतु ।  
कथयोर्हस्तं प्रक्षिपामि । (नादयेन सम्यहस्तमुष्णोऽस्य गृह्णाति)

विदूषकः—गहिदम् । [गृहीतम् ।]

शक्तिरु—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः । तद्गृहीतम् ।

विदूषकः—ताणि विचिकण्टपण्यो विभ वाणिभ्रो, अहं सुहं सुविस्सम् ।

[इदानीं विक्रीतपण्यं द्वव वणिक्, अहं सुहं स्वप्स्यामि ।]

शक्तिरु—महाब्राह्मण, स्वापाहं वपशतम् । वष्टमेव मदनिवागणि-  
कार्ये ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम् ? अथवा आत्मा पातितः ।

‘गोकाम्या शक्वेष्टा, ब्राह्मणकाम्या ब्राह्मणवेष्टा । ताभ्यां शापितं शपय  
शापितं । सति सभवे गोब्राह्मणयोरिच्छाः पूरणोऽर्थास्तित्तरिति धर्मसंनराज्ञान्त ।  
‘गोब्राह्मणयोरिच्छायां प्रतिघाते महत्पाननमिति निर्णयसिन्धुप्रमुराद्रान्पेयु स्वरुम् ।  
इति न० दो०’ (काले) । गोब्राह्मणसहितायां भङ्ग, एव करोषि यदीदं न गृह्णासीति  
शपयाप—इति पृथ्वीपर । आग्नेयं अग्नेः अयम् अमितम्वन्धी । पशुद्वयस्य  
अनिलेन वायुना । भद्रपीठेन एतन्नामकेन पीठेन । चतुर्वेदान् वेत्ति इति चतुर्वेदवित्  
तस्य । प्रतिगृह्णातीति प्रतिघाहकः न प्रतिघाहकः अप्रतिघाहकः य परेषां दायादिकं  
न गृह्णाति । ईदंशो हि ब्राह्मण उत्पृष्टो गण्यते । उतं च मनुना-प्रतिघातेन ह्याह  
ब्राह्मणं तेन प्रणाम्यति ।

सपुत्रान् वचनं वा, दुर्वेनद्वयं वाद् वा । ज्वरस्य या स्नानशाटी तया निपुणम् ।  
पुत्रा अयस्या पश्य तं यादजं निघंनम् पुनपुत्रजन पीडयितुं न युक्तम् ।

शविलक—क्या यह सचमुच मुझे यहाँ धुमा हुआ जानकर 'निर्घन हूँ' यह उपहास कर रहा है। तो क्या मार डालूँ, या चपल (अथवा दुर्बल मन) होने के कारण स्वप्न देवता हुआ बड़बड़ा रहा है। (दिलकर) अरे ! स्नान करने की जीर्ण-शीर्ण धोती में बंधा हुआ, दीपक को आभा से देदीप्यमान सचमुच ही यह आभूषण पात्र है। अच्छा नेता हूँ। कथवा (अपने) समान (निर्घन) अवस्था वाले कुलीन पुत्र को पीड़ा देना उचित नहीं है। तो जाता हूँ।

विदूषक—हे मित्र गो और ब्राह्मण की अभिताया के द्वारा तुम्हें शपथ दिनाता हूँ, यदि (तुम) इन स्वर्ण—पात्र को नहीं लेते हो।

शविलक—भगवती गो की अभिताया और ब्राह्मण की अभिताया उल्लङ्घन करने योग्य नहीं होनी। इसलिए नेता हूँ। परन्तु दीपक जल रहा है। दीपक बुझाने के लिए मैं आनेप कीड़ा रखता हूँ। तब तक उसको छोड़ता हूँ। उमका (उसके लिए) यह (उचित) स्थान और समय है। यह मेरे द्वारा छोड़ा गया कीड़ा इन दीपक के ऊपर विचित्र मण्डनों से भ्रमण करने के लिये उड़े (जाये)। भद्रपीठ ने दोनों पंखों की वायु में यह (दीपक) बुझा दिया है, हाय ! अछेरा कर दिया। अथवा—हाय ! मैंने भी अपने ब्राह्मण कुल में अछेरा नहीं कर दिया है ? (अपात् कर ही दिया है)।

मैं चारों वेदों के ज्ञाता (ज्ञान आदि) न लेने वाले, का पुत्र शविलक नाम का ब्राह्मण वेदों की मदनिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा है। अब ब्राह्मण का प्रणय करना हूँ (उसकी प्रार्थना, स्वीकार करता हूँ)। (मिना, धाहता है)

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारे हाथ का अग्रभाग (अंगुलियाँ) शीतल है।

शविलक—हाय ! अमात्रघानत्रा ! जल के स्पर्श में मेरे हाथ का अग्रभाग शीतल है। अच्छा ! हाथ की बगनों (कान) में रखता हूँ (अभिनयपूर्वक दाहिने हाथ को गर्म करने (मुद्रांभाण्ड) से लेता है)

विदूषक—ले लिया ?

शविलक—ब्राह्मण का यह अनुरोध उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है। इसलिये ले लिया।

विदूषक—अब बेच दी हैं कथ वस्तु जिमने ऐने बनिबे की भाँति मुच से सोजैगा।

शविलक—महाब्राह्मण भी वपं सोने रहो। भेद है कि मदनिका वेदों के लिये (दौने) इन प्रकार ब्राह्मण कुल को अन्वहार में हाव दिया और अपने आप को गिरा दिया।

अकार्यं न्युभनुविनं चोर्वकम् । अथयम् अस्पृन्ता प्रार्थनां करोमि स्वीकरोमि ।

अथशामो ह्मन्त्र्य अष्टरुः (शर्मधारय) अक्वशावयविसम्बन्धे सु ह्मन्त्र्य मयन् एति ह्मन्त्र्यम् । सर्व्यं दर्शितं (टि०) । विहीनं पत्न्यं देन न शक्यम् ।

धिगस्तु सत्तु दारिद्र्यमनिर्वेदितपीरुषम् ।

यदेतद्गृहितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥१६॥

तद्योवन्मर्दानिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि ।

(परिभ्रम्यावलोक्य च) अये, पदशब्द इव । मा नाम रक्षिण । भवतु । स्तम्भी-  
भूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शकिलकस्य रक्षिण । योऽहं

मार्जारः क्रमण, मृग प्रसरणे, श्येनो ब्रह्मालुञ्चने,

मुत्तामुत्तमनुष्यवीर्यंतुलने श्वा, सपणे पन्नग ।

माया रूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे,

दीपो रात्रिषु, सकटेषु डुण्डुभो, बाजी रथले, गौर्जले ॥२०॥

अपि च

भुजग इव गतौ, गिरि स्थिरत्वे, पतगपते. परिसर्पणे च तुल्य ।

शश इव भुयनावलोकनेऽहं युव इव च ग्रहणे नले च सिंह ॥२१॥

शकिलकः दारिद्र्यं निन्दति—छिगितिः निर्वेद. स्वावमानन विषयेभ्यो विर-  
क्तिर्वा [प्रकरणनिश्चयो निर्वेद इति पृथ्वीधर] निर्वेद सजातोऽस्य इति निर्वेदितं  
न निर्वेदितम् अनिर्वेदितं विरक्तिहीन पीरुष पुरस्य भावः कर्म वा कर्मिन् तद् दारि-  
द्र्यं सत्तु धिक् । यत् यत् नाराणाद् एतद् घोयरुप गृहितं निन्दितं कर्मं निन्दामि च  
विवशतया करोमि च । न तस्माद् विरतो भवामीति भावः । वाण्यलिङ्गमलङ्कारः ।  
अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१६॥

निष्क्रयणं धनादिना मोक्षणम् । अस्तम्भ रतम्भो भूत्वा इति रतम्भीभूत्वा  
अमृततद्भावे चि ।

शकिलक इत्यचित् पदस्थनि श्रुत्वा पूर्वं शकितो भवति तत्रैव स्वसामर्थ्यं  
धिन्तपति—मार्जार इति । योऽहं शकिलकः क्रमणे उपर्यसने मार्जार विहाय  
प्रसरणे शीघ्रतरगमने मृग हरिण । ग्रहेण ग्रहणेन युक्ते आमुञ्चने लक्ष्यस्य श्येने  
श्येन । मुत्तामुत्तयो मुत्तजागरितयो मनुष्ययो, अथवा मुत्तश्वातो अमुत्तश्वा  
तस्य मुत्तामुत्तस्य मिञ्चिचमुत्तस्य वीर्यंतुलने सम्पत्त्यंतने श्वा युक्पुर, स हि  
परेषां बलाबल परीक्षितुं शक्नोतीति प्रतिष्ठि । सपणे भूमितमवङ्गमने (बाने)  
पन्नगः सर्प । रूपमाकार शरीर विविधजीवानां नात्र देश विभिन्नदेशानां देशभूया  
तेषां रचने माया इन्द्रजावदिया । अन्य देशभाषा देशभाषान्तरं कर्मिन् अन्यदेश-

निधंनना को विवहार है जिनमें (व्यक्ति) का पुरंषायं (अनुचित कार्य करने पर भी) निबंद अथवा विरक्ति को प्राप्त नहीं होता । जिसके बारन हम निन्दित वानं (चोरी) को निन्दा कर रहा है और (फिर भी) कर रहा है ॥१६॥

तो जब तक (धन लेकर) मदनिहा को (दासो कर्म से) मुक्त कराने के लिए वमन्मेना के घर को जाना है । (दूमकर और देनकर) अरे ! परों जंसा शब्द ! रसक (पहरेदार) न हों ! अच्छा । सम्भा भा बनकर (निश्चल) लड़ा हो जाना है । अथवा, मुक्त शर्विलक के लिए भी रसक (मय की वस्तु है) !

जो है—

मदने अथवा उदने में विनाक, शीघ्र दौड़ने में हरिण, आक्रमण (ग्रह) के द्वारा (मध्य को) छेद डालने (आनुञ्चन) में बाज, मोंदे-बिना सोपे, मनुष्य की शक्ति बांधने में कुता, रंसने में मर्ग, आकार, (पशु आदि के विभिन्न) शरीर एवं वेग निर्माण में मादा, विभिन्न देवों की भागाओं के ज्ञान में सरस्वती, रात्रियों में दीपक, दुर्गम मार्गों में वृषदुभ (मर्ग विरोध), स्वप्न पर घोड़ा तथा पानी में नौका के सदृश है ॥२०॥

और भी—

मनि में सपं के सदृश, स्थिरता में पर्वत एवं शीघ्र चलने में पत्रियय (पशु) के सुन्द मंसार को देखने में मैं सरहे जंसा, (बिमी को) पकड़ने में भेड़िये के समान और शक्ति में सिंह है ॥२१॥

भागाजाने भागने च वाह सरस्वती । रात्रिषु दीपः दीपवत् प्रकाशकः संकटेषु दुर्गममा-  
 गेषु दुष्टेषु सर्वविधेभः । स्थले दासी अयवत् द्रुतगामी, जले च नीः नीरेव तरपशीलः  
 अग्नि तस्य मन रशिषः कि वरिष्यन्तीति भावः । माताम्बरकमकुमारः । शार्दूलवि-  
 शीर्षितं वृत्तम् ॥२०॥

सूत्रम् इति । अहं च यज्ञी मनिविद्येणं सूत्रम्: सपं इवाग्निः, स्थिरत्वे स्थिरताया  
 पिरि पर्वतः, परिमर्गेषु द्रुतगमने च पनपने पत्रिययस्य सशब्दस्य तुल्यः । अहं  
 सूत्रास्य सपारस्य (निष्कम्यारस्य इति काने) अवनोकने शाप इवाग्निः, वृन्दे वस्त-  
 विद् इहे वृह इव, जने शप्ती च सिंहः अग्निः । मातोन्भावकुमारः । दुर्गिताया  
 वृत्तम् ॥२१॥

## (प्रविश्य)

रदनिका—हृदी, हृदी बाहिरदुभारसालाए पशुत्तो बद्धमानमो । सोवि एत्थ  
ण बोसइ । भोदु । अञ्जमित्तंम सहावेमि । ।हा धिक् हा धिक् बहिर्द्वारसालाया  
प्रसुप्तो वधंमानक । सोऽप्यत्र न दृश्यते । भवतु । आर्यमैत्रेयमाह्वयामि ।]

शबितक—(रदनिकां हन्तुमिच्छति । निरूप्य) कथं स्त्री । भवतु गच्छामि ।  
(इति निष्क्रान्त )

रदनिका—(गत्वा सत्रासम्) हृदी, हृदी, अग्हाण मेहे सन्धि कप्पिअ चोरो  
णिरुक्कमदि । भोदु । मित्तंम गदुअ पबोधेमि । (विदूषकमुपगम्य) अञ्जमित्तंम उट्ठेहि  
उट्ठेहि । अग्हाण मेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिरुक्कन्तो । ।हा धिक् हा धिक् ।  
अस्माकं गृहे मन्धि कल्पयित्वा चोरो निष्क्रामति । भवतु । मैत्रेय गत्वा प्रवो-  
धयामि । आर्यमैत्रेय (उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।) अस्माकं मेहे सन्धि कल्पयित्वा चोरो  
निष्क्रान्तः ।]

विदूषक—(उत्पाय) आ दासीए धीए, कि भणासि—'चोर कप्पिम सन्धी  
णिरुक्कन्तो ।' [आ दास्या पुत्रिके, कि भणासि चोर कल्पयित्वा सन्धिनिष्क्रान्तः ]

रदनिका—हवात्त, अस परिहासेण । कि न वेत्तसि एणम् । हताश, अत्त  
परिहासेन । किं न प्रेक्षस एणम् ? ।

विदूषक—आ दासीए धीए, कि भणासि—'दुदिअ विअ दुभारअ उपाट्ठिं'  
सि । भो बभरत्त चारदत्त, उट्ठेहि उट्ठेहि । अग्हाण मेहे सन्धि बद्धम चोरो णिरुक्कन्तो ।  
[आ दास्या पुत्रिके कि भणासि 'द्वितीयमिव द्वारमुदघाटितम्' इति । भो वयस्य  
चारदत्त, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । अस्माकं मेहे सन्धि दत्त्वा चोरो निष्क्रान्तः ।]

चारदत्त—भवतु । भो, अत्त परिहासेन ।

विदूषक—भो, न परिहासो वेत्तसु भवम् । [भो न परिहासः । प्रेक्षतां  
भवान् ।]

चारदत्त—कस्मिन्नुद्देशे ।

विदूषक—भो, एंत्तो । [भो, एप. ।]

चारदत्त—(विलोक्य) अहो, दर्शनीयोऽयं सन्धिः ।

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं

णिरसि तनुविपुलश्च मध्यदेशे ।

असदृशजनसंश्रयोमभीरो-

हृदयमिव स्फुटितं महापृथस्य ॥२२॥

(प्रवेश करके)

रदनिका—हाय ! हाय ! ! वधमानक बाहर के दरवाजे वाली कोठरी में मो रहा था । वह भी यहाँ नहीं दिखाई दे रहा है । अच्छा । आर्य मंत्रेय को पुकारती हूँ । (धूमती है) ।

शक्तिरु—(रदनिका को मारना चाहता है । देखकर) क्या मंत्री ? अच्छा जाता हूँ (निकल जाता है) ।

रदनिका—(जाकर भयदुर्बक) हाय ! हाय ! ! हमारे घर में सेंध फोड़कर चौर निकल रहा है । अच्छा मंत्रेय को जगाती हूँ ।

(मंत्रेय के समीप जाकर)-आर्य मंत्रेय, उठिये उठिये । हमारे घर में सेंध फोड़ कर चौर निकल गया ।

विदूषक—हूँ ! दासी की पुत्री, क्या कहती है ? चौर को फोड़कर सेंध निकल गई ।

रदनिका—अरे हँसो से बस करो । क्या इसे नहीं देख रहे हो !

विदूषक—हूँ ! दासी की पुत्री क्या यह कहती है ? 'धूमरा दरवाजा सों मोल दिया है ।' हे मित्र आर्य चारदत्त, उठो, उठो हमारे घर में सेंध लगाकर चौर निकल गया ।

चारदत्त—अच्छा ! अरे, हँसो से बस करो ।

विदूषक—जी, हँसो नहीं हूँ । आप देख लीजिये ।

शाश्वता—किम म्यान पर ?

विदूषक—जी, यह रहा ।

शाश्वता—(देखकर) अहो ! यह सेंध देखने योग्य है । जिसमें ऊपर के भाग से इट्टे पिटार्राई (निवाली) गई हैं, जो ऊपरी भाग में पत्रती मोर बीच के स्थान में बौड़ी है, ऐसी यह (सर्ग्य) अस्तहजन (अयोग्य मनुष्य और आदि) के सम्बन्ध (=संश्लेष) से इरे हुए महान् धन के विदीर्ण हुए हृदय के समान स्थित है ॥२२॥

एताव हता माणा यस्य तस्मिन्नुदी । (टि०)

चारदत्तः सर्ग्यं दृष्ट्वा कथञ्चि—उपरोति । उपरितताद् उच्येऽन्वेताद् विधा-  
नित्वा माःपुष्ठा इष्ट्वा च तद्विक्रमः शिष्टिः उच्येऽन्वेताद् तनु अन्विष्ठाः यन्वेताद् च  
विदुः विदुः अथ सर्ग्यं अस्तहजनस्य अनुचितजनस्य चौरादिकस्य सम्बन्धेण  
प्रवेष्टादिनम्बन्धाद् चोरोः धीउस्य महानुस्य विज्ञानधनस्य एकदितं विदीर्णं हृदयम्  
एव स्थितः । उच्येऽन्वेताद् । पुष्पिताया वृत्तम् ॥२२॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ।

विदूषक—भो वधस्त, अत्र सद्यो दुःखेहि ज्जेव दिण्णो भवे । आहु आगन्तुएण, सिरित्तुकाणेण वा । अण्णया इय उज्जइणीए को अह्माण गरविहय ण जाणामि ।

[भो वयस्य, एष सन्धिद्वार्याभ्यामेव दत्तो भवेत् । अथवागन्तुवेन, निक्षितु-  
कामेन वा अन्यथात्रोज्जयिन्या कोऽस्माकं गृहविभवं न जानाति ।]

चारदत्त—

वैदेश्येन कुतो भवेन्मम गृहे व्यापारभङ्गस्वता

नासौ वेदितवान्घनैविरहित विसन्धमुप्त जनम् ।

दृष्ट्वा प्राडमहतो निवासरचनामस्माकमाशान्वित

सन्धिच्छेदनरिन्न एव मुञ्चिर पश्चान्निराशो गतः ॥२३॥

तत सुहृदस्य किमसौ वयपिष्यति तपस्वी—'सार्धंवाहनुत्स्य गृहं प्रविश्य न  
निश्चिन्मया समासादितम्' इति ।

विदूषक—भो कथं त्त्वं ज्जेव चोरहदअ अणुतोचसि । तेण चिन्तिद महत्त  
एव गेहम् । इतो रत्तमण्णअ सुवण्णमण्णअ वा निरकाविरत्तम् । (स्मृत्वा सविषाद-  
मात्मगतम्) कहिं त्त्वं सुवण्णमण्णअम् । (पुनरनुस्मृत्य । प्रवासम्) भो वधस्त तुम  
राज्जवाल भणामि—'मुखसो मित्तेअभो अपण्णित्तो मित्तेअभो' ति । सुट्ठु मए शिद  
त्त्वं सुवण्णमण्णअ भवतो हत्थे तत्तण्णमण्णेण अण्णया दातोए पुरोण अवाहिद भवे ।  
[भो, वय तमेव चोरहतामनुषोचसि । तेन चिन्तित महदेतदगृहम् । इतो  
रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डं वा निष्क्रामयिष्यामि । कुत्र तत्सुवर्णभाण्डम् । भो  
वयस्य, त्वं सर्वत्राल भणसि—'मूर्खो मंत्रेय', अपण्णित्तो मंत्रेय' इति । सुण्डु  
मया कृतं तत्सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्यः पुत्रेणापहत  
भवेत् ।

चारदत्त—शूलं परिहासेन ।

विदूषक—भो अहं नाम अहं मुखसो ता किं परिहासस्य पि वेसाअल ण  
जाणामि । [भो, यथा नामाहं मूर्खस्तत्किं परिहासस्यापि देशत्राल न जानामि ।]

'आगन्तुवेन, निक्षितुकामेन वा सन्धि दत्तो भवेत्-इति विदूषकस्य वचनं निरास्य  
चोरमनुषोचन् चारदत्त वचयति—वैदेश्येनेति । वैदेश्येन विदेशे भव वैदेश्यः । तेन  
वैदेश्येन व्यापार सन्धिच्छेदनकर्म अभ्यस्यता गिहमापेन वा वयं गृहे सन्धि दत्त  
दत्त भवेत् यतः इहस्य निपुणो वा चोरः ज्ञान सन्धिं कुर्यात् । असी अयं जनः

क्या इस कार्य में भी युगतता ?

विदूषक—हे मित्र, यह मंथ दो के ही द्वारा लगाई हुई हो सकती है या तो आगन्तुक के द्वारा, या (चौध विद्या) सीसने के इच्छुक द्वारा । अन्यथा यहाँ, उग्रपिनी में कौन हमारे घर के वंशव को नहीं जानता ?

चारदत्त—सन्धि-कार्य का बन्ध्याम करते हुए विदेगी ने मेरे घर में (सिंध) की होगी । घनहीन (इसी कारण) विद्यामयूखेंक सोये हुए जन (हम दोनों) को वह नहीं जान पाया । हमारे महान् भवन-निर्माण को देखकर पहले आगायुक्त होता हुआ (वह) देर तक मंथ फोड़ने के कारण कन्तल हुआ बाद में निरास (होकर) ही चला गया ॥२३॥

तब वह बेचारा (अपने) मित्रों में क्या कहेगा कि 'सार्धसाह पुत्र के घर में पुनकर मैंने कुछ भी नहीं पाया ।

विदूषक—अरे, क्यों उम दुष्ट चौर का ही सोच कर रहे हो ? उमने सोचा यह बड़ा घर है, यहाँ से रत्न-भ्यात्र या श्वयंपात्र निराल लूंगा ।

(माद करके । दुसपूर्वक-अपने भाव ) वह श्वयंपात्र कहाँ है ? फिर माद-करके । प्रकट रूप में) हे मित्र तुम हर मगम यह कहते हो—'मंथैय मूलं है, मंथैय मगगित है ।' उम स्वर्गगत को भापके हाथ में देते हुए मैंने अच्छा किया । नहीं तो दामी के पुत्र (चौर) ने चुरा लिया होता ।

चारदत्त—परिहाम (हैंगी) में बस करो ।

विदूषक—अरे, यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, तो भी क्या परिहाम का स्थान और मगम भी नहीं जानता ?

घनः विरहित हीनम् अत्राय विवक्ष्य निगच्छ मया स्नात् तथा मुप्त जन पुरयद्यं न योर्वनवान् ज्ञानवान् । सः प्राह पूर्वं तु अस्माकं महती दिवाया निवासरचना भवनरचना इष्ट्वा आगायिन आनामुक्तः सन् मुच्चिर बहुकान्धयन्तं सन्धिच्छेदनेन तिन्तः परिश्रान्तः परत्वात् निरासः एव सत् निपंतः । शार्ङ्गसवित्रीकित इतम् ॥२३॥

तपस्यो वराट् । समासादिन शप्तम् । चौरववापी हनकय चोरदक दुष्टघोट ।



धारदत्त—ऋत्या वेतायान् ।

विदूषक—भो, जदा तुम मए भणितो सि—‘शीदलो वे अग्गहत्तो’ । [भो, यदा त्व मया भणितोऽसि—‘शीतलस्तेऽग्रहस्त’ ।

धारदत्त—कदाचिदेवमपि स्यात् । (सर्वतो निरूप्य । सर्वम्) वयस्य, दिष्ट्या ते प्रिय निवेदयामि ।

विदूषक—कि ण अवहिदम् । [कि नापहतम् ।]

धारदत्त—हतम् ।

विदूषक—तथा वि कि पिअम् । [तथापि कि प्रियम् ।]

धारदत्त—यदसौ कृतापौ गतः ।

विदूषक—जासो वणु सो । [न्यासः खलु सः ।]

धारदत्त—वथ न्यासः । (मोहमुपगतः)

विदूषक—समस्तसदु भवम् । जइ जासो चोरेण अवहिदो तुम कि मोह उगधदो । [समाश्रयसित्तु भवान् । यदि न्यासश्चोरेणापहतस्त्व कि मोहमुपगतः ।]

धारदत्त—(समाश्रयस्य) वयस्य,

कः अट्ठास्यति भूतार्थं सर्वो मा तूलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि लोकेऽन्मिन्निप्रताया दरिद्रता ॥२४॥

भोः वष्टम् ।

यदि तावत्त्वान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कुनः ।

किमिदानी नृशसेन चारितमपि दूषितम् ॥२५॥

विदूषक—अह वणु अवसविस्सम्—‘वेच दिप्पम्, वेच गहोवम्, वो वा सरिल’ ति । [अहं सत्वपलपिष्यामि केन दत्तम्, केन गृहीतम्, वो वा साक्षी इति ।]

धारदत्त—अहमिदानीमनूतमभिघास्ये ।

न्यासः निरीयः समाश्रयसित्तु आश्रयसो भवतु प्रहृतिरूपो भवतु ।

न्यासोद्गतं सुवर्णपात्रं चोरेण ह्यगमिति धृत्वा सिन्धुवारदत्तं वयसि—व इति । दूषं यदावृतम् इयं चोरेणापहृतं सुवर्णपात्रमिति वः जनः अट्ठास्यति विस्वात

चारदत्त—किस समय ?

विद्रुपक—अरे, जब तुमसे मैंने कहा था कि 'तुम्हारे हाथ का अप्रमाण टपका है ।'

चारदत्त—सम्भवतः ऐसा भी हो (सब ओर देखकर । प्रसन्नतापूर्वक) मित्र, भाग्य से तुम्हें प्रिय (बात) सुनाता है ।

विद्रुपक—क्या नहीं चुराया ?

चारदत्त—चुरा लिया ।

विद्रुपक—फिर भी क्या प्रिय है ?

चारदत्त—कि वह कृतार्थ (होकर) गया ।

विद्रुपक—वह तो धरोहर थी ।

चारदत्त—क्या धरोहर ? (मूर्च्छित हो गया)

विद्रुपक—आप धैर्य रखें ; यदि धरोहर चोर ने चुराली (तो) तुम क्यों मूर्च्छित हो गये ।

चारदत्त—(आश्चर्य होकर) मित्र,

वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? सभी मुझे हस्का (कुच्छ भ्रमराधी) समझेंगे । क्योंकि इस मसार में शौर्यविहीन निर्धनता शंका के योग्य होती है ॥२॥

हाय ! कष्ट है !

यदि भाग्य ने मेरी सम्पत्ति को अभिलाषा (= प्रणय) की तो इस समय निर्दयी (भाग्य) ने चरित्र भी क्यों दूषित कर दिया ॥२५॥

विद्रुपक—मैं द्रिपाकर कह दूंगा—'विमने दिया ? किसने लिया ? साजी (गवाह) कौन है ?'

चारदत्त—मैं इस समय मूठ बोर्णुपा ? (नहीं)

वरिष्यति ? सर्वं जनः सां चारदत्तं वृत्तयिष्यति वृत्तवत् संपूर्वरिष्यति हि यतः अस्मिन् सोः निरप्रनाया नास्ति प्रतापः तेजः पौरुष वा यस्यां ताहती दरिद्रता शार्ङ्गनोया सद्भावोपमा भवति । अर्पान्तरन्यामः । अनुष्टुप् छन्दम् ॥२४॥

परोक्षि । यदि तावन् वृत्तान्तेन देवेन मे मम अर्थेषु सम्पत्तिषु प्रणयः अभिलाषः व्यपिचं वा वृत्तं नृपतेन निर्दयेन देवेन इदानीं मग्निं चरित्रमपि किं कथं वृष्टिम् । अनुष्टुप् छन्दम् ॥२५॥

अपस्यिष्यामि अरनापं वरिष्यामि । अनूतापु असत्यम् ।

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनन्यासप्रतिक्रियाम् ।

अनृत नाभिघास्यामि चारित्र्यभ्र,शकारणम् ॥२६॥

ररनिका—ता जाव अग्जा घृदाए यदुज निवेदेमि । [तद्यावदार्याधूनामं गत्वा निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्ता सर्वे)

(तत प्रविशति चेटघा सह चारदस्तवधू)

वधू —(सप्तभ्रमम्) मद्, सच्च अवरिक्खदसरोरो अग्जउत्तो अग्जमित्तएण सह ।

[अयि, सत्यमपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेयेण सह ।]

चेटी—भट्टिणि, सच्छम् । किं तु जो सो वेत्साजभकेरको मलकारजो सो भद-  
हिवो । [भक्ति, सत्यम् । किं तु य स वेत्साजउत्त्यालङ्कारक सोऽपहृत ।]

(वधूमोह नाटयति)

चेटी—समस्तसु अग्जा धृता । [समास्वसित्वार्या धृता ।]

वधू —(समास्वहय) हञ्जे, किं भणसि—अवरिक्खदसरोरो अग्जउत्तो' ति ।

वर दाणि सो सरोरेण वरिक्खदो, ण उण चारित्तेण । सपद उग्जइणीए जणो एणव  
मन्तइस्सदि—दलिहृदाए अग्जउत्तेणं णजेव ईरिस अरग्ज अणुविट्ठिम' ति ।  
(ऊर्ध्वमदलोवय नि इवस्य च) भ्रमव वअन्न पोषसंरवसपट्टिइजसकिन्दुञ्चलेहि कीलसि  
दलिहृपुरिसमाभधेएहि । इम च मे एक्का मातुपरलद्धा रमणावसी विट्ठदि । एद पि  
भादिसोण्डीरदाए अग्जउत्तो ण गेष्स्सदि । हञ्जे, अग्जमित्तए दाण सदावेहि ।  
[चेदि, किं भणसि—अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र' इति वरमिदानी स शरीरेण  
परिक्षत । न पुनश्चारित्रण । साप्रतमुज्जयिन्या जन एव मन्त्रयिष्यति—'दरिद्र-  
तयार्यपुत्रेणवेदुशमकार्यमनुष्ठितम्' इति । भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजल-  
किन्दुञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरपभागधेयै । इय च म एका मातृपृष्ठलब्धा  
रलावली तिष्ठति । एतामप्यतिशीण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहोष्यति । चेदि, जाय-  
मैत्रेयं, तावत शब्दापय ।]

भैक्ष्येनेति । भैक्ष्येण भिक्षाचरणेन अयि पुन न्यासस्य निधेयस्य प्रतिक्रियां  
प्रतिश्रियासाधन इत्थम् अर्जयिष्यामि एकत्रीवरिष्यामि किन्तु चारित्र्यस्य भ्रशकारण  
विनाशनिमित्तम् अनृतम् असत्यं न अभिघास्यामि वदिष्यामि । अनुष्ठुं वृत्तम् ॥२३॥

घरोहर लौटाने के साधन द्रव्य को मित्रा के द्वारा भी अर्जित करेगा । किन्तु धरित्र-पतन का कारण जो अमत्य है उसे नहीं कहेगा ॥२६॥

रदनिका—तो जब तक जरूर आया घूटा से (नारी घटना) कहती है । (तब निकल जाते हैं)

(तदश्चात् बेटी के साथ चारदत्त की पत्नी प्रवेश करती है)

वधू—(धराराट के साथ) अरो, सचमुच आपें मंत्रेय के साथ आर्यपुत्र (चारदत्त) मुरझित (चोट रहित देह वाले) तो हैं ?

बेटी—स्वामिनो, सचमुच । किन्तु जो बेश्याजन का आभूषण था, वह घुरा लिया गया ।

(वधू मोह का अभिनय करती है)

बेटी - आर्या घूटा, धर्म रखें ।

वधू—(आश्चर्य होकर) बेटी, क्या कहती हो कि—‘आर्यपुत्र का शरीर चोट रहित है’ इस समय वह शरीर से दात (भाग्य) हुए अच्छे, धरित्र से (दात) नहीं ।

अब उज्जयिनी ने लोग कहेये कि निघंता के कारण आर्यपुत्र ने ही इस प्रकार अनुचित कार्य किया ।’ (ऊपर देखकर और सम्यो साँस लेकर) भगवन् दैव ! कर्म के फल पर पड़े हुए जन्मिन्दुओं के समान चञ्चल धरित्र पुरण के भाग्यो से तिलबाड़ करते हो । यह मेरी माता के घर से प्राप्त हुई एक रत्नावली है । इसको भी आर्यस्त उदात्त धित (= शोण्डार) होने के कारण आर्यपुत्र नहीं ग्रहण करेगे । बेटी, तनिक आपें मंत्रेय की बुपायो ।

घूटा चारदत्तस्य पत्नी । न परिक्षण शरीरं यस्य तथाभूतः । शीरेण ग्यातो हृतः, अरिप्रसक्तशरीरम्बु चारदत्तः इति रदनिकापचर्न निराम्य घूटा कथयति—धरमिति । इदानीं विनाशरेण शरीरेण परिक्षतः सः आर्यचारदत्तः यदि रत्नावलि परं निम्बिन्म मल पुनः किन्तु चारिभ्रंण परिक्षतः ग धरम् ।

मन्त्रविष्यति परस्परं कथयिष्यति । अनुष्ठित इतम् । पुष्करपत्रे कनकपत्रे पतिताः ये जन्मिन्दवस्तु तदम् चञ्चलः दधियुष्पायां भाग्येयैः कीर्तिता । मातृ-पुत्रान् साग्रा । अनिशोण्डोरतया महानुभावतया दासिभ्येन वा । शब्दायम आकारय, शब्दम् ।

चेटी—अ अञ्जा धृवा आणवेदि । (विद्रूषकमुपगम्य) अञ्जमित्तोज, धृवा रे  
सद्भावेदि । [यदार्या धृताऽऽत्तापयति । आर्यमैत्रेय, धृता त्वामाह्वयति ।]

विद्रूषक—कहिं सा । [कुत्र सा ।]

चेटी—एसा त्रिद्वरि । उवसत्प । [एपा तिष्ठति । उपसर्प ।]

विद्रूषक—(उपमृत्य) सोत्थि षोडोए । [स्वस्ति भवत्ये ।]

वधू—अञ्ज, अन्दाभि । अञ्ज, पोरत्पिआमुहो होहि । [आर्य, वन्दे । आर्य,  
पुरस्तान्मुखो भव ।]

विद्रूषक—एसो मोदि, पोरत्पिआमुहो सयुत्तो ग्निः । [एष भवति, पुरस्ता-  
न्मुख सवत्तोऽस्मि ।] \*

वधू—अञ्ज, पडिच्छ इमम् । [आर्यं, प्रतीच्छेमाम् ।]

विद्रूषक—रि ष्णेदम् । [किं न्विदम् ।]

वधू—इषु रअण्णसंदि उवसिदा भासिं । तहिं जघाविहवाणुसारेण बग्हनो  
पडिग्गाहिद्वो । सो अ ण पडिग्गाहिद्वो, ता तरस त्रिदे पडिच्छ इम रअणमातिमम् ।  
[अह खलु रत्नपथोमुपोपितोसम् । तत्र यथाविभवानुसारेण बाह्येण प्रतिगाहि-  
तव्य । स च न प्रतिग्राहित, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमा रत्नभालिकाम् ।]

विद्रूषक—(गृहीत्वा) सोत्थि । नमित्तम् । पिअचअत्तरस निवेदेमि । [स्वस्ति,  
गमिष्यामि । प्रिगवयस्वस्य निवेदयामि ।]

वधू—अञ्जमित्तैअ, मा इषु म सञ्जावेहि । [आर्यमैत्रेय, मा खलु मां  
लज्जिता कुह ।] (इति निष्क्रान्ता)

विद्रूषक—(सविरमयम्) अहो, ते महाणुभावदा । [अहो, अस्या महानु-  
भावता ।]

षारदत्त—अये, विरयति मैत्रेग । मा नाम वैतरम्यादागार्य कुर्यात् ।  
मैत्रेय, मैत्रेय ।

विद्रूषक—(उपसृत्य) एसो ग्निः । गेह एवम् । [एषोऽस्मि । गृहानंताम् ।]  
(रत्नावनी दर्शयति)

षारदत्त—किमेतत् ।

विद्रूषक—भो, रे तरितदारसगृहस्त फलम् । [भो इत्ते सद्गदारसग्रहस्त  
फलम् ।]

षारदत्त—कथम् । ग्राह्याणी मामनुकम्पते । वष्टम् । इदानीमस्मि  
दरिद्र ।

चेटी—जो आया घूना आज्ञा देती है । (विदूषक के निकट जाकर) आर्य मंत्रेय, घूना तुम्हें बुना रही है ।

विदूषक—वह कहाँ है ?

चेटी—यह है । (उसके) समीप जाइये ।

विदूषक—(समीप जाकर) आपका कल्याण हो ।

धनु—आर्य, बन्दना करती है । आर्य, पूर्व की ओर मुन्न कर लीजिये ।

विदूषक—पूजे, यह मैं पूर्व की ओर मुन्बवाला हो गया हूँ ।

घूता—आर्य इसे लीजिये ।

विदूषक—यह क्या है ?

धनु—मैंने रत्नपट्टी का रत्न दिया था । उसमें सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिये । उसे दान नहीं दिया गया था, अतः उसके लिये इस रत्नमाला को ग्रहण करो ।

विदूषक—(लेकर) कल्याण हो, जाता हूँ । प्रिय मित्र से निवेदन करता हूँ ।

धनु—आर्य मंत्रेय, मुझे लज्जित मत करो । (निकल जाती है)

विदूषक—(आश्चर्य महित) अहो ! इसकी उदारता !

धारदत्त—अरे ! मंत्रेय देर कर रहे हैं । नहीं विकलता के कारण अनुचित कार्य न कर जाते ।

विदूषक—(समीप आकर) यह है । इसे ग्रहण करो । (रत्नमाला दिखाता है)

धारदत्त—यह क्या है ?

विदूषक—अरे, जो तुम्हारे सहाय (गुणवती) स्त्री से विवाह करने का फल है ।

धारदत्त—क्या ? ब्राह्मणी मूत्र पर दया कर रही है । कष्ट है ! अब मैं शक्ति हो गया ।

पुरस्तात् पूर्वदिशायां मुन्नं यस्य सः (टि०) । अतीन्द्र शृणुष्व । यथाविप्र-  
धानुपारेण यः ह्यग्नी सम्पत्तिः तस्याः अनुपारेण (टि०) । तस्य ब्राह्मणस्य व्रतस्य वा  
हृते ।

बन्धनान् चित्तस्य दीर्घान् । सहस्रशरानां संप्रहस्य योप्रात्सीञ्चपात् ।

आत्मभान्यक्षतद्रव्य स्त्रीद्रव्येणानुकम्पित ।

अयं तु मरुयो नारी या नारी सार्धं तुमान् ॥२७॥

अथवा । नाहं दरिद्र । यस्य मम

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान् ।

सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥२८॥

भैरवैय, गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनाया सवाशम् । यत्तव्या च सा मद-  
चनात्—यत्सत्त्वस्माभि सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कुर्या विश्रम्भाद् धृते  
हारितम् । तस्य कृते गृह्यतामिय रत्नावली' इति ।

विदूषक — मा वाच अचलाइवस्त अनुत्तस्त अप्पमुत्तस्त घोरोहिं भवहवस्त  
कारणावो अतु समुद्रसारभूता रत्नावली दीपति । [मा तावदत्तादितस्याभुक्तस्या-  
स्पमूल्यस्य चोरेरपहृतस्य कारणाच्चतु समुद्रसारभूता रत्नावली दीपति ।]

चारदत्त — ययस्य, मा मैवम् ।

य समालम्ब्य विश्वासं भ्यासोऽस्मानु तथा कृत ।

सर्वतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥२९॥

सद्गतस्य, अस्मच्छरीरसृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामप्राह्मिन्त्वात्त्रागन्तव्यम् ।  
वर्धमानय,

धृताया अनुग्रहं निशम्य चारदत्त वचननि-शात्मेति । आत्मन एतस्य भाष्येन  
पुरवेन भक्तं तच्छ्रुत्वा यस्य स महं चारदत्त स्त्रीद्रव्येण स्वपत्न्या धृताया घनेन  
अनुकम्पितः अनुग्रहीतो भवामि । ततोऽस्मिं दरिद्रं यत् अथत घनात् कारणात् घना-  
भावाद् इति यावत् पुरुषं नारी स्त्रीवत् भवति या च नारी सा अर्धं धनस्य चारणात्  
तुमान् पुरुषवद् जायते । अनुत्तुप् कृतम् ॥२७॥

'अथवा नाहं दरिद्र' इति समर्पयति चारदत्त — विप्रवेति । यस्य मम चारदत्त-  
स्य भार्या स्त्री विप्रवेन घनेन अनुगता मुक्ता, ज्वान् मंत्रेण सुखदुःखयो मुह्य

अपने भ्राम्य के दोष से नष्ट हो गया है घन जिसका ऐसा मैं (चाहदत्त) स्त्री के घन से अनुग्रहीत किया जा रहा है (यह कष्टकर है क्योंकि) घन न होने के कारण ही पुरुष नारीतुल्य है और जो नारी है वह घन होने से पुरुष (के समान) है ॥२७॥

अथवा मैं निर्धन नहीं हूँ । जिस मेरी—

पत्नी घन मे मुक्त है । आप मुख-दुःख मे (समान) मित्र हैं । और साथ भी मेरी छटा है जो कि निर्धनों में दुर्लभ है ॥२८॥

मैत्रेय, रत्नावली को लेकर वसन्तसेना के पास जाओ, मेरी ओर से उसे यह कहना कि—'विश्वास मे अपना (ममत्त) करके हमने सुवर्णपात्र को जुए में हरा दिया । उसके बदले में यह रत्नावली ले लीजिए ।'

विदूषक—बिना (बेवकफ) लाने हुए, न उपभोग किये हुए, स्वल्प मूल्य के (तपा) धोरी के द्वारा चुपाये गये (भाभूषण) के कारण से चारों समुद्रों की सारभूत यह रत्नावली मत दीजिए ।

चाहदत्त—मित्र, ऐसा नहीं ।

जिस विश्वास का आधार लेकर उसने हम पर धरोहर रखी, उस महात् विश्वास का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥२९॥

तो मित्र, तुम्हें हमारे शरीर-स्पर्श की शपथ है । इसे बिना दिये नहीं जाना चाहिए । वर्धमानकः

मित्रं तस्य च न परिक्रष्टं न मर्दं न च एतत् नमं शरित्वेणु निर्धनेषु दुस्तरं कष्टेन सन्धुं शक्यते तन्व नमास्ति तस्मादास्मि दरिद्रः इति भावः । दरिद्रपामावसमर्धनाय अनेक-कारणोपादानान् सन्धुन्वयात्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२८॥

विधग्भान् विश्वागात् । असाहितस्य अर्धधितस्य । अनुष्टस्य यस्य केनापि प्रकारेणोपभोगो न कृतः तस्य अनुपशुतस्य ।

चतुसमुद्राणां रत्नाकराणां सारभूता ।

अल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कृते रत्नावलीयं न देयैति विदूषकवचनं निहम्य चाहदत्तः शपथति—धर्मिति । यं विश्वासं समाप्तमभ्य तदा वसन्तसेनाया अस्मात्पुनर्होनेत्यपि न्यायः निर्धनः इतः तस्य महकः प्रत्ययस्य विश्वासस्य एव एतत् रत्नावलीत्वं मूल्यं शोभते । अनुष्टुप् ॥२९॥



एताभिरिष्टिकाभिः सन्धिः क्रियतां सुसंहृत शीघ्रम् ।

परिवादबहुलदोषान्न यस्य रक्षा परिहरामि ॥३०॥

यस्य मंत्रेय, भवताप्यकूपणशौण्डीर्यमभिघातव्यम् ।

विक्रमक — घो, द्रुतिदो कि अरिषण मन्तेदि । [भोः, दरिद्र किमकूपणं मन्त्रयति ]

घातवत् — अदरिद्रोऽस्मि सखे, यस्य मम । 'विभवानुगता भार्या', (३१२= इत्यादि पुन. पठति ।) तद्गच्छतु भवान् । अहमपि कृतशीघ्र. सन्ध्या-मुपासे ।

(इति निष्प्रान्ता सर्वे ।)

इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

अस्मच्छरीरस्य मम आस्वस्तस्य शरीरस्य स्पृष्टिर्वा एतन्नेन शापितोति शपय पाहितोऽसि ।

वर्धमानक सन्धिपूरणाम समादिशति घातवत् — एताभिरिति । एतानि इष्टिकाभिः सन्धिः शीघ्रं सुसंहृतं सम्यक् पूर्णं क्रियताम् । यतः परिषदास्य तोनापवादस्य य बहलं प्रचुरः दोष तस्मात् वारणात् यस्य सन्धे रक्षां न परिहरामि त्यजामि उपेशो वा । सन्तमेव सन्धि रक्षामीत्यर्थं । नाभ्यविद्गमलद्वारः । आर्षाजातिः वृत्तम् ॥३०॥

अहमप्यम् अमन् शौण्डीर्यम् मोदार्यं यत् तद् गथा तथा (वापे) । भगवति

शोध ही इन इंटों से सेव्र भनी प्रकार टोक कर दो, विस (सेष) को रसा (मरम्भ होने) की महान् लोकादवाद के दोष के कारण समझा नहीं कहेंगा (अर्थात् यदि यह सेष इसी प्रकार फूटी रहती तो जनता में मेरे सम्बन्ध में कनेक अपवाद देंगे) ॥३०॥

नित्र मंत्रेय, आरके द्वारा भी कल्पन्त उदारतापूर्वक (बन्तमेना मे सारी बातें) कही जानी चाहिये :

त्रिभूयक—अरे क्या निषेध भी उदारतापूर्वक कह सकता है !

चाववला—नित्र, निषेध नहीं है, विस मंत्रों (घन से अनुगत पत्नी (३।२८) इत्यादि द्विर पड़ना है) । तो मान जायें । मैं भी शौच करके कन्द्या करना हूँ ।

(सब निरुण जाते हैं ।)

सन्धिच्छेद दृतीय अङ्क (समाप्त)

## चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटो)

चेटी—आणित्स्मिह अताए अग्जभाए सभास गन्तुम् । एता अग्जभा वित्तरु-  
सभणिसण्णदिट्ठी मदणियाए सह किपि मन्त्रयन्ती चिट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि ।  
[आज्जप्तास्मि मानार्याया, सकाश गन्तुम् । एषार्या चित्रफलकनिषण्णहृष्टि-  
मंदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति । तच्चावदुपसर्पामि ।] (इति  
परिक्रामति)

(ततः प्रविशति यथानिदिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए, अबि सुसदिसी इअ चित्ताविद्धो अग्जचारदत्ताए ।  
[चेटि गइनिवे, अबि सुसदिसी चित्ताकृतिरायंनारुदत्तस्य ।]  
मदनिका—सुसदिसो ।, सुसदिसी ।]  
वसन्तसेना—अथ सुभ जाणासि ।। कय त्व जानासि ।।  
मदनिका—जेण अग्जभाए सुसिणिद्धा विट्ठी अनुत्तमा । [येनार्याया,  
सुस्सिग्घा हृष्टिरनुत्तमा ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, कि देसवासादाविसण्णेण मदणिए, एव्य णणाति । [चेटि,  
कि वेशवारादाक्षिण्येण मदनिवे एव भणसि ।]

मदनिका—अग्जए, वि जो ज्जेव जणो वेसे पडियसदि सो ज्जेव अलीअद-  
निल्लणो भोदि । [आर्ये कि य एव जणो वेसे प्रतियसति, स एवालीकदक्षिणो  
भवति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, जाणापुरित्तसङ्गेण वेस्ताज्जणो अलीअददिल्लणो भोदि ।  
[चेटि, नानापुरपङ्गेण वेशवाज्जणोऽलीकदक्षिणो भवति ।]

मदनिका—अदो दाव अग्जभाए दिट्ठी इअ अनिरमदि हिअअं च, तस्य वारणं-  
कि पुप्फोअदि । [यतस्तावदार्याया हृष्टिरिहाभिरमये हृदय च, तस्य कारणं  
कि पृच्छथते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, सहीज्जाओ उवहसणीअहां रक्तामि । [चेटि, सखीज्जा-  
दुपहुसणीयतां रक्तामि ।]

मदनिका—अग्जए, एव्य नेदम् । सखीज्जाचिराण्णवरो अदत्ताज्जणो भोदि ।  
[आर्ये, एव्य नेदम् । सखीजनचित्तानुयन्थं बलाज्जणो भवति ।]

---

विषयसूचकः निष्पन्ना ससत्ता रिपरा वा हृष्टिः यस्या ता । मन्त्रयन्ती संतपन्ती ।  
यथानिदिष्टा यथावनिता । सुसदिसी सम्पक् सट्ठो अनुरुपा वा । चित्राहृतिः

## चतुर्थ अङ्क

(सत्यप्रवात् चेटी प्रवेश करती है)

चेटी—माता जी ने आर्या (वसन्तसेना) के पाम जाने की आज्ञा दी है। यह आर्या चित्र-मंड पर दृष्टि गढ़ाये हुए मदनिका के साथ कुछ बातचीत कर रही है।

(इसके बाद यदनिदिष्ट वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना—चेटी मदनिके, क्या यह चित्रस्थ आकृति आर्य चारुदत्त के अनुरूप है ?

मदनिका—अनुरूप है।

वसन्तसेना—तुम कैसे जानती हो ?

मदनिका—क्योंकि आर्या की स्नेहपूर्ण दृष्टि (इसमें) संलग्न है।

वसन्तसेना—चेटी मदनिके, क्या वेर्याजय में रहने से चनुरठा (सीससेने) के कारण ऐसा कहती हो ?

मदनिका—जहाँ, क्या जो भी व्यक्ति-वेर्याजय में रहता है, वह असत्य बोलने में कुशल (या मिथ्याप्रियवादी) होता है।

वसन्तसेना—चेटी, विभिन्न पुरुषों के संसर्ग के कारण वेर्याजन 'अमत्यण्डु' हो जाती है।

मदनिका—बस नि आर्या की दृष्टि और हृदय यहाँ (चित्र में) रम रहे हैं (चित्र) उसका कारण क्या पूछ रही है।

वसन्तसेना—चेटी, सखीजन के उपहास में बचना चाहती हूँ।

मदनिका—यह ऐसा नहीं हो सकता। अबलायें (मित्रणी) सखीजन के चित्त के अनुसार चलने (स्ववहार करने) वाली होती हैं।

चित्रनिगिता आकृतिः । अनुसाम्ना संसत्ता । चेटी वेर्याजये वासेन । नरसनन एद्  
वाञ्छित्य चानुत्तं तेन । अतीकं मिथ्या दक्षिणः चनुरः । मिथ्याप्रियवादी इति वाच्यः ।  
अपवा अतीकं मिथ्यावादे दक्षिणः कुञ्चनः ।

तस्य अभिरम्यस्य । यत्र यशुहृदये साने तत्र कारणं किं पर्यापोच्यते । अति-  
प्रियनामाभावत्तं चित्रस्थेनेत्याशयः—इति पृथ्वीप्रः । रक्षाभि निवारयप्रमि । सखी-  
जनस्य चित्तम् अनुवर्तते चनुररति सखीजनचित्तानुसरणमिति । सखीजनः स्वमन्याः  
चित्तमनुसरति न तु तस्याः अभिरमण्यादिरमुपहमतीति भावः ।

प्रथमा चेति—(उपसृत्य) अज्जए, अता, आणवेदि—‘गहिवावगुण्ठण  
पवसदुआरए सञ्ज पवहणम् । ता यच्च’ त्ति । [आय्ये, माताजापयति—‘गृहीताव-  
गुण्ठन पक्षाद्वारे सञ्ज प्रवहणम् । तदगच्छ’ इति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, कि अज्जवारदत्तो म णइस्तदि । [चेदि, किमाय-  
चारुदत्तो मा नेप्यति ।]

चेटी—अज्जए, जेण पवहणेण सत्तु सुवण्णदससाहस्सिओ अलकारओ अणुप्पे-  
त्तिरे । [आय्ये, येन प्रवहणेन सह सुवर्णवशासाहस्सिकोज्जङ्कारोऽनुप्रेषित ।]

वसन्तसेना—को उण सते । [कः पुन स ।]

चेटी—एसो उजेव राअस्तासो सठाणओ । [एय एव राजश्याल सस्थानक ।]

वसन्तसेना—(सत्रोपम्) अवेहि । मा पुणो एव्व णणिस्ससि । [अपेहि । मा  
पुनरेव भणिष्पसि ।]

चेटी—पत्तीवहु वसोवहु अज्जआ । सदेतेण म्हि वेसिवा । [प्रसीदतु  
प्रसीदत्पार्या । स देशेनास्मि प्रेषिता ।]

वसन्तसेना—अह सदेतस्य उजेव कुप्पामि । [अह संदेशस्यैव कुप्पामि ।]

चेटी—ता किति अरा विष्णविस्सम् । [तत्किमिति मातर विज्ञाप-  
यिष्पामि ?]

वसन्तसेना—एव्व विष्णाविदग्धा—अइ म जीअन्ती इच्छसि, ता एव्व ण पुणो  
अह मराए भाणविदग्धा । एव विज्ञापयितग्धा—‘यदि मा जीवन्तीमिच्छसि,  
सदेव न पुनरह माणसापयित्त्या’ ।

चेटी—जघा दे रोअदि । [यथा ते रोधते ।] (इति निष्क्रान्ता)

~ (प्रविश्य)

शवित्क.—

दत्त्वा निशाया वचनीयदीव निद्रा न जित्वा नृपतेश्च रक्षान् ।

। स एव सूर्षोदयमन्दरशिमे क्षराक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ॥१॥  
अपि च ।

य कश्चित्परितगतित्तिरोक्षणे मा

सभ्रान्तं द्रुतमुत्सर्पति स्थितं च ।

गृहीतम् अवगुण्ठनम् आच्छादनम् आवरणं वा येन तत् प्रवहणं स्त्रीणां  
स्थितिमीर्यं समाच्छादितं गहनं पक्ष्यादौ सञ्जं प्रस्तुतम् । सुवर्णानां दशसहस्रं  
सुवर्णं दशसहस्रं तेन सञ्जं स्त्रीणां वा सुवर्णं दशसहस्रं ।

सुवर्णं भाषणं गृह्यते कश्चित् न नदिनां निप्रपणार्थं वसन्तसेनायाः सह गच्छन्

प्रयत्ना चेदो—(समीप जाकर) आर्य, मन्ना जी यह आज्ञा देती है कि बरत के दरवाने पर परे से ढका हुआ रथ तैयार है । इनमिने जाओ ।

बन्तसेना—चेदि, क्या आर्य चारदत्त मुझे ले जायेंगे ?

चेदो—आर्य, जिसने रथ के साथ दस सहस्र (हजार) नुवर्ण का आभूदन भेजा है ।

बन्तसेना—कौन है फिर यह ?

चेदो—यही राजा का साता संस्थानक ।

बन्तसेना—(शोषपूर्वक) दूर हटो । ऐसा फिर नहीं रहता ।

चेदो—आर्य, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, सन्देश लेकर भेजी गई हूँ ।

बन्तसेना—मैं सन्देश पर ही क्रोधित हूँ ।

चेदो—तो भाता जी से क्या कहूँ ?

बन्तसेना—यह कहना—'यदि मुझे जीवित चारदो हो, तो मुझे भाता जी के द्वारा इन प्रकार फिर आज्ञा न मिलनी चाहिये ।'

चेदो—जैसा तुम्हें (आर्यको) अच्छा लगता है । निरन जाती है)

(प्रवेग करके)

शर्विनक—निद्रा का दोष रात्रि पर लगाकर, निद्रा एव राजा के रसकों को जोड़कर, यह (मैं) रात्रि का अवमान हो जाने ने मुर्योदय के कारण मन्द रात्रि जाने (चन्द्र के पक्ष में—मन्दनेत्र, शर्विनक के पक्ष में—मन्द पण्डन) चन्द्रमा के मृदु हो गया है ॥१॥

शौर शो—

शौर पति बाना जो कोई मुझे देख लेता है या पकड़ाकर लड़े हुए मेरे पास शीघ्रता से भा जाता है, मेरा यह दूषित (सङ्कित) अन्तःकरण उन सबको सन्दिग्ध

स्वविन्दे विन्दयति—दत्वेति । निगायाः राज्ञेः बहूनोऽदीर्घं निगायानेव शीघ्रं विन्दं बभूवुः । निगा हि स्वर्गिणं करोति । बभूवुः इत्यं दीर्घं दत्त्वा निगां विन्त्वा नृपतेः राज्ञः राजान् रसातुरयान् च जित्वा परिहृत्य स एवः अहं क्षत्र्याः निगायाः सजात् अवमानात् दूषोऽनेन मन्त्राः सोमाः रथमयः विरमाः मत्स्यं तदाभूवुः । चन्द्रः इव जातः अस्ति । वननद्वारात् । वनजातिः इत्यन् ॥१॥

य इति । यः कश्चिद् स्वस्तिपतिः । यः, विरीणते, सम्प्रान्त स्थितं वा द्रुतम् उत्कर्षति । दूषितः अन्तरात्मा तं सर्वं तुनयति, अनुष्णः हि स्वरोचं । अङ्कितो भवति—पश्यन्तः । यः कश्चिद् स्वस्तिपतिः दत्तं तादृशः शोषणानी अनुष्णं वा शर्विनकं विरीणते अथवा सम्प्रान्तं अङ्कितं स्थितं वा द्रुतं शीघ्रम् उत्कर्षति समीपम् आगच्छति

त सर्वं तुल्यति दूषितोऽन्तरात्मा  
 स्वर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्य ॥२॥  
 मया खलु मदनिकाया कृते साहसमनुष्ठितम् ।  
 परिजनवचासक्त वशिचन्नर समुपेक्षित  
 धवचिदपि गृह नारीनाथ निरीक्ष्य विवर्जितम् ।  
 नरपतिबले पार्श्वधियाते स्थित गृहदाख्वद्  
 व्यवसितशतेरवप्रायेनिशा दिवसीकृता ॥३॥✓

(इति परिज्ञामति ।)

वसन्तसेना—हृज्जे इम इ य चित्तफलम मम राजणीये ठाविम तातवेष्टम  
 गेहिम सह भागच्छ । [चेटी इम तावच्चिनगफना गम शयनीमे स्थापयित्वा  
 तालवृन्त गृहीत्वा लघ्वागच्छ ।

मदनिका—अ अजमा आणवेरि । [यदार्थाज्ञापयति ।] (इति फल  
 गृहीत्वा निष्क्रान्ता ।)

शविलक—इद वसन्तसेनाया गृहम् । तथावत्प्रविशामि । (प्रविश्य)  
 मव नु मया मदनिका द्रष्टव्या ।

(तत प्रविशति तातदृत्तहरता मदनिका)

शविलक—(दृष्ट्वा) अये, इय मदनिका ।

मदनमपि गुणविशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम् ।

मम हृदयमनूवह्नितप्तं भूषामिव चन्दनशीतल करोति ॥४॥

मदनिके ।

मदनिका—(दृष्ट्वा) अग्नो तन्मिलनो वध तन्वित्तम, सामव वे कर्हि तुमम् ।  
 [आश्चर्यम् वध शविलक । शविलक, स्वागत त । मुत्र स्वम् ।]

दूषित दोषयुक्त अन्तरात्मा मम हृदय त सर्वं जन तुल्यति शङ्कादृष्ट्या पश्यति  
 हि यत मनुष्य स्वर्दोषैः शङ्कित शङ्कायुक्त भवति । अर्थांतरयातोऽनङ्कार ।  
 प्रहृषिणी वृत्तम् ॥२॥

परिजनेति । मया शविनेन परिजनस्य भृत्यवर्गस्य वचायां वार्तायाम्  
 आसक्त सलग्न कश्चित् नर जन समुपेक्षित त्यक्त । धवचिद् अपि स्थाने  
 गृह नारीनाथ यस्य तद् पुण्यरहित नर्वाधिष्ठित च निरीक्ष्य दृष्ट्वा विवर्जित  
 त्यक्त तत्र प्रविष्टमिति भाव । नरपते राज यत्ने रणवर्गे पार्श्वधियाते समीपम्  
 आगत मति गृहदाख्वद् स्वम्भादिदृष्ट्वाप्यवत् स्थितम् । एव प्रायं एतादृशं व्यद

दृष्टि से देखने लगता है । वस्तुतः मनुष्य अपने दोषों के कारण विकृत हो जाना है ॥२॥

वास्तव में मदनिका के लिए मैंने यह साहस (वीरकर्म) किया है । मृत्यो के साक्ष्य करने में लगे हुए किसी पुरुष की उपेक्षा की (अर्थात् उसके घर में प्रविष्ट नहीं हुआ), वही उस घर की स्त्री ही जिसकी स्वामिनी है ऐसा (अर्थात् पुरुष रहित) देखकर छोड़ दिया; राजरक्षक के समीप में आ जाने पर गृहवाण्ड के समान (निश्चल) सारा हो गया, इन प्रकार के सैकड़ों कार्यों से (मैंने) रात्रि को दिन बना दिया (रात्रि जागते ही बिठा दी) ॥३॥

(धूमता है)

सन्तसेना—चेटी, ठनिक इस चित्रपट को मेरे बिस्तर पर रखकर तानवन्त (ठाढ़ के पत्तों से बना पंखा) लेकर शीघ्र आ ।

मदनिका—जो आर्मा बाझा देती हूँ (चित्रपट को लेकर निकल जाती है) ।

शबिलक—मह बसन्तसेना का परे है । तब प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करके)

मदनिका को मुझे कहीं देखना (सोजना) चाहिये ?

(तत्पश्चात् ठाढ़ का पंखा हाथ में लिये मदनिका प्रवेश करती है)

शबिलक—(देखकर) अरे यह मदनिका ।

जो यह (अपने) गुणों के द्वारा कामदेव का भी अतिक्रमण करती हुई (उससे अधिक बढ़ती हुई) मूर्तिमती (देहधारिणी) गति (कामदेव की स्त्री) के समान घोषित हो रही है । कामान्नि से संतप्त मेरे हृदय को चन्दन से शीतल-सा कर रही है ॥५॥

मदनिका—(देखकर) आचर्य ! क्या शबिलक ! शबिलक, तुम्हारा स्वापव है । तुम कौन ?

विधाना कार्याणां गतः निशा रात्रिः दिपनीहृता दिवश्रवत् शुभ्रा । आपता एव रात्रिः  
कस्मिँश्चि भावः । हरिणी वृत्तम् ॥३॥

तानवन्तं तामप्यनिमित्तं व्यजनम् । मधु शीघ्रम् ।

मदनिकां दृष्ट्वा शबिलकः कथयति—मदनमपीति । इयं मदनिका मुनिः  
शेन्दर्दारिद्रिः मदनं कामदेवम् क्वचि विशेष्यन्ती विविष्टं सुषंती कल्पितास्ती इति  
पापम् भूतिभङ्गी देहधारिणी रात्रिः इव विभ्रति शोभते । या इयम् र्धनन्नवह्निना  
शानान्निदा तप्तं मम शबिलकस्य हृदयं भृशम् अत्यन्तं चन्दनशीतलम् इव करोति ।  
उत्तं कामद्वारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥५॥

शिरपति विषम् करोति । भुविष्या प्रेष्या, मृत्वा गाशारभजनमोम्या वा, न  
पुत्रिष्या ममन्विष्या तां स्वाद्योना गृहस्थां वा । आशारोमिष्यामि कम्पानिष्यामि इति  
शतम्बरम् ।



शविलक — कथयिष्यामि ।

(इति सानुरागमभ्योन्य पश्यत )

वसन्तसेना—चिरञ्जिदि मदगिजा । ता कहि षु बखु सा ? (गवाशेन दृष्ट्वा)  
कथ । एसा केनापि पुरिसकेण सह मन्तअन्तो चिट्ठदि । अघा भदिसिगिजाए विन्व-  
सदिट्ठोए आपिक्खतो विअ एव विन्वसाअदि तथा तक्कोमि एतो जथो एव इच्छदि  
अभुजिस्स करदुम् । ता रमदु रमदु । मा कस्सावि पोडिच्छेदो भोदु । ग बखु सदा-  
विस्सम् । [चिरयति मदनिवा । तत्कुत्र नु राखु सा । कथम् । एसा केनापि  
पुरुषवेण सह मन्तयन्ती तिष्ठति । यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्ती-  
वैत निष्पायति तथा तर्कयामि एष स जन एनामिच्छत्यभुजिष्या कतुम् ।  
सदमता रमताम्, मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु । न सत्वाकारयिष्यामि ।

मदनिका—सन्धिलज, कथेहि । [शविलक, कथय ।]

(शविलक सशङ्कं दिशोऽवलोकयति)

मदनिका—सन्धिलज, कि णोदस् ? ससङ्को विअ लक्खीअसि । [शविलक,  
कि त्विदम् ? सशङ्क इव लक्ष्यसे ।]

शविलक—अक्षयेत्या किञ्चिद्रहस्यम् । तद्विबिक्तमिदम् ।

मदनिका—अघहं । [अथ किम् ।]

वसन्तसेना—कथं परमरहस्यम् । ता ण सुणिरस्स । [कथं परमरहस्यम् ।  
तन्न श्रोष्यामि ।]

शविलक—मदनिके, कि वसन्तसेना मोदयति त्वां निष्कुर्येण ?

वसन्तसेना— कथं मम सन्धिनी कथा । ता सुणिरस्स इमिणा पवरवेण  
ओआरित्तररीरा । [कथं मम सन्धिनी कथा । तच्छ्रोष्याम्यनेन गवाशेणा-  
पवारित्तररीरा ।]

मदनिका—सन्धिलज, अणिरा अए अज्जभा । तरो अणारि—‘जइ मम द्दणो  
तरा विणा मय सखं परिजणं अभुजिस्स करदस्सम्’ । अथ सन्धिलज, कुरो हे  
एतिसो विहवो, वेण मं अज्जआसआसाओ ओआइरससि । (शविलक, भणित्ता  
मयाया । तदा भणति—‘अदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्य  
करिष्यामि । अथ शविलक, कुतस्त एतावान्विभव, येन मामायासकामा-  
म्भोचयिष्यसि ।]

शविलक—

दाखिपेणाभिभूतेन त्वदस्नेहानुगतेन च

अथ रात्रौ मया भीरु, त्वदर्थं साहसं कृतम् ॥१॥

शबिलक—वताऊंगा ।

(प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखते हैं) .

वसन्तसेना—मदनिका देर कर रही है तो वह कहाँ है ? (झरोखे से देखकर) क्या ? यह किसी पुरुष के साथ बात करती हुई खड़ी है । जैसे अति प्रेमपूर्ण, निश्चल दृष्टि से इनको पीछी हुई सी देख रही है, उससे अनुमान लगाती हूँ कि यह वह व्यक्ति है जो इस (मदनिका) को बन्धनमुक्त करना चाहता है, तो रमन करे, रमन करे ! किसी का भी प्रणय-विच्छेद न हो । वुलाऊंगी नहीं ।

मदनिका—शबिलक, बहो ।

[शबिलक शङ्खामूर्वक दिशायें (चारों ओर) देखता है।]

मदनिका—शबिलक, यह क्या है ? शङ्कित चे दिखाई दे रहे हों ।

शबिलक—तुम्हें कुछ रहस्य बताऊंगा । यह (स्वान) एकान्त तो है ।

मदनिका—और क्या ?

वसन्तसेना—क्या बड़ा रहस्य है ? तो नहीं मुर्नगी ।

शबिलक—मदनिके, क्या वसन्तसेना (मुक्तिनिमित्तक) धन देने से तुम्हें मुक्त कर देगी ?

वसन्तसेना—क्या, मुझसे सम्बन्ध रखने वाली बात है ? तो शरीर धिया कर इस सरोखे से मुर्नगी ।

मदनिका—शबिलक मैंने आर्षा से कहा था । तब बीनी—'यदि मेरा कष्ट (एन्द = इच्छा) हो तो धन के बिना सब सेवकों को स्वतन्त्र कर दूँ ।' किन्तु शबिलक, तुम्हारे पास इनकी सम्भक्ति कहाँ है जिनसे मुझको आर्षा के पास से मुक्त करा लीगे ?

शबिलक—हे भीर, निघंनता से पीड़ित एवं तुम्हारे प्रेम से मुक्त मैंने आज रात में तुम्हारे लिये साहस्य (बीर कर्म) किया है ॥५॥

त्रिविकं निघंनम् । निष्कयेण मुक्तिनिमित्तकेन धनेन । अथवास्तिं गोपितं भीरुं दया उपामूता । मम हृन्दः अभिताप ।

शब्दपेक्षेति । हे भीर, शब्दपेक्षेण निघंनतया अभिभूतेन उत्तरेण पीडितेन मेपि त्वयि मेहः स्वस्नेहः तेनानुपनः त्वत्स्नेहानुपनः तेन त्वदीयमेवमुक्तकेन मया मेघंनतेन अथ रात्री त्वदपे नः भोवनार्थं साहस्यं चौरैश्चनंरूपं कृतम् ।

वसन्तसेना—वसन्ता ॥ अकिरी, साहसकर्मदाए उग्र उध्वेभणोप्रा ।  
[प्रसन्नास्पाकृति साहसकर्मतया पुनरुद्वेजनीया ।]

मदनिका—सखिजस, इत्योक्तत्वत्तस्त कारणेण उहम पि ससए विगिरि-  
सम् । [शविलक, स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि सशये विनिक्षिप्तम् ।]

शविलक—किं किम् ।

मदनिका—सरोर चारित्त च । [शरीरं चारित्र्य च ।]

शविलक.—अपण्डिते, साहसे श्री प्रतिवसति ।

'मदनिका—सखिजसम अखण्डितचारित्तो सि । ता न कु ते मम करणारो  
साहस करन्तेण अखन्तविहृद आचरिदम् । [शविलक, अखण्डितचारित्र्योऽसि ।  
तन्न खसु स्वया मम कारणारसाहस कुवतारयन्तविहृदमाचरितम् ।]

शविलक—

नो मुष्णान्मवला विभूषणवती फुल्लामिवाह सता

विप्रस्व न हरामि काञ्चनमयो यज्ञार्थमभ्युद्यूतम् ।

धाम्भुरसङ्गत हरामि न तथा बाल धनार्थो भवधि-

त्कार्माकार्मिन्धारिणी मम मतिश्चोर्वेऽपि नित्यं स्थिता ॥६४

तद्विश्राप्यता यरान्तरोना—

'अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मित ।

अप्रकाशो ह्यलङ्कारो मस्तेहाद्यार्थतामिति' ॥७॥

मदनिका—सखिजस, अप्पकाशो अलकारओ । अअ च जनो सि कुवेवि न  
जुगजि । ता उवणेहि बाव वेवतामि एह अलकारअम् । [शविलक, अप्रकाशो-  
ऽलङ्कार । अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते । तदुपनयं सावत् । परयाम्ये-  
नमलङ्कारम् ।

उद्वेजनीया उद्वेजयतीति 'इत्यत्युदो बहुसम्' ३/३/११३/ इति कर्त्तरि  
अनीप् उद्वेजनिवा इत्ययः । विनिक्षिप्तम् पातितम् । साहसे जीवितानपेक्षकर्मणि  
(पृथ्वी ०) श्री सङ्गो प्रतिवसति तिष्ठति, यं नीवितमपि अनपेक्ष्य कर्म करोति  
सः सम्पत्तिमर्जयितुं शक्नोतीति भावः । अखण्ड चारित्र्य यस्य सः । अत्यन्तविहृदं  
लोकधारत्रविहृदम् ।

मदनिकावचनं निशम्य शविलकः स्वचरितं वर्णयति—नो इति । धनार्थो अहं  
फुल्ला सताम् इव विभूषणवतीम् अवता न मुष्णामि, विप्रस्व न हरामि, अयो यज्ञ-  
ार्थम् अभ्युद्यूतं काञ्चन (न हरामि) तथा भवचित् धाम्भुरसङ्गतं बालं न हरामि ।  
चोर्वे अपि मम मतिं नित्यं कार्याकार्मिन्धारिणी स्थिता । इत्यन्वयः ।

वसन्तमेना—इसकी आकृति प्रसन्न है किन्तु साहसिक कार्य (करने) में उद्देगजनक है ।

मदनिका—शवितक, कलेवे के जैसी (तुच्छ) स्त्री के कारण (तुमने) दोनों ही मंगल में डाल दिये ।

शवितक—क्या, क्या ?

मदनिका—शरीर और चरित्र ।

शवितक—अज्ञे, गाटम में लक्ष्मी वास करता है ।

मदनिका—शवितक, तुम अल्पवित्त चरित्र वाले हो, तो मेरे कारण से साहस करने हुए तुमने (अपने चरित्र के) नितान्त विपरीत आचरण नहीं किया ।

शवितक—धन का इच्छुक मैं पुण्डित सता जैसी आभूषण वाली भवला (स्त्री) को नहीं छूटता हूँ, ब्राह्मण के धन को एव यज्ञ के लिये एकत्र किये गये सुवर्ण को नहीं चुराता हूँ और मैं नहीं धाय का गोद में स्थित बानक को भी नहीं हरता हूँ । चोरी में भी मैं मेरी बुद्धि कायं अकार्यं (उचित अनुचित) का विचार करने वाली रहती हूँ ॥६॥

तां वसन्तमेना मे निवेदन करो—

‘यह आभूषण मानो तुम्हारे शरीर की ही नाप से बनाया गया है, यह प्रकट करने योग्य नहीं है, मेरे प्रेम से इसे धारण कीजिये ॥७॥

मदनिका—शवितक प्रकट रूप में न पहिने योग्य अलङ्कार और यह जन (अर्थात् वसन्तमेना) दोनों की संगति नहीं बैठती, तो अब मुझे दो । इस आभूषण को देरती हूँ ।

धनार्थं धनं नामगमानोपि अहं शवितकः कुलं पुण्डिता सताम् इव विभूषण-  
वतीम् अलङ्कारयुताम् अबलां नारीं न मुष्णामि चोरयामि, विप्रस्य ब्राह्मणस्य स्वं  
धनं न हरामि न चोरयामि । शयो अथवा यज्ञार्थं यज्ञस्य निमित्तम् अभ्युद्युतम्  
पृषत् स्थानि काल्पितं मुदर्थं न हरामि । तथा नर्यैव वचविन् शम्भ्याः उत्सङ्गानम्  
अष्टुं गिन्यं घातं न हरामि । चौर्ये चौर्यमणि अपि मम मति बुद्धिः नित्यं मया  
कार्यं अकार्यं च विचारयन्ति जन्तूना इति उचिन्तानुचिन्तितिवेदिनी स्थिता निष्ठति ।  
पुन्या मनामिवेति लग्गालङ्कारः । ज्ञातुं ताविविद्धितं वृत्तम् ॥६॥

अपमिति । तव वसन्तमेनायाः शरीरस्य अङ्गस्य प्रमाणाद् इव प्रमाणं  
इत्वा इव निमित्तः रचितः । अयं पुरोवर्ती अलङ्कारः अप्रकाश अनुचितः प्रमाणो  
यस्य मोःप्रकाशः । अत्रात्रात्र उचि पाठान्तरं प्रवामिद्विनुमयोग्यः इत्यर्थः ] हि मनु  
मन्तेहात् मयि म्नेहात् नारणान् प्रकथा अय धायताम् । प्रमाणादिवेनुप्रेसा ।  
पन्नात्रय वृत्तम् ॥७॥

शविलक—इदमलङ्कारणम् । (इति सामङ्ग्य समपंयति)

मदनिका—(निरूप्य ।) विटठपुरुष्यो विज अज अलकारजो । ता भगेहि कुपो  
द एसो । दृष्टपूर्वं इवायमलङ्कार । तदभण कुतस्त एष ।

शविलक—मदनिके, किं तवानेन । गृह्यताम ।

मदनिका—(सरोयम् ।) अइ मे पञ्चज ण गच्छसि, ता किणिमित्त म

णिविकणासि । [यदि मे प्रत्यय न गच्छसि तत्किनिमित्त मा निष्प्रीणासि ।]

शविलक—अयि, प्रभाते मया धृत श्रष्टिचत्वरे, यथा— सायवाहस्य  
षाघदत्तस्य इति ।

(यस्य तसेना मदनिका च मूर्च्छा नाटयत)

शविलक—मदनिके समाश्वसिहि । किमिदानी त्वं

विषादस्त्रस्तसर्वाङ्गी सध्रमध्रान्तलोचना ।

नीयमानाऽभुजिष्यात्व वम्पसे नानुकम्पसे ॥८॥

मदनिका—(समाश्वस्य) साहसिअ ण क्खु तुए मम कारणादो इम अकञ्ज  
करणेण तांसि गेहे कोवि धावाविदो परिषलदो वा । [साहसिक, न खलु त्वया मम  
धारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन्गेहे कोऽपि व्यापादितं परिक्षतो वा ।]

शविलक—मदनिके, भीते सुप्ते न शविलक प्रहरति । तन्मया न  
कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षत ।

मदनिका—सच्चम् । [सत्यम् ।]

शविलक—सत्यम् ।

यतन्तसेना—(सशां लब्ध्वा) अम्महे, पञ्चुजजीविरग्धि । [आश्चर्यम, प्रत्यु-  
पजीवितास्मि ।

मदनिका—विअम् । [प्रियम् ।]

शविलक—(सेर्व्यम्) मदनिके किं नाम प्रियमिति—

त्वत्स्नेहवद्बहूदयो हि करोम्यकार्यं

सद्वृत्तपूर्वपुरपऽपि कुसे प्रसूत ।

अथ जन यतन्तसेनारूपं वेषया हि अप्रवाशयमन्तरुं न धारयितुं शक्नोतीति  
भावः । पूर्वं दृष्ट इति दृष्टपूर्वम् । कुत परमात् स्थानात् एष अन्तरुं ते तव  
(दृष्टगतो जातः) । मम प्रत्यय विश्वास न गच्छसि न प्राप्नोषि मयि न विश्रसिदि  
इति भावः । अयि इति सम्बोधनेऽप्ययम् ।

मूर्च्छितां मदनिकां दृष्ट्वा शविलकस्ता वचयति—विषादिति । इदानीं स्वम् अमु-  
ञ्जिष्यात्वं भुजिष्या दासी तस्या भावः भुजिष्यात्वं न भुजिष्यात्वं अमुञ्जिष्यात्वं

शबितक—यह रहा बामुपम । (शङ्कापूर्वक दे देता है)

मदनिका—(दिन कर) यह बामुपम पहले देखा हुआ सा है, तो बताओ यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

शबितक—मदनिके, तुम्हें इससे क्या ? प्रहृण करो ।

मदनिका—(कोपपूर्वक) यदि मेरे विश्वास को प्राप्त नहीं होते तो किस लिए घन देकर मुझे मुक्त कराते हो ?

शबितक—अरे, प्रातःकाल मैंने सेठों के चौक में यह मुना घा कि—‘सार्पवाह चारदत्त का है ।’

(बसन्तसेना और मदनिका मूर्छा का अभिनय करती हैं)

शबितक—मदनिके, धैर्य धरो । इस समय तुम क्यों—

दुःख से शिथिल सम्पूर्ण अंगो वाली, पड़ताहट से भ्रान्त (चञ्चल) नेत्रो वाली (स्त्री) काप रही हो ? बन्धनमुक्त कराई जाती हुई तुम अनुग्रह (स्त्री) नहीं करती हो ॥८॥

मदनिका (धैर्य धरकर) हे माहसी, मेरे निमित्त मे यह अनुचित कार्य करते हुए तुमने उम घर में कोई मारा (तो नहीं ?) अथवा घायल तो नहीं किया ?

शबितक—मदनिके उरे हुए और मांसे हुए रर शबितक प्रहार नहीं करता है । तो मैंने न कोई मारा, न ही घायल किया ।

मदनिका—सच ?

शबितक—सच ।

बसन्तसेना—(चितना पाकर) आश्चर्य ! पुनः जीवित हो गई हैं !

मदनिका—प्रिय है ।

शबितक—मदनिके, क्या है ‘प्रिय’ ?

मदाचारी थे पूर्व पुरप जिमने ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ भी (मैं) तुम्हारे प्रेम से बगीछूट हृदय वाला होकर अनुचित कार्य करता हूँ । काम के द्वारा नष्ट हो गया है

अदास्यभावं मीपमाना प्राप्यमाया विधादेन निदेन छस्तानि मन्तानि—सर्वाणि अङ्गानि यस्याः तदाभूता सम्प्रभेष मयेन ज्ञान्ते चञ्चने मोचने नेत्रे यस्याः तादृशो च भूत्वा किं रूपे कम्पने कम्पिता जाता न अनुकम्पये मरि अनुग्रह न करोमि । विभावना विशेषोक्तिरबामुपारो । अप्यावस्त्र वृत्तम् ॥२॥

व्यापारितः हतः । परितस्त जाह्न ।

मदनिकारचने निजाम्य शबितकविबन्धनि यद् चारदत्तः एतस्याः प्रियः तन्मय मदनिका प्रति कथयति—स्वर्दिनि । मद्रुन येना ते मद्रुताः सदाचारिणः सद्रुता पुत्रं पुत्रा पर नन्मिन् बुधे प्रभुन् उन्नन्ः अवि अह शबितकः स्वस्नेहेन

रक्षामि मन्थमविपन्नगुणोऽपि मान

मित्रं च मा व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥६॥

(साकृतम्)

इह सर्वं स्वफलिनं कुनपुत्रमहाद्रमा ।

निष्फलत्वमलं यान्ति चेश्याविहगभक्षितः ॥१०॥५

अयं च सुरतज्ज्वालं कामाग्निं प्रणयेन्धनं ।

नराणां मयं हूयन्ते यं वनानि धनानि च ॥११॥५

वसन्तसेना--(अस्मितम्) अहो, ते अस्थाने आविषो । [अहो, अस्थात्पान  
आवेग ।]

शक्तिश्च—सवया—

अपण्डितान्ते पुरुषा मता मे यं स्त्रीषु च क्षयु च विश्वाम्नि ।

धियो हि कुयन्ति तर्षव नायौ भुजङ्गान्यापरिसपगानि ॥१२॥

स्त्रीषु न रागं वायौ रक्तं पुरयं रिन्नयं परिभवन्ति ।

रक्तं च हि रक्तं वा विरक्तभावा तु हातव्या ॥१३॥

सुष्ठु सत्त्विशमुच्यते—

तवानुरागेण बद्धं वशीकृतं हृदयं यस्य तादृशं सन् हि— शक्यम् अनुचितं बन्धं करोमि ।  
तथा च मग्नेन वायेन विपन्ना नष्टा गुणा यस्य तादृशोऽपि मान आत्मसम्मान  
रक्षामि । किन्तु त्वं मा शक्तिश्च मित्रं व्यपदिशसि वाचा दर्शयसि अपरं चारदत्तं च  
यासि तेन सह मनसा प्रीतिं करोषीति भावः । वगन्तिलया वृत्तम् ॥६॥

पुनश्च शक्तिश्चः (साभिप्राय = साकृत) चेश्यान्न निर्वि— इहेति । १०  
अस्मितं तोरे तर्षव गर्वयामव पनमेपामन्ति इति गर्वस्थपत्ति (टि०) कुनपुत्रा  
एव महाद्रमा महाद्रुभा चेश्या त्वं विहगा पक्षिणं तं भक्षिता मन पर्याप्तम्  
अत्यर्थं वा निष्फलत्वं पनरातिपम् पनपनना वा यान्ति प्राप्नुवन्ति । साकृतम्  
सत्त्विशः । पश्चादवन् वृत्तम् ॥१०॥

अपमिति । सुरत रतिश्रीला एव ज्वालना अग्निगता मय्यं म, प्रथमं अनुराग  
एव इन्धनं यस्य न अयं कामाग्निं वायं एव अग्निं अग्निः । यत यस्मिन् नराणां  
धीयन्तानि धनानि च हूयन्ते भस्मयान् रिन्नयः । साकृतम् पञ्चाङ्गः । पञ्चाङ्ग  
वृत्तम् ॥११॥

गुण जिनका ऐसा होकर भी (अपने) सम्मान की रक्षा करता है। तुम मुझको (मिथ्या ही) मित्र कहती हो, दूसरे (प्रेमी) के पीछे जाती हो अर्थात् किसी दूसरे से प्रेम करती हो)

(अभिप्रायपूर्वक)

यहाँ (इस सप्तर में) अपनी समस्त सम्पत्ति ही जिनका फल है, ऐसे कुलीन पुत्र रूपी महान् वृक्ष वेश्या रूपी पक्षियों द्वारा खाये जाकर पूर्णतः निष्कलता (युवक पक्ष में—प्रसफलता, वृक्ष पक्ष में—फलरहितता) को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥

रति-कीड़ा जिसको जवाला है (एव) प्रेम जिसका ईशान है, ऐसी ग्रह काम-वासना रूपी अग्नि है, जहाँ (जिस कामाग्नि में) मनुष्यों के यौवन और धन होम (भस्म नष्ट) किये जाते हैं ॥११॥

वसन्तसेना—(मुक्तराकर) अहो! इनका आवेग (रोष) बिना अवसर (कारण) के ही है।

शकितक—हर प्रकार से—

वे मनुष्य मुझे मूल्य लगने हैं जो स्त्रियों और सम्पत्ति पर विश्वास करते हैं। सम्पत्ति तथा स्त्रियाँ संपंबन्धियों के समान कुटिल गमन करती हैं ॥१२॥

स्त्रियों पर प्रेम नहीं करना चाहिए, स्त्रियाँ प्रेमी (अनुरक्त) पुरुष को (भी) तिरस्कृत कर देती हैं। प्रेम करने वाली (स्त्री) के साथ ही रमण करना चाहिए, उदासीन (प्रेमहीन स्त्री) तो त्याग देनी चाहिए ॥१२॥

यह वास्तव में ठीक कहा जाता है—

अस्याने—अनुक्तं स्थाने, अनवमरे । आशेगः रोषः ।

कुट्ट. शकितकः वेश्याजनं निर्धेत्यं द्वाभ्या श्नोकाभ्या स्त्रीभानं तिरस्त्रि—  
अपगता इति । ये पुरया स्त्रीषु श्रीषु मन्निषु च विरहमनि विरहासं कुर्वन्ति  
हे अपशिना. अमानिन मे मनाः मम अभिमताः हि पतः भियः सम्पदः तपेव नार्यः  
मुक्तराकरानां संपंबानाना परिमपंचानि तासाभिव वरगमनानि कुर्वन्ति । अतानाः  
न विरवास्योग्याः इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥१२॥

स्त्रीषु इति । स्त्रीषु नारीषु रागः प्रीतिः न कार्यः कर्तव्यः । स्त्रियः रक्तम्  
अनुरागपुत्रं पुर्यं पश्मिवन्ति निरकुर्वन्ति । पत. हि रक्ता अनुरागपुत्रा एव नारी  
रक्तभ्या रमणयोग्या अस्ति विरक्तभावा विरक्त अनुरागपुत्रः भावो यस्याः पाहमी तु  
नारी हानस्या पश्मिवन्त्या । आर्या वृत्तम् ॥१२॥



एता हसन्ति च रुदन्ति च वितहेतो-

विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।

तस्मान्मरेण कुलशीलसमन्वितेन

वेश्याः शमशानसुमना इव वर्जनीया ॥१४॥

अपि च—

समुद्रवीचीव धलस्वभावा संध्याध्रलेसेव मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियो हृतार्था पुरुष निरर्थं निष्पीडितानक्तकवत्यजन्ति ॥१५॥

स्त्रियो नाम चपला —

अग्य मन्थ्य हृदयेन कृत्या अन्य ततो दृष्टिभिः राह्वयन्ति ।

अभ्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्य शरीरेण च वनमयन्ते ॥१६॥

सूक्तं खलु कस्यापि—

न पर्यताग्रे नत्तिनो प्रराहति न गदभा वाजिधुर यदस्ति ।

यवा प्रयीर्णा न भयस्ति शालयो न येनजाना शुचयस्तथाङ्गना ॥१७॥

आ ! दुरात्मन् चारदत्तात्तय । अयं न भवसि । (इति कतिचित् वक्षानि गच्छति)

भवतिका—(अञ्चले गृहीत्वा) अह असवद्यभासय, असभावणीष् कुप्यति ।

[अयि असवद्यभासय, असभावनीये कुप्यति ।]

शत्रिसकः—कथमसभावनीय नाम ।

स्त्रीमात्र निन्दन् पुन वेश्याजन निन्दति—एता इति । एता स्त्रियः वेश्याः वा वितहेतो धनस्य वारणात् हसन्ति च दातुं विनोदार्थं रुदन्ति च वगानां हृदय श्लोकरणाद्यर्थम् इत्यर्थं । पुरुष विश्वासयन्ति तस्य विश्वासम् उत्पादयन्ति च विन्तु स्वयं न विश्वसन्ति । तस्मात् वारणात् पुन न शीलं च ताभ्यां समन्वितेन युक्तेन मरेण शमशानस्य सुमनाः पुण्याणि भासतोमताः वा (टि०) इव वेश्याः गणिकाः वर्जनीयाः परित्यक्तव्याः । त्रियादीपणोपमयो संसृष्टिः (चालो) । ततस्तत्तिका वृत्तम् ॥१४॥

पुनः स्त्रीणां स्वार्थपरता वर्णयति समुदेति । समुद्रस्य वीची तरङ्गः इव सत्तः अञ्चलः स्वभायो यागा तपाभूता सन्त्याया भाषणान्य अशमेत्ता मेघपद्विः इव मुहूर्तं वर्णं यावत् रायः अनुराग [मेघ एते—सासिमा] यातां तपाभूताः स्त्रियः हृतार्था हतः अपहृतः अर्थः वाभिस्ताः पुरयाणां धनमपहृत्येति भावः अत एव निरर्थं धनहीन पुरुष निष्पीडितं निःकारितम् अरात्तं याशा तद्वत् स्वजन्ति । उपमा-  
लद्वार । उपजातिः वृत्तम् ॥१५॥

ये धन के कारण हेमजो हैं, और रोती है, पुरुष को विश्वास दिताती है किन्तु (स्वयं पुरुष वा) विज्वाल नहीं करती है, इस कारण तुन एवं धीतयुक्त पुरुष को समान के पुत्रों (अथवा मालती पुत्रों) के समान-वेज्जाएँ त्याग देनी चाहिए ॥१४॥  
और भी—

मनुष्य को लहर की भाँति चञ्चल स्वभाव वाली, साम्प्रय मेघों की पक्ति के समान धार्मिक राग (मेघ पत्र में—नानिष्ठा, स्त्रीपत्र में—प्रेम) वाली स्त्रियाँ धन-हरण करने निश्चय मनुष्य को निर्धोषित (सार अथवा रम निकाने हुए) प्रेम अलसक की भाँति छोड़ देनी हैं ॥१५॥

चञ्चल स्त्रियाँ—

हृदय में दूसरे पुरुष को रखकर सत्यवाच्य दृष्टि (संकेतों) से अन्य को बुलाती हैं, मदमत्तता की वही अन्यत्र प्रवाहित करती हैं (छोड़ती हैं) और शरीर से दूसरे को चाहती हैं ॥१६॥

बन्धुनः किमी का कहा हुआ ठीक ही है—

पर्वत की चोटी पर कमिनी नहीं जपती है घोड़े के (द्वारा बहन करने योग्य) भार को गधे नहीं ले जा सकते हैं । (मेघ में) विषराये हुये (बोये हुये) गधे धान नहीं हो पाते हैं, इसी प्रकार वैश्यालय में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं ॥१७॥

अरे कुपारत्ना वास्तव यह तुम न रह सकोगे (कुछ हथ बना जाता है)

मदनिका—(अञ्चल से उठे पकड़ कर) हे कमजून बीनने वाले, असम्भावित (बिचकी सम्भावना भी न की जा सके) पर क्रोध करते हो ।

शक्तिरु—असम्भवनीय कैसे है ?

अन्धविनि । धननाः स्त्रियाः हृदयेन अन्धं मनुष्यं कृत्वा स्वहृदये भारं जलं धारयित्वा लजः लसन् अन्धं स्त्रियं दृष्टिभिः कटाक्षं आह्वयन्ति अन्धश्च अन्धस्मिन् जने मरणं आनन्दस्य प्रमेहं निञ्चलं प्रवाह वा मूञ्चन्ति तज्जनि शरीरेण च अन्धं जलं क्षामयन्ते । दीपशालद्वारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥१६॥

मेनि । पर्वनाथे निरिच्छुद्धे नतिनी कमिनी न प्ररोहनि नोत्सपने । पर्वनाः रामभाः धार्मिनां धोक्कनाम्, अन्धवाहा इति भावः धूरं भारं च वहन्ति धेनुं न प्रभवन्ति । प्रकीर्णाः क्षेत्रेषु प्रक्षिप्त्वा पत्रां शालयः धाना न भवन्ति तथा वेगजाना. वेगे वेगजानये जाताः उन्मत्ता अङ्गना नायः शुचयः पवित्राः न भवन्ति । इन्द्रान्तावद्वारः । द्वितीयचरणे उन्मत्तवज्रा वृत्तम् । क्षेत्रेषु च पर्वतपम् । पर्वतचरणे च पादान्तरम्पं मुर वेत्तम् ॥१७॥

मदनिका—एतो बभु असकारओ अज्जभाकेरओ । [एष सत्वलङ्कार आर्या-सम्यग्धी ।]

शबिलक —तत किम् ।

मदनिका— च तरस अज्जस हत्थे विणिबिलसो । [स च तस्मार्यस्य हस्ते विनिलिप्तः ।]

शबिलक —किमर्थम् ।

मदनिका—(वर्णं) एष विअ । [एवमिव ।]

शबिलक—(सर्वस्यम्) भो कष्टम् ।

छायार्थं ग्रीष्मसतप्तो यामेवाह समाश्रितः ।

अजानता मया संव पत्रं शाखा वियोजिता ॥१॥

वसन्तसेना— कथ एतो वि सतप्पदि ज्जेव । ता अजानत्तेण एदिणा एष्वं अणुविट्ठदम् । [वचमेधोऽपि सतप्यत एव । तदजानतैर्नैवमनुष्ठितम् ।]

शबिलक—मदनिके किमिदानी युक्तम् ।

मदनिका इष तुम ज्जेव पण्डितो । [अत्र त्वमेष पण्डितः ।]

शबिलक—नैवम् । पश्य ।

स्त्रियो हि नाम सत्वेता निसमदिय पण्डिता ।

पुटपाणा तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यन्ते ॥१॥

मदनिका—सध्विलक, जह मम वअण तुष्ठीअदि, ता तसस एअव महानुभावसस पदिणिग्जावेहि । शबिलक, यदि मम वचन श्रूयते, तदा तस्त्वं महानुभावस्य प्रतिनिर्याय ।]

शबिलक—मदनिके, यद्यसौ राजकुले मां कथयति ।

मदनिका—थ चन्द्रादो आवधो होवि । [न चन्द्रादातपो भवति ।]

वसन्तसेना—साहु मरणिण, साहु, [साधु मदनिके, साधु ।]

शबिलक—मदनिके,

असम्बन्धम् असङ्गत भावते इति असम्बन्धभाषक उत्सन्नुओ । असम्बन्धगीये सम्भावयितुमपि अशक्ये । आर्याया वसन्तसेनाया सम्बन्धी । विनिलिप्त, म्यासीकृत ।

मदनिका—यह आनूपण वास्तव में आर्या (वसन्तसेना) का है ।

शबिलक—उसमें क्या ?

मदनिका—वह उन आर्यों (चारुदत्त) के हाथ में धरोहर रक्ता गया था ।

शबिलक—किस लिये ?

मदनिका—(कान में) इसलिये ।

शबिलक—(सज्ज, पूबंक) अरे, कष्ट है !

घोष में सन्तप्त हुए मेने बिसका छाया के लिये माथप तिया, मुत्त मनजान के द्वारा वही साक्षा पत्ते से रहित कर दी गई ॥१८॥

वसन्तसेना—क्या यह भी सन्ताप कर रहा है ? तो यह इसने न जानते हुए किया ।

शबिलक—मदनिक, अब क्या (करना) उचित है ।

मदनिका—यहाँ (यह निर्णय करने में) तुम ही कुशल हो ।

शबिलक—ऐसा नहीं, देखो—

स्त्रियाँ तो वस्तुतः स्वभाव से ही कुशल होती हैं, पुरुषों की कुशलता तो शास्त्रों के द्वारा ही निर्धार्य गई होती है ॥१९॥

मदनिका—शबिलक यदि मेरी बात सुनते हो, तब (तो) उसी महानुभाव (आर्य चारुदत्त) को लौटा दो ।

शबिलक—मदनिके, यदि वह राजकुल में मेरे विरुद्ध (मुझे) कह देता है ।

मदनिका—चन्द्रमा से गर्मी नहीं होती ।

वसन्तसेना—बहुन अच्छी मदनिके, बहुत अच्छी ।

शबिलक—मदनिके,

छापेति । तीरममन्त्र घीष्पेण संतप्तः अहं शबिलकः क्षमायाः क्षमायाः प्राप्ते वा शास्ताम् एव समाधित आश्रितवान् अज्ञानता ज्ञानाभावात् नैवा सा एव शाखा पत्रः विद्योजिता पत्रहीना कृता । अग्रन्तुप्रसंसात्कृत् । पद्मादन्नं इतम् ॥१८॥

स्त्रिय इति । एतां स्त्रियः निसर्गाद् एव स्वभावतः एव परिश्रिताः निपुणाः सन्तु नाम इति निश्चितम् । तु किन्तु पुरुषाणां पाण्डित्यं चातुर्यं साधनैः एव उपरिपद्ये गिर्यते न तु स्वभावात्तैसा पाण्डित्यं भवतीति भावः ॥१९॥

प्रतिनिर्णय निश्चयम् । यथा चन्द्रमा आनपः न भवति तर्थात् चाप्यक्षाद् अपि क्षमिन् जनस्य कर्मणो न संभवति इति भावः ।

न खलु मम विषाद साहसोऽस्मिन्भय वा  
वचयसि हि किमर्थं तस्य साधोगुणास्त्वम् ।

जनयति मम वद कुत्सितं वरं लज्जा

नृपतिरिह शठाना माहशा वि न कुर्यात् ।।२०।

तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चित्यताम् ।

मदनिका—तो अन्न अचरो उवाचो । [सोऽप्यमपर उपाय ।]

वस तमेना—को क्लृप्तु अचरो उवाचो हृविस्तवि । [व खल्वपर उपायो भविष्यति ।]

मदनिका—तस्त उज्वेय अजस्त केरओ भविभ एव अलकारअ अज्जभाए उवणेहि । [तस्यैवायस्य सम्बन्धो भत्वममलङ्कारवमार्याया उपनय ।]

शब्दिक — एवं कृते वि भवति ।

मदनिका—सुम दाव अचोरो सो वि अज्जो अरिणो अज्जभाए सक अलकारअ उवणद भोदि । [त्वं तावदचौर सोऽप्यार्योऽनृण आवया स्वकोऽलङ्कार उपगतो भवति ।]

शब्दिक — नन्दतिसाहसमेतत् ।

मदनिका—अह उवणहि । अण्णवा अरिसाहसम् । [अयि उपनय । अन्य यातिसाहसम् ।]

वसन्तसेना—साह मदनिए साह । अमृजिस्तए विअ मन्तिवद् । [साधु मदनिये साधु । अमृजिष्ययव मन्त्रितम् ।]

शब्दिक —

मयाप्ता महती मुद्धिभरतीमनुगच्छता ।

निशाया नष्टचन्द्राया दुर्लभो मार्गदशव ।।२१।।

मदनिका—तेण हि सुम इमस्सि कामवेवगेहे मुहुत्तअ चिट्टु जाव अज्जभाए सुह अणमण णिवेवेभि । [तेन हि त्वमस्मिन्कामदेवगेहे मुहूर्तक तिष्ठ यावदार्यायै तवागमन निवेदयामि ।]

मदनिकावरन निजस्य शब्दिक वचयति—नेति अस्मिन् साहसो अपहृतद्रव्यस्य समर्पणरूपे साहसकार्ये मम शक्तिवक्तव्य विषाद भेद मय वा न खलु यस्तुत नास्ति पुनरपि स्व मदनिका तस्य साधो सत्पुरुषस्य गुणान् औदार्यादीन् हि किमर्थं वि निमित्तं वचयति । वा अथवा इह चौर्यरूप कुत्सित निदितं वरं कार्यं मम लज्जा जनयति उपादयति अथवा इह अस्मिन् विषये नृपति राजा माहसानां शठानां

इस साहस (बाहदत्त को आम्रपत्र लौटाने के कार्य) में बभ्रुवर्षः मुझे कुछ अथवा भय नहीं है। उस सञ्जन (आर्य बाहदत्त) के गुणों को तुम किस लिये कहती हो? अथवा यह कुत्सित कर्म मुझ में लज्जा उत्पन्न करता है। राजा मेरे जैसे धूर्तों का यहाँ क्या कर सकता है? ॥२१॥

फिर भी यह नीतिविरुद्ध है। दूसरा उपाय सोचो।

मदनिका—वह दूसरा उपाय यह है।

वसन्तसेना—दूसरा उपाय क्या होगा?

मदनिका—उस आर्य (बाहदत्त) का ही सम्बन्ध हीकर-इह आम्रपत्र को बादा (वसन्तसेना) को दे दो।

शक्तिरु—ऐसा करने पर क्या होगा?

मदनिका—तुम चोर नहीं (सिद्ध) होते, वह आर्य (बाहदत्त) भी उद्यम हो पाते हैं, बादा (वसन्तसेना) के द्वारा अपना आम्रपत्र प्राप्त कर लिया जाता है।

शक्तिरु—किन्तु यह अति साहस (का कार्य) है।

मदनिका—अरे मे जाओ, अन्यथा (यदि नहीं लौटाते हो तो) अति माहम (का कार्य) हो जायेगा।

वसन्तसेना—माधु? मदनिके, माधु! वासीत्य इत्यत्र ये पुत्र (स्त्री) की भाँति ही (तुमने) कहा।

शक्तिरु—आजका अनुसरण करते हुए मैंने विषय बुद्धि प्राप्त की। पिछे रात्रि में चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उसमें पप-प्रदहन करने वाला दुग्धाम्य होता है (विशेष-प्रष्ट मुझको आपने उचित मार्ग प्रदर्शित किया है) ॥२१॥

मदनिका—अनः इस कामदेव-ग्रह में तुम शयनर बँटो, जब तक बादा (वसन्तसेना) को तुम्हारे आने की सूचना दिये देती है।

धूर्तानां किं नु कुर्वन्ति सः न किमपि कर्तुं शक्यतीति वाक्यः। काम्यतिक्रमं बभ्रुवर्षः। मानिनी इति ॥२०॥

अनुविष्म इव वासीत्यइत्यनाम् मुक्ता इव। यदा कर्मणं अन्यथेति तथेति वाक्यः।

मदनिकायाः वचनं निबन्ध ह्यष्टः शक्तिरुः कथयति—यथेति। मदनिकायां अनुबन्धना अनुसरता यथा शक्तिरुकेन माहुरी बुद्धः आप्ला आप्ला। नष्टः न ह्यष्टः वगः यस्यां तथाभूताया नितायाम् अन्यकारणान्तायां तासां-अन्तरगतः परस्परः पुनः पवति ॥२१॥

कामदेवनेहे कामदेवग्रहनामके भवने।

शबितक—एवं भवतु ।

मदनिका—(उपसृत्य) अज्जए, एसो ष्णु चारुदत्तस्स सअसादी यम्हणो माअबो । [आर्ये, एष खलु चारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगत ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, तस्स केरम त्ति कयं तुम जाणासि । [हञ्जे तस्य सम्बन्धोति कयं त्वं जानासि ?]

मदनिका—अज्जए, अत्तकेरअं पि ॥ जाणामि । [आर्ये, आत्मसम्बन्धिनामपि न जानामि ।]

वसन्तसेना—(स्वयत्तं सशिरः कम्पं विहस्य) जुग्गदि । (प्रवाशम्) पविसदु । [युज्यते । प्रशिशतु ।]

मदनिका—अं अज्जमा आणवेदि । (उपगम्य) पविसदु सखिससो । [यदा-र्याज्ञापयति । प्रविशतु शबितकः ।]

शबितकः—(उपसृत्य सर्वैतदयम्) स्वस्ति भवत्यै ।

वसन्तसेना—अज्ज, यन्दाभि । उवविसदु अज्जो । [आर्यं, वन्दे उपवि-शुत्वार्थः ।]

शबितकः—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—‘ज्जंरत्वाद् गृहस्य दूरस्यमिदं भाण्णम् । तद्गृह्यताम्’ । [इति मदनिकायाः समर्थं प्रस्थितं ।]

वसन्तसेना—अज्ज, ममावि दाव पडिसवेस तहि अज्जो जेदु । [आर्यं, ममापि स्रवत्प्रतिसन्देशं तत्रार्यो नयतु ।]

शबितकः—(स्वगतम्) कस्तन यास्यति । (प्रकाशम्) कः प्रतिसन्देशः ।

वसन्तसेना—पडिसदु अज्जो मदणिअम् । [प्रतीच्छत्वार्थो मदनिकाम् ।]

शबितकः—भवति, न सत्ववगच्छामि ।

वसन्तसेना—अहं अयगच्छामि । [अहमवगच्छामि ।]

शबितकः—कथमिव ।

वसन्तसेना—अहं अज्जचारुदत्तेण अण्दिदा—‘जो इयं अत्तंकारअं समप्यइस्सदि तस्स तुंए मदणिमा दावणा’ । ता सो ष्णेष एदं वे वेदित्ति एण्णं अज्जेण अवगधि-दण्णम् । [अहमार्यचारुदत्तेन भणितम्—‘य इममन्तद्वारकं समपयिष्यति तस्य न्या मदनिका-दातव्या । तत् स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम् ।]

शबितकः—(स्वगतम्) अये विजातोऽहमनया (प्रकाशम्) साधु आर्य-चारुदत्त, साधु ।

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरधेः सदा ।

गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरंरगुणैः सम ॥२२॥

शबितक—ऐसा ही हो ।

मदनिका—(समीप जाकर) आर्ये, यह (आर्य) चारदत्त के पास से ब्राह्मण बना है ।

वसन्तसेना—बेटे, तुम कैसे जानती हो कि उन (चारदत्त) का सम्बन्ध है ?

मदनिका—आर्ये, (बच्चा मैं) अपने मम्बन्धी (जन) को भी नहीं जानती ?

वसन्तसेना—(अपने आप सिर हिलाकर, हँस कर) ठीक है । (प्रकट रूप में)

प्रवेश करे ।

मदनिका—जो आर्या आजा देनी हैं । (समीप जाकर) शबितक प्रविष्ट हों ।

शबितक—(समीप जाकर व्याकुलतापूर्वक) आपका कल्याण ही ।

वसन्तसेना—आर्ये बन्दना करती हैं । आर्ये, बँठिये ।

शबितक—आर्येवाह (चारदत्त) आपसे कहते हैं—'घर के जर्जर होने से इस स्वर्ण-भाष को सुरक्षित रखना कठिन है । इसलिए इसे मे संजिये (मदनिका को देकर बन देता है)

वसन्तसेना—आर्ये, मेरा भी प्रतिसन्देश वहाँ आप ले जायें ।

शबितक—(अग्ने आर्य) कौन जायेगा वहाँ ? (प्रकट रूप में) क्या प्रतिसन्देश है ।

वसन्तसेना—आर्ये मदनिका को स्वीकार करें ।

शबितक—आर्ये, मैं समझा नहीं ।

वसन्तसेना—मैं समझती हूँ ।

शबितक—किन प्रकार ?

वसन्तसेना—मुझे आर्ये चारदत्त ने कहा था, जो इस आभूषण को समर्पित करे तुम्हें उसको मदनिका दे दी जाती चाहिये । तो वह (आर्ये चारदत्त) ही तुम्हें, हम (मदनिका) को दे रहे हैं, ऐसा आर्ये-भाष को समझना चाहिये ।

शबितक—(अग्ने भाष) धरे ! इसने मुझे पहिचान लिया (प्रकट रूप में) अन्य ! आर्ये चारदत्त, अन्य ।

मनुष्यों की मदा गुणों (के वर्जन) में ही प्रदलन करना चाहिये । पुण्यवान् इति भी गुणहीन-मनिकों के समान नहीं हैं (अपितु उनसे बड़कर हैं) ॥२१॥

सदंतस्य व्याकुलतापूर्वक, लज्जापूर्वकम् । दूरस्थं रक्षितुं दुःसहसम् अथाश्वाभि जानामि ।

वसन्तसेनायाः उदारा नावं निगम्य शबितकः पाददत्तं प्रतंसति—गुणेष्टिनि । पुर्यः जने. सदा गुणेषु औदार्यादिषु एव प्रयत्न कर्तव्यः यत. गुणयुक्तः इतिः निघ्नः मनि मनुषोः. पुत्ररहितः ईश्वरः घनिकः सम न अपितु लेग्गेर्षिक इति भावः । मन्तुनमसा । मनुष्यु, वृत्तम् ॥२१॥



[अपि च—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किञ्चिदप्राप्यतम गुणानाम् ।  
गुणप्रकर्षाद्गुह्येन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥२३॥  
वसन्तसेना—को एष्य पवहणिको । [कोऽत्र प्रवहणिकः ।]

(प्रविश्य सप्रवहणः)

देवः—अञ्जए, सञ्ज प्रवहणम् । [आर्ये, सञ्जे प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे मञ्जिए, सुद्विद्धं न करेहि । दिष्वासि । आरह पवहणम् ।  
मुमरेति यम् । [चेटि मदनिके, सुदृष्टा मा कुह । दत्तासि । आरोह प्रवहणम् ।  
स्मरसि माम् ।

मदनिका—(रुदती) परिच्छत्तहि अञ्जआए । [परित्यक्तास्म्यार्यया ।]  
(इति पादयोः पठति) ।

वसन्तसेना—संपवं सुम ङ्जेव वन्दनीया सयुता । ता गच्छ । आरह पवहणम् ।  
मुमरेति यम् । [साप्रतं स्वमेव वन्दनीया सवृता । तद्गच्छ । आरोह प्रवहणम् ।  
स्मरसि माम् ।]

शबितकः—स्वस्ति भवत्यै । मदनिके,

सुदृष्टः क्रियतामेव शिरसा वन्द्यतां जनः ।

यत् ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुष्ठनम् ॥२४॥

(इति मदनिकया सह प्रवहणमाकृष्टं गन्तुं प्रवृत्तः)

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र घोः । राष्ट्रियः समाज्ञापयति एष खल्वार्यको गोपालदा-  
रको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरिचरितेन पालकेन राज्ञा घोषादा-  
नीय घोरे बन्धनागारे बद्धः । तत् स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्तैर्भवद्भिर्भावित-  
ष्यम् ।

गुणेष्विति । पुरुषेण जनेन गुणेषु औदार्यादिषु यत्नः कार्यः वर्तव्यः यतो  
हि गुणार्ता किञ्चित् किमपि अप्राप्यतमम् अत्यन्तम् वैतम्यं न भवति गुणवद्भिः  
सर्वं सुखेन सञ्जं लभ्यते इति भावः । एतदेव विशेषेण समर्पयति गुणप्रकर्षाद्  
गुणाधिक्याद् गुह्येन उद्वपतिना चन्द्रेण असदृश्यं सङ्गुयितुम् असाध्यमपि हाम्यो  
शिवस्य उत्तमाङ्गं यस्तकं सङ्गुयितम् अधिगतम् । अर्पन्तिरम्यासः । उर्येन्द्रया  
दृष्टम् ॥२३॥

स्वमेव वन्दनीया—वधूत्वात् स्वमेव पूज्या जाता ।

मदनिकया सह स्वशुद्धं गन्तुकाम. शबितकः मदनिकां निदिशति—सुदृष्ट इति ।  
एष वधुः वसन्तसेना सुदृष्टः शोभनभवसोकिता क्रियताम् शिरसा नतमल्पेन च  
वन्दतां प्रणम्यताम् । यत्र यस्मिन् जने यस्याः कारणद् वा दुर्लभं सुखेन

बीर भी—

गुणों (के अर्बन) में मदा मनुष्य को यत्न करना चाहिये, गुणों के द्वारा कुछ भी अलम्प नहीं है। (अपने) गुणों के उत्कर्ष के कारण नक्षत्रपति चन्द्रमा ने शिवजी के दुःप्रप्य (दुर्नक्षत्र) मस्तक को आक्रान्त कर लिया (अथवा-मस्तक पर आसीन हो गया) ॥२३॥

वसन्तसेना—कोई गाड़ीवान् (बहलवान्) है यहाँ ?

(प्रवहण सहित प्रवेश करके)

चेट—आयें प्रवहण (बहली) तैयार है।

वसन्तसेना—चेटि मदनिके, मुझे पत्नी प्रकार देख लो। तुम दे दी गई हो। गाड़ी पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

मदनिका—(रोती हुई) आयाँ के द्वारा त्याग दी गई हूँ। (घरों पर गिरती है)।

वसन्तसेना—अब तो तुम ही वन्दनीय हो गई हो। दो आओ। प्रवहण पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

शशिलक—आपका बरग्राह्य हो। मदनिके,

इस जन (वसन्तसेना) को मत्नी प्रकार देख लो, (झुके हुए) सिर से बन्द्या फरो, जिससे तुम्हें बधू शब्द का दुर्लभ आवरण प्राप्त हुआ है (अर्थात् अब विवाहित हो जाने पर तुम्हारा बेश्या नाम न रह कर 'बधू' यह पवित्र नाम हो गया है। 'बेश्या' नाम को पवित्र बधू, नाम ने ढक लिया है) ॥२४॥

(मदनिका के साथ प्रवहण पर चढ़कर जाने को प्रवृत्त होता है।)

(नेपथ्य में)

अरे, यहाँ कौन-कौन है ? राष्ट्रिय (दे० १८५५) आयाँ देखे हैं—

'यहाँ गोपान का पुत्र आर्यक राजा हो आयेगा, इस सिद्धवचन (भविष्यवाणी) में विश्वास (करने) से भयभीत हुए राजा पालक ने (बहू गोपालदारक) अहीरों की बली से लाकर कारागार (बन्धनागार) में बन्द कर दिया है इसलिए अपने-अपने स्थानों पर आप सबको सावधान हो जाना चाहिये।'

सर्वं बधुशब्द एव अवगुणनम् आवरणं ते तव प्राप्तम्. यस्याः रूपया त्वं बधुशब्दस्य धारणं जातेति भावः। अत्र च—“हेतानाधारविवक्षया 'यत्र' इति सप्तमी कर्तुः पेशत्कीववशया 'ते' इति षष्ठी" इति पृथ्वीशर. १. काव्यसिद्धयु अकभूर. १. यज्यात्पदं इति २३

राष्ट्रियः राष्ट्र अधिष्ठतः। 'राष्ट्रावारपाराद् षष्ठी ४/२/६३ इति ५ः। अथवा राजः श्वातः—'राजश्वालम्बु राष्ट्रियः' इत्यमरः।

सिद्धाय आदेशो वचने श्रव्ययात् विश्व,सात् परिश्रस्तः शीघ्रः तेन शीघ्रम् पौराणिकामात्। अग्रपत्नीः मावधानीः।

शबिलक —(आवृष्य) कथं राजा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे वद । यत्-  
प्रवाशचास्मि सवृत्त । आ , कष्टम् । अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रिय नराणा सुहृच्च वनिता च ।

संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतम ॥२५॥

भवतु अवतरामि (इत्यदतरति)

मदनिका—(सासमञ्जलि चन्द्रया) एष्य षेदम् । सा पर षडु म अञ्जउत्तो  
समीय गुहअणाणम् । [एव न्विदम् । तत्पर नयतु मामायपुत्र समीय गुहजना-  
नाम् ।]

शबिलक —साधु प्रिये, साधु । अस्मच्चित्तसदुशमभिहितम् । (वेदमुदिष्य)  
भद्र, जानीये रेभिलस्य सार्यवाहस्योदवसितम् ।

वेद —अथ इ । [अथ किम् ।]

शबिलक —तत्र प्रापय प्रियाम् ।

वेद —अ अज्जो आणवेदि । [यदाय आज्ञापयति ।]

मदनिका— जया अज्जउत्तो भणादि, अप्पमत्तेण डाय अज्जउत्तेण होरइयम् ।  
[यथायंपुत्री भणति, अप्रमतेन तावदाथपुत्रेण भवितव्यम् । (इति निष्क्रान्ता)]

शबिलक—अहमिदानी—

जातीन्निटान्स्वभुजविव्रमलन्धवर्णान्

राजापमानवृपिताश्व नरेन्द्रभूत्यान्

उत्तेजयामि सुहृद परिमोक्षणात्

मीगन्धरायण इवोदयनस्य राज ॥२६॥

अथ—

मम सुहृद् आर्यं राजा पालकेन वधनागारे श्रेष्ठ, तस्य साहाय्यकरणे च  
नवपरिणीता मदनिका विष्मरूपेति विचार्य शबिलक कथयति—इयमिति । सुहृद्  
मित्र वनिता स्वपत्नी च इह द्वय लोके अरिमन् जयति नराणाम् अतीव प्रियम् अस्ति ।  
संप्रति इदानीं मित्रस्य विपत्तिवान् तु सुन्दरीणां शताद् अपि सुहृद् मम मित्र आर्यं  
विशिष्टतम अतिशयेन विशिष्ट तस्य रक्षाया अत्यावश्यवत्वात् । तस्य रक्षार्थं मदि-  
नादपि उपराणीयेति भाव । आर्या वृत्तम् ॥२५॥

एष नेदमिति पाठान्तरम् । सुहृजनानां शबिलकस्य सम्बन्धिजनानाम् । अस्म-  
च्चित्तस्य मम मनसा सहस्रम् अजुनम् । उदयसित सुहृम् । अप्रमत्तेन गावधानेन ।

शबिलक आर्यकस्य रक्षार्थं हरणतय्य कथयति जातीन् इति । इदानीम् अहम्

शवितक—(मुनकर) क्या, राजा पात्रक ने मेरा प्रिय मित्र आर्यक परह निदा ? (मैं) पत्नी वाला हों क्या है । हाय ! कष्ट है !

अथवा —

इस सत्कार में मित्र और स्त्री दोनों ही मनुष्यों के अत्यन्त प्रिय हैं, समय (मित्र पर संकट आने पर) तो सौ मुन्दरियो में भी (अकेला) मित्र अधिक मुख्य है ॥ ५॥

अन्धा जनरता है । (उतर जाता है)

मदनिका—(श्रीगुरुओं सहित, हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही हो । आर्यपुत्र मुझे श्रीप्रता में गुरुजनों के समीप पहुँचा दें ।

शवितक—धन्य ! प्रिये, धन्य ! हमारे मन के अनुकूल ही कहा । (पेट को लथप करके) भद्र (सज्जन), नार्यवाह रेभिल का घर जानते हो ?

वेद—ओर क्या ?

शवितक—वहाँ प्रिय (मदनिका) को पहुँचा दो ।

वेद—जो आर्य आज्ञा देने है ।

मदनिका—जैसा आर्यपुत्र कहते हैं । ठब आर्यपुत्र को भी सम्बन्धान रहना चाहिये ।

(निकल जाती है)

शवितक—मैं इस समय—

(अपने एवं आर्यक के) सम्बन्धियों, विदो, अपनी भुजाओं के पराक्रम से मत् प्राप्त करने वालों, राजा के (द्वारा किसे गये) अपमान से क्रोधित हुए लोगों एवं राज-सेवकों को मित्र (आर्यक) की मुक्ति कराने के लिये ठीक उसी प्रकार उत्तेजित करता हूँ जैसे योगेश्वरायण (मन्त्री ने राजा उदयन की मुक्ति के लिये किया था ॥२६॥

ओर भी

योगेश्वरायणः एतेनान्नैव प्रथानामाद्य उदयनस्य राज्ञः (रक्षणाय) इव गुरुः स्वमित्रस्य आर्यकस्य परिमोक्षणाय वनप्रतापाद्य मोक्षणाय शत्रोन् वन्यमान् प्रियात् स्वगुरुविरुद्धेन स्वगुरुवराग्रेनेन संव्यथं वर्षः कीर्तिः सैः तान् राज्ञः अपमानेन कुर्वन्त्यात् शत्रोन् वरेन्द्रकृष्णान् राजसेवकान् च उत्तेजयामि राज्ञः पातकस्य विनाशार्थं प्रोत्साहयामि । अथ हि कथामस्मिन्नायदस्म्येयं कथा स्मर्त्तव्या—एकदा उज्जयिनीनृपेण बन्धनेन वनराज उदयनः कागसादं बद्धः तत्र उदयनस्य प्रथानामात्सेन योगेश्वरायणेन जलदासेन प्रोत्साह्य वनराजः कारागारात् मोक्षितः । उपनातद्वारः । बन्धवतिदका वृत्तम् ॥२६॥

प्रियेति । अस्मिन्नायदस्म्येयं कथा स्मर्त्तव्या—एकदा उज्जयिनीनृपेण बन्धनेन वनराज उदयनः कागसादं बद्धः तत्र उदयनस्य प्रथानामात्सेन योगेश्वरायणेन जलदासेन प्रोत्साह्य वनराजः कारागारात् मोक्षितः । उपनातद्वारः । बन्धवतिदका वृत्तम् ॥२६॥

प्रियसुहृदभकारणे शूहीतं  
 त्रिपुभिरसाधुभिराहितात्मजम् ।  
 सरससमभित्य मोचयामि  
 स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम् ॥२७॥  
 (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

वेदः—अजम्, विट्वा वडसि । अजचावत्तरस समात्तयो बहूणो  
 भावो । [आर्ये, दिष्ट्या वर्धसे । आर्यचारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः ।  
 वसन्ततेना—अहो रमणीयता अज दिवसस्त ! ता हञ्जे, सादर बन्धुनेन  
 समं प्रवेसेहि षम् । [अहो, रमणीयताद्य दिवसस्य । तच्चेटि, सादर बन्धुनेन समं  
 प्रवेसायनम् ।]

वेदी—अ अजया भागवेदि । [यदायशापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

(विपूषको बन्धुनेन सह प्रविशति)

विपूषकः—ही ही धो, तवचरणकिलेसविनिजिज्जदेण रक्खसराया रावणो  
 पुष्पकेण विमानेण गच्छति । अहं उण बहूणो मरिक्खतवचरणकिलेसो वि वरणा-  
 रीजनेण गच्छामि । [आर्यचर्यं भो, तपचरणवलेशविनिजितेन राक्षसराजो  
 रावण, पुष्पकेण विमानेन गच्छति । अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपचरणवलेशोऽपि  
 वरनारीजनेन गच्छामि ।]

वेदी—केवलु अजो अह्णकेरक गेहहुभारम् । [प्रेक्षतामार्योऽस्मदीयं  
 वेह्वारम् ।]

विपूषकः—(अवलोच्य सविस्मयम्) अहो सतिसतिसतमज्जिज्जवकिरहरिदोवलेष-  
 णस्त, विविहूतुअग्घकुमुभोवहारविजसिहिबभूमिषाअस्त, यअणतलात्तोअणकोरूहल-  
 लुअणामिदसीसस्त, दोमाअमाणावसम्बिदेरावणहरयअमाइरमत्तिआवाणगुणासकिरस्त,  
 समुच्छिदरन्तिदन्ततीरणावभातिदरस, महारअणोवराओवसोहिणा पवणवसन्दोलनात्-  
 धनत्तञ्जलगद्दयेण 'इदो एहि' ति वाहरन्तेण विअ य सोहणपदाप्राणिवहेणोवतोहि-  
 दस्त, तोरणपरणापणवेदिआणिविलत्तसमुत्सञ्जन्तहरिदपुदपत्तवसत्तामफटिअमङ्गलक-  
 णाभिरामोऽरमपासास्त, महामुरवसत्तवत्तदुभेज्जणिरन्तरपदिषट्ठकणअकपाइत्ता, पुण-

। माहिता श्रुता आत्मनि शशु। आर्यचाद् स्वविनाशशङ्का ये. सं: असाधुभिः  
 :अहं त्रिपुभिः अकारणे असत्यपि वारणे शूहीत कारणारे षड राहुमुखे त्रिपु  
 शशाङ्कस्य बिम्बं चन्द्राबिम्बम् इव प्रियसुहृद प्रियमित्रम् आर्यं सरसत्तं सचेनं

त्रिन्होंने स्वयं ही (अपने नाश की) शंका की है ऐसे अशुभचन शत्रुओं के द्वारा अकारण ही पकड़े हुए एवं रहने के मुख में चन्द्रबिम्ब के समान स्थित पिय मित्र आर्यक को (गन्तुओं पर) अवातरु व्याक्रमण कर छुड़ाता है ॥२८॥

(बाहर निकल जाता है)

(प्रवेश करके)

चेटी—आर्य, सोभाग्य से बड़ रही हो। आर्य चाण्डल के पास से ब्राह्मण भाया है।

वसन्तसेना—आह, आज का दिन कितना रमणीय है? तो चेटी, बन्धुल के साथ इन्हें सादर प्रवेश कराओ।

चेटी—जो आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

(विदूषक बन्धुल के साथ प्रवेश करता है)

विदूषक—अरे, आश्चर्य है! तपस्या के कष्ट से जीते हुए पुण्यक विमान से राजसयन रावण जाया करता था, किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या का कष्ट किये बिना ही पुरुष एवं स्त्रीजन से (सेवित होता हुआ) जा रहा हूँ।

चेटी—आर्य, हमारे गृह-द्वार को देखिए।

विदूषक—(देखकर आश्चर्यपूर्वक) बानी छिड़कर—माइू लयाकर (तत्परचाए) जहाँ हरे रंग (के गोबर) ने लीपा गया है, जहाँ का भूमि-भाग विभिन्न प्रकार के मुग्धिष्ठ पुष्टों के उपहारों से चित्रित-सा लग रहा है, आक्रमण को रोकने के कौतूहल के कारण जिसने अपना सिर (ऊपरी भाग) ऊपर उठा रक्खा है, जो नीचे लटककर हिलते हुए ऐरावत हाथी के सूँठ का भ्रम उत्पन्न करने वाली मल्लिका पुष्प की माला से शोभित है, अत्युन्नत हाथी दात के तोरण से उसे मुग्धोभित है, महान् रत्नों की मालामाला (भाभा) से विभूषित तथा वायुवेग से हिलने के कारण चलायमान एवं चञ्चल हुए अग्रभाग रूपी हाथ से 'यहाँ आइये' इस प्रकार मुझे पुकारते हुए से सोभाग्य-

समधिपत्य शत्रुमभि मत्वा भौषयामि । पुष्पिशाण वृत्तम् ॥२७॥

बन्धुन — परगृहललिताः (४।२८) इत्यादिना बन्धुनक्षणं वरिष्यते [बन्धुलस्त्व-मतीमुतः इत्यमरः ।]

तपरचरणस्य तपस्यायाः क्लेशेन कष्टेन विनिवृत्तं कुर्वेत् पराश्रित्य प्राप्तं तेन । न हृत, तपरचरणस्य क्लेशः येन ताहम् ।

विदूषकः वसन्तसेनायाः भवनद्वारं वन्दयति—मनितेति । अत्र कष्टपन्थादि पदानि वसन्तसेनाद्वारस्य विशेषणानि । पूर्वं सतिनेन जनेन सिक्तं ततः शक्तिं नाशंसा मोक्षितं नन्दराज् च हृतं हरितवर्णेन शोभयादिना उपसेत्वं यस्य ताहम् (वदनद्वारस्य), शिबिघानां मुग्धिष्ठकुमानां मुखभित्तुष्पानाम् उपहारः चित्रं यथा

दणमणोरहामासकरस्त समन्तसेनाभवनदुआस्त सतिसरोअदा । जं सत्त्वं मज्जतपस्त  
 यि जणस्य बलादिहिं आआरेदि । [अहो, सलिनसित्तमाजितकृतहरितोपलेपनस्य,  
 विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखित भूमिभागस्य, गगनलावलीकनकौतू-  
 हलदूरोन्नमिनशीर्षस्य, दोलायमानावलम्बितैराव्यम्हन्तध्रमागतमल्लिकार्जु-  
 नगुणालङ्कृतस्य, समाञ्जनैर्दन्तानोरप्रावर्त्तितस्य, महारत्नप्रसंगोत्त-  
 शोभिना पवनबलान्दोलनाललञ्जलाग्रहस्तेन इत् एहि' इतिव्याहरतेव मां  
 सोभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणेस्तम्भवैदिकानिक्षिप्तसमुत्स-  
 सद्भरितक्षतपल्लवल्लेखिमिस्फीटिकमङ्गलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य, महासु-  
 वक्षः स्थलदुर्भेद्यव्यनिरन्तरप्रतिबुद्धवनककपाटस्य दुर्गतजनमनोरथाप्रास-  
 रस्य, यसन्तसेनाभवनद्वारस्य सभोक्ता । यत्तस्य न्यस्तस्यस्योप जनस्य बला-  
 द्दृष्टिमाकारयति ।]

षेटी-एवु । इम पढम पभोट्ठ पबित्तु अज्जो । [एवमु । इम प्रथमं  
 प्रकोष्ठं प्रतिशतवार्यः ।]

विदूषकः-- (प्रविन्यावलोचय च) ही ही भो. इद्यो वि पढमे पभोट्ठे सत्तिसङ्ग-  
 मुणालसच्छाशोभो, विविहृदचुण्णमुदिठपाण्डुराभो, विविहरअणपडिबद्धकञ्जणसोवाणो  
 हिदाभो, पासादपणित्तो, औत्तम्यिदमुत्तादामेहिं फटिअवादाअणमुहवन्देहिं णिग्गसअन्तो  
 विअ उज्जहणिम् । सोत्तित्तो विअ सुहोवविट्ठो णिदाअदि दोवारिओ । सवहिणा सत्त-  
 सौवणेण पत्तोहिदा ण भववन्ति चाअसा वत्ति सुधासवण्णदाए । आवित्तु भोरि ।  
 [आश्चर्यं भो, अप्रापि प्रथमं प्रकोष्ठं शशिशङ्खमृणालसञ्छायाः, विनिहित-

स्यात् तथा लिखित भूमिभागे यस्य तस्य गगनस्य अवलोकनाय दशनाय यद्  
 कीटहस्तम् ओत्सुक्यं तेन दूरम् उन्नामितम् उत्थापित शीर्षं येन तस्य अतिसमुन्नतस्य,  
 दोलायमान, इतस्तत्, परिवनेन् अवलम्बितः अधोऽवत्तम्बितः च यः पुरायतस्य  
 इन्द्रगजस्य हस्ता शुष्कादश्च, तस्य ध्रमागत, प्राप्तं प्राप्त, भमोःपादकः इति यावद्  
 [ध्रमायित, इति पाठान्तरम्] च, मल्लिकार्जुनगुण मल्लिकार्जुनगुणानां हार, तेन  
 असङ्कृतस्य [द्वारदेशेऽवस्थिता मल्लिकार्जुनगुणमाला पेशवतस्य शुष्कावत्' प्रतिभा-  
 सोत्ति, भाव'] समुन्निधेन समुन्नतेन दन्तिदन्ततोरणेन वज्रदन्ततोरणेन अवभासितस्य  
 शशिनस्य, सोभाग्यपताकानां मङ्गलध्वजानां निवहेन समुन्नेन प्रपणोभितस्य । कीटणेन  
 सोभाग्यपताकानिवहेन ? इत्याह—महारत्नानाम् उपरायेण वर्त्तमानेन उपशोभने  
 इति तेन तथापूनेन पवनबलेन वायुवेगेन या आन्दोलना इतस्तत्, चलन तथा  
 सतत् चन्द अतएव चञ्चलम् अग्रमेव हस्तः तेन 'इत् एहि' इतः आगच्छ इति  
 मां विदूषकः म्याहरता वदता एव [सोभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य द्वारस्य],  
 क्रिञ्च तोरणस्य यन्त्रिंशत्स्य धरणाय अयनम्भनाय ये स्तम्भाः तेषां वैदिकायु निक्षि-  
 प्ता प्रक्षिप्ता समुत्सृज्यन्त शोभमाना हरिता ये क्षुत्पल्लवाः धातुपत्राणि तैः सत्तामी

मूत्रक पत्राङ्ग-मूत्र से जो मुगोभित हो रहा है, तोरण के अवनमन के लिये बनाये गये स्तम्भों की वेदिकाओं (चौकियों) पर रखे हुए गुन्दर हरे बाम के (कोमल) पत्तों से मुगोभित स्फटिक (निमित्त) पद्मनक्तमर्षों से जिनके दोनों पार्श्व बनोहर (सप्त रहे) हैं जिनके स्वर्ण निमित्त विवाड महान् राक्षस के बधस्थल के सट्टम कुम्भे एवं सप्तन रूप से मण्डितम् है तथा जो निर्धन जनो के मनोरथ के लिए पीडा वाचक है (क्योंकि धनहीनता के कारण इतने भव्य-भवन में प्रवेश करने का मनोरथ भंग हो जाता है ।) जहो-भ्रमन्तेना भवन के ऐसे द्वार की शोभासम्पन्नता (भी दर्शनीय है) जो सचमुच उद मीन जन की दृष्टि को भी बलात् आकर्षित करती है ।

वेटी—आइये, आइये । इस प्रथम प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिये ।

विक्षुपक - (प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ प्रथम प्रकोष्ठ में भी वायना, शंख और कमलनाभ के तुल्य कान्ति वाली; भली प्रकार विखराये हुए (सजाये हुए) मुद्गी-भर चूर्ण के कारण श्वेत, विविध रत्नजटित स्वर्णमयी सीढ़ियों में शोभित प्रामादेश की पंक्ति, स्फटिक-निमित्त वातावन रूपी मुखचन्द्रों से, जिन (वातावनों) में मृत्तदार लटक रहे हैं, उज्ज्विनी को मानो देख रही हैं । मुखपूर्वक बँटा हुआ द्वारपाल वेदप्रती आह्वान के समान नौद ले रहा है ।

दहीनुक्त कलम (धान विशेष) के भाग से प्रतीभित हुए भी कोई धलि को चूने (मुद्या) के सद्ग वषवाली होने के कारण नहीं खा रहे हैं आप निदेंत कीजिए ।

रमणीयो यो स्फटिकस्य स्फटिकनिमित्तो मङ्गलकृतशो तावयाम् अभिरामं मनोरमम्  
उभयनाभं यस्य साहस्ररत्न (द्वारस्य), महापुराणं हिरण्माभादीना बधस्थलवद्  
कुम्भे बर्षः हीरकैः निरन्तरं सप्त प्रतिबद्ध जटित च कनककपाटं स्वर्णकपाटं यस्य  
तादृशस्य, पुष्पनजानां दण्डिनानां मनोरथानाम् अशिलायायाम् क्षायासकरस्य धर्मो-  
शासकस्य [धनाभावात् ल्यामवस्यन्वात्] एतादृशस्य बयन्तेनायाः भवनद्वारस्य अहो  
सर्वाङ्गना शोभासम्पन्ना आश्चर्यवरो—इत्यर्थः ।

प्रथमप्रकोष्ठवननन्—श्रिकेहृमनाते. सयाना द्वाया वाणिष्याना द्याः  
(दानादनङ्कन) ता एव च विनिहितं. निशिष्ये चूर्णस्य मुद्यापूर्वस्य मुष्टिमि  
पाशुराः मुद्याः, विविधरत्नं. प्रतिबद्धानि सर्बिनानि यानि वाञ्छनस्य सीरानानि  
नैः नोभिताः प्रामादनङ्कन. (कश्चरः) अवलम्बितानि मुक्ताशयाणि मौक्तिकद्वाराः  
येन तादृशं. स्फटिकस्य वातावनानि यथायाः एव मुखचन्द्राः तैः उज्ज्विनी निदर्शयन्ति  
एव परदर्शनं ननुपुंक्षा । शोभित्य वेदप्रती । मुनेन उपविष्टः । सदयाना दण्डिनहिनेन ।  
कनकस्य द्याःविशेषस्य ओदनेन मनोन (टि०) । मुद्यायाः सख्यंतया सादृश्येन ।



चूर्णमुष्टिर्पाण्डुरा, विविधरत्नप्रतिबद्धकाञ्चनसौपत्नशोभिता प्रासादपङ्क्त  
 योऽवलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुसचन्द्र<sup>सपी</sup>निध्यायन्तीवोज्जयिनीम् ।  
 श्रोत्रिय इव सुसोपविष्टो निद्राति दौवारिक । सदध्ना वलमोदनेन प्रलो  
 भिता न भक्षयन्ति वायसा बलि सुधासवर्णतया । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जो । इम इदिअ पभोटठ पविसदु अञ्जो [एत्वेत्वाय ।  
 इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यं ।]

विदूषक—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही घो., इदो वि इदिए पभोटठे पञ्जन्तो  
 षणोदजवसतुसकवसमुपट्ट तेत्लरभ्यद्भिदविसाणा बद्धा पवहणजइत्ला । अम अण्णदरो  
 अवभाणियो विअ कुतोणो रोह णोससरि सेरिहो । इदो अ अचणीदजुग्गत्त मत्तत्त  
 विअ महीअदि गोवा मेत्तत्त । इदो इदो अवराण अत्ताणं केत्तत्तप्पणा करीअदि । अम  
 अवरो पाटञ्चरो विअ दिट्ठबडो मन्दुराए साहामिओ । (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ  
 बूरञ्चुत्तत्तलमिम्स पिण्ड हत्थो पडिच्छाबोअदि मेत्तपुरिसेहि । आविसदु भोदो ।  
 (आश्चर्यं भो इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनोतयवससुसकवलसुपुष्टास्तौ  
 साम्यस्तुवियाणा बद्धा प्रवहणबलीवर्दा । अयमन्यतरोऽवमानित इव कुन्तीनो  
 दीपं निश्चसिति सैरिभ । इतश्चापनीतयुद्धस्य मत्तस्येव मद्येते प्रोवा  
 मेपस्य । इत इतोऽपरेषामश्वाना केशकल्पना त्रियते । अयमपर पाटञ्चर  
 इव हृदबडो मन्दुराया शाखामूम् । इतश्च बूरञ्चुत्तत्तलमिथ पिण्ड हस्ती  
 प्रतिप्राप्तते मान्पुरुषं । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जो । इम तइअ पभोटठ पविसदु अञ्जो । एत्वेत्वाय ।  
 इम तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यं ।]

विदूषक—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही घो इदो वि तइए पभोटठे इमाइ बाव  
 कुत्तज्जणोववेत्तणमिसं विरिचिदाइ आत्ताणइ अट्ठवाचिदो पात्तामपीठ विट्ठइ  
 पीत्तभो । एतो अ साहीणमणिमत्तारिआत्ताहिदो पात्तामपीठो । इमे अ अवरो मअण  
 सधिदिगाहच्चदुरा विविहबन्धआयिलिहाचित्तकमअग्गहत्था इदो अरोप रिग्गमन्ति  
 गणिजा बुड्ढविडा अ । आविसदु भोदो । (आश्चर्यं भो इहापि तृतीये प्रकोष्ठे  
 इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यारसनानि । अर्धवाचितं  
 पाशवपीठं तिष्ठति पुस्तकम् । एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिणासहिंस पाश  
 कपीठम् । इमे चापरे मदनसन्धिविग्रहप्रहृतुरा विविधवर्णिकाविलिप्ताचित्रफल-  
 काग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गर्णिका वृद्धविटाश्च । आदिशतु भवती ।]

चेटी—एतु एतु अञ्जो । इम चटठठ पभोटठं पविसदु अञ्जो । [एत्वेत्वार्यं ।  
 इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यं ।]

खेटी—आर्य, आइये । आप इस द्वितीय प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिये ।

बिदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में भी समीप (स्पन्त) लाम्बी हुई घास और भूसे के घास से परिपुष्ट तथा तेज से बिरुने सीपों वाले रथ के बैल बंधे हैं । यह एक भ्रंसा अपमानित कुलीन (व्यक्ति) की भाँति लम्बे साँस से रहा है और इधर लड़ने से हटे हुए बहसवान की भाँति मड़े को चर्चने मली जा रही है ।

इधर अन्य घोडों की वेशसज्जा (केभमंस्कार) की जा रही है । यहाँ पुडसाल में यह बन्दर चोरों की भाँति हड़नापूर्वक बघा हुआ है (इसरी और भी देखकर) और इधर महावतों के द्वारा भात से चिरे हुए तेल (सक्षणां से-घी) से मिश्रित पिण्ड हाथी को खिलाय जा रहा है । आप जाना कीजिए ।

खेटी—आर्य, आइये, आइये । आप इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

बिदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में भी कुलीन पुत्रों के धँडने के लिए ये आसन लगाये गये हैं । जुआ खेलने की चौकी पर बाघी पत्नी हुई, पुस्तक रखी है और यह जुआ खेलने की चौकी अकृत्रिम (असती) मणि से बनी हुई मीनाओं (मीना के आकार की गोटी) से युक्त है और ये अन्य काम के सन्धि-विग्रह (प्रेम कराने और प्रेम भग कराने) में निपुण वेम्पायें एवं बृद्ध विट विभिन्न रंगों से चित्रित विनयकर्मों को हाथों में लिये इधर-उधर घूम रहे हैं । आर्य निर्देश कीजिए ।

खेटी—आर्य आइये, आइये । आर्य इस चतुर्थ प्रकोष्ठ में प्रवेश करें ।

द्वितीयप्रकोष्ठवर्णनम्—पर्यन्ते सम्भुसे उपनीतानि मशणाय उपहृतानि पानि यवसानि तृणानि कुसानि च तेषां कवल्सः घ्रासैः सुपरिपुष्टाः परिपुष्टाः तंसेन अम्वत्कानि धिकृणानि विपाणानि येषां ताट्टाः प्रबहून्स्य बल्लोवरा बट्टाः । यथा भवमानितः कुलीनो जनः दीर्घं निःश्वसति तथैव संरिभः महिप.निश्वसति । अपनीतं उमाप्तं युद्धं मल्लयुद्धं येन तदर । केनकञ्जना केतानां नल्पना संदकारः, कर्तनादिना रचना । पाटञ्चरः चौरः ।

इह यद्धः । मन्दुरायां वाजिशालायाम् । शास्त्रामृषः वानरः । कूरं हाटांविश्वः, भक्तं (मात) वा, क्रूरात् च्युतेन नि.मृतेन तंसेन मिधं पिण्डम् अन्परिष्णं, पान्पुस्तैः हस्तिपकैः ।

तृतीयप्रकोष्ठवर्णनम्—कुलपुत्रजनानां कुलीनपुरपाणाम् उपवेशननिमित्तं उपवेशनार्थम् अर्घ्यवाचितम् अर्घ्यं पठितम् । पाणकपीठे रञ्जुजालनिमित्ते आसने अपवा पाणकस्य (पाणकपीठार्थं) पीठं पाणकपीठं तत्र स्वाद्योदनमभिमयाभिः अकृत्रिममणि-रचितभिः सारिकरभिः मुटिकरभिः (सार, गोट इति प्रतिज्ञाभिः) सहितं युक्तम् । मणिकाः विटारथ कीटताः मदनस्य कामस्य तत्सम्बन्धी यः सन्निः प्रेमिभ्यश्चोः मिलनं विप्रहास प्रणयनतद् दयोः चतुरा तथा च विविधानिः

विदूषक — (प्रविश्यावनीक्य च) ही ही भो, इदो वि खउटठे पओटठे जुवदि करेताडिदा जलधरा इव गम्भीर नदन्ति मृदङ्गा, होणपुण्याओ विअ गअणादो तार-  
 भाओ णियदन्ति कसतालदा महुअरविअ विअ महुअर वज्जवि वसो । इअ अथरा ईसा-  
 प्पणअकुपितकामिणो विअ अङ्कारोविदा कररुहपरामरितेण सरिअजदि वोणा । इमाओ  
 अवराओ कुमुअरसमत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुअर पगीदाओ गणिआदारिआओ  
 णच्चिअन्ति, णट्टअ पठिअन्ति, ससिङ्गारओ । ओवग्गिदा गवअसेसु वाव गेअहुमिअ ससिल-  
 गगरोओ । भाविसाहु भोवी । [आएचय भी इहापि चतुर्थे प्रकोठे युवतिक्रता-  
 डिता जलधरा इव गम्भीर नदन्ति मृदङ्गा क्षीणपुण्या इव गगनात्तरका  
 निपतन्ति कास्यताला मधुकरविस्तमिव मधुर वाद्यत वश । इयमपरेष्यप्रण-  
 यपुपितकामिनोवाङ्कारापिता कररुहपरामर्शनं सायते वीणा । इमा अपरा  
 कुमुअरसमत्ता इव मधुवयोजितिमधुर पगीता गणिआदारिका नत्यन्ते, नाट्य  
 पाठयन्ते सशृङ्गारम् । अपवत्तिना गवाक्षसु वात गृह्णन्ति सलिलगगयं. आदि-  
 शानु भवती ।]

चेंटी—एहु एहु अज्जो । इअ पञ्चम पओटठे पविसाहु अज्जो । [एवेत्वार्यं ।  
 इमं पञ्चम प्रकोष्ठं प्रविशत्वाय ।]

विदूषक — (प्रविश्य रट्वा च) ही ही भो, इदो वि पञ्चमे पओटठे अअ  
 दलिहजलतोहृप्पादणारो आहरइ उअचिदो हिइगुतेत्सगली । विविहसुरहिप्पुआगारेहि  
 णिच्च सताविज्जमाण णोससदि विअ महाणस दुवारमुदेहि । अदिअ उमुसावेदि म  
 साहिज्जमाअवहुविहमअसओअणणयो । अअ अयरो पइअर विअ पोड्ढि घोअदि कपि-  
 हारओ । बहुविहाहारविआर उवसादेदि सूवआरो । वज्जन्ति मोदआ, पञ्चन्ति  
 अ पूवआ । (आत्मगतम्) अवि दाणि इह अहिअ अ मुज्जसु ति पावोअम सहित्तम् ।  
 (अपतोऽपनीक्य च) इदो गधववअरगणोहि विअ विअरात्तङ्कारोविदेहि गणिआज-  
 रोहि अणुतोहि अ ज सच्च सागीअदि एअ गेहम् । भो, के तुम्हे अणुता  
 णाम । [आएचयं भी, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर-

द्विकामि नीलपीतादिकर्षे विविचिन्तानि चित्रितानि चित्रकलाचानि अपहस्ते हस्ताप्र-  
 भागे येष तादृशा ।

चतुर्थप्रकोष्ठवर्णनम्—युवतिकर्तृ-साक्षिता यादिता- । नदन्ति नाद पुर्वति ।  
 क्षीण पुण्य येषां ते कास्यताला कास्यरचिता-करताला निपतन्ति । ध्वजव्यवादनदेव  
 निपात (पृथ्वी०) । मधुकरविस्तम् अमरमुञ्जितम् । वस वशो । अपरस्या हतर-  
 नार्या ईध्या कारणान् प्रणयपुपिता या कामिनो या इव अङ्के आग्नेपिता कररुहाणां  
 नसाना परामर्शनं स्पष्टेन आधातेन वा सायते मञ्चयते ।

नत्यन्ते नृत्य कार्यन्ते ।-गणिआदारिआ वेष्पाविधेया, वेष्पावातिरा, वा ।

द्विदूषक—अरे ! आश्चर्य ! यहाँ चतुर्थ प्रकोष्ठ में भी मुवक्तियों के हाथ से दबाये गये मृदङ्ग वादकों के समान सम्मोर ज्वल कर रहे हैं । पृथ्वी क्षीय होने पर आकाश में गिरने वाले तारों के समान मँबीरे (करताल) गिर रहे हैं, प्रमरगुण्यन की भाँति बामुरी मधुरता से बजाई जा रही है । अन्य (स्त्री) की ईर्ष्या के कारण प्रत्यक्षुभित कामिनी के समान यौव में खन्वी हुई वीणा नख के स्पर्श से मिलाई (बजाई) जा रही है ।

दूसरे, ये पुण्य रत्न (के पान करने) में मन प्रमरियों के समान अति मधुर गाती हुई वेरगदायावे बजाई जा रही हैं, (उन्हे) शृङ्गारयुक्त अभिनय मिसाये (पटाये) जा रहे हैं । मित्रवियों में मटकते हुए आनी के घड़े बामु घट्टन कर रहे हैं । आप निर्देश कीजिये ।

चैतो—अरे आटये, आटये । आर्य इस पाँचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए ।

त्रिदूषक—अरे ! आश्चर्य ! यहाँ पाँचवें प्रकोष्ठ में भी यह निर्घन मनुष्यों की मोम उत्पन्न करने (शलवाने) वाली हींग और तेन की तौब (बड़ी हुई) गन्ध मुझे भारयिन कर रही है । त्रिद सन्तप्त की जानी हुई पाकजाना माना प्रकार के सुसन्धित घूर्ण को प्रकट करने वाले शारस्पी मुखों से निम्बाम से ले रही है । बनाये जाते हुए शर्करा प्रकार के साद्य-पदार्थों एवं व्यञ्जनों की गन्ध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है । इसका, यह कमाई (कपिन) का लड्डका मारे हुए पशु के पेट की पेंगी की पुराने बत्तन की भाँति धी रहा है । रसोद्भा भाँति-भाँति के आहार के अनेक प्रकार (Kinds) बना रहा है । लड्डू बाँटे जा रहे हैं । पुए पकाये जा रहे हैं । (स्वगत) तो क्या अब यहाँ पर "विविध व्यञ्जनादि से समृद्ध भोजन को मदेष्ट सादये ।" इय प्रार्थना के साथ मुझे वर छोटे के लिए जल मिलेगा ? (दुमरी और देखकर) यहाँ गन्धर्व एवं बन्धरा मनुष्यों की भाँति विविध आभूषणों से शोभित वेरगदनों-वा अन्युओं के कारण मधुबुध यह घर स्वर्ग हो रहा है । अरे तुम दण्डुल नाम वाले वीन हो ?

अवतन्विताः अवतन्विताः । सनित्तपत्यः जनानां जनानामपि पात्रविधेयाः ।

पञ्चमप्रकोष्ठवर्द्धनम्—उपवितः कृद्धि मत्-आहरति आश्चर्यति । विविधसुर-कीर्णानां नानानुपपन्नानुमानानां पुष्यानाम् उद्गाराः वेभ्यः सं-हाराणि एव मुखादि सं-नित्प-सन्तान्मार्तं मन्वं तप्यमानं महात्मं पारुषाणां विरक्तमतीव—इति उद्देशः ।

माशयमानस्य पच्यमानस्य मस्यस्य आद्यपदायंभ्य सोमस्य व्यञ्जनस्य प ।

स्त्री सट्टिकाः लम्ब दारकः पुत्रः (पृथ्वी०) । एवं पशु [ एवं इवमावे सौन्दर्ये नामने पशुस्यस्योः - इति भेदिनी ] तपोवात् स्त्री मासविज्ञेता सट्टिकाः । आहारमिच्छात्प-बाहरभेदात् । व्यञ्जनादिमासस्योत्तचितं अधिनकम् इति-पुर्व्वीया (पृथ्वी०), प्रचुरं संपेदं देवा । स्वर्गान्नि स्वर्गवद् आवरति, स्वर्गवद् प्रतीपते ।

आहरत्युपचितो हिङ्गुतैलगन्धः । विविघ्नसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं सताप्यमानः  
 नि प्रवसितोत्र महानगं द्वारमुखं । अधिकमुत्सुवायते मा साध्यमानवहुविघ्नभक्ष-  
 भोजनगन्धः । अयमपरं पटच्चरमिञ्च हृतपशूदरपेशिं घ्रावति रूपिदारकः । दृ-  
 विघ्नाहारविकारमुपसाध्यति सूपकारः । बध्यन्ते मोदकाः । पच्यन्तेऽपूपकाः ।  
 अपोदानोमिह वर्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं सप्ये । इह गन्धर्वाभ्ररोगणीति  
 विविघ्नालङ्कारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत्स्वयं स्वर्गायते इदं गेहम् । यो,  
 के यूयं बन्धुला नामः ।]

बन्धुला — वयं ससु ।

परगृह्यललिता परान्नपुष्टा परपुरुषैर्जनिता पराङ्गनासु ।

परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजवलभा इव बन्धुला ललाम ॥३५॥

विदूषक — आविसतु भोषो । [आदिशतु भवती ।]

घेटी — एतु एतु अञ्जो, इमं छटठ पभोटठ परिसतु अञ्जो । [एतैत्वायोः ।  
 इमं पठ प्रकोष्ठं प्रविशस्वत्यर्थं ।]

विदूषक — (प्रविश्यावलोच्य च) ही हो भो, इवो वि छटठं पभोटठे म्पु  
 दाव सुवर्णरमणाणं चम्पतोरणाइ चीतरअणविनिविसत्ताई इन्वाउहट्टाण विअ इरित-  
 भन्ति । वेदुरिअमोत्तिअपवासअपुष्कराअइन्दणोसक्ककेत्तरअपकाराअमरगअपहुवि आइ  
 एअणवितेसाइ अण्णोण्ण विचारैन्ति सत्पिण्णो । अइअन्ति जादक्केहिं माणिककाई ।  
 अइअन्ति सुवर्णतत्तुआरा । एतसुत्तेण गच्छीअन्ति मोत्तिआअरणाइ पत्तीअन्ति धीर  
 मेहुदिआइ । धेडीअन्ति तात्तुआ । तन्निअन्ति पत्ताअरा । सक्कविअन्ति ओत्तसिइहुइ-  
 ण्णमपत्तरा । सालीअन्ति वत्तुदिआ । वितेत्तेण धिरसहि चन्दणरत्तो । सजोईअन्ति गण-  
 सुत्तीओ । धीअन्ति मणिआकापुष्पाणां सक्कपूरं ताअन्तोत्तम् । अयत्तोईअन्ति सक्कवसअम् ।  
 पयट्टवि हात्तो । पिण्णोअन्ति म्पु अण्णवरअ सत्तिसक्कारं पट्टरा । इमे घेवा, इमा घेविअमो  
 इमे अचरे अक्कीरिअसुत्तआरविता मणुत्ता आत्तववरअपोद्वदिरेहिं माणिआअज्जेहिं के  
 मुक्का ते पिअञ्जो । आविसतु भोषो । [आश्रयं भो, इहापि पठे प्रकोष्ठेऽगृही-  
 ताथत्सुवर्णरत्नानां चम्पतोरुणानि नीलरत्नविनिविसत्तानिन्द्राद्युष्मस्थानमिव दर्श-  
 यन्ति । वेदूषमोक्तिः प्रबालकपुष्परागेन्द्रनीलवर्कैतरक्वपदारगमरकतत्रमूर्तीरत्न-  
 विशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः । बध्यन्ते जानरूपमणिगयानि । पटपत्ते  
 सुवर्णालङ्काराः ।

स्वकीय परिचयं दत्तानां बन्धुलाः चम्पन्ति—परेति । परपुरुषैः पराङ्गनापु  
 अन्यनारीषु जनिताः समुत्पादिताः परेभूहे अन्यस्य गृहे सन्तिताः पतिताः पराम्नेष  
 पुष्टाः परपत्तेषु निरताः उपभोगदिना तत्पराः, पुष्पेषु अवाच्या अवतस्था-  
 विशेषमुणभूया इति वाक्यं मनमिष्टानीपगुणा इत्यर्थं इति पृथ्वीधरः ] बन्धुलाः

बन्धुन तोप—हन वाम्त्व में —

पराये घर में पालन किये गये, पराये अन्न से पुष्ट, परपुत्रों के द्वारा पर-  
त्रियों में वदन्त किये हुये, पराये धन का उपभोग करने वाले, दुगों (के प्रसङ्ग) में  
न रहे जाने योग्य (हन) बन्धुन हैं, जो हाथियों से बच्चों के समान खालन्व विहार  
करते हैं ॥२८॥

विद्वयक—आप (आये) निर्येव कोविदे ।

चेटी—आयं, आइये, आइये । इस पद्य प्रकीर्ण में आयं प्रवेश करें ।

विद्वयक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे, आश्चर्य ! यहाँ पद्य प्रकीर्ण में भी  
दे नीमरत्न-वदित स्वर्ण रत्नों की विविध रचना से युक्त हीरक इन्द्रधनुष की समानता  
भी प्रदर्शित कर रहे हैं । तिलोजन बँडूयं, मोपी भूंगा, पुष्पराय, इन्द्रनीच, कर्णतरक,  
नमराग, मरवत आदि रत्नविशेषों का परस्पर विचार कर रहे हैं । सोने के साथ रत्न  
जड़े जा रहे हैं । स्वर्णभूयन गड़े जा रहे हैं, मुक्ताभूयन साथ धागे से सूये जा रहे हैं ।  
बँडूयं छँपेबूयं (धीरे-धीरे) धिमे जा रहे हैं । गंस काटे जा रहे हैं । भूंगे शान से धिमे  
जा रहे हैं । मोपी केसर की तरह मुवाई जा रही है ।- बन्धुनी यीपी की जा रही है ।  
धन का रम विशेष रूप से दिया जा रहा है । (विमिल) गन्धों के मिश्रण किये जा  
रहे हैं । वेग्या और बामुकों को कनूर सजिन पान दिया जा रहा है । कटाश सहित  
देवा जा रहा है । हँपी हो रही है । निरन्तर मीत्कार सहित मरिच पी जा रही है ।  
दे चेट, दे चेटियाँ तथा दूधरे में मनुष्य मरिच पी रहे हैं—बिन्हीने पुत्र, पत्नी और  
धन का निरस्कार कर दिया है-और जो (मनुष्य) मत्त-वचनों से मरिच पान कर  
लेने वाली बोग्याओं के द्वारा त्याग किये द्ये हैं (अर्थात् मद्यपान करके बोग्याएँ उन्हें  
करेना छोड़कर चली गई हैं) । आर आपे निर्येव कोविदे ।

एतन्नामकाः यत्रहत्वया यत्रमावका इव तन्नाम विनयामः । उपमानद्वाराः । बुद्धिः  
इति ॥२८॥

वदन्तप्रकीर्णवर्णनम्—सुवर्णरत्नानां सुवर्णरत्नरत्नानां कर्मणा रत्नविशेषैः  
निर्मितानि हीरकानि बहिर्द्वाराणि, यानि नीमरत्नः त्रिसिंधानि यत्रिंशानि सन्ति  
तानि इन्द्रानुषय इन्द्रधनुषः स्थानमित् प्रदेयमित् वर्णयन्ति । रत्नरत्नसुवर्ण-  
निन्दे बहिर्द्वारे मध्ये मध्ये नीमरत्नानि यत्रिंशानि सन्ति तत्र च इन्द्रधनुषः सोमा  
रन्ते इति भावः । इन्द्रधनुषे रत्नविशेषान् त्रिसिंशान् अन्योन्य परस्परं विचार-  
यन्ति । प्रधानकर्मत्रयी-मनित्रियेयी (पृथ्वी०) । आयुष्यः सुवर्णः कुट्टुमय  
रन्ताः म्पराः (उद्, Layers) । 'अन्तरः कुट्टुमायुष्यवर्णयन्तु इन्द्रः' इति  
पृथ्वीपदः । सार्धे एकत्रिंशन्ते, आश्रीकन्ते इति पृथ्वीपदः । अथयुष्यः अन्योन्य-  
यन्ति । अथीरत्नानि उल्लिखन्ति पुत्रद्वारिणानि यैः तैः । आरतकरकैः

रक्तमूत्रण ग्रथ्यन्ते मीक्तनाभरणानि । धृष्यन्ते धीर वंद्याणि । छिद्यन्ते शङ्खा । शार्णपृष्यन्ते प्रवालका । शोष्यन् आर्द्रकृडकुम्प्रस्तरा । सायते वस्तूरिका । विशेषेण धृष्यते चन्दनरस । सयोज्यन्ते गन्धमुक्तय । दीयते गणिकागामुवयो सकपूर ताम्बूलम् । [अवलोकयते सवटाष्टम् । प्रवर्तते हासः । पीयते चानरवत ससीत्कार मदिरा । इमे चेटा, इमाश्चेटिका इमे लपर-  
श्वधीरितपुत्रदागवित्ता मनुष्या आसववरकापीतमदिरैगणिकाजनैर्ये मृत्तास्ते पिबन्ति । आदिशतु भवति ।]

चेटी—एव एव अजो । इम सत्तम पओट्ठ पविसदु अजो । [एत्वेत्वार्य । इम सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वाय ।]

विदूषक — (प्रविश्यावलोकय च) ही ही मा इधो धि सत्तमे पओट्ठे सुत्ति-  
त्तिट्ठविहङ्गवाडीसुहृत्तण्णाइ अप्पोण्णसुम्बणपरणइ सुह अणुभवन्ति पारावदामिह-  
णाइ । इहिसत्तपूरितोदरो बह्णो विअ सुत्त पडिदि पञ्जरणुओ । इअ अयरा समाणणा-  
सद्धपसरा विअ परदासी अधिअं कुरकुरादि मदनसारिआ । अणेअफलरसास्वाद-  
ट्टकण्ठा कुम्भदासी विअ कूअदि परपुट्टा । आलम्बिता नागदन्तेस् पञ्जरपरम्पराओ ।  
जोघोअन्ति तावभा । आलवोअन्ति कविञ्जला । वेसोअन्ति पञ्जरवचोदा । इधो तरो  
विविधमणिविचित्तियो विअ अअ सहृणं अच्चन्तो रविक्किरणसत्त परणुस्तेवेहि  
विद्युवेमि विअ पासाइ घरमोरो । (अन्यतोऽवलोकय च) इटो पिण्डोक्किटा विअ चन्दपादा  
पदगतिं तिक्कन्ता विअ कामिणीण पच्चदावो परिग्गमन्ति राजहसमियुनानि । एदे अवरे  
बुद्धमहल्लवा विअ इधो तरो सव्वरन्ति परसारसा । ही ही ओ पत्तारणअ किअ गणिआए  
णाणपणिससमूहेहि । अ सत्तव वणु गन्दणवण विअ मे गणिआघर पडिमासदि ।  
आदिसदु भोदि । [आश्चर्यं भो, इहाणि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्विहङ्गवाडी-  
सुखनिपणान्यन्योन्मद्युम्बणपरणि सुखमनुभवन्ति पारावतामधुनानि ।  
दधिभक्तपूरितोदरो शाह्ण इव सूक्त पडति पञ्जरणुम् । इयमपरा समान ।  
नालव्यप्रसवे गृहदासी अधिक कुरकुरायते मदनसारिवा । अनेकफलरसास्वाद-  
प्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासाव वज्रति परपुट्टा । आलम्बिता नागदन्तप् पञ्जर-  
परम्पराः । योधयन्ते तावका । आलप्यन्ते कविञ्जला । प्रेथ्यन्ते पञ्जरवचोना ।  
इतस्ततो विविधमणिचिवित द्रवाय सह्यं नृत्यन् रविकिरणसत्त पओत्तेपेविधुव-  
सीव प्रासाद गृहमयूर । इत पिण्डोक्किना इव चन्दपादा पदगतिं शिक्षमाणानोव  
कामिनीना पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहसमियुनानि । एतेऽपरे वृद्धमहल्लवा इव  
इतस्तन सव्वरन्ति गृहसारसा । आश्चर्यं भो, प्रमारणं कृत गणिकवा नाना-  
पणिसमूहे । यत्सत्यं सनु नन्दनवनमिव मे गणिकागृह प्रतिभासते । आदिशतु  
भवति ।]

मुरावणं भावीता ईवदपोता मदिरा यं तादृशं गणिकाजनैः न मनुष्याः सुता  
निसारिताः तदत्ता वा ते पिबन्ति ।

चेटी—आगे, आइये, आइये । इस मातर्वे प्रकोष्ठ में आये प्रवेश करे ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे ! आश्चर्य ! यहाँ मातर्वे प्रकोष्ठ में भी मुनिनिद्रा कपोतपातिका पर मुख से बँटे हुए एक दूसरे के चुम्बन में सलगन कृत्रियों के जोड़े मुख का अनुभव कर रहे हैं । दही-भात से भरे हुए पेट वाले ब्राह्मण के समान (दही-भात से भरे हुए पेट वाला) पित्ररे में स्थित तोता सूक्त (वैदिक-ऋचायें) पढ़ रहा है । दूसरे मह सम्मान (होने) के कारण प्रभाव प्राप्त करने वाली गृहपरिचारिका के समान मीना अधिक कुर-कुर घबड़ कर रही है । अनेक फलों के रसाम्बाद से मधुर (प्रमत्त) कण्ठ वाली कोयल कुट्टिनी (कुम्भदामी) के समान बूब रही है । खूंटियों (नागदन्त) पर पित्ररों की पत्तियों (पत्तिबद्ध-पित्ररे) गटकी हुई हैं । लावक (बटेर) तड़ामो जा रही है । तीतरों से बात कराई जा रही है । पित्ररे के कन्नूठर भेजे जा रहे हैं (पित्ररे खोलकर आकाश में उड़ान भरणे का छोड़ जा रहे हैं) ।

प्रमत्ततापूर्वक इधर-उधर नाचता हुआ, विभिन्न श्रणियों से विनित-सा यह पानवू मोर (दूधमयूर) पंखों के फड़काने के द्वारा मूर्ख की किरणों में सन्तप्त हुई मृदानिका को मानो हवा कर रहा है । (दूसरी ओर देखकर) इधर इकड़ठी की गई चन्द्रमा कि किरणों जैसे (उज्ज्वल) राजहंसों के जोड़े कामिनियों के पीछे (मुन्दर) गमन की शिखा नेत्रे हुए से घूम रहे हैं ।

दूसरे, वे पालतू सारंग (गृहमारग) वृद्धश्रेष्ठो (महत्त्वक) के समान इधर-उधर घूम रहे हैं । अरे आश्चर्य है । बेगया ने विभिन्न पक्षियों के समूह के द्वारा विस्तार कर दिया है (विस्तृत हृद्य उपस्थित कर दिया है) । मन्मुख कुम्भे बेगया का घर नन्दन-बन-सा लग रहा है । आप (आये) निर्देश कीजिये ।

सप्तमप्रकोष्ठमर्षानम्—मुनिनिद्रायां विहङ्गकारणं विहृत्पातिकायां  
 कुपेन निरग्नानि उपविष्टानि । पारावतमिषुनानि कपोतमुपतानि । मूक्तं मूर्तिम्,  
 श्वस्तमुदायः मूक्तम् इति पुरबीधरः संभावनया आदरेण तस्यः प्राप्तः प्रसन्नः प्रसरणं  
 प्रभाशो वा यथा सा गृहदासी । मदनसारिका मदनस्य सारिका (टि०) । अनेकफलानां  
 रसाम्बादेन प्रहृष्टः प्रसन्नः कण्ठो यस्याः सा परपुष्टा कोयला कुम्भदामी कुट्टिनी  
 इव वृद्धिः । परम्परा पङ्क्तयः । क्विञ्चलाः नितिरा—। रबिकिरणमत्तत्त्वं प्राणार्थं  
 दूधमयूरः पसाणाम् उर्ध्वपंः चालनं विद्युवनि इव बीडपति इव इन्दुप्रेषा । विष्ठीहिताः  
 पृथ्वीहिताः कण्ठपाशाः कन्दकिरमाः इव राजहंसमिषुनानि पश्यन्ति शिखमापानि इव  
 कान्तिनीनां परचान् प्रमन्ति । वृद्धमहत्त्वकाः वृद्धश्रेष्ठाः वृद्धमत्तिकाः इति बाह्यन्तरम् ।  
 प्रभाशं विस्तारः ।



चेटी—एहु एहु अज्जो । इम अट्टम पजोट्ठ पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यं । इममष्टम प्रकोष्ठ प्रविशत्वार्यं ।]

बिरूपक—(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि, को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिअदर अष्थमुवपुणरत्तासज्जारात्तकिवो अङ्गभङ्गोहि परिवत्तसन्तो इदो तदो परिभ्रमन्ति । [भवति क एष पट्टप्रावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालङ्कारालङ्कृतोऽङ्गभङ्गं परिस्खलन्नितस्तत परिभ्रमति ।]

चेटी—अज्ज, एसो अज्जआए मादा भोदि । [आर्यं, एष आर्याया भ्राता भवति ।]

बिरूपक—केलिअ तवच्चरण क्खुअ वसन्तसेणाए मादा भोदि । अपवा ।  
मा दाव जइ वि एसो उज्जलो  
सिण्णित्ठो अ सुमन्धो अ ।  
तव वि मसाणवोघीए जादो विअ  
चम्पअरुवखो अणहिगगणीओ लोअस्स ॥२६॥

(अभ्यतोऽवलोक्य) भोदि, एसा उण का कुत्सपावारअपाउदा उवणहज्जुअत्तगिरिलत्त-  
तेल्लच्चिकणोहं पादेहं उच्छासणे उवविट्ठा छिट्ठदि । [विश्वचपश्चरण कृत्वा वसन्त-  
सेनाया भ्राता भवति । अर्था—

मा तावद्यथेष्य उज्ज्वल स्निग्धश्च सुगन्धश्च ।

तथापि श्मशानवीप्या जात इव चम्पकवृक्षोज्जभिगमनीयो लोकस्य ॥२६॥  
भवति, एसा पुन का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानलक्षितलक्षितलच्चिकणाभ्या  
पादाभ्यामुच्चासन उपविष्टा तिष्ठति ।]

चेटी—अज्ज, एसा क्खु अम्हाण अज्जआए अत्तिआ । [आर्यं, एसा सत्व-  
स्माकमार्याया माता ।]

बिरूपक—अहो से कवट्टकडाइणोए पोह्वित्तरारो । ता कि एह पवेत्तिअ महारेण  
विम बुभारसोहा इह घरे णिम्भवा ? [अहो अस्या कपेदेकेडाकिन्या उदर-  
विस्तार । तत्किमेता प्रवेश्य महादेयमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता ?]

चेटी—हवात्त, मा एष्व उवहत्त अह्माण अत्तिअम् । एसा क्खु चाउत्पिएण  
वीहीअदि । [हताश, नैवमुपहसास्माक मातरम् । एसा सलु पातुच्चिकेन  
पीडयते ।]

बिरूपक—(सपरिहासम्) अत्रच चाउत्पिअ, एदिआ उवआरेण त वि अह्णं  
आलोएहि । [भगवश्चातुर्थिक, एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोक्य ।]

चेटी—हवात्त, मरिस्सत्ति । [हताश, मरिष्यसि ।]

बेटी—आइये, आइये । इन आठवें प्रकोष्ठ में आप प्रवेग कीजिये ।

विदूषक—(प्रवेग करते और देखकर) पूज्ये, यह कौन है जो रेशमी वस्त्र से आवृत विभोपत्या अन्त अद्भुत दोहरे आभूषणों से भोगित अङ्ग लषका कर ममता हुआ (उपनयना हुआ) इधर-उधर घूम रहा है ।

बेटी—आइये यह आर्या (वसन्तसेना) का भाई है ।

विदूषक—कितना तप करके यह वसन्तसेना का भाई हुआ है । भयवा, ऐसा नहीं है ।

पद्मिनि यह (रंग का) रजना, चिकना-बुपड़ा और सुगन्धयुक्त है, फिर भी समाप्त की मन्त्री में उत्पन्न चम्पक वृक्ष के समान यह सौख्य के लिये त्याग्य है ॥२६॥

(दूतरी और देखकर) (घाघे से वस्त्र पर बनाये दये कृत्रिम) पुष्पो से युक्त उत्तरीय में आवृत हुई, दोनों जूतों में तैय से चिकने पैरों को डाले हुए, ऊँचे आसन पर यह कौन बंठी है ?

बेटी—आइये, यह हमारी आर्या की माता जी हैं ।

विदूषक—हाय इस भरी डापन के पेट का विस्तार ! तो क्या महादेव (की विनाश मूर्ति) के समान इसको यहाँ घर में प्रविष्ट कराकर (बाद में) द्वार की गोमा को बनाया गया था ? (इस द्वार से तो वह मोटी बुढ़िया अन्दर आ ही नहीं सकती थी) ।

बेटी—मुझे, हमारी माता जी का इस प्रकार उपहास मत करो । यह तो "बोधिया ज्वर" में पीड़ित हैं ।

विदूषक—(परिहासपूर्वक) भदवान् चातुर्यिक (बोधिया ज्वर) इस उपकार (दृष्टि) से कुछ ग्राह्यन की भी देख लो ।

बेटी—मुझे, मर जायेगा ।

अष्टमकोष्ठवर्षनम्—पट्टप्रधारकेण शीघेपदुपुमेन प्राहृतः भान्द्राशितः  
 अन्तर्दुर्गः विचित्रैः पुनरत्तातभारैः द्विगुणितैः आभूषणैः अद्भुतमङ्गः अङ्गाना  
 धारणैः । परिस्तनन् इतस्तनः पतन् ।

वसन्तसेनायाः आतुरं दृष्ट्वा विदूषकः बधयति—मेति । मा तावत् किम-  
 प्यन्यत्तं कृत्वा वसन्तसेनायाः प्रादा भवति इति प्रसंसाधनं न युक्तं यतः यद्यपि  
 एतः उक्तवत् दुष्करः स्निग्धः तैसादिनर्षेण चिकन्धः सुगन्धः शोभनदन्धपुनार  
 नयति समाप्तवर्षां जगत् उत्पन्नः चम्पकवृक्षः इव सोऽस्य जनस्व अनभिपत्नीयः  
 पन्तुं अजोष्यः त्याग्य इति यावत् । आर्या वृत्तम् ॥२६॥

पुष्पप्रधारकेण पुष्परतेन प्राग्ना [सूत्रमभूत्पुष्पाणि कृषिमाणि यत्र भवन्ति  
 च पुनरत् इति प्रसिद्धः इति ल० टी०] । उपानयुष्पते निक्षिप्तौ तंसाधनयो  
 '४' एतौ तावन्तां वृत्तान्तां सजिज्ञा । अन्तर्दुर्गाशित्याः अन्तर्दुर्गाशित्याः (टि०) ।

विदूषकः—(परिहस्य) दानं दत्तं इति इति सुखीष्वरुणो सुखी  
वन्दे ।

श्रीशुभ्राम्बिका राज्ञाय नमो हि जितिका ।

अथ नर इत्य जितिका शोदि निजालस्यन्मयस्वतिका ॥३२॥

शोदि हि तुम्ह वाप्यन्म इहन्ति ।

[दान्या पुत्रि, दानोदयः सुखनीष्वरुणो सुखे एव ।

श्रीशुभ्राम्बिका राज्ञाय नमो हि जितिका ।

परि निजालस्यन्मयस्वतिका ॥३२॥

मदनि हि पुत्राश्च पालयन्मयस्वतिका ॥

शोदि—अथ नर इति । [आर्षं नरे नरि ।]

विदूषकः—किं वा एव वरुणोदयः । तुम्ह इत्यु देव्यजितिकेत्ये  
मदपनसुद्वैत्यमिन्द्रकर्मणा उदयः दानयत्ना यत्नरथा । एव इत्यन्तेषाए  
वदुत्तान् अहमन्तेषां अरण्ये देविकम् अत्तव जितिका एव हि विद्विष  
विदुम् । पतितु इति मे दानावितो किं एव जितिकेत्ये, अथा कुबेर-  
भवपरित्येरो ति किं तुम्हम् अजितिका । [किं वा पुत्रान्ते । पुत्राकं एव  
प्रेमनिर्मलजले मदनसमुद्रस्तनानिन्द्रजगन्नाथेव पालयन्मयस्वतिका ।  
एव वसन्तेषायां बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठ भवन्ये एव नरत्तव जातानि एव-  
स्पनिव विद्विष्य दृष्टम् । प्रगतिस्तु नान्ति मे वागिभयः । किं तादृगपि-  
कागृहम्, अथवा कुबेरभवनपरित्येद इति । अथ पुष्पाङ्गमार्गः ।]

शोदि—अथ, एव वरुणोदयः इति । ता पतितु अजितिका । [आर्षं  
एव वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । तत्रविषयत्वात् ।]

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा) हो हो शो, अहो वरुणोदयः पतितरी-  
अथा । अथरीदिकुमुमप्यारा रोषिदाअनेअराया, निरन्तरपादइततनिम्बिदा  
शुवदिजहण्यनाया यदुदोना, सुवण्यशुषिभातेहाविभाषाणं पतितभ्रानोमाति-

तत्किम् (पूर्व) महादेवविव एतां गृहे प्रवेश्य (पश्यात्) इह दारमोभा विविता [अथवा  
अनेन द्वारेणास्या गृहे न प्रवेश स्यादित्यामय अनिपृथगेतर ] आनुविष्टम् उपरिरोषेण ।  
पनुपे अहनि भव. वातुधित ।

गुणम् उच्छ्रित पुल्ल वा पीत स्थूल च जठरम् उदरे यस्य तादात्त । शोचिषति  
श्रीशुभ्राम्बिकाः एतन्नाथकं. मदिराविशेषं —मत्ता उग्मता हि घाता एवावस्थापाम्

विदूषक—(परिहासपूर्वक) दासी की पुत्रि ! ऐसा भूते हुए भोटे पेट वाला (तो) मरा हुआ ही अच्छा है ।

सोपु. मुरा एवं आसर्ष' से मरता (वसन्तमेना की) माना इस अवस्था (अतिशय सुन्दरता) को प्राप्त हो गई है । यदि (यह) माता यहाँ मर जाती है तो हज़ारों गुमानों की (नृत्त करने के लिए) पर्याप्त होगी ॥३०॥

अजी, क्या आपके पास (ध्यापार के लिए पीठ आदि) बलते हैं ?

चेटी—हाँ, नहीं, नहीं ।

विदूषक—या, इसमें पूछना ही क्या है ?

बाल्य में प्रेमरूपी स्वच्छ जल से युक्त कामरूपी सागर में तुम्हारे स्तन नितम्ब तथा जघाएँ ही मनाहर बानपात्र हैं ?

इस प्रकार वसन्तमेना के इतने प्रकार के ममाधारों से युक्त प्रकीर्ण वाले भवन को देखकर मैं जानता हूँ (मुझे लगता है) कि सचमुच ही मैंने एकत्र स्थित मूलोपय देय लिया है । प्रणामा करने के लिए मेरी दासी में सामर्थ्य नहीं है । तो क्या (यह) बेना का घर है अथवा कुबेर के भवन का (एक) खण्ड है ? तुम्हारी जघाएँ (वसन्तमेना) कहाँ हैं ?

चेटी—आर्य, यह वृक्ष-वाटिका में बँठी हैं । तो आर्य प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य ! अहा, वृक्षवाटिका की शोभा-मग्न्यनता ! जिन पर भनी भाँति पुष्पों का विस्तार होता है, ऐसे अनेक वृक्ष मगाने गये हैं । सुषुप्तियों के जघनस्थल की नाप वाजे पटरियों के (या रेखाओं) जूते

एनादृशीन् शकस्या मना । अत्र अस्यां दक्षायामि यदि माना स्रियते श्रुवात्महृत्स्य  
पर्याप्तिका सृष्टिः भवति । उपजातिविशेषः इति पृथ्वीधरः ॥३०॥

श्रेण एव निर्मलं जलं परिमन् ताहगे मदनः कामः एव शमुद्रः तरिन् ।  
बहवो वृत्तान्ताः मत्र । त्रिविष्टप त्रिभुवनम् ।

वाचः वाग्नाः विषयः सम्पन् । कुबेरभवनस्य परिच्छेदः एवदेशः खण्ड ।  
वृक्षवाटिकावर्णनम्—मयीक्षिता शोभासम्पन्नता अन्धरीतयः सम्भर्परिपाटीमुभाः  
पुन्यमस्ताराः पुष्पविस्ताराः देवा तथाभूनाः अनेकपादपाः शोपिनाः सन्ति । सुषुप्तिजनस्य  
रूपनं मन्त्रिभूरोमान प्रमाणं मस्याः तादृशी पट्टनिर्मिता शोभेपयन्त्रसपटिना  
वाण्डःट्टमुक्ता वा दोना (मूला) निरन्तरपादपानां फनवृक्षानां तले निर्मिता सन्ति ।  
इय वाटिका नन्दनभवनस्य सधीरता नपूकरोति इव-दत्तुर्वेधा ।

आकुरवप्रारमोत्तअत्पुहृदिकुगुमेहि सअ णिवडिदेहि अ मच्च तह करेदि विअ णवण-  
वणस सत्तिरीअरम् । (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअन्तसुरसमत्पत्तेहि वमसरतोप-  
सेहि सत्ताअरि विअ बोहिआ । अवि अ ।

एतो असोअवुच्छो णवणिग्गमकुमुमपल्लवा भादि ।

सुभडो व्व समरमज्जे घणलोहिदपङ्कचच्चिको ॥३१॥

भोडु । ता कहि सुहाण अज्जजा । [आरचयं भो, अहो वृक्षावाटिकाया सश्री-  
कता । अच्छरीतिकसुमप्रस्तारणं रापता अनेकपादपाः, निरन्तरपादपतल-  
निर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला, सुवर्गयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लि-  
हानवमल्लिकाकुरवकातिमुक्तकप्रभृतिकुमुमी स्वयं निपतितयंतस्य सधूकरोतीव  
नन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतरच उदयत्सूर्यंसमप्रभं कमलरक्तोत्पलं सद्य्यायते  
इव दीपिका । अवि च ।

एयोऽशोकवृक्षो नवनियंमकुमुमपल्लवो भाति ।

सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचविक ॥३१॥

भवतु । तत्कुत्र युष्माकमायां ।]

धेटी—अज्ज, ओणामेहि विट्ठिम् । येरस अज्जमम् । [आर्यं, अवनमय  
दृष्टिम् । पथयामिम् ।]

विदूषक — (दृष्ट्वा उपमृत्युं) तोत्थि भोदोए । [स्वस्ति भवत्ये ।]

वसन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये मैत्रेय । (उत्थाम) स्वागतम् ।

इदमासनम् । अपोपविरयताम् ।

विदूषक — उपविशतु भोदि । [उपविशतु भवति ।]

(उभायुपविशत )

वसन्तसेना—अपि कुशलं तार्षंवाहपुत्रस्य ?

विदूषक — भोदि कुशलम् । [भवति, कुशलम् ।]

वसन्तसेना—आर्यं मैत्रेय, अपीदानी ।

गुणप्रवालं विनयप्रशासं विधग्नामूलं महनीयपुष्पम् ।

तं साधुवृक्षं स्वगुणीं फलाढयं सुहृद्बिहङ्गा सुखमाश्रयन्ति ॥३२॥

उदयत् उदय गच्छत् य सूर्यं तस्य समा तुल्या प्रभा वातिः येषां तं कमलं  
सामायकमलं रक्तोत्पलं च शीघ्रं वा पापी सद्य्यायते इव सद्य्या इव आपरति,  
सद्यैव प्रतिभातीति भावः ।

तस्य वाटिकायां स्थितम् अशोकवृक्षं वर्णयति—एष इति । नवनियंतानि  
कुसुमानि पत्स्यादस्य यत्र तथाभूत एष पुरोवर्ती अशोकवृक्षं समरमध्ये घनाय

समन वृष्टों के नीचे बनाये दिये हैं । चम्पक जूही शोकांतिका, मासती, भोंसिया (धयवा देना), चमेनी कुरबक तथा अतिमुक्तक (मोगरा) आदि स्वयं गिरे हुए पुष्पों से (यह वस्तुमेना की वाटिका) सबनुच ही नन्दनवन की शोभा-सम्पन्नता को कम कर रही है ।

(दूधरी ओर देखकर) और इधर उदय होते हुए सूर्य के समान आभा वाले मायारण कमनों तथा लाल कमलों से (यह) बावड़ी सम्पन्न बँसी (साल), लग रही है । और भी—

जिन पर नये पत्तों और पुन आये हैं, ऐसा यह अशोक का वृक्ष युद्ध के बीच में गारे रक्त की क्रीचड़ से लपपय हुए श्रेष्ठ शोभा के समान शोभित हो रहा है ॥३१॥

अस्तु । तो तुम्हारी आर्षा कहाँ है ?

बेटी—आयं, हटि को अुकाइये । आर्षा को देखिये ।

बिदूषक—(देखकर समीप आकर) मापका कल्याण हो ।

वसन्तमेना—(संस्कृत का आशय लेकर) अरे मंत्रेय है । (उठकर) स्वागत है : यह आग्रन है । यहाँ बँटिये ।

बिदूषक—आर बँटिये (शेनों बँठ जाते हैं)

वसन्तमेना—मापवाह के पुत्र आयं चाखरत की कुशल तो है ।

बिदूषक—जी कुशल है ।

वसन्तमेना—आयं मंत्रेय, क्या इस समय भी—

पुग ही जिनके किंसलय है, नरुता ही शाखा है, विरवान ही जड़ है, बहुला की पुत्र है, ऐसे अपने गुणों के द्वारा फल-सम्पन्न सम सज्जन (चाखरत) की कुशल पर निज की पत्नी-मग सुखपूर्वक आशय सेते हैं ॥३२॥

राज्य तोहि नपदुस्य रक्तवर्दमस्य चर्वा सेपनं यत्न ताहमः सुमनः योयः ॥ भाति मन्दिने वापावृतम् ॥३१॥

आरतं मंत्रेयं चाखरतस्य कुशलं वृष्ट्वा वसन्तमेना चाखरतविषयक प्रशान्तरन् पुत्रदि-कुनेति । गुणाः शोभापरिचयः एव प्रशान्ताः निषण्णताः यस्य तं, विनयः एव प्रशान्ताः सुन्दरतायाः यस्य तं, विषयः विरवानः एव मूलं यस्य तं महतीचं पूज्यता शोभित्तिनि भावः एव पुत्रं यस्य तं, स्वपुत्रः स्वकीयैः दयाशक्तिभ्यादिपुत्रैः एव पुत्रैः कर्तुं युक्तं सन्तानं वा मायुः सज्जनः एव वृष्टः तं चाखरतं मुदूकः एव विदूषाः परिचयः पुत्र यदा स्वान् तथा आशयान्ति अवलम्बन्ते हिन् ? कनकानन्दः । अन्वयः वृत्तम् ॥३२॥

विदूषक—(स्वगतम्) सुदृष्ट उद्यतनिष्ठर दुष्टविलासिणीए । (प्रवागम्  
अथ ३ । [ सुदृष्टपलक्षित दुष्टविलासिन्या । अथ किम् । ]

वसन्तसेना—अथे विद्यागमनप्रयोजनम् ।

विदूषक—सुपादु भोवि । तत्तभव धारदत्तो सीते अञ्जलि वदुम भोवि  
विष्णवेवि । [शृणोतु भवति । तत्रभवाश्चारुदत्त शीर्षेऽञ्जलि कृत्वा भवती  
विज्ञापयति । ]

वसन्तसेना—(अञ्जलि वदुवा) विद्याज्ञापयति ।

विदूषक—अए त सुयुष्मन्मण्डम विस्तम्भावो अरण्यकेरवेति वदुम जूदे  
हारिवम । सो अ सीहो राअवाश्चारो न जाणिअवि व्हि गवो ति । [मया  
स सुयुष्मन्मण्ड विष्मन्मादात्मोयमिति कृत्वा धूते हारितम् । स च सभिनो  
राजवार्ताहारि न ज्ञायत कुत्र गत इति ।

शेटी—अज्जए विट्ठिभा वदइसि । अञ्जो जुरिअरो सक्खो । [आर्यो  
दिष्टय वधस । आर्यो घतकर संवत् । ]

वसन्तसेना—(स्वगतम्) वधम् । चोरेण अवह्वि वि सोण्डीरहाए जूदे हारि  
ति भगावि । अबो ज्जेअ कामीअवि । [वधम् धोरेणापहृतमपि शोण्डीरतया  
धूते हारितमिति भणति । अतएव वाम्यते । ]

विदूषक—ता तस्स वारणावो गेण्हइ भोवी इम रअणावत्तिम् । [तत्तस्य  
वारणाद् गृह्णातु भवतीमा रत्नावलीम् । ]

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) किं इतेषु त भतवारमम् । (विचिन्त्य) अथवा न  
थाव । [यिं दणयामि तमलङ्कारम् । अथवा न तावत् । ]

विदूषक—विं थाव न गेण्हवि भोवी एव रअणावत्तिम् । [यिं तावल  
गृह्णाति भवतीमा रत्नावलीम् । ]

वसन्तसेना—(विहस्य सखीमुखं पश्यती) मित्तंअ वध अ गेण्हस्स रअणाव  
त्तिम् । [श्रुतिं गुणित्वा पार्श्वे स्थापयति । स्वगतम्] वध इतिवृत्तुमाहो वि रत्नारणाव  
थावो ममरन्दिअदलो निववति । (प्रवागम्) । अज्ज विष्णवेहि त जुरिअर मम वज्ज  
णेअ अन्नचाअदत्तम्— अह वि वदोसे अज्ज वेविल्लु आअच्छामि' ति । [मंत्रेय  
वय न ग्रीह्येयामि रत्नावलीम् । वय हीनकुमुमादपि सहवारणादपान्मवरत्न  
जिन्दो निपत्तन्ति । आर्यं विज्ञापय त घतभर मम वचनेनायचारुदत्तम्—  
'अहमपि प्रदोष आर्यं प्रक्षिनुमागच्छामि इति । ]

विदूषकः—(अपने आप) दुष्ट वेश ने ठीक जान लिया है । (प्रकट रूप में) और क्या ?

वसन्तसेना—जी, आपके आने का प्रयोजन क्या है ?

विदूषक—श्रीमती जी, मुनिये । त्रिद चावदत्त तिर पर अञ्जलि (शोध) करके आपने यह कहते हैं ।

वसन्तसेना—(हाथ जोड़कर) क्या आजा करते हैं ?

विदूषक—...मैंने वह स्वर्णपात्र विश्वास में अपना (जान) करके जुए में हरा दिया और वह राज्य के सन्देश से जाने वाला छुनख्यश पता नहीं कहाँ बला गया ?

चेटी—आर्य, भाग्य से बड रही हो । (आपका सोभाग्य है) आर्य चावदत्त जुआरी हो गये हैं ।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या खोर में घुराये हुए (स्वर्णपात्र) को भी उदारता के कारण 'जुए में हरा दिया' यह करते हैं इमीतिये (उनको) चाहती हूँ ।

विदूषक—तो उसके कारण आप इस रत्नावली का प्रहण करें ।

वसन्तसेना—(अपने आर्य) क्या उस आभूषण को दिखा दूँ ? (सोचकर) या तब तक नहीं ।

विदूषक—तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं लेती ?

वसन्तसेना—(हँसकर सखी के मुख को देखती हुई) श्रेय, रत्नावली को कैसे न लूँगी ? (लेकर पाम में रखती हुई अपने आप) मञ्जरी रहित आम के दूध में भी पुष्परस की बूँदें कैसे गिर रही हैं ?

(प्रकट रूप में) आर्य, उन जुआरी आर्य चावदत्त में मेरी और से यह कह देना— 'मैं भी आज प्रदीप (रात्रि के प्रथम पहर) में आर्य से मिलने आऊँगी ।'

दुष्टः विलासो भव्य इति दुष्टविनासिनी तथा । अथ किम् अनुमती । रातः भार्ता सन्धं हरातीति राजवार्ताहारो गोष्ठीरक्षया उदारतया ।

हीनानि कसुमानि यस्य तथाभूतात् मञ्जरीहीनात् सहकारपादपाद् आद्र-  
ष्ट्यात् मकरन्दकिन्दुपतनं यथा आग्न्यंशर तथैव दरिद्रात् चावदत्तात् रत्नावलीरूप-  
स्यानृकारस्य प्रातिरिति भावः । गणिकायाः प्रसङ्गात् संसर्गात् । भवान्ने भ्रममये  
दुदिने यनागाचारं भेषमपन्नं वा । भेषज्जनं दिनं दुदिनमुच्यते भजनया तु भेष-  
मञ्जनम् इत्यर्थः । जनमति जघंम् आचन्दति ।



विबूधक—(स्वगतम्) किं अण्ण ग्रहि गदुअ गण्हस्सवि । (प्रवाणम्)  
 मोरि अणामि (स्वगतम्) निअत्तोअदु इमावो पणिआपत्तङ्गावा, ति । [किम-  
 न्यत्तत्र गत्वा ग्रहीष्यति । भवति अणामि—'निवर्ततामस्माद् गणिकाप्रसङ्गात्'  
 इति । (इति निष्प्रान्त )

वसन्तमेना—हज्जे वेण्ह एद अलङ्कारअम् । आरुत्तम् अहिरगिदु गच्छम्ह ।  
 [चेटी, गृह्णन्तिमलङ्कारम् । आरुत्तमभिरन्तु गच्छाम ।]

चेटी—अण्णए वेण्ह वेण्ह । उण्णमवि अकालदुद्दिनम् । [आय, पश्य पश्य ।  
 उन्नमत्यवात्तदुद्दिनम् ।]

वसन्तमेना—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु ।

गणदामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥

हज्जे, हार गेण्हम सहु आ अण्ण । चेटी, हार गृहीत्वा शीघ्रमागच्छ ।'

(इति निष्प्रान्ता सर्वे)

गदनिपाणविसवो नाम चतुर्षोऽङ्कः

आयं, उण्णमवि अकालदुद्दिनम्' इति चेटीवचन निशम्य वसन्तमेना वचयति—  
 उदयन्तु इति । मेघा उदयन्तु आविर्भवन्तु नाम, निशा भवतु, अविरतं सततं वर्षं  
 धुटि पततु अह दयिताभिमुखेन प्रियं प्रति उत्सुकेन हृदयेन सर्वं नैव गणदामि न  
 भाषस्ये । आयां दृष्टम् ॥३३॥

इति गदनिकाशविसवो नाम चतुर्षोऽङ्कः ।

विदूषक—(अपने आप) वहाँ जाकर और क्या लेगी ? (प्रकट रूप में) अच्छा; यह वह दूंगा (अपने आप) 'कि इस वेश्या के संसर्ग से अलग हो जाओ।' (चला जाता है।)

वसन्तसेना—चेटी, इस आभूषण को ले लो। चारदत्त से रमण करने चलेगें।

चेटी—आप ! देखिये। असमय में दुदिन उमड़ रहा है।

वसन्तसेना—बादल भले ही घिर आयें, रात हो जाये, निरन्तर वर्षा होती रहे,

श्रियतमोऽमुक्त हृदय से इन सबको (मैं कुछ) नहीं धिन्तौ ॥३३॥

चेटी, हार को लेकर शीघ्र जाओ।

(सब निष्कल जाते हैं)

मदनिका और शवितक नामक चतुर्यं अङ्क (समाप्त)।

---

## पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्य सोत्पण्ठश्चारदन

चारदत्त — (ऊर्ध्वंभवत्तरोवर) उन्नमत्यकालदुर्दिनम् । यदेतत्  
आलोकितं गृहशिक्षणमिहस्तकलापै—

हंसैरियामुभिरपावृतमुन्मनस्कैः ।

आकालिक सपदि दुर्दिनमन्तरोक्षम्

उत्कण्ठितस्य हृदयं च समं रुणद्धि ॥४४॥

अपि च ।

मेघो जलाद्रमहिषोदरभृङ्गनीलो,

वियुत्प्रभारचिन्पोतपटोत्तरीय ।

आभाति सहतवलावगृहीतशङ्खः ।

खं केशवोग्गर इवाक्रमितु प्रवृत्त ॥४५॥

अपि च ।

केशवगोपश्याम वृटिलवलावावलीरचितशङ्खः ।

विद्युद्गुणवीशेषवद्भ्रुघर इवोन्नतो मेघ ॥४६॥

[अस्मिन्मध्ये समाप्तियतं यदुत्पण्ठनं त्रियने तच्च सयोगशृङ्गारस्याहोपन-  
विभावदेनावतरतीति ध्ययम्]

चारदत्त पदिमं शनोर्कं अकालदुर्दिनं वर्णयति—आलोकितमित्यादि । उत्क-  
लापै उद्गता कलापा यदा तै उत्पापितपुच्छैः गृहशिक्षणमिहस्तकलापै आलोकितं  
(दुर्दिनम्) तथा उन्मनस्कैः उन्मण्डितैः यियामुभिः (मानसरोवर) गन्तुकामैः हंसैः अपा-  
कृतं निरस्तम् उपशितं वा आकालिकं अकाले समुत्पन्नं दुर्दिनं मेघावरणं सपदि क्षणिकं  
अन्तरोक्षम् आकाशम् उत्कण्ठितस्य विरहोत्सुकस्य जनस्य हृदयं च समं सहैव रुणद्धि  
आच्छादयति । सहोत्तरितद्गारः । वसन्तविलना वृत्तम् ॥४४॥

मेघ इति । अत्र मेघं विष्णुरूपेणोत्प्रेष्यते विशेषणानि पोभयपशं योजनीयानि ।  
जलेन भाद्रस्य महिषस्य उदरं भृङ्गरव तद्गत् नोव (मघं विष्णुरव) — विद्युत्प्रमया  
रचिनं पीतपटं इव पीताम्बरमिव उत्तरीयं यस्य (विष्णुपद्म — विद्युत्प्रभा

## पाँचवाँ अङ्क

(तदनन्तर आसन पर बैठता हुआ उत्कण्ठित चालदत्त प्रवेश करता है)

चाश्वरत—(ऊपर देखकर) असमय ही दुर्दिन उमड़ रहा है। जो यह ऊपर पंगु बाने पानगू मोहरों के द्वारा (प्रसन्नतापूर्वक) देखा गया तथा (धानमरोवर को) जाने के इच्छुक खिल-मन हंसों के द्वारा उपेक्षित (अनभिन्नन्दिन) असमय का दुर्दिन (पना बग्यकार और श्यां) शोभता से आकाश तथा उत्कण्ठित (बिरही) के हृदय को माध-गय आच्छन्न कर रहा है ॥१॥

और भी—

जत से यीने भँमे के उदर एवं अमर के समान नीला, दिवनी की प्रभा से निर्मित पीताम्बर तुल्य उत्तरीय धारण करने वाला [विष्णु पञ्च मे-विष्णु प्रभा के समान निर्मित पीताम्बर ही है उत्तरीय जिसका] एकनीभूत बगुने भयी शक्त को ग्रहण करने वाला [विष्णु पञ्च मे-एकत्रिन बगुनों के समान ग्रहण किया है पाञ्चवङ्ग्य नामक गुरु जिमने] दूसरे विष्णु के समान आकाश को व्याप्त करने को उद्यत भाग शोभायमान है ॥२॥

जो विष्णु के शरीर के समान श्याम है, जिसने बगुनों की टेढ़ी पक्ति से शक्त बनाया है बिजली कपी घांसे का (बना हुआ) त्रिभुजा पीताम्बर है ऐसा बादल विष्णु के समान उमड़ रहा है ॥३॥

इव रविर्न पीनपट एव उत्तरीयं देन) स, सहता एकत्रीभूताः बलाका बला. एव दृहीत. शङ्को देन [विष्णुपञ्च मद्भनवाकावत् दृहीत. दत्तः पाञ्चवङ्ग्यो देन] स मपरः केताव. विष्णुः इव ताम् आकाशम् आश्रितुं श्याप्तुं प्रवृत्तः उद्यतः मैघः आभाति शोभते । स्वरम् उदग्ग्रा व । वसन्तत्रिलका वृत्तम् ॥२॥

उपमुक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण वर्णयति केशवेति । केशवगात्रवत् श्यामः कुटिसा पानी बभाराकनी बभपद्भिन् चतनी रविनः शङ्को देन तादृशः, विदुरमुनः विदन्नेया एव शोभते मय्य तादृशः मैघः चहृष्टरः विष्णुः इव उन्नत आकाशे समुद्यतः । उपमान-नद्वारः । आर्ग वृत्तम् ॥३॥

एता निषिक्त रजतद्रवस निकाशा

धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्य

विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणहृष्टनष्टा-

शिष्ठन्ता इवाम्बरपटस्य दशा पतन्ति ॥४॥

मसपत्तेरिव चक्रवाकमियुनेर्हसं प्रडोनेरिव

व्याविर्देरिव मौनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।

तेस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मघै समभ्युन्नतै

पयच्छ्रेयमिवेह भाति गगन विश्लेषितैर्वायुना ॥५॥

एतत्तद्धतराष्ट्रववन्नसदृश मेघान्धकार नभो

हृष्टो गर्जति चातिदरपितबलो दुर्योधनो वा शिली ।

अक्षयूतजितो यूधिष्ठिर इवाध्वान गत कोकिलो

हसा सप्रति पाण्डवा इव यनादज्ञातधर्या गता ॥६॥

(विधिन्या) चिर ससु कामो मंत्रेयस्य वसन्तसेनाया सवास गतस्य । भाषापि  
भागच्छति ।

(प्रविषय)

विदूषक—अहो गणिआए सोभो अदविल्लणदा भ, जसो ण कथा वि  
विदा भण्णा । अणेकहा सिणेहाणुसार ञणिअ वि पि, एवमेअ गहिवा रम-

एता इति । निषिक्त रजित यो रजतद्रव तत्सन्निकाशा तुन्या रजतद्रववत् शुभा  
इति यावत्, जलवस्य उदरेभ्य जवेन वेगेन पतिता विद्युद् एव प्रदीपशिखा तथा क्षण  
हृष्टा तत नष्टा अदृश्या जाता एता जनस्य धारा अम्बरमेव पट वस्त्र तस्य दिनाः  
नृदिता दशाः प्राग्भागा इव पतन्ति । रूपरम् उत्प्रेक्षा च । वसन्ततिल्का वृत्तम् ॥४॥

वायुना इतस्तत परिनिष्ठा मेघा विविधवस्तूनाम् आकृति धारयन्ति तस्य  
गगनतलम् आलेख्यमिष घोमते, इत्याह—हससप्ततेरिति । (श्वचित्) सप्तते परस्पर-  
मिसितं चक्रवाकमियुनें चक्रवाकयुगलं इव, (श्वचित्) प्रडोने उड्डीने हते इव,  
(श्वचित्) व्याविर्दे इतस्तत. विलिप्तं. मौनचक्रं मत्स्यसमुद्दे मकरेश्व इव, अन्यत्र  
च प्रोच्छ्रितं अत्युन्नतं हर्म्यं प्रासादं. इव—एतादृशी तं. तं नानाविधं आकृति-  
विरतं स्वरूपभेदं. अनुगतं. प्राप्तं समभ्युन्नतं उन्नतैः वायुना विरतेपितं

पिपले हुए चाँदी के द्रव जंसी, मेघ के उदर से वेगपूर्ण गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ के द्वारा क्षण-भर दिखाई देकर अदृश्य हो जाने वाली, मेघधारायें आकाश रूपी वस्त्र के टूटे हुए छोर (दशा.) के समान गिर रही हैं ॥४॥

एक दूसरे से मिले हुए चक्रवाक के जोड़ों के समान, उड़ते हुए हंसों जैसे, (समुद्र की लहरों से इधर-उधर) फंके हुए मत्स्य-समुदाय और मगरों के सदृश, जन्तु अट्टालिकाओं जैसे (ऊँचे) विभिन्न विलुप्त आकारों को प्राप्त करने वाले, वायु द्वारा छिन्न-भिन्न, उमड़ते हुए बादलों के द्वारा यहाँ आकाश (पन्न-वेद विधि द्वारा) चित्रित-सा गोभित हो रहा है ॥५॥

बादलों से जिसमें अघेरा हो गया है, ऐसा यह आकाश उस (प्रसिद्ध) घृतराष्ट्र के मुख के समान है (क्योंकि घृतराष्ट्र का मुख भी आँसू न होने से अन्धकारपूर्ण था और आकाश की भी सूर्य चन्द्ररूपी दोनों आँसू बादलों से नष्ट हो गई थीं), प्रसन्न एवं अति गवित बल (मयूर पक्ष-में शक्ति, दुर्योधन पक्ष में-सेना) वाले दुर्योधन के समान मोर गरज रहा है ।

पक्षि के द्वारा जुए में हारे हुए युधिष्ठिर के समान कोपल मौन (युधिष्ठिर पक्ष में 'अध्वानं' का अर्थ वनमार्ग) को प्राप्त हो गई है । इस समय हंस पाण्डवों के समान वन से (वन के कारण या वनवास से) अज्ञातवान की (अर्थात् मानसरोवर को) चले गये हैं ॥६॥

(सोचकर) 'मैत्रेय की वसन्तसेना के पास गये देर हो गई, अब भी नहीं आ रहा है ।

(प्रवेश करके)

विदूषक—अहो ! वेदना का लीम और अनुदारता ? क्योंकि (अलङ्कार लेने के सिवाय) दूसरी बात भी नहीं की ? प्रेम के अनुकूल अनेक प्रकार से कुछ भी कहकर

पृथक्पृथक् च मेघैः गगनम् इह अत्र पञ्चदशेऽङ्कम् इव पन्नयं दैतः सङ्घर्षं तत्र पठितं चित्रम् इव भाति गोभते । उपमातद्कारः । शाङ्खसविहीहितं वृत्तम् ॥५॥

एतदिति । मेघैः अन्धकारः अत्र एतद् नमः तस्य प्रसिद्धस्य घृतराष्ट्रस्य वस्त्रसदृशं मुखसदृशं चक्रसदृशं सेनासदृशं वा । घृतराष्ट्रमुखे दृष्टिभ्रान्तरत्वाद् अन्धकारः गगने च सूर्यचन्द्रयोः अदानात् । 'आतिशयोक्त्य' आतिशयोक्त्युक्तं 'असं' आतिशयोक्त्युक्तं सः तिस्रो मयूरः अतिशयोक्त्युक्तं असं संनं वस्य सः दुर्योधनः इव गर्भति । कोपितः विकः अर्शः शूते अितः युधिष्ठिरः अध्वानं वनमार्गम् इव अध्वानं ध्वनिभ्रान्ततां मौनं गतः । सङ्घर्षः हंसा — पाण्डवाः वनात् वनवासत् वनवासं परित्यज्य वा अज्ञातवासार्थम् अज्ञातवासम् इव — वनात् वनाद् हेतोः अज्ञातवासार्थं पततः, अदृश्यः जाताः इति भावः । उपमातद्कारः शाङ्खसविहीहितं वृत्तम् ॥६॥

जायते । एतिभाए ऋद्रीए ष तए अहं भगिदो—'अञ्जमित्तोअ, वीत्तपोअदु । मत्त-  
 केण पाणीअं पि पिदिअ वच्छोअदु'ति । ता भा दाव दासोए धोआए गणिआए मुहं  
 वि वेविल्लससम् । (सतिर्वेदम्) सुष्ठु ष्ठु बुच्चवि—'अकन्दसमुत्थिता वउमिणी, अउचओ  
 प्राणिओ, अघोरो सुषणआरो, अरसहो गामसमागमो, अतुद्धा गणिआ ति दुस्सर  
 एदे सघावोअन्ति' । ता पिअवअस्सं गदुअ इमारो गणिआपसङ्गादो निवत्तावेमि ।  
 (परिकम्प्य दृष्ट्वा) कय पिअवअरसो दरलवाडिआए उपविट्ठो चिट्ठवि; ता आव उप-  
 सप्पामि । (उपसृत्य) सोरिथ भवदे । षड्ददु भवम् । [अहो गणिकाया लोभोऽदक्षि-  
 णता च । यतो न कयापि कृतान्या । अनकघा स्नेहानुसारं भगित्वा किमपि,  
 एवमेव गृहीता रत्नावली । एतावत्या ऋद्धधान तयाह भणित.—'आर्यमंत्रेय,  
 विश्रम्यताम् । मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इति । तन्मा ताव-  
 द्वास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि । मुष्ठु खलूच्छते—'अकन्दसमु-  
 त्थिता पप्पिनी, अवउचको वणिक्, अचौर सुवर्णकार, अकलहो ग्रामसनां  
 गम, अनुब्धा गणिकेति दुष्करयेते सभाव्यन्ते' । तत्प्रियवयस्य गत्वास्माद्  
 गणिकाप्रसङ्गान्निवर्तयामि । कयं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति ।  
 सघावदुपसर्पामि । स्वस्ति भवते । वर्धता भवान् ।]

आरवत्त—(विनीक्ष्य) अये, मुहूर्त्तं मंत्रेयः प्राप्तः । वयस्य, स्वागतम् ।  
 आस्यताम् ।

विदूषक—उपेविट्ठो हि । । उपविष्टोऽस्मि ।]

आरवत्त—वयस्य, कयस्य तत्कार्यम् ।

विदूषक—त ष्ठु कञ्ज विचट्टम् । [तत्सल्लु कार्यं विनष्टम् ।]

आरवत्त—किं तया न गृहीता रत्नावली ?

विदूषक—कुदो अम्हाए एतिअ आअधेअम् । णवणलिनणोमत्तं अउज्जति  
 अरयए कदुअ पडिअिआ । [कुतोऽस्माकमेतावद्भागधेयम् । नवनलिनकोमल-  
 यउज्जति मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा ।]

आरवत्त—एत्किं इवीपि विनष्टमिति ?

विदूषक—ओ कय ष विचट्टस्, अ समुत्तपीवस्स घोरेदि, अवहिदस्स अप्प-  
 कुत्तस्स सुअम्भअअअस्स कारणादो अतुत्तसुत्तारमूढा एअधमात्ता हरिवा । [ओ,  
 कय न विनष्टम्, यदधुत्तपीतस्य घोरेरपहतस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य  
 कारणान्चतुसमुदक्षारभूता रत्नमाला हरित्वा ।]

आरवत्त—वयस्य, मा मैवम् ।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृत ।

तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥७॥

ऐसे ही रत्नावली ले ली । इतनी सम्पत्तिमुक्त होकर भी उसने मुझसे यह नहीं कहा बाप्य मंत्रय बागम कोजिये । मत्स्यक (पात्र विगेष) से पानी तो पीकर जाये । तो इस दासी की पुत्री वेश्या का मुँह भी नहीं देखूँगा । (खेदपूर्वक) ठीक ही कहा जाता है—'बिना जड़ के उत्पन्न हुई कमलिनी, न ठगने वाला बनिया, न चुराने वाला मूनार, जिसमें श्रमण न हो ऐसा शाय-मम्मेलन, न लोभ करने वाली वेश्या, इनकी सम्भावना करना कठिन है । तो जाकर प्रिय मित्र को इस वेश्या के संग से पृथक् करता हूँ । (घूमकर देखकर) क्या प्रिय मित्र वृष-याटिका में बैठे हुए हैं ? तो अब तक समीप चपता है । (समीप जाकर) आपका कल्याण हो, आपकी वृद्धि हो ।

छादरत्न—(देखकर) अरे मेरे मित्र मंत्रय जा गये । मित्र स्वागत है, बँडिये ।

बिबूयक—बैठ गया हूँ ।

छादरत्न—मित्र, उस कार्र की बात कहो ।

बिबूयक—बहु काम तो बिगड गया ।

छादरत्न—क्या उसने रत्नावली नहीं ली ?

बिबूयक—हमारा ऐसा भाग्य कहा ? अभिनव कमल-भी कोमत अञ्जलि मस्तक पर करके (यह रत्नावली उसने) ले ली ।

छादरत्न तो यह क्यों कहते हो कि बिगड गया ।

बिबूयक—जी, कैसे नहीं जगड गया, जो बिना साये-पीये, चौरों द्वारा चुराये गये स्वल्प मूल्य वाले स्वयं-भाग के कारण चारों समुद्रों की छारमूठ रत्नावली ली दी ?

छादरत्न—मित्र, ऐसा नहीं । जिस विश्वाम का आधार लेकर उसने हम घरोहर रखी उस महान् विन्द्याम का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥३॥

मत्स्यकः पात्रविगेषः । न कल्याणं मृगात् समुत्थिता उत्पन्ना मूलं बिबोत्पन्ना ।  
 छादरत्नः कनकमूलः । शायस्य मन्नामः मम्मेलनं । अमुष्या नोपश्रुत्या ।  
 तदनभिनवकं नूतनकनकवद् कोमतम् अञ्जलिम् । प्रनोष्टा शहीतः ।

ममिति । म्यात्वात् पुरात् ३२६ ।

पटान्नेन बन्नाञ्चनेन अन्वयितम् आवृतम् । बहुवः प्रत्ययाः दायाः पस्मिन्  
 तस्मात् पातुदायाः धन्तरे मध्ये । सेन्द्रुका नपुमृतिरूपगण्डः । चाटः अञ्चकः [चाटाः  
 प्रतारकाः विशास्य ये परधननाह्वन्ति—मितासरा (बाटे) ] न चावन्ते वृद्धि म  
 मञ्जति । परिवारं विन्द्याम् उरुवा अनम् (६०) । अवस्थापरिहारस्वया ।  
 विचारितः पृथक्पृथक् ।



विभूषक—भो बभ्रस्त, एव पि मे दुविअ सतावकारण ज सहीअणदिण्ण-  
 सण्णाए पटन्तोवारिद मुह क्खुअ अह उवहसिदो । । ता अह बभ्हणो भविअ हाणि  
 भवन्त सीधेण पडिम विण्णवेमि—‘गिवत्तोअदु अप्पा इमाओ बहूपन्धवाआओ गणि-  
 मापसङ्गाओ’ । गणिआ नाम पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ सेटठुआ दुबधेण उण गिराकरो-  
 अदि । अदि अ भो बभ्रस्त, गणिआ हत्थी काअत्थओ भिवणु धाटो रासहो अ जहि  
 एवे गिअसन्ति तहि बुट्ठा बि अ जाअन्ति । [भो वयस्य, एतदपि मे द्वितीय संताप-  
 कारण यत्सखीजनदत्तसजया पटान्नापवारित मुस मृत्वाहमुपहसित । तदह  
 प्राह्यपो भूत्वेदानी भवन्त शीर्येण पत्तिवा विजापयामि—‘निवत्यतामात्मा  
 स्माद्बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसङ्गात्’ । गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेप्पुका-  
 दुं लेन पुननिराक्रियते । अपि च भो वयस्य, गणिका हस्ती कायस्यो भिक्षुश्चाटो  
 रासभएच यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते ।]

आरुहत्त—वयस्य, अलामदानी सर्वं परिवादमुक्त्वा । अवस्ययैवास्मि  
 निवारित । पश्य—

वेग करोति तुरगस्त्वरित प्रयातु

प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।

सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य क्षला स्वभावा ।

खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥८॥

अपि च वयस्य,

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता घनहार्यो ह्यसौ जन ।

(स्वगतम्) न गुणहार्यो ह्यसौ जन । (प्रकाशम्)

वयमर्थे परित्यक्ता नन् त्यक्तेव सा मया ॥९॥

विभूषक—(अष्टोऽश्लोक्य स्वगतम्) जथा एसो उद्ध वैरिलअ डीह गिस्तसदि  
 तथा तएकेमि मए विणिवारिअन्तस्स अदिअवर बडिदवा से उवकप्पा । ता सुट्ठु वणु  
 एअ वुअदि—‘कानो वामो’ ति । (प्रकाशम्) भो बभ्रस्त, अणिद अ ताए-अणेहि

आरुहत्त स्वकीयाम् अवस्थामेव वर्णयति—वेगमिति । तुरग अथ स्वरित्तु मीघ  
 प्रयातु गन्तु वेग करोति विन्तु तु प्राणव्ययान् क्षलसयात् तस्य चरणा तथा वेगेन न  
 वहन्ति क्षन्ति । पुरुषस्य जनस्य क्षला अङ्गस्य स्वभावा मनोवृत्तय तत्रैव सर्वेषु  
 प्राप्याप्राप्यदिषयेषु यान्ति गच्छन्ति तत खिन्ना अक्षमत्वात् श्वेद प्राप्ता पुन हृदयमेव  
 विशन्ति स्वोत्पत्तिस्थाने हृदये एव विनीयन्ते इति भाव । इष्टान्तालङ्कार । वसन्त-  
 तिलना प्लुतम् ॥८॥

विदूषक—हे मित्र, मेरे सन्तान का दूसरा कारण यह भी है कि सखीजनों को संकेत देकर मुझे ढककर मेरा उपहास किया। तो मैं ब्राह्मण होकर (भी) इस समय सिर मे (आपके चरणों पर) बिर कर निवेदन करता हूँ—इस बहुत विघ्नों वाले वेश्या के संग में पृथक् हो जाइये। वेश्या तो जूते के अन्दर प्रविष्ट हुई ककड़ के समान फिर दुस से निकाली जाती है।

और भी, हे मित्र,

वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिलारी, घूम और गधा जहाँ ये रहते हैं वहाँ दुष्ट भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होने (सखीजनों का कहना ही क्या ?)

चारदल—मित्र, इस सब निन्दा को कहने से बच करो। (मैं तो) बदस्वा ने ही रोक दिया है। देवों—

६।३। अश्वत्थ शीघ्र जाने के लिए तीव्र गति करता है, किन्तु शक्ति का क्षय होने के कारण (उमके) पैर उस प्रकार (वेग में) नहीं चलते हैं। पुरुष की चञ्चल मनोवृत्तियाँ सब स्थानों पर जाती हैं, वहाँ से (असफलता के कारण) खिन्न होकर फिर से हृदय में ही प्रविष्ट हो जाती हैं। (उसी प्रकार सामर्थ्याभाव से बसन्तसेना को प्राप्त करने की मेरी इच्छायें मन की मन में रह जाती हैं) ॥८॥

और भी, मित्र—

जिम्हकी सम्पत्ति है उसी की वह कामिनी है। क्योंकि यह जन (गणिका) जन से वश में करने योग्य है।

(अपने आप) नहीं, यह जन (बसन्तसेना) गुण द्वारा जन में करने योग्य है। (प्रवट स्व में) सम्पत्ति ने हमें त्याग दिया है (इसलिए) मेरे द्वारा तो वह (बसन्तसेना) त्याग ही दी गई है ॥९॥

विदूषक—(नीचे देखकर अपने आन) क्योंकि यह ऊपर देखकर सम्ये निश्वास से रहा है, उमगे अनुमान करना है कि मेरे द्वारा निवारण किये गये इसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ गई है। तो वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है, काम उत्पन्न होता है। (प्रवट स्व में) हे मित्र, और उमने कहा है, चारदल से कहना—'आज प्ररोप (राजि के

सम्पत्ति । यस्य जनस्य अर्थाः धनानि सन्ति तस्य सा यन्निवा ज्ञान्ता कामिनी; हि जनः अतो जन. यन्निवा धनेन हार्यं. वने वनुं शक्यः । बसन्तसेना तु गुणमुन्धेति अतस्मि निपाज्जद् बसन्तसेनाविषये एतन्न युक्तम्, कुतः अतो जनः बसन्तसेना तु गुणहान्यः श्रीशार्ङ्गशिभिः दुर्गः स्वयमे वनुं योग्यः । यद् य अर्थे. परिस्पष्टा अस्माकं सम्पत्तिर्नष्टा जन. मया चारदलेन सा बसन्तसेना त्यक्ता एव स्वतः. एव परिस्पष्टा वनु इति निश्चयम् । सम्पत्तिमुद् अरद्वारः । अनुपु इतम् ॥९॥

चारदत्तम्—'अञ्ज यञोसे मए एतेय आअन्तध्वं' ति । ता तत्केमि, रत्नलावतीए अपरि-  
तुटा अवरं मग्गिदं आअमिस्सदि ति । [यथैव ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निश्वसिति,  
तथा तर्कयामि मया विनिवार्यमाणस्याधिकतरं वृद्धास्मोत्कण्ठा । तत्सुष्ठु धत्वेव-  
मुच्यते—'कामो वामः' इति । भो वयस्य, भणितं च तथा—भण चारुदत्तम्—  
'अद्य प्रदोषे मयाप्रागन्तव्यम्' इति । तत्तर्कयामि रत्नलावत्या अपरितुष्टाप-  
यान्चितुमागमिष्यतीति ।]

चारदत्तः—वयस्य, आगच्छतु । परितुष्टा यास्यति ।

चेटः—(प्रविश्य) अवेध माणहे ।

जघा जघा वशशदि अब्भसण्डे तथा तथा तिम्मदि पुट्ठिचम्मि ।

जघा जघा लग्गदि शोदवादे तथा तथा वेपदि मे हलक्के ॥१०॥

(ग्रहरण)

वंशं चाए शतच्छिद्धं शुशहं वीणं चाए शततन्ति पदन्तिम् ।

गोअ गाए गट्टहणशाणूलूअ के मे गाणे तुम्बुलू गालदे वा ॥११॥

आपत्तस्मि अञ्जआए वसन्तसेनया—कुम्भीलका, गच्छ त्वम् । मम आगमनं अञ्ज-  
चारदत्तरा गिबेदेहि' ति । ता नाम अञ्जचारदत्तरा गेहं गच्छामि । (पक्रिम्य  
प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एषो चासुबलं वसन्तवादिआए चिट्ठदि । एते वि शे बट्टवट्टके । ता  
नाम उवराप्पेभि । कथं ठिक्के बुधसे वलवादिआए । भोवु । एइशा बुट्टवट्टकरा  
शण वेमि । [अवेत् मानवाः]

यथा यथा वर्षत्यभ्रखण्ड तथा तथा तिम्यति गृष्टचमं ।

यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥

वश वादयामि सप्तच्छिद्रं शुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्री मदन्तीम् ।

गीत गायामि गर्दभस्यानुरूप को मे गाने तुम्बुस्तरिदो वा ॥

आज्ञप्तीऽस्म्यार्यया वसन्तसेनया—'कुम्भीलक, गच्छ त्वम् । ममागमनमार्य-  
चारदत्तस्य निवेदय' इति । तथावदार्यचारदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष चरुदत्तो  
यज्ञवाटिकायां तिष्ठति । एषोऽपि स दुष्टबटुकः । तथावदुपसर्पामि । कथमाच्छा-  
दितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः । भवतु । एतस्य दुष्टबटुकस्य सगा ददामि ।  
(इति सोष्टगुटिकाः समाप्ति)

विदूषकः—अए, का वाणि एतो पाआरवेट्टिहं विअ कइत्तं मं सोट्टकेहि तावेहि ?  
[अर्थे, क इदानीमेव प्रकारं खेष्टितमिव कपित्थं मां सोष्टकेस्ताडयति ।]

चारदत्तः—आरामप्रासादवर्दिनायां श्रीडस्मिः पारावतः पातितं भवेत् ।

विदूषकः—इतोए पुत्त बुट्टपारावम मिट्ठ विट्ठ । नाथ एदिणा इण्णकट्टेण  
मुपपरं विअ अमकत्तं इमावो पासावावो भुवीए पाडइत्तम् [दास्याः पुत्र दुष्टपा-

प्रथम गृह) में मुझे यहाँ जाना है। तो अनुमान करता हूँ कि रत्नावली से असन्तुष्ट हुई (बह) बुद्ध और माँगने आवेगी।

चारदत्त—मित्र, आने दो सन्तुष्ट होकर आवेगी।

छेटी—(प्रवेश करके) मनुष्यों समझो, जैसे-जैसे मेघ छाड़ भरत रहा है, वैसे-वैसे पीठ की खूबा भीग रही है। जैसे-जैसे ठण्डी धामु लग रही है वैसे-वैसे मेरा हृदय काँप रहा है ॥१०॥

(हंसकर) मान छेद वाली तथा मुन्दर मय्य वाली बाँसुरी को बजाता हूँ। मद्धत होती हुई सात तारों वाली वीणा को बजाता हूँ। गण्डे के समान गीत गाता हूँ। मेरे गाने पर तुम्बर (एक वृक्ष) और नारद कौन है? (अर्थात् मेरे गाने के समझ में भी तुम्बर है) ॥११॥

आर्या वसन्ततमा के द्वारा (मुझे) आमा दी गई, हे कुम्भीलक दुम जाओ मेरा माना आर्य चारदत्त से निवेशन करो। तो जब तक आर्य चारदत्त के घर जाता हूँ। (पूमकर प्रवेश द्वार में देखकर) यह चारदत्त वृक्ष-वाटिका में बंटे हैं। यह वह दुष्ट बटुक भी है। तो जब तक समीप चलता हूँ। क्या वृक्ष-वाटिका का द्वार बन्द है? अच्छा इस दुष्ट बटुक को सकेत देता हूँ। (कंकड़ियाँ फेंकता है)।

विदूषक—अरे, कौन यह चारदीवापे से चिरे हुए कँप के समान पुत्रे मार रहा है?

आश्रित—(सम्भवतः) वाटिका-मवन की शोकियों पर खेतते हुए बटुकों ने मिरा दी हों।

विदूषक—दासी के पुत्र दुष्ट कनूतर, ठहर-ठहर, जब तक इस काठ के छप्पे से भली प्रकार पके हुए आम के फल की भाँति इस मवन से धूमि पर गिरा हूँ। (काठ के छप्पे को उठाकर पीड़ता है)।

कामो कामः इति काम- विररीती भवति, यावत् कामः प्रतिबन्धते तावद् अपि कं बर्धते इति भावः। अत्रैत अवगच्छतः।

यपेति यथा यथा अक्षतच्छ येषतच्छं येषमच्छं वा भवति तथा तथा मम पुच्छं यमं तिष्पति आशीभवति। यथा यथा शीतपातः सपति तथा तथा मे मम वेदस्य हृदयं वेपते कम्पने। उपेयवया वृत्तम् ॥१०॥

बंशति। अहं सत्यं दिशानि यत्र तं मुशम्, शोभनशम्पुतं बंशं शार्यामि सपतन्मः यत्र तां नवन्तीं मद्रुना गीर्णां शार्यामि। गर्दभास्यं बालुस्यं समानं गीर्तं गायामि मे मम भावे तुम्बुवः देवमभायाः शायकविशेषः नारद वा कः न कोऽपि शम्पः। अतिरेकालङ्कार उज्जानि वृत्तम् ॥११॥

प्रविष्टेन रङ्गमञ्चस्य प्रवेशदारेण। सतां सङ्घेतम्। शौचशुद्धिः अपुमूर्तिना-

रावत, तिष्ठ यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव घृतफलमस्मात्प्रासादाद् भूमौ पातयिष्यामि ।] (इतिदण्डकाष्ठमुच्यम् घावति)

चारुवत् - (यज्ञोपवीतम् आहृष्य ।) वयस्य, उपविश । किमनेन । तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।

चेट—कथं पारावदं पेशसवि । म थ पेशसदि । भोडु । अबराए सोट्टुगुडिकाए पुणो वि ताडइस्सम् । [कथं पारावतं पश्यति । मा न पश्यति । भवतु । अपरया लोष्टगुडिकया पुनरपि ताडयिष्यामि ।] (तथा करोति)

विदूषक—(दिशाऽवतीव्य) कथं कुम्भीलको । ता माव उपसप्पामि । (उपसृत्य । द्वारमुदधादप) अरे कुम्भीलको, प्रविश । सामव वे । [कथं कुम्भीलक । तद्यावदुपसर्पामि । अरे कुम्भीलक, प्रविश । स्वागतं ते ।]

चेट—(प्रविश्य) अज्ज, वन्वामि । [आर्यं वन्दे]

विदूषक—अरे, कहिं कुम ईडिसे कुडिणे अण्णमारे आमवो । [अरे, कुत्र त्वमीदृशो दुदिनेऽन्धकार आगतः ।]

चेट—असे, एसा शा । [अरे, एषा सा ।]

विदूषक—का एसा का । [कया का ।]

चेट—एसा शा । [एषा सा]

विदूषक—किं वाणिं दासीए पुत्ता, दुमिक्ककाले वृद्धरद्धो विमं पद्धकं सासाअसि—'एसा सा से ति । [किमिदानीं दास्याः पुत्र, दुमिक्ककाले वृद्धरद्ध इवोर्ध्वकं श्वासायसे—'एषा सा सा' इति ।]

चेट—असे, कुम वि वाणिं इन्वमहकामुको विमं सुद्धु किं काकाअसि—'का के' ति । [अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्टु किं काकायसे—'का का' इति ।]

विदूषक—ता कहेहि । [तत्कथय ।]

चेट—(स्वगतम्) भोडु । एव्व भणिसस । (प्रकाशम्) असे, एव्व वे बहरसम् । [भवतु । एव भणिष्यामि । अरे, प्रश्नं ते दास्यामि ।]

विदूषक—अहं वे मुण्डे गोइइ दससम् । [अहं तं भस्तके पाद दास्यामि ।]

चेट—असे, अण्णाहिं वाव, तेण हि कस्सि काले चूमा बोलेत्ति । [अरे, जानीहि तावत् तेन हि कस्मिन्काले चूना भुकुलिता भवन्ति ।]

विदूषक—अरे दासीए पुत्ता, गिह्ये । अरे दास्याः पुत्र, प्रीण्ये ।]

चेट—(महासम्) असे, वाहिं वाहि । [अरे नहिं नहिं ।]

विदूषक—(स्वगतम्) किं वाणि एत्थं व्हिससम् । ( विचिन्त्य ।) भोडु । चारुवत्सं गवुअ पुच्छिरसम् ( प्रकाशम् ) अरे, मुहत्तमं चिट्ठं । (चारुवत्समुपसृत्य ।)

बाबूदत्त—(गञ्जोपवांत को खींचकर) मित्र, बैठो। इससे क्या? पत्नी (प्रेमिका) सहित बेचारा कजूतर बैठा रहे।

सेट - क्या कजूतर को देख रहे हो? मुझे नहीं देख रहे हो? अच्छा। दूसरी कूड़ से फिर माफ़ोगा (बैसा करता है)

बिबूषक—(सब दिशाओं में देखकर) क्या कुम्भोत्तक? तो जब तक समीप चलता हूँ। (समीप जाकर द्वार खोल कर) अरे, कुम्भोत्तक प्रवेश करो। तुम्हारा स्वागत है।

सेट - (प्रवेश करके) आर्यं, बन्दना करता हूँ।

बिबूषक—अरे, ऐसे दुदिन अग्रकार मे तुम कहीं आ गये?

सेट—अरे यह वह।

बिबूषक—कौन, 'यह' कौन?

सेट—यह, यह?

बिबूषक—दासी के पुत्र, इस समय क्यों, अकाल के समय वृद्ध निर्धन (रुद्ध) के समान सम्बन्धी साँस ले रहा है—'एपा सा सा'

सेट—इस समय इन्द्रोत्सव के इच्छुक काक के समान यह अन्धी का, का (कौन, कौन)। या कौन, कौन, क्यों कर रहे हो?

बिबूषक—तो कहो।

सेट—(अपने आन) अच्छा इस प्रकार कहूँगा। (प्रवृत्त रूप में) अरे, तुम्हें प्रान दूँगा।

बिबूषक—मैं तेरे भस्तर पर लात दूँगा।

सेट—अरे जानते हो? किस समय मैं आम मञ्जरीमुक्त होते हैं?

बिबूषक - अरे दामी के पुत्र, घोष्य में।

सेट—(हँसकर) अरे नहीं, नहीं।

बिबूषक—(झरने भाव) यहाँ अब क्या बट्टे? (सोचकर) अच्छा। जाकर बाबूदत्त मे पूछूँ। (प्रवृत्त रूप में) अरे दास भर ठहर। (बाबूदत्त के पास आकर) हे मित्र, तनिक पूछूँ। आम बिम समय मे नुकुतिन होने हैं?

सम्मानि। प्राकारेण प्राचारेण बेष्टितं परिवृतम्। क्वचित् फन्विनेष ह्यविदेयं वा। आरामस्य उदानस्य प्रानासः तस्य वेदिकायाम्। दयिनासहितः प्रियायुक्तः। तपस्वी वराकः। इन्द्रमह्य इन्द्रोत्सवस्य वामुकः इच्छुः वाकः। काकायमे काक इव भावयति। रम्या रदाना ममूरः रम्या (१८०)।

भो यमस्त, पुच्छिस्त दाय, वरिस जाले चूआ मोलेति । [विमिदानीमत्र वययि-  
ष्यामि । भवतु । चारदत्त गत्वा प्रक्ष्यामि । अरे, मूहूत्तंक तिष्ठ । भो वयस्य,  
प्रक्ष्यामि तावत्, वरिमन्वाले चूता मुकुलिता भवन्ति ।]

चारदत्त — मूर्ख, वसन्त ।

विदूषक — (चेटमुपगम्य) मुरल यसन्ते । [मूर्ख, वसन्ते ।]

चेट — बुद्धिभ वे प०ह वद्वरमम् । शुशमिद्वान्ण यामाण वा सवलभ वलेदि  
[[द्वितीय ते प्रश्न दास्यामि । सुसमृद्धाना ग्रामाणा का रक्षा करोति ।]

विदूषकः—अरे, रच्छा [अरे, रथ्या ।]

चेट — (सहासम् ।) अले णहि णहि । [अरे, नहि नहि ।]

विदूषकः—भोडु । ससए पडिदोहि । (विचिन्त्य) भोडु चारदत्त पुणो वि  
पुच्छिन्तम् । [भवतु । सशये पतितोऽस्मि । भवतु चारदत्त पुनरपि प्रक्ष्यामि ।]  
(पुननिवृत्तय चारदत्त तथैवोदाहरति)

चारदत्त — वयस्य, सेना ।

विदूषक — (चेटमुपगम्य ।) अरे दासीए पुसा, सेना । [अरे दास्या. पुत्र,  
सेना ।]

चेट — अले, बुधे वि एक्कशिस कडुअ शिग्य णणाहि । [अरे, द्वे अप्येव  
स्मिन्कृत्वा शीघ्र भण ।]

विदूषक — (सेनावसन्ते) [सेनावसन्ते ।]

चेट — णं पलिवशिस णणाहि । [ननु परिवर्त्य भण]

विदूषक — (वायेन परिवृत्य ।) सेनावसन्ते । [सेनावसन्ते ।]

चेट — अले मुरल, बडुका, पदाइ पलिवसावेहि । [अरे मूर्ख वटुव, पदे  
परिवर्तय ।]

विदूषक — (पादी परिवर्त्य) सेनावसन्ते । [सेनावसन्ते ।]

चेट — अले, मुरल, अवलसपदाइ पलिवसावेहि । [अरे मूर्ख, अक्षरपदे  
परिवर्तय ।]

विदूषक — (विचिन्त्य ।) वसन्तेणा [वसन्तसेना ।]

चेट — एसा शा आअदा । [एसा सागता ।]

विदूषक — ता जाव चारदत्तरस णिवेदेमि । (उपगम्य) भो चारदत्त, धनिओ वे  
आअदो । [तद्यावच्चारदत्तस्य निवेदयामि । भो चारदत्त, धनिवस्त आगत ।]

चारदत्त — मुत्तोऽस्मत्कुले धनिक ।

विदूषक — अइ कुसे णरिय, ता पुवारे अरिय । एसा वसन्तसेना

बाहदत्त - मूर्ख, बमल में ।

बिदूयक—(बेट के पास जाकर) मूर्ख, बमल में ।

बेट—तुम्हें हमारा प्रश्न दूँगा । सम्प्रतिशाली ग्रामों की कौन रक्षा करता है ?

बिदूयक—अरे, अज्ञ ।

बेट—(हँसते पूर्वक) अरे नहीं नहीं ।

बिदूयक—अच्छा । मन्देह में पड़ गया है' (मोचकर) अच्छा फिर भी बाहदत्त से पूछें (फिर सौटकर बाहदत्त से कहना है) ।

बाहदत्त—मित्र, मेना ।

बिदूयक—(बेट के समीप जाकर) अरे, दासी के पुत्र, सेना ।

बेट—अरे दोनों को एक करके (मित्र) बोल ।

बिदूयक—मेना बमल ।

बेट—अरे ठण्ड कर रहो ।

बिदूयक—(शरीर में ठण्ड कर) सेनावसन्त ।

बेट—अरे मूर्ख बटुफ, पद (शब्द) में परिवर्तन करो ।

बिदूयक—(पैरों को बदन कर) सेनावसन्त ।

बेट—अरे मूर्ख, अज्ञानों बाने पर (शब्द में) परिवर्तन करो (पैरों में नहीं) ।

बिदूयक—(सोच कर) बसन्तमेना ।

बेट—यह वह भा गई है ।

बिदूयक—तो अब तब बाहदत्त से निवेदन करता है (समीप जाकर) है बाहदत्त तुम्हारा धनिक (साहूकार) आया है ।

बाहदत्त—हजारें कुन में धनिक वहाँ से आया ?

बिदूयक—धनिक कुन में नहीं है तो द्वार पर है यह बसन्तसेना आई है ।



आभवा । [यदि कुले नास्ति तदद्वारेऽस्ति एषा वसन्तसेनागता ।]

चादस्त — वयस्य, किं मा प्रतारयसि ।

विदूषक — जह मे वयने ण पत्ताआअसि, ता एद कुम्भीलअ पुच्छ । अरे हासीए पुरा कुम्भीलअ, उवसप्प । [यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तदिम कुम्भीलक पृच्छ । अरे दास्या पुत्र कुम्भीला, उपसर्पं ।]

घट — (उपसृत्य ।) अग्ग वन्दामि । आर्यं वन्दे ]

चादस्त — भद्र, स्वागतम् । 'अथय सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना ।

घट — एषा सा आभवा वसन्तसेना । [एषा सागता वसन्तसेना ।]

चादस्त — (सहसंम्) भद्र न कदाचित्प्रियवचन निष्फलीकृतं मया । तद्गृह्यता पारितोषिकम् । (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति)

घट — (गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम्) जाव अग्गआए विचेवेमि । [यावदायां निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

विदूषक — भो अथि जाणासि, किंनिमित्तं ईदिसे दुट्ठिणे आभवेति । [भो, अपि जानासि, किंनिमित्तमीदृशे दुदिन आगतेति ।]

चादस्त — वयस्य न सम्यगवधारयामि ।

विदूषक — मए, जाणिदम् अप्पमुत्ता रअणावसी, बहुमुत्त सुअण्णअण्डअ ति ण परितुट्ठा भवर भणिदु आभवा । [मया ज्ञातम् । अल्पमूल्या रत्नायसी, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डमिति न परितुष्टापरे याचितुमागता ।]

चादस्त — (स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति ।

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलाभितारिकावेशेन वसन्तसेना, सोत्कण्ठा  
घनधारिणी, विदूषकः)

घट — (वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अप्या श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं

कुलस्त्रीणां शोका मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।

शालीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी

रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्धैरनुमता ॥१२॥ ✓

प्रत्ययतो विश्वासा करोषि ।

अभितारिका शान्तमभितरतीति । उक्तं च—“अभितारयते शान्तं या मन्मथवशवदा । स्वयं चाभितरत्येषा धीरैदत्ताभितारिका ।” देश्यात्त्वाद् उज्ज्वलवेशेन अभितरणम्, यथोक्तम्—“विचित्रोज्ज्वलवेशा तु चलन्पूरुनि स्वना । प्रमोदस्मेरवदना स्याद् वेश्याभितरद् यदि ।”

चारदत्त—मित्र क्या मुझे छन रहे हो ?

विदूषक—यदि मेरे वचन में विश्वास नहीं करते हो तो इस कुम्भीलक से पूछ लो । अरे दामी के पुत्र कुम्भीलक पाम आओ ।

चेट—(समीप आकर) आर्य वन्दना करता है ।

चारदत्त—भद्र, स्वागत है, कहे सचमुच वसन्तसेना आई है ?

चेट—यह वह वसन्तसेना या आई है ।

चारदत्त—(प्रसन्नतापूर्वक) भद्र, मैंने श्रेय वचन कभी निष्फल नहीं किया । लो पुरस्कार ग्रहण करो । (उत्तरीय देता है)

चेट—(लेकर तथा प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करके) जब तक आर्या से निवेदन करता हूँ । (निर्वचन जाता है)

विदूषक—अरे, यह जानने को हो कि ऐसे दुर्दिन में किम लिये आई है ?

चारदत्त—मित्र ठीक नहीं जान पा रहा हूँ ।

विदूषक—मैंने ठीक जान लिया । रत्नावली कम मूल्य की है, स्वर्ण पात्र बहुमूल्य था, इस कारण सन्तुष्ट नहीं हुई, कुछ और मापने आई है ।

चारदत्त—(अपने आप) सन्तुष्ट होकर जायेंगी ।

(तत्पश्चात् उग्ग्वल अभिसारिका के वेश में उत्कण्ठित वसन्तसेना छत्रधारिणी और विट प्रवेश करते हैं)

विट—(वसन्तसेना को लक्ष्य करके) यह—वमनरहित लक्ष्मी है, कामदेव का सुन्दर अम्ब है, कुलीन मित्रियों का (साक्षात्) शोक है (क्योंकि उनके पति, वेदवागाधी हो जाते हैं, फलस्वरूप उनकी पत्नियों को कानून हो जाती हैं), कामदेव रूपी श्रेष्ठ वृद्ध का पुत्र है, रति के समय सज्जा से प्रेम करने वाली काम-शोध रूपी रंगभूमि में विनामूर्खक मनन करती हुई (यह वसन्तसेना) श्रेय वचनों के समूहों में अनुगत होती है ॥१२॥

अभिनवराजसमये वसन्तसेनायाः तावत्त्वं वर्णयति विटः—अप्यनेति । एषा वसन्तसेना धीः साक्षात् लक्ष्मीः अग्निः, किन्तु अपघ्ना नाम्नि पक्षं वयसं वस्ताः न पक्षमाभवा इत्यर्थः । एषा च अनङ्गस्य कामदेवस्य समितं सुन्दरं प्रहरणम् अत्र-मस्ति । कुन्तलोर्ध्वं कुन्तलोर्ध्वं गोरुः शोभन्ते एषा हि तामां पत्नीनां विसं मोह-यति तारक शोभन्तः भवति । अत्र. कामः एव वरवृद्धः श्रेष्ठतः तस्य कुन्तुं पुत्र-स्वरूपा । रतिममये सुन्दरत्वाने सज्जायां प्रणयित्वा प्रीतिमती कुलवधुवद् सम्प्राप्त्या भवति न तु वेदावद् सज्जाविहीनेति भावः । रतिश्रेष्ठे सुन्दरत्वाने एव रङ्गे रङ्गभूमौ सातीन विनामूर्खकं मन्थन्तो दन श्रेयः पवित्रमर्थः पवित्रममृते. अनुगतता भवति । अनेके निन्दकामुता एवामनुमन्तीति भावः । साक्षात्पक्षम् अमङ्कार । मित्रिणी वृत्तम् ॥ २॥

वसन्तसेने, पश्य पश्य :

गर्जन्ति शैलशिक्षरेषु विलम्बिविम्बा

मघा वियुक्तवनिताहृदयानुकारा ।

येषा रवेण सहस्रोत्पतितैमयूरै

स्य योज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥१३॥

अपि च—

पङ्कविलन्नमुखा गिवन्ति रामिल धाराहता वदुंरा

वण्ठ मुञ्चति बहिण समदनो नोप प्रदीपायते ।

सम्यास वुलद्रूपणैरिव जनेमैर्धवुं तश्चन्द्रमा

विद्युन्नीचकुलोदगतव युवतिर्नैवन्न सतिष्ठते ॥१४॥

वत तसेना—भाव मुट्टु वे भणितम् । भाव, मुट्टु ते भणितम् ।]

एषा हि

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव

वान्त सहाभिरमते यदि वि तवात्र ।

मा गजितैरपि मूर्ध्वनिवारयन्ती

मार्गं हणद्धि वृषितेव निशा सपत्नी ॥१५॥

विट मघानामुक्ति वर्णयति—गर्जन्तीति । शैलशिक्षरेषु विलम्बिविम्बा विलम्बि तन्वमान विम्ब मण्डलम् आहृतिवा यथा त दृशा विपुस्ताना विरहपीडितानां वनितायां नारीणा हृदयम् अनुकुरन्ति अनुमरिन्त इति तथाभूता । मरा इत्यर्थं मघा गर्जन्ति एषा मेरुना रवेण गर्जनन सहसा उत्पतितै उड्डीने मयूरै मणिमयै मणि-प्रचितै तामवृन्तै भ्रमरै इव तत्र यथासं योज्यते । उत्प्रेधातङ्कार । प्रसस्तितिका वृत्तम् ॥१३॥

पुनः स्पर्शम् वर्णयति विट—पङ्कति । पङ्केन विसन्तानि आदीृतानि मुष्णानि येषां ते धाराभि जलधाराभि आहृता ताडिता सन्त वदुंरा मण्डुका तसिल विवन्ति । समदन मदनेन सहित यामातुर बहिण मयूर कण्ठ मुञ्चति कण्ठ-ध्वनिं देवास्व करोति [कण्ठो यत्ने यलद्वाने] इति वीश—गृथ्वीधर ] । नोप वदभ्य-दृश प्रदीपायते पुण्ययुक्तत्वात् प्रदीपवद् आपरति । वुलद्रूपणं वुल रूपयन्तीति तं वृत्तवत्तुं जने सयाम इव मेर्धं चन्द्रमा वृत्त आच्छादित दूषित वा । नोचकुलोद्-गता नोचपशोत्पन्ना मुचति इव विद्युत् एकत्र एवस्मिन् स्थाने (पुण्ये वा) न सतिष्ठते न स्थिरा भवति ।

वसन्तसेना, देखो देखो—

पवंत की चोटियों पर लटके हुए (विलम्बित) आकार वाले, वियोगिनी स्त्रियों के हृदयों की समानता करने वाले (धूमिल, क्योंकि वियोगिनी का हृदय भी प्रमत्तता के अभाव में अन्धकारपूर्ण रहता है) मेष धरज रहे हैं, इनके मन्त्र से अचानक उठे हुए मोरों के द्वारा (अपने पक्ष रूपी) मणिमय तानवृत्तों (ताड़ के बने पंखों) से मानों आकाश को पसा किया जा रहा है ॥१३॥

मोर भी—

कीचड़ से मद्यपय मुंह वाले, (पानी की) धारा में ताड़ित मंत्रक पानी पी रहे हैं, कामयुक्त मोर मुक्तवृष्ट से मन्त्र कर रहा है। कदम्ब (उन्मत्त पुष्पों के कारण) दीपक-सा प्रतीत हो रहा है। भारतो के द्वारा चन्द्रमा उठी प्रकार आच्छादित कर लिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास (आच्छादित अथवा कलङ्कित कर दिया जाता है)। नीच कुल में उत्पन्न युवती के समान बिजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है ॥१४॥

वसन्तसेना—भाव, तुम्हारा कहना ठीक है—यह—

मपत्नी के सहस्र मुपित हुई रात्रि—“सूर्य, यदि मयन पयोधर (रात्रिपक्ष में—बादल, सपत्नीपक्ष में—स्तन) वाली मेरे ही माथ त्रिपक्ष (रात्रिपक्ष में—चन्द्रमा, सपत्नीपक्ष में—चारदल) रमण करना है तो इसमें तुम्हारा क्या ? इन प्रकार की गर्जनाओं से भी बार-बार मुस मना करनी हुई (मेरा) रात्रि रोक रही है ॥१५॥

उपमातङ्कारः । शार्ङ्गविज्ञोक्ति वृत्तम् ॥१५॥

मगिन वचन भावे क्त, 'ते' इत्यत्र वनेरि पठ्ये

(वृत्तं कर्मनी कृति पा० २।३।६५)

विटङ्ग वचन निःशब्द २ वि मपत्नीमिव वत्सपत्नी वसन्तसेना वचयति—  
 मूडे इति । 'एषा हि' इति गठेनाग्नयः । एषा हि निजा मपत्नी इय कुपिता “मूडे निरन्तरदयोधरया मया सह एव कान्त यदि अभिरमते तव अत्र किम् ?” इति मरितः अवि मुहुः मां विनिवारयन्ती मार्गं रुषडि-दृग्भवः ।

एषा हि निजा रात्रि मपत्नी इव कुपिता मनी (निजापत्नी इति पाठान्तरं निजा एव मपत्नी इत्यर्थं. —‘हे मूडे अनभिज्ञे वसन्तसेने, निरन्तराः पयोधरा मयाः दस्या सा तादृश्या मया निजया [मपत्नीपक्षे च निरन्तरी मरितपठ्ये पयोधरो मनी दस्याः तया] सह एव कान्त त्रिव निजापक्षे निजानादक चन्द्र) यदि अभिरमते रमणं करोति तदा अत्र तव वसन्तसेनायाः किम् वा हानि ? ईदृशे. गर्भने. वनेने. अवि मुहुः मार्गं वारं मां वसन्तसेना विहारयन्ती निरेषन्ती मय मार्गं त्रिपक्षमपार्गं रुषडि प्रतिद-  
 न्नाति । श्वेप. उरमा पावद्गारी । वसन्तनिदना वृत्तम् ॥१५॥

बिट — भवतु । एव तावत् । उपालभ्यता तावदियम् ।

वसन्तसेना—भाय, किमनया म्त्रीस्वभावदुविदग्धयोपालब्धया । पश्यतु

भाव ।

मेघा वपन्तु मुञ्चन्त्वशानिमेव वा ।

गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुक्ताः स्त्रिय ॥१६॥

बिट—वसन्तसेने, पश्य पश्य । अयमपरः,

पवनचपलवेगः म्यूलधाराशरीध

स्तनितपटहनाद स्पष्टविद्युत्पताकः ।

हरति करसमूहं से शशाङ्कस्य मेघो

नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रो ॥१७॥

वसन्तसेना—एष्व णेदम् । ता कथ एतो अवरो । [एवं न्विदम् । तत्कप-  
मेघोऽपर ।]

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनेराध्मातलम्बोदरे-

गर्जन्निः सतडिद्वलाकशवलैर्मघैः सशत्यं मनः ।

तत्किं प्रोषितभर्तुं वध्यपटहो हा हा हताशो वकः

प्रावद् प्रावृडिति श्रवीति शठधी. क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ॥१८॥

स्त्रीस्वभावेन दुविदग्धया दुराग्रहया अनया निशया उपालभ्यता किम् ? न  
किमपि फलमित्यर्थः । मेघा इति । मेघा वपन्तु गजन्तु भगतिन् वध्यम् एव वा मुञ्चन्तु  
मयोपरि पातयन्तु किं ममानेन ? यत रमणाभिमुक्ता रमण प्रति गन्तुमुद्यता. त्रिभयः  
शीतोष्णं शीतं च उष्णं च न गणयन्ति । अवस्तुतप्रशशातङ्कारः । अनुपुप् इत्यम् ॥१६॥

पश्यनेति । पवनचपलवेगः म्यूलधाराशरीध. स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः  
(अयमपरः) मेघः पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः नृप इव से शशाङ्कस्य करसमूहं हरति-  
इत्यन्वयः । अथ मेघस्य राजवच भित्पटवर्णनम् ।

अप्यतरेषु बोध्य.—अयम् अपरो मेघः । से आकाशे शशाङ्कस्य चन्द्रस्य करसमूहं  
रश्मिजालं तथा हरति आन्ध्यादयति यथा (इव = यथा + तथा) वचिद् नृपः पुरमध्ये  
बगरमध्ये राजधानीमध्ये वा प्रविश्य मन्दवीर्यस्य शीणशक्ते शत्रो करसमूहं राजदेयं  
घनं हरति बलाद् एहाति । (मेघाणि विशेषणानि दूष्यपक्षे एव योजनीयानि) कीदृशा  
मेघः ? पश्यतेन वपन्त. वेग यस्य स, म्यूला. धाराः जलधाराः एव शरीध बाणसमूहः  
यस्य स, स्तनितं वज्रितम् एव [पटहनादः उक्त्वानादः यस्य स. स्पष्टा विद्युदेव

विट—अच्छा । ऐसा है । तो उसे जयात्म दी ।

वसन्तसेना—भाव, स्त्री स्वभाव के अनुरूप हठी इसको उताहना देने से क्या ?

भाव देखें—

बादल बरसें, गरजें या बरख ही विद्य दें, (विन्तु) रमणोग्नुस कामिनिर्वा ठण्ड-नर्मो नो (बुद्ध भी) नहीं विनती है ॥१६॥

विट—वसन्तसेना, देखो, देखो । यह दूसरा—

[मेष और विजयी राजा का विलप्य वर्णन]

वायु से जिसका चञ्चल वेग है, (पानी की) मोटी धाराएँ ही जिसके बाण-समुदाय हैं, जिसका गर्जन हो नगाड़े का शब्द है, स्पष्टतया विजयी ही जिसकी पताका है—ऐसा बादल आकाश में चन्द्रमा के किरण-समुदाय को उसी प्रकार घीन (भाच्छा-दित कर) रहा है, जिस प्रकार मधु-नराजम शत्रु के कर (टैंस) की (विजयी) राजा नगर के बीच में ही हर लेता है ।

(राजा के पत्र में)—वायु के सद्ग चञ्चल वेग वाला (जल की) मोटी धारा-ओं के समान (तीहन) बाण-समुदाय वाला (मेष के) गर्जन के सद्ग नगाड़े के शब्द वाला स्पष्टतया विजयी जैसी (घमकने वाली) पताकाओं वाला ॥१७॥

वसन्तसेना—ऐसा ही है । तो फिर क्यों यह दूसरा ?—

जब कि गजराजों के सद्ग मूर्तिन (श्यामवर्ण), फूले हुए तथा लटकते हुए उदर (मध्यभाग) वाले, विजली एवं बगुनियो (बलाकाओं) से मुक्त (इसी कारण) चित्रित तथा गरजते हुए इन्हें बादलों के द्वारा (विद्योपिनियों का) मन वेदनापूर्ण है (हृदय में तीर से चुभ रहे हैं) तो परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विद्योपिनियों के लिए वध के समय बजने वाले नगाड़े के समान यह हुआ घूर्त बुद्धि वाला बगुना शत्रु पर नमक छिड़कता हुआ सा हाथ ! क्यों 'वर्षा, वर्षा'—यह बोल रहा है ॥१८॥

पताका यस्य सः । कीटसः नृप इव ? एवम इव चपलः वेगः यस्य सः, स्पृताः पादाः इव शरीरः यस्य सः स्तनितम् इव पटहनारः यस्य सः, स्पष्टा बिन्दु इव पताका यस्य सः । इत्येकगणनायां पुष्टः उपमानद्वारः । मातिनी वृत्तम् ॥१७॥

विटवचन निगम्य । वसन्तसेना वक्ष्यति—एतैस्ति । धरा गजेन्द्रमतिनेः गजेन्द्रवत् मतिनेः श्यामवर्णः अश्वमातानि उच्छ्रानानि अथ एव अश्वानि नन्वितापि पररापि देवां तैः, गर्भंङ्गु गर्जनं बुर्भङ्गुः लर्भङ्गुः विबुङ्गुः अश्वानि चर्भितः अश्व शब्दस्य चित्रवर्णः एतैः पुरोदुश्चमानैः केर्भं एव वयः विद्योपिनोना हृदयं क्लेशं, शल्याबद्धमिव वेदनादुक्तम् अस्ति । तत्र तदा श्लोकाः परदेशं गताः अस्तिः वासं क्लेशं इते वायव्यपटहः वधकाले वाटमानः पटहः इव हताशः हता आशा यस्य सः शब्दोः पुष्टं बुद्धिः बलः सने तार अकिंचन् हा हा इति वेदे किं कथं प्राकृट् शब्द इति वर्षा वर्षा इति वधीति ? शार्ङ्गनिर्गोचरितं वृत्तम् ॥१८॥

विट — यसन्तसेने, एवमेतत । इदमपर पश्य ।

बलावापाण्डुरोष्णीष विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।

मत्तवारणसारूप्य कर्तुकाममिवाम्बरम् ॥१६॥

यसन्तसेना—भाव, वेक्ष्य वेक्ष्य । [भाव पश्य, पश्य ।]

एतंराद्रं तमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभो

वल्मीका शरताडिता इव गजा सीदन्ति धाराहता ।

विद्युत्लाञ्छनदीपिकेव रचिता प्रासादराचारिणी

ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रात्सार्यं मेघैर्हृता ॥२७॥

विट — यसन्तसेने, पश्य पश्य ।

एते हि विद्युद्गुणवद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्त ।

शम्राजया वारिधरा सधारा गा रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥२६॥

अपि च पश्य—

महावाताध्मातैर्महिपकुलनीलजंलघरै-

श्चलीविद्युत्पक्षैर्जंलघिभिरिवान्त प्रचलितै ।

इय गन्धोद्दामा नवहृत्तिशष्पाडकुरवतो

धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥३२॥

वसाकेति । बलावा यकपदिसरेव पाण्डुर धवलम् उष्णीष शिरोवेदन यस्य तद्, विद्युदेव उत्क्षिप्त ऊर्ध्वं धृत चामरं यस्य तथाभूतं च अम्बरं गगनं वसाकावद् पाण्डुर उष्णीष यस्य तथा विद्युत् इव उत्क्षिप्तम् चामरं यस्य तादृशस्य मत्तवारणस्य मत्तगजस्य सारूप्यं तादृश्यं कर्तुकामम् इव प्रतिभाति । उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा चालङ्कारः । अनुष्टुप पद्यम् ॥१६॥

एतंरिति । आर्वाणि यानि समासपद्यानि तद्वद् अलिनैर् नीलवर्णै एतैर् मेघैर् नभ गगनम् अपीतसूर्यं अपीतं समाच्छन्नं सूर्यं यस्मिन् तादृशं जातम् । मेघैश्च धाराहता जलधाराभिः राहता वल्मीका सीदन्ति मृत्तिकासपाता शरं वर्णं लाडिता गजा इव सीदन्ति विनश्यन्ति । विद्युत् च प्रासादसञ्चारिणी प्रासादेषु भवनेषु सञ्चरणशीला काञ्चनदीपिका स्वर्णस्य दीपिका इव रचिता । किञ्च एतैर् मेघैर् दुर्बलैः अतर्क्यया तथाभूता वनिता स्त्री इव ज्योत्स्ना चन्द्रिका प्रोत्सार्यं बलादुत्पाप्य हृता हूरं शीता । उपमासङ्कारः । शार्दूलविक्रीणित पद्यम् ॥२०॥

एते इति । विद्युद् एव गुण रज्जु विद्युद्गुण [गजपक्षे विद्युद् इव गुणं तेन]

विट—बसन्तसेना, ऐसा ही है। इस दूसरे (दृश्य) को देखो—

बगुनियाँ हो त्रिमयी घबल पपही है, (हाथी के पक्ष में—बगुनियाँ के समान घबल त्रिमयी पपही है), बिजनी ही त्रिमका हुलासा जाता हुआ चामर है (हाथी के पक्ष में—बिजनी के जैसा चामर त्रिम पर हुलासा जा रहा है) ऐसा आनाम मानों मन हाथी को समानता करना चाह रहा है ॥१६॥

बसन्तसेना—भाव, देखो, देखो—

इन गीने तमान के पत्तों के सदा मलिन (नील-बभ्रु) बादलों के द्वारा-आकाश में मूयं ढक दिया गया है, (पानी की) घाराओं से ताहित बस्तीक (बमी) बान से मारे गये हाथियों के समान मट्ट हो रही हैं, बिजनी अट्टानिकाओं पर सञ्चरण करने वाली स्वर्णमयी-दीविका बना नी गई है (आकाश स्वी उच्च अट्टानिका पर विद्युत् स्वी स्वर्णमयी दीविका जन रही है) निर्बल है पति त्रिमका ऐसी स्त्री के समान चाँदनी का मेषों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है ॥१७॥

विट—बसन्तसेना, देखो ! देखो !

बिजनी लगी रस्मों में बद्ध कटि वाले, एक दूसरे की पक्ष्य देते हुए हाथियों के समान ये (जय-धारामुख) बादल मानों इन्द्र की आज्ञा से पृथ्वी को (जनधाराम्पी) चाँदी की रस्मियों के द्वारा ऊपर उठा रहे हैं ॥२१॥

बीर भी देखो—

प्रवण्ड वायु से गरजते वाले, भीनों के समुदाय जैसे नीले, चञ्चल बिजनी स्वी पत्तों के द्वारा आकाश में घूमते वाले (समुद्र पक्ष में—अन्दर से विशृण्व) समुद्र जैसे बादलों के द्वारा अभिनव हरी घाम के अङ्कुर वाली तथा तीर (भीनी) पक्ष से द्रुक यह धरती (जय) धाराजान स्वी मन्दिप बाणों से भेरी-भी जा रही है ॥२२॥

बद्धा वशा मध्यभाषः देवा ते अन्धोऽप्य परम्परम् अभिप्रचक्षन्तः अभिप्रचक्षन्तः पञ्जाः इव एते सधाराः जनधाराम्पि दृक्ताः कारिधराः देवाः महाहया इन्द्रस्य आज्ञया सां पृथ्वीं स्फ्यरगवा एवमस्य रज्जवा इव समुद्धरन्ति उर्ध्वं नयन्ति यथा हस्तिन किञ्चद् भारदुन बन्तु रज्जवादिना निवृण्व ऊर्ध्वं कर्णन्ति तथैव इमे देवाः पृथ्वीं ऊर्ध्वं नयन्तीति भावः । उतना उत्रेणां धानद्वारा । उत्रेणः वृत्तम् ॥२१॥

आकाशे प्रचलन्तो देवाः जनधाराम्पिः मन्दिपः बाणैः पृथ्वीं मन्दन्ति— इत्याह विट, महाभवेति । महावातः प्रभारतः महिषदुननीनः धनः विद्युत्पक्षैः अस्तः प्रचलितः जनधामि इव जनधरैः सन्तोहात् नवहृत्पिनात्रमन्दिपदृष्टिकामन्देन उत्रेण उत्रेणा मेरुः हृत्पिः सान्धादुत्रैः नुम्ना इव धरा पृथ्वीं जनधाराम्पिः दृक् मन्दिपधरैः मन्दिपिधरैः मन्दिपे इव । उतना, स्वरम् उत्रेणा धानद्वारा । निरुपिणी हृत्तम् ॥२२॥

महावातेन प्रचलन्तान् आध्यातः मन्दिपैः महिषदुनवत् भीतः धनैः विद्युत्पक्षैः अस्तः प्रचलितः जनधामि इव जनधरैः सन्तोहात् नवहृत्पिनात्रमन्दिपदृष्टिकामन्देन उत्रेण उत्रेणा मेरुः हृत्पिः सान्धादुत्रैः नुम्ना इव धरा पृथ्वीं जनधाराम्पिः दृक् मन्दिपधरैः मन्दिपिधरैः मन्दिपे इव । उतना, स्वरम् उत्रेणा धानद्वारा । निरुपिणी हृत्तम् ॥२२॥



वसन्तसेना—माव एतो बवरो । [ भाव, एयोऽपरः । ]

एहो हीति शिखण्डिनां पटुतरं वेकाभिरान्दितः

प्रोङ्ङीयेव बलाक्या सरभसं सोत्कृष्टमालिङ्गितः ।

हसेऽज्जितपङ्कजैरतितरा सोद्वेगमुद्धोक्षितः

कुर्वन्लज्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति ॥२३॥

बिट — एवमेतत् । तथा हि पश्य ।

निष्पन्दोकृतपद्यषण्डनयनं नष्टक्षपावासर

विद्युद्भिः क्षणनष्टदृष्टतिमिरं प्रच्छादिताशामुखम् ।

निश्चेष्ट स्वपितीव सप्रति पयोधारागृहान्तर्गतं

स्फोताम्भोधरधामनैकजलदच्छत्राभिधान जगत् ॥२४॥

वसन्तसेना—माव, एवं षेदम् । ता वेस्त वेक्ष्य । [ भाव, एवं न्विदम् । ]

तत्पश्य पश्य ।

गता नाश तारा उपकृतमसाघाविव जने

वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।

प्रकामान्तमूर्त्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिनां

द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥२५॥

अपि च पश्य—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।

आशागे मेघाः कथं समुन्नमन्ति—इति वसन्तसेना कथयति—एहो हीति । शिखण्डिनां मयूराणां केकाभिः वेकाः रवेः पटुतरं तीक्ष्णतरं यथा स्यात् तथा एहि एहि इति आगच्छ, आगच्छ इति आकन्दितः आहतः, बलाक्या बलानां पङ्कतपा सरभसं सवेगम् प्रोङ्ङीयेव समुत्पत्य सोत्कृष्टम् उत्सुनतापूर्वकम् आलिङ्गितः इव उज्जितानि प्यक्तानि पङ्कजानि कमलानि यैः तैः हंसैः अतितराम् अत्यन्तं सोद्वेगम् उद्वेगसहितं यथा स्यात् तथा उद्धोक्षितः अवलोक्षितः एषः अपरः श्रेयः, दिशः अञ्जनबहु मेचकाः स्वामर्शाः कुर्वन् समुत्तिष्ठति समुन्नमति । उत्तरेणालङ्कारः । शार्दूलविनीकितं वृत्तम् ॥२३॥

मेघाभ्यन्तेस्त्रियं काले मरुत जगत् स्वपितीव-इत्याह बिट—निष्पन्दोति । अत्र तर्षणि प्रथमान्तानि पदानि 'जगत्' इत्यस्य विशेषणानि । निष्पन्दोहृतानि निष्पन्दीकृतानि मुद्रितानि वा कथञ्चिद्वानि कमलसमूहः एव नयनानि येन तयामूर्त्तं जगत् । अत्रतः कमलरूपाणि नयनानि मुद्रितानि जायन्तीति भावः । नष्टौ बह्व्यो जावो लक्ष्मणसरो

बसन्तसेना—भाव, यह दूसरा—

बादन शिखाओं को काजल के समान काली करता हुआ उमड़ रहा है जो कि—  
'आओ, आओ' ऐसी धोर की ध्वनियों से भनी प्रकार बुनाया गया है बगुलियों की  
पंक्तियों द्वारा बैंगपूर्वक उड़कर मानो उत्कण्ठापूर्वक आलिङ्गन किया गया है तथा  
कमलों को त्याग देने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त उद्विग्नता से देखा गया है ॥२३॥

बिद—ऐसा ही है । और देखो—

कमल-ममुदाय रूपी नेत्र जिमने बन्द कर जिये हैं, रात और दिन जिसमें मष्ट  
हो गये हैं (पता नहीं चल रहा है), जिसमें विजनी के द्वारा क्षण में अग्धकार मष्ट हो  
जाता है क्षण में दिखाई देने लपता है, जिमका दिशा रूपी मुक्त डक गया है, बादलों के  
विस्तीर्ण निवासस्थान् (आकाश) में अनेक बादल ही जिसके आच्छादक छत्र हैं ऐसा  
मसार इस ममम जलधारा रूपी घर के मन्दर मानों निरचन हांकर सो रहा  
है ॥२४॥

बसन्तसेना—भाव ऐसा ही है । तो देखो, देखो—

अपञ्जन पुरुष पर क्रिये गये उपकार की भाँति तारे नाश को प्राप्त हो गये  
हैं, प्रिय मे विमुक्त हुई स्त्रियों के समान दिशायें (सूर्य अथवा चन्द्रमा से विमुक्त होने  
के कारण) नहीं मोहित हो रही है । देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शस्त्र (बय) की  
अग्नि में अत्यन्त तप हुआ आकाश मानो पिघलकर जल रूप में गिर रहा है ॥२५॥  
और भी देखो—

बादन उमड़ रहा है, झुक रहा है, बरग रहा है, गरज रहा है तथा अग्धकार

रात्रिदिवनी (मैर्पराहृतत्वाद्) यस्मिन् तद् । विष्णुः । सगं मष्टं परवाच्य इष्टं तिमिरम्  
सम. यस्मिन् तद् । प्रच्छादिनानि आगानां भुग्यानि (मैपाहृतत्वात्) यत्र तद्, स्त्रीते  
विन्दीर्णं अम्मोघराणां धामनि मैपानां निशामन्याने आकारो नैके बहूः अलघरहपाणि  
ध्यानि एव अग्निधानम् आच्छादकः सम्य तवापृज च । पयोधाराः जलधाराः एव वृह  
तस्य अन्तर्गतम् इदं जगत् नम्रति निरखेष्ट निरचनं यथा स्वान् तथा स्वपिनि इव गेने  
इव । रूपम् उप्रेषा चान्दुरो । शार्दूलविहोधिन् वृत्तम् ॥२४॥

बर्षा वर्णमति बसन्तसेना—गतेति । अगाधो जने दुर्जने उपहृतम् इव वृत्  
पररार इव ताराः नाशं यत्न. अहुराः जाताः । कान्तेन द्विरेण विमुक्ता स्त्रियः इव  
चक्रुमः दिगः कान्तेन विमुक्ताः च द्वेष विरहिता. न रात्रिनि न सोधने । त्रिहताः देवाः  
सेवां यतिः इन्द्र तस्य अन्धम्य बयस्य तिनिना अग्निना प्रकामम् अत्यन्तम् अन्तस्तप्तम्  
अप्यन्तरे मन्तनम् अत एव इमोभून् इविर्त्तं नत् इदं जगत् अलघरहेष यति इति मन्वे ।  
पुर्वायै उरमा, उरारायै चान्दुरो । धिपरिपो वृत्तम् ॥२५॥

उन्मर्त्तति । मेघ. उन्मयति नमति वर्णति वर्णति तिमिरीयम् अग्धकारसमूहं च

प्रथमधीरिव पुंस्व करोति स्थाप्यनेकानि ॥२६॥

वित्—एवमेतत् ।

विद्युद्भिर्ज्वलतीव सविहसनीवो-र्वैवं चाकारत्ते-

माहेन्द्रेण विवल्गनीव धनुषा धाराहरोदगारिणा ।

वित्प्लावनिनि स्वने रसनीवाघूर्णतोवानितै-

चोत्तै सान्द्रमिवाहिभिर्जलघरंघ्न पानतीवाम्बरम् ॥२७॥

वसन्तसेना—

जनघर निलज्जस्त्व जन्मा दपितस्य वेद्यम गच्छन्तीम् ।

स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तै परामृशसि ॥२८॥

भो शक्र,

किं तै ह्यह पूर्वैरतिप्रसक्ता यस्त्वं नदस्यम्बुदसिहनारै ।

न युक्तमेतत्प्रियकाटिभ्रताया मार्गं निरोदधु मम वर्षपातै ॥२९॥

अपि च—

यद्बहहृत्पाहेतोमृंषा वदसि शक्र गीतमोज्ज्वलीति ।

तदन्मसापि दुर्घं निरपेक्ष निवाम्यता जसद ॥३०॥

अपि च—

करोति एव च प्रथमधी प्रथमा प्रथम प्राप्य भी ससनी येन तादृशं पुरम् इव  
मेष अनेकानि क्पाणि करोति । उपमावीपक्यो ससृष्टिः अतद्धारः । अर्था  
वृत्तम् ॥३६॥

विद्युद्भिर्ज्वलति । जम्बर गगनं विद्युद्भिः ज्वलति इव । अलाकारात् उर्यै  
विहसति इव (कमिसमये हासस्य दुर्बलत्वात् साम्बम्) । धारा एव शरा बाणा हान्  
बर्हगिरति वर्षति इति तेन जलधारा रूपवाधवपिणा माहेन्द्रेण महेन्द्रेण माहेन्द्रं तेन  
धनुषा विवल्गति इव प्रस्फुरति पादपरिवहनं वा करोति इव । वित्प्लाव यः सप्तनिस्रज  
व्यसाम्ब विद्युन्निर्घ्रौः इति वाक्यं तेन रसति इव कञ्चेति इव । अनितं परने  
मन्पूणति इव क्रमति इव । इव च पवनम् अहिभिर्नाम इव भीमै भक्तघरं तादृ  
मया स्यात् तथा पुरायति इव ध्रुविमिव भवति । उपमा मालोदध्या च । माहेन्द्रमिन्द्रोदिति  
वृत्तम् ॥३७॥

वसन्तसेना मेघमुवावधो—जतघरेति । हे जतघर, त्वं निलज्जं धनु यथा त्वं  
दपितस्य प्रियस्य वेद्यम गृह्ण गच्छतीं मां स्तनितेन गजितेन भीषयित्वा पासयिष्या  
धाराहस्तै हस्तै परामृशसि स्मृशसि । धाराहस्तै इति उपकम् । समं विदेचनं प्रस्तुदे

समूह को (उत्पन्न) कर रहा है। (इस प्रकार) जिसने प्रथम ही सम्पत्ति प्राप्त की है, ऐसी पुरुष के समाज (बहु वादल) अनेक रूप (धारण) कर रहा है ॥२६॥

विद—ऐस ही है।

भाकाब विचलियो से जग-सा रहा है, सैकड़ों क्षणियों के द्वारा जोर से हँस-मा रहा है, धारा रूनी बाणों को बरमाने वाले इन्द्रधनुष से विशेष गति (पँतरे बदलना) सी कर रहा है। वज्र के स्पष्ट घोष से गर्जन-मा कर रहा है, वायु के द्वारा घूम-सा रहा है तथा नीचे सगँ जैसे बादलों से घना घुँचिज-सा हो रहा है ॥२७॥

वसन्तमेना—हे बादल तुम निर्गन्ध हो, जो प्रियसम के धर जाती हुई मुझको गर्जन से बरा कर धाराकूपी हाथों से छू रहे हो ॥२८॥

हे शत्रु,

क्या मैं पहले से तेरे प्रेम में आसक्त थी जो तुम बादलों के सिहनादों से गरज रहे हो? प्रिय के द्वारा आही गई मेरा बरा चिराने के द्वारा यह रास्ता रोकना उचित नहीं है ॥२९॥

धीर भी—

हे शत्रु, किस प्रकार अहत्या के निमित्त (तुमने) यह मूठ कहा था कि मैं पीडित हूँ। उसी प्रकार हे परार्थ पीड़ा को न जानने वाले (निरपेक्ष) मेरा भी दुःख जान धीर बादल को रोक लो ॥३०॥

धीर भी—

निषेधस्तुतन्व कानुकान् ध्यानारमनापोरात् अ समासोक्तिरपि । आर्षा वृत्तम् ॥३०॥

इन्द्रमुद्रित्वा सोराभरणं कथयति—किञ्चिन् । धोः शत्रु इन्द्र (इति गणनात्मक) एवं वसन्तमेना कि ते तव इन्द्रस्य पूर्वनिप्रगच्छा पूर्व एवा अनुरादेभ प्रमत्ता वास्तव धामन् । अन्व मन्मात् त्वम् अम्बुदानां जनदाना सिहनादः निहवन् गर्जन्तः गर्जां गर्जति । प्रियेभ वाग्दलेन काङ्क्षिणाया मम वसन्तमेनायाः कथयतिः आरावातैः मायं निरोद्धुम् धारनिरोधनम् एतन् न पुच्छम् । काञ्चिद्गन् जनद्वारः । उपजाति वृत्तम् ॥२९॥

धरिणि । हे मूठ इन्द्र क्यूँ यथा अहत्याहेतोः अहत्यायाः प्रादुर्घम् अहं पीडितः अस्मि इति मुया मिथ्या वदसि अथवाः । हे निरपेक्ष परपीडनमिह 'निरपेक्ष' इति पाठान्तरं 'दुःख निरपेक्ष' विचार्य इत्यर्थः सुप्रसः । तद्वन् तथा मम वसन्तमेनायाः अवि दुःखं जातीहि इति शेषः अतः प्रियद्वयमन प्रति वाचकः अयं अतसः निवारणाम् कृतीविद्याम् । इति हि स्तानु को बीजमे तस्य पत्नीवहत्यां कामयमानः शत्रुः "अहं पीडितः" इत्युक्त्या अनेन कामानिन्नाशत् इति पीडितिकी कथा । आर्षा वृत्तम् ॥३०॥

गर्जं वा वयं वा शक्रं मुञ्चं वा शतशोऽशिनम् ।

न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥३१॥

यदि गर्जति वारिधरो गर्जंतु तन्नाम निष्पुराः पुरुषाः ।

अपि विद्युत्प्रमदानां स्वमपि च दुरा न जानासि ॥३२॥

विट्—भवति, अलमलमुपालम्भेन । उपकारिणी तथेयम् ।

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरञ्जुः

शीलस्य मूर्ध्नि निहितैव सिता पताका ।

आसृष्टलस्य भवनोदरदीपिकेय-

माख्याति तं प्रियतमस्य हि सनिवेशम् ॥३३॥

वसन्तसेना—भाष, एष्व त उज्ज्व एव गेहम् । [ भाव, एवं तदेवैतद् गेहम् । ]

विट्—सकलकलाभिज्ञाया न किञ्चिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि रोगैः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोषोऽप्यन्तं न कर्तव्यम् ।

यदि कृष्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाशवा कृतः मतमः ।

कृष्यं च कोपय च रवं प्रसीद च रवं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥

गर्जति । ऐ-शक्र, गर्जं वर्षं वा शतशः अनेकशः, अशनिं दय्यं वा मुञ्च । किन्तु दयितं प्रियं प्रति प्रस्थिता गन्तुमुद्यताः स्त्रियः हि न रोद्धुं शक्याः । भद्रुष्टुम् ॥३१॥

पुनः विद्युत्तमुद्दिश्योपालभते—यदीति । याव वारिधर जलदः गर्जति तर्हि गर्जंतु नाम यतो हि पुरुषाः निष्पुराः भवन्ति अपि विद्युत् स्वमपि नारी भूत्वापि प्रमदानां नारीणां दुःखं न जानाति । इति महत् एष्वप्यपि विद्युदपि दृष्टिबहणमोहाया गमनविधेयं करोतीति उपासम्भे । समाप्तोक्तिः । आर्यां वृत्तम् ॥३२॥

विद्युतः उपासम्भः न युक्तः । इयं तु तकोपकारिणीति कथयति विट्—ऐरावतो-

हे इन्द्र चाहे बरजो-या बरसो भयवा सैकड़ों 'बच छोड़ो (फिर भी) प्रियतम के प्रति प्रस्थान करती हुई स्त्रिया नहीं रोकी जा सक्तों ॥३१॥

यदि बादल गरजता है तो वह भले गरजे (क्योंकि) पुरुष निपटुर होते हैं । हे विजती कामनियों के दुःख को क्या तुम प्री नहीं जानती हो ? ॥३२॥

बिट—श्रीमती, उपासम्म से बस करो । यह तुम्हारी उपकारिणी है ।

ऐरावत के बल पर ब्रह्मचल भुवर्ण-रज्जु के समान, पर्वत की घोटी पर स्थापित घबल पताका के सहज, इन्द्र के घर के अन्दर की दीपिका यह (विपुद्) तुम्हारे प्रियतम का निवासस्थान बता रही है ॥३३॥

वसन्तसेना—भाव, ऐसा ही है । यह वही घर है ।

बिट—समस्त कलाओं से परिचित तुम्हें यहाँ कुछ उपदेश देना नहीं है । फिर भी स्नेह बोलने को प्रेरित कर रहा है । यहाँ प्रवेग करके (तुम्हें) तनिक भी कोप नहीं करना चाहिए ।

यदि कोप करती हो तो (ममता) प्रेम नहीं है, अपवा कोप के बिना रतिमुल कहाँ ? (स्वयं) कुपित होकर (प्रिय को) कुपित करो, (स्वयं) प्रसन्न हो और प्रिय को प्रसन्न करो ॥३४॥

रतीति । यतः हि ऐरावतस्य इन्द्रगजस्य उरसि बसन्त्येवमा ब्रह्मचर्या सुवर्णस्य रज्जुः इव, शीतस्य पर्वतस्य भ्रूजिनि गिरिरे निहिता स्थापिता सिता ब्रूता पताका इव आसन्नैतस्य इन्द्रस्य भवनोदरस्य प्रासादमध्यभागस्य दीपिका इव इयं विपुद् ते तव प्रियतमस्य आरदत्तस्य तन्निवेशं द्रष्टुम् आख्याति प्रवचति दशंपति च । वसन्तसेना-  
बुत् ॥ वसन्तसेना वृत्तम् ॥३३॥

परीति । यदि त्वं स्वप्रियस्य समीपे कुप्यसि कुपिता एव स्यास्यसि तर्हि रतिः अनुरागः नास्ति भयवा कोपेन रोपेण विना कामः रतिमुलं कुतः ? न भवदेव इति भावः 'न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिबन्धुते' —इति बिन्दुकोशः । अतः त्वं कुप्य स्वयं कुपिता भव स्वप्रियं च कोपय त्वं स्वयं प्रसीद प्रसन्ना भव कान्तं च स्वप्रियं च आरादय प्रसन्नं कुरु । आर्वा वृत्तम् ॥३४॥

भवतु । एवं तावत् । भो भो, निवेद्यताभायेचारुदत्ताय ।

एषा फुल्लकदम्बनीपगुरंभो काले घनोद्भासिते

कान्तस्थालयमायता समदना हृष्टा जलाद्रातका ।

विद्युद्धारिदगजिते सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी

पादो नूपुरलम्बनकदमधरो प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥

धारदत्त — (आकर्ष्यं) दयस्य, ज्ञायता मिमेतदिति ।

विदूषक — न भव भाषवेदि । (यस्यन्तसेनाभुपनम्य । सादरम्) शोचिषो

षीए [यदभयानाभ्रापयति । स्वस्ति भयस्यै ।]

कान्तसेना—अञ्ज, कञ्चामि । तामथ अञ्जस्स । ( विट प्रति) भाव, एता

घतरधारिभा भावस्य ङजेव, मोदु । [भाय गन्दे । स्यागतमार्यस्य । भाव एषा  
छत्रधारिका भायस्यैव भवतु ।]

विट — (स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुण श्रेयितोऽस्मि । (प्रकाशम्) एवं  
भवतु । भवति वसन्तसेने,

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमे

साट्यात्मकस्य रतिकेतिवृत्तालयस्य

वैश्यापणस्य सुरतोत्सवसग्रहस्य

दासिष्यपण्यसुखानिन्द्रयसिद्धिरस्तु ॥३६॥

(इति निष्प्राग्धो विट )

वसन्तसेना—अञ्ज मिसेध, कर्हि कुष्माणं जूदिमरो । [भायं मंशेय दुप  
पुष्पाङ्कं द्यूतकर ।

विदूषक — (स्वगतम्) ह्रीं ह्रीं भो, जूदिमरो त्ति भणन्तोए अलक्षितो प्रिय-  
दत्तो । (प्रकाशम्) मोदि, एषो क्णु गुस्सरत्तवाधिभाए । [आश्चर्यं भो द्यूतकर  
इति भणन्त्यालङ्कृत प्रियवयस्य । भवति, एष खलु शुभ्ययूषावाटिकायाम् ।]

वाट्टता वेतन्तसेनायाः आचमनं शूषयितुं विट वचयति—एवेति । फुल्लानि  
त्रिकसितानि कदम्बानि कदम्बनाभकपुष्पाणि ययुर्तं भोयं कदम्बपुंशं गुरभो तुण-  
भियते घर्नं मेयं जडभासिते शोभिने च काले तामरना वामयुगा हृष्टा प्रसन्ना ।  
घनेन भार्वा अलका वेणा यस्या सा विद्युद्विषि कारिदाभां गजितं, च सचकिता  
भीटा एवद्दर्शनाकाङ्क्षिणी तत्र धारदत्तस्य दर्शान् भावाद्वाति इति सा कान्तस्य

बध्ना । ऐसा ही । करे, करे आनं धारदत्त ने निवेदन करो—

प्रदुल्लिख्य दम्ब्य-मुन्युक्त नीर वृज से सुपुमिष तथा बादलों से शोभिष स्तन्य में कामपुक्त तथा प्रमल जन से गीते केशों वाली, विद्युत् एवं कनकज्वल से भयभीत हुन्दारे दगन की कामना करने वाली प्रिय के घर जायो यह (बल्लभमेना) नूपुर में लगी हुई बीचड की धारण करने वाले पैरों को धोती हुई (द्वार पर) स्थित है ॥२५॥

धारदत्त—(सुनकर) मित्र, माधूम करो यह क्या है ?

विद्युत्—जो आन जाका करते हैं । (बल्लभमेना के पास जाकर, आदर-पूर्वक) जायका बख्शाण हो ।

बल्लभमेना—आनं बन्दना करती हूँ । आनं का स्वागत है । (चिट के प्रति) धाव, यह लगभगारिनी जायकी (आनके साथ) ही होवे ।

चिट—(अन्ने आण) इन चचाप से नियुगनासूत्रक भेज दिया गया है (अकट रूप में) ऐसा ही हो । सुप्रो बमन्तसेने—

जो दम्भमदित्त माया; बचट तथा बल्लभ का जन्म स्थान है, घूर्वता ही ब्रिमका मार (आना) है, रतिहीन ने बिनको आभर बनाया है. जहाँ रमण के मुख का मंडल है, ऐसे बस्याहवी बाजार (या बेगना ध्वजहार) की उदारताकरी विज्ञिय वस्तु (पन्थ) के द्वारा ही मूष्य मिद्धि होवे ॥२६॥

(चिट निकल जाता है)

बमन्तसेना—आनं संभेद, आनके बुभारी (धारदत्त) बहूँ हैं ?

विद्युत्—(अन्ने आण) करे ! आनचयं ! 'बुभारी यह कहुती हुई (बेगना) ने प्रिय मित्र को आह्वयित कर दिया (अकट रूप में) जो, यह मूने वृजों वाली बाटिका में है ।

द्विष्य आनचयं दृष्ट्वा मायना एषा बल्लभमेना नूपुरयोः तानः कर्मिनः नूपुरतानकर्मिनः सं धारिष इति नूपुरेभ्यश्चर्मिनश्च ती पारी पारपी प्रजासक्यो रिपना—इति आनं धारदत्ताय निवेदनात् । साहसविहीनं वृत्तम् ॥२५॥

इहं प्रति निवेदनात्-विदः बमन्तसेनामुद्दिष्य कथयति-आदीनेति । आदीनेः दम्भः तेन सति संतोषं ब्रूट नाया कथयं एतम् अनुर विद्यावधनं (विह्वलनादय-भेदात् ब्रूटान्तरात्मिकः इति दृष्योदरः) एषां बमन्तसेना, साहस्यं घूर्वता आना आरः दस्य दस्य रतिरेतिभिः सुदृष्टीशक्तिः इतामदस्य इतामदस्य, परदमेव उदयः सुर-तोषका दान मधुः सध्वजः दस्य तथादुलस्य वेदनादस्य वेदनादस्यदस्य, दामिन्य-मेव दस्य विदयदस्यं तदुपेव दामिन्यदस्यमेव मोदयेत्तविह्वेदस्यदारेण विदय-मिद्धि विदयः मूष्य (दामिन्यदस्यप्रधानं मिह्वयो मूष्यं इति दृष्योदरः) दस्य विद्धिः प्रकतिः धारदत्त वा अन्यः । दामिन्यदस्यमेव वेदनादस्यदारी भवतु इति मातः 'बल्ल-भमेना बध्ना' ।



वसन्तसेना—अज्ज, का सुग्हाण पुत्तम्बसल्लदिआ बुच्चदि । आर्यं, का युष्माकं शुष्कं वृक्षवाटिकोच्यते । ]

विदूषकः—भोदि, अहि न खाईअदि । च पोईअदि । 'भवान्त, यत्र न खाद्यते । न पीयते ।]

(वसन्तसेना स्मित करोति ।)

विदूषकः—सा पविसतु भोदी । [तस्मात्प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ कि मए भणित्थम् । [अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम् ।]

चेटी—जूदिअर, अदि सुहो दे पदोसो सि । [द्यूतकर, अपि सुरास्ते प्रदोष इति ।]

वसन्तसेना—आव पारइस्सम् ? [अपि पारयिप्पामि ।]

चेटी—अवसरो ज्जेव पारइस्सदि । अवसर एव पारयिप्पि ।]

विदूषक—पविसतु भोदी । [प्रविशतु भवती ।]

वसन्तसेना—(प्रविश्योपसृत्य च ) पुप्पेस्ताइयन्दि) अह जूदिअर, अदि सुहो दे पदोसो । [अयि द्यूतकर, अपि सुखस्ते प्रदोष ।]

आवरत्त—(अवलोक्य) अये, वसन्तसेना प्राप्ता । (सहर्षमुत्पद्य) अयि प्रिये,

सदा प्रदोषो मम याति जाप्रतः

सदा च मे निःश्वसतो गता निशा।

त्वया समेतस्य विशाललोचने

ममाद्य शौकान्तकरः प्रदोषकः ॥३७॥

तत्सदागतं भवत्यै । इदमासनम् । अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषक—इहं आरणम् । उपविसतु भोदी । [इदमासनम् । उपविशतु भवती ।]

(वसन्तसेनासीमा । ततः सर्वं उपविशति ।)

आवरत्त—(आसीत्), पश्य, पश्य ।

यपौदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन ।

एक. स्तनोर्भ्रमपिक्तो नूपसुत इव यौवराज्यस्य ॥३८॥

अपि प्रश्ने । 'पारयिप्पामि संमर्षा भविष्यामि ।

'अपि सुखस्ते प्रदोष.' इति वसन्तसेनया पृष्ट. चरदत्त प्रतिपद्यति—सरेति

बसन्तमेना—बासं, ब्राम सोयों के मूत्रे हुए दृष्टों वापी बटिका कौनसों  
कहनाती है ।

विदूषक—जी, जहाँ न माना जाता है, न पीया जाता है ।

(बसन्तमेना मुन्करानी है)

विदूषक—तो आप प्रवेश कीजिये ।

बसन्तमेना—(अनम से) यहाँ प्रवेश करके मुझे क्या कहना चाहिये ?

बंटी—(यह कि) दूतकर आपका प्रदोषकान तो मुझकर है ?

बसन्तमेना—(कहने में) समर्थ भी हो सकू यों ?

बंटी—अवसर ही समर्थ कर देना ।

विदूषक—आप प्रवेश कीजिये ।

बसन्तमेना—(प्रवेश करके और समीप जाकर । दुर्गा से छारना करती  
हुई) हे दूतकर, आपका प्रदोषकान तो मुझकर है ?

आरहत—(दिनकर) अरे बसन्तमेना आ गई । (प्रमत्ततापूर्वक चटकर)  
हे त्रिन, मेरा प्रदोष (रात्रि का चपन पहर) मझा जापते हुए बीडना है तथा मेरी  
रात्रि निगमान मेते हुए बीडती है । हे विगायनेने, तुम्हारे साथ निचन प्राप्त करने वाला  
मेरा प्रदोष मात्र दुःख का अन्त करने वाला है ॥३॥

तो आपका स्वागत है । वह कामन है । यहाँ बँटिये ।

विदूषक—यह कामन है । शीनती जी बँटिये ।

(बसन्तमेना बँठ जाती है । दलपवार मर बँठ जाते हैं)

आरहत—त्रिन, देवी, देवी—

वर्षों के जप को पिराने हुए बान के छोर पर लटकते हुए, कदम्ब ने सुरराज  
पद पर बैठे हुए दारकुमार के समान एक स्तन अभिविष्ट कर दिया ॥३॥

त्रिये, मझा जापनः जतरमं कुर्वतः एक मन आरहतस्य प्रदोषः विदालः प्रथम भागः  
कात्रि । मझा व निरउमकः तत्र विरहान् दीर्घं वनतः एक मे मनं निता रात्रिः मझा  
अटोका चरति । हे विगायनोवने दीपनेने, अष्ट त्रयना बसन्तमेना समेतस्य निचिनस्य  
मम प्रदोषः प्रमत्तः प्रदोषः मोक्षस्य अन्तकः नावकः जातः । अटवे निता सुमकी  
जातेति अत्रः । बँटम्बं हृत् ॥३॥

बसन्तमेन त्रिना बसन्तमेना विनोचन पारयनः कदमत्रि—बसन्तमेन  
बसन्तमेन हृत्त्रियनम् उरियमना पारयनः चरमाने विमम्बे इति अरबपालविमम्बी  
(त्रिय) तेन कदम्बेन कदम्बकुम्बेन बसन्तमेनाः एकः स्तनः मोक्षस्य अन्तः सुरराजपदे  
दिताः नरादुःखः दारकुमारः एक अभिविष्टः कृतः इति अत्रः । दलपानकुमारः । बासं  
कृतम् ॥३॥

तद्वयस्य, विलम्बो वाससी वसन्तसेनाया । अन्ये प्रधानवारसो समुप-  
नीयेतामिति ।

विदूषक — जं भव आणवेदि । [यद्भवानाज्ञापयति ।]

चेटी—अज्ज मित्तेज चिट्ठ तुमम् । अह ज्जेव अज्जअ सुस्सुताइस्सम् । आर्यं  
मैत्रेय, तिष्ठ त्वम् । अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि ।] (तथा वरोति ।)

विदूषक — (अपवारितनेन ।) भो धअस्स, पुच्छामि दाव तस्य भोदि किं पि  
[भो वयस्य, पृच्छामि तावत्तत्र भवती किमपि ।]

आश्वत्थ — एवं क्रियताम् ।

विदूषक — (प्रकाशम् ।) अद्य किणिमित्त उण ईदिसे षण्ठघन्वासोए बुद्धिण-  
अण्णमादे जाअवा भोदि । [अथ किनिमित्त पुनरीहणे प्रनष्टचन्द्रलोके बुद्धिना-  
न्धकार आगता भवती ।]

चेटी—अज्जए, उजओ वन्हुणो । [आर्यं, ऋजुवो ब्राह्मण ।]

वसन्तसेना—ण णिउणेति भणाहि । [ननु निपुण इति भण ।]

चेटी—एता वणु अज्जआ एव्व पुच्छुदु आअवा—‘केत्तिअ ताए रअणावतीए  
मुल्ल’ ति । [एषा खल्वार्या एव प्रष्टमागता—‘कियत्तम्या रत्नावल्या मूल्यम्’  
इति ।]

विदूषक — (जनान्तिक्म् ।) भो, भणित मए, जघा अप्पमुल्लारअणावती  
बहुमुल्ल सुवण्णमण्डअम् । न परितुट्ठा । अवर मण्णिदु’ आअवा । [भो, भणित  
मया, यथाल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्य सुवर्णभाण्डकम् । न परितुष्टा । अपर  
याचितुमागता ।]

चेटी—ता वणु अज्जआए अत्तण्णेरकेत्ति भणिअ ज्जे हारिवा । तो अ संहिओ  
राअवात्तपहाइो ण जाणीअदि कट्ठि गवो ति । [सा खल्वार्याया आत्मोपेति भणित्वा  
धृते हारिता । स च सभिवो राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।]

विदूषक — भोदि मन्तिव ज्जेव मन्तोअदि । [भवति, मन्त्रितमेव मन्त्रयते ।]

चेटी—जाव सो अण्णेत्तंअदि ताव एव ज्जेव नेण्ह सुवण्णमण्डअम् । [माव-  
त्सोऽन्यथयते तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डकम् ।] (इति दशयति)

(विदूषको विचारयति)

चेटी—अदिमेत्त अज्जो णिज्जादि । ता किं विट्ठिपुइय्य वे । [अतिमात्र-  
मार्यो निष्वायति । तर्त्क हृष्टपूर्वं ते ।]

विदूषक — भोदि, तिप्पहुत्तसवाए थोवन्थेदि विट्ठिम् । [भवति, शिल्प-  
कृशालतयावबध्नाति दृष्टिम् ।]

चेटी—अज्ज, वड्ढिअहोति विट्ठोए । त ज्जेव एव सुवण्णमण्डअम् । [आर्यं,  
वञ्चितोऽसि दृष्ट्या । तदेतेदं सुवर्णभाण्डकम् ।]

तो मिन, वसन्तमेना के वलन मींग गये हैं । क्या थोड़ा दो वलन ले जाओ ।

विदूषक—जो बात जाता करते हैं ।

खेटी—आपें मंत्रिय, तुम टहरो । मैं ही आपों की सेवा करूंगी (बैठा  
करती है)

विदूषक—(अलग हटकर) हे मिन, तब श्रीमती जो से कुछ पूछता है ।

चान्दस—देना ही करो ।

विदूषक—(अकट रूप में) चन्द्रमा के प्रकाश से होन ऐसे दुर्दिन में मला आप  
क्यों आई है ?

खेटी—आपें आह्वान सीधा है ।

वसन्तमेना—महो 'निपुन' यह कहो ।

खेटी—यह क्षार्वा बाम्भव में यह पूछने आई हैं—उस रत्नावती का कितना  
मूल्य है ?

विदूषक—(अलग से) बरे, मैंने कह दिया कि रत्नावती अल्प मूल्य की है,  
स्वर्ण-मात्र बहुमूल्य है, सम्पुष्ट नहीं हुई, अन्न और मींगने आई हैं ।

खेटी—वह आपों ने अपनी बहका (समझकर) पुण में हरा दी । राजा का  
मन्देश मे जाने वाला वह दूताभ्यज पता नहीं, कर्तुं क्या ?

विदूषक—श्रीमती जी, (मेरे द्वारा) कहा हुआ ही कहा जा रहा है ।

खेटी—यह ठह वह बुझा जाता है तब तक इस स्वर्ण-मात्र को ही इष्ट  
हीजिये ।

(दिलसानी है ।)

(विदूषक विचार करता है)

खेटी—आपें बहुत अधिक (ध्यान से) देख रहे हैं । तो क्या तुम्हारा पहने  
देगा हुआ है ।

विदूषक—जरी, मिन की कुशलता के कारण (यह बात) दृष्टि को आकर्षित  
कर रहा है ।

खेटी—आपें, (आपकी) अगियों ने छोड़ा दिया है । यह बही स्वर्ण-मात्र है ।

विजये आते आते । प्रधानवसमी मुन्दे लक्ष्मणे बा डी वस्ये । प्रसन्ने चन्द्रमा आलोचः  
सन्निवृत्तं तारणे दुर्दिनस्य मेघाह्वानदिवसस्य अन्धकारे । शुक्रे सरसः ।

निगमन्ति पश्यति । विद्वन्पुत्रतया रचनाशौचनेन । अथव्यसति आकर्षति

विदूषक—(सहयम् ।) भो वजस्त, त ज्जेव एदसुवण्णमण्डमम्, ष् षम्हाण  
गेहे चोरेह् अयहिवम् । [भो वयस्य, तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम्, यदस्माकं गृहे  
चोरैरपहृतम् ।]

चावस्त—वयस्य ।

योऽस्माग्निश्नन्तितो व्याज कतुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।

स एव प्रस्तुतोऽस्माकं कितु सत्यं विडम्बना ॥३६॥

विदूषक.—भो वजस्त, सण्ण तक्कमि षम्हणेण । [भो वयस्य, सत्यं सपे  
ग्राह्येण ।]

चावस्त—प्रिय नः प्रियम् ।

विदूषक—(जनान्तिकम् ।) भो, पुच्छामि षं कुदो एद समासादिह सि ।

[भोः, पुच्छामि ननु कुत इदं समासादितमिति ।]

चावस्त—को दोष ।

विदूषकः—(षेट्ठा कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

षेट्ठी—(विदूषकस्य कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

चावस्त—किमिदं कथ्यते । किं धर्यं बाह्याः ।

विदूषक—(चावस्तस्य कर्णे ।) एव्व विअ [एवमिव ।]

चावस्तः—भद्रे, सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ।

षेट्ठी—अज्ज अय इ । [आर्यं अयं किम् ।]

चावस्त—भद्रे, न कदाचित्प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया तदपृह्यतां  
पारितोषिकमिदमद्भृगुलीयकम् । (इत्यनद्भृगुलीयकं हस्तमवलोच्य सज्जा नाटयति ।)

वसन्तसेना—(आत्मगतम् ।) अदो ज्जेव कामीअसि । [अतएव काम्यसे ।]

चावस्त—(जनान्तिकम् ।) भो कण्ठम् ।

घनैर्विमुक्तस्य नरस्य लोकेः किं जीवितेनादितं एव तावत् ।

यस्य प्रतीकारनिरयंकत्वात्लोपप्रसादा विफलो भवन्ति ॥ ३७ ॥

तदेव चोरेणापहृतं सुवर्णपात्रं वसन्तसेनाया नीतं दृष्ट्वा चावस्तः वयस्यति—  
य इति । न्यासस्य न्यासीकृतस्य सुवर्णभाण्डस्य प्रतिक्रियां कतुं अस्माभिः यं व्याजः  
अपदेना सप्तप्रयोगः चिन्तितं विचारितं स एव व्याजः अस्माकम् अस्मान् प्रति अस्तुतः  
धारण्यः । किन्तु इदं सत्यम् तदेव सुवर्णभाण्डम् इदम् अथवा विडम्बना प्रतारणा ?  
इति न निश्चीयते ॥ ३६ ॥

बाह्येण ग्राह्येण, बाह्येणस्य भावः वभं वा, इत्यर्थे व्याज प्रत्ययः ।

विद्वान्—(अपलताडवर्क) हे मित्र, यह वही स्वर्नगात्र है, जो हमारे घर में  
घोड़ों ने चुरा लिया था ।

बादल—मित्र,

घरोहर को नौताने के लिए जो बहाना हमने सोचा वही हम पर प्रयोग किया  
जा रहा है । किन्तु क्या है अपना विद्वान् ? ॥२२॥

विद्वान्—हे मित्र, राष्ट्रपाल की छत्र छड़ा है 'छत्र' है ।

बादल—मित्र ? हमारा मित्र !

विद्वान्—(अपने से) क्यों जो तनिक यह पछड़ा है, यह कहाँ से मिला ?

बादल—क्या बुराई है ?

विद्वान्—(घेटी के कान में) ऐसा ही है ?

घेटी—(विद्वान् के कान में) ऐसा ही है ।

बादल—यह क्या कहा जा रहा है ? हम क्या बाहरी (भक्ति) है ।

विद्वान्—(बादल के कान में) ऐसा ही है ।

बादल—अरे, उच्युत यह वही स्वर्नगात्र है ?

घेटी—आनं, और क्या ?

बादल—अरे, मैंने मित्र-निवेशन (मित्र बनाकर बनाने) की कमी लिखकर  
वहाँ किया तो यह बगुनी पुरस्कार में जो । (बिना बगुनी बने हाथ को देखकर सच्चा  
का अभिमान करता है ।)

बनलनेना—(बनने भाव) इसी लिए (बावली) कामना की जाती है ।

बादल—(बनने भाव) बरे कथ्य है ।

संसार में अनहीन पुत्र के जीवन से यदि के ही क्या लाभ है ? इसके प्रति-  
दिना करने में अममर्ष होने के कारण क्रोध और प्रसन्नता (दोनों) पहले से ही निरूपण  
होते हैं ॥४०॥

व्यक्तित्वं प्रकृतम् । विनिवेशनं विद्वानं न विद्वान्कृतं यः विद्वं विद्वान्ति तस्मै  
कारिणोर्विद्वान्कृतं वदन्तीति भावः । अत्रैव वदन्तु उदाहरणवारेव ।

बहुपुत्रीकृतं स्वस्वमनपौत्रं कारिणोर्विद्वं शाकुनकम् । बादलः विद्वानं  
कथन्ति—कथन्ति । लोके संसारे यत्रैः विद्वान्मय अनेन हीनत्व वराय कारिणं भार्यमयः  
एव ज्ञोतिनेन कि ? न कोऽपि भावः इत्यर्थः । कुत्र इत्याह—अप्रीकारे इति किमाहारे  
विद्वान्कृतं अममर्षात् वदन् कोऽप्यपारा बोधः प्रकाशत्वं विद्वान्कृतं विद्वान्कृतं  
कथन्ते । यथा सा कुपन्ति तदा न इति कृतं अस्तीति, यथा च विद्वान्कृतं न तदा  
पुरस्कारं अस्तीति अत्रः तस्य कोऽप्यपारोः संदर्भमिति भावः । कारिणोर्विद्वान्कृतं  
इत्यादि च । उदाहरणं इत्यन् ॥४०॥

अपि च ।

पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरु सरश्च जलहीनम् ।

संपंश्वोद्धृतदष्टस्तुत्यं लोके दरिद्रश्च ॥४१॥

अपि च—

शून्यं गृहं है सलु समाः पुरुषा दारद्रा

रूपैश्च तोयरहितैस्तर्हभिश्च शीर्णैः ।

यद्दृष्टपूर्वजनसगभविस्मृताना-

मेवं भवन्ति विफला परितोषकालाः ॥४२॥

विदूषक — मो अन्न अदि मेत्त सत्तत्पिडेण । (अन्नस्य सपरिहासम्) भोदि, समस्योभ्रु ममकेरिआ इत्यादि । [भो, अलमतिमान्न संतापितेन । भवति, समर्पता मम स्नानशाटिका ।

वसन्तसेना—अग्रे चारुदत्त, युक्त षोड इमाए रअणावतीए इम जन हुत्-  
शुम् । [आर्यं चारुदत्त, मुक्तं मेदमनया रत्नावत्या इम जन तुलयितुम् ।]

चारुदत्तः—(सवितशस्मितम्) वसन्तसेने, पश्य पश्य ।

कः श्रद्धास्यति भूतार्यं सर्वो मां तूलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि श्लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥४३॥

विदूषकः—हज्जे, कि मोरोए इय ज्जेइ सुविदेष्यम् । [चेटि, कि भवत्या इहैव स्वप्तव्यम् ।]

छेटो—(विहस्य) अग्रे अत्तअ अदिमेत्तं दाणि उजुअ अत्ताणअ इसेति । [आर्यं मैत्रेय, अतिमान्नमिदानीमृजुमात्मान दशयसि ।]

विदूषक — मो वमस्य एतो इलु ओसारअन्ने विअ सुहोवविठठ जणं पुणोवि विस्वारिवारिघाराहि वडिठठो पज्जणो । [भो वयस्य, एय सत्वपसारयन्निअ सुसोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारिघाराभि प्रविष्टं पजंन्य ।]

पक्षीति । पक्ष्याभ्यां विकल्पा पक्षविहीन पक्षी शुष्क च तरु वृक्षा जलेन हीन दून्य च तरु करोवरः उद्धृता दष्टा यस्य तपाभूत, संपंः च बरिद्रा नियंनरपापि एतद् सवं लोके तुत्यं समानमेव । मासोपमा । आर्यं वृत्तम् ॥४१॥

शून्यरिति । बरिद्रा पुरुषा लसु नश्चयेन शून्यं निर्वर्णं गृहं, तोयरहितं अक्षविहीनं रूपं एवं शीर्णं शून्यं तर्हभिः, शीर्णं च समा तुल्याः भवन्ति यत् यत् दृश्याभूत्वं पूर्वपरिविषय जनस्य ज्ञानमेव मितनेन विस्मृतानां विस्मृतस्वर्णानां

बौर मां—

पंखरहित पक्षी और सूत्रा वृष, जलरहित तालाब तथा दाड़ उखाड़ा हुआ सपं एवं दंष्ट्र (ये सब) समार में समान हैं ॥४१॥

बौर भी—

वस्तुनः दंष्ट्रि मनुष्य मूत्रे बरौं, जलरहित कुंजों तथा शुष्क वृक्षा कं समानुं हैं शरीरक पहने देखे हुए जनों के निचन से (अपनी दंष्ट्रावस्था की) मूल जाने जाने (निर्घृत) लोगों के मन्त्रों के अवसर इन प्रकार निष्पन्न हो जाते हैं ॥४२॥

बिदूयक—अरे अधिक संतान से बस करो । (प्रकट रूप में परिहासपूर्वक) शीतल जी, मेरी नहाने की छोटों से सीखिये ।

व्यमलतेना—आर्यं चाग्दत्त इत जल को (भरते) इस रत्नावली से शक्ति का वित्त नहीं है ।

आग्दत्त—(सज्जायुर्वंश कुम्हारकर) व्यमलतेना, देगो देगो, वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? अब मुझे हन्का (तुच्छ, अपराधी) समझिये । इस सकार में पौरव-विहीन निर्घृतता निर्निवृत्त रूप से शत्रु के योग्य होती है ॥४३॥

बिदूयक—बेटे, क्या आर्यो नहीं सीना है ?

बेटा—(हंसकर) आर्यं संभवे, इस समय आर्य की बतलत सीमा प्रदर्शित कर रहे हो ।

बिदूयक—हे निच, तुम से किं तु जनों को शत्रुता वृषाम . . . तां नवन को दंष्ट्रि करते वाला यह भारत मंटी जलधाराओं से (सुन्द शत्रु) निच का पना है ।

निर्घृतानाः परितोषकालाः शक्तिविघ्नननाः एवम् अनेन प्रहारेण विरुताः निरुन्नाः भवन्ति । जना, अदम्युनवता च । वदन्निनका वृत्तम् . . . ४२॥

तुननिर्घृतं परीक्षितुं 'तुननिर्घृतम्' इति दादे तदुक्तं च । इति । पूर्वं व्याख्यातः (सङ् ३२४) ॥४३॥

अनमावदन् दुरीकुर्वन् आप्तानिउत्पान श्रेयन् इति मञ्जूतः । कुपेन उव- विरम् । निःशक्तिः विनृत्तिः शक्तिघातश्च जलधाराणि प्रविष्टः समारः ।



घाहदत्त.—सम्यगाह भवान् ।

अंमूहि भित्त्वा जलदान्तराणिव पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।

पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्धिमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥४५॥

अपि च—

धाराभिरायंजनचित्तमुनिर्मलाभि-

श्चण्डाभिरजुंनशरप्रतिकर्कशाभिः ।

मेघा स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशा-

शक्रस्य मौक्तिकनिघानमिवोद्गिरन्तः ॥४६॥

प्रिये, पश्य पश्य—

एतैः पिष्टतमालवणं कनिर्भं रालिप्तमम्भोधरैः

ससक्तैरुपवेजित सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।

एषाम्भोदसमागमप्रणयिनो स्वच्छन्दमभ्यागता

रक्ता कान्तिभिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिङ्गति ॥४६॥

(वसन्तसेना गृह्णात्प्रभावं नाटयन्ती चारुदत्तमाकिङ्गति ।)

घाहदत्तः—(स्पर्शं नाटयन्प्रयानिङ्गथ ।)

चारुदत्तः कुण्डिधारा वर्णदानाह—अमूर्होति । हिंनिश्चयेन अमूः पुरो दृश्यमानां वारिधारां मृणालस्य कमलनालस्य सूच्य अङ्कुरा पङ्कान्तराणि पङ्कस्य अन्तर्भागान् इव बलदेवस्य अक्षराणि भित्त्वा विहार्य (प्रियस्य) चन्द्रस्य व्यसनात् जलदावरणरूपात् सङ्कटात् मरणाद्वा विमुक्ता पतिता दिवः सुप्तोकस्य (नायिनारूपस्य) अश्रुधारा इव पतन्ति इत्युत्प्रेक्षा समासोक्तिवच चन्द्रे नायकव्यापारस्य विधि च नायिकाव्यापारस्य सवारोपात् । उपजातिः वृत्तम् ॥ ४॥

धाराभिरिति । बलदेवस्य पटवन् प्रकाशान्ते इति ते बलरामयस्त्रवत् नीताः मेघा मायंश्रुदस्य ध्वेष्टजनस्य चित्तवद् मुनिर्मलाभिः अजुंनस्य शरवत् बाणवद् मौक्तिककर्कशाभिः शूद्रोराभिः चण्डभिः शीघाभिः धाराभिः शक्रस्य इन्द्रस्य

घाददत्त—आपने ठीक कहा—

कीचड़ को भेद कर निकले हुए मृगाल के बड़कुर के समान बादलों के उदर को चीर कर ये जल धाराएँ (प्रिय) चन्द्रमा के (आच्छादन रूप) सकट के कारण निकली हुईं जो (रूपी नायिका) की अश्रुधाराओं के समान गिर रही हैं ॥४५॥  
 और भी—

बलराम के वस्त्रों के तुल्य (नील) आभा वाले बादल वायं जन के अन्तःकरण के तुल्य स्वच्छ, अर्जुन के तीर के सदृश कठोर एवं तीव्र धाराओं के द्वारा मानों इन्द्र के मुक्ता कोप को बिखराते हुए सर रहे हैं ॥४५॥

प्रिये, देखो देखो—

बादल के ममागम को अभिलाषिणी (पक्ष में, बादल के उमड़ने के कारण से अभिलाषिणी) स्वच्छन्दता से आई हुई, रक्त (अनुरक्त एवं रक्तवर्ण वाली) यह प्रियतमा के समान विद्युत् पिते हुए तमाज के रंग जैसे बादलों से अनुनिप्त (आच्छन्न), निरन्तर बहने वाली (संसक्त), सुगन्धित एवं शीतल प्रदोष की वायु से पंखा किये जाते हुए प्रियतम सदृश आकाश का आलिङ्गन कर रही है ॥४६॥

(वसन्तसेना शृङ्गारभाव का अभिनय करती हुई घाददत्त का आलिङ्गन करती है)

घाददत्त—(स्पर्श का अभिनय करते हुए प्रत्यालिङ्गन करके)—

भौक्तिकनिघानं मुक्तानां निधिम् उद्दिगरन्तः विकिरन्तः इव लवन्ति ब्रूयन्ति ।  
 उपमा, उत्प्रेक्षा च । वसन्ततिनका वृत्तम् ॥४५॥

घाददत्तो विद्युता संयुक्तमम्बरं विलोक्य वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—एतंरिति ।  
 अम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दम् अभ्यागता रक्ता प्रियतमा इव एषा विद्युत् एतं  
 पिष्टतमाजवर्णकनिभं अम्भोघरैः आलिप्तम्, संसक्तं सुरभिधिः शीतैः प्रदोषानितैः  
 उपवीरितं च कान्तम् इव अम्बरं समालिङ्गति—इत्यन्वयः ।

अम्भोदस्य ममागमे (टि०) प्रणयिनी (नायिकापक्षे तु—अम्भोदस्य समागमात्  
 प्रणयिनी अभिलाषिणी) स्वच्छन्दम् स्वेच्छया अभ्यागता रक्ता रक्तवर्णा  
 (अनुरक्ता च) प्रियतमा नायिका इव एषा विद्युत् एतैः दृश्यमानैः पिष्टं यद् तमाज-  
 वर्णं तमाजपत्रवितेपनं तन्निभैः तसदृशीः नीलैः अम्भोघरैः मेघैः आलिप्तं (पक्षे—  
 अङ्गरागैः अनुनिप्तम्) संसक्तं निरन्तरैः सुरभिधिः सुगन्धिभिः शीतैः प्रदोषानितैः  
 प्रदोषानिषपवनैः (पक्षे—शीतलसुगन्धितैः पवनैः) उपवीरितं वृत्तम्यत्रम् इव  
 कान्तं प्रियतमम् इव अम्बरम् आकाशं समालिङ्गति । उपमा समासोक्तिश्च आदातो  
 नादकस्यापारस्य विद्युति च नायिकाभ्यासारस्य समारोवात् । घाददत्तविकीर्षि  
 एतम् ॥४६॥

भो मेघ गम्भीरतर नद त्व तव प्रसादात्स्मरणीदितं मे ।

सस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गानम ॥४७॥

विदूषक—बासीए पुल दुदिन अणज्जो घाणि ति तुमम् जं, अत्तेओरि, विग्गु  
वाए प्राअवेति । {दास्या पुल दुदिन, अनाय इवानीमसि त्वम् अद्वनप्रकतो  
विद्युता भीपयसि ।}

पारशरत—वयस्य, नाहंस्युपालब्धुम ।

वषंशतमस्तु दुदिनमविरतघार शतह्रदा स्फुरत्तु ।

अस्मद्विघदुलभया यदह प्रियया परिष्वक्त ॥४८॥

अपि च । वयस्य

घन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनौना गृहमागतानाम् ।

मात्राणि मेघोदकवीतलानि गात्राणि गान्धु परिष्वजन्ति ॥४८॥

प्रिय वसन्तसेने

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसचगान्त

शीणत्वात्कथमपि धार्यते वितानम् ।

एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुत्तेपात्

भक्तिलन्ना सतिलभरेण चित्रभित्ति ॥४९॥

भो इति । भो मेघ, त्व गम्भीरतरम् मह यज । तव मेघस्य प्रसादात्  
अनुग्रहात् स्मरणीदितं-कामपीडित मे मम गान्धु शरीरं (वसन्तसेनाया ) सस्पर्शनं  
रोमाञ्चित जात उत्पन्न राग अभिलाष- यस्मिन् तादृश च सत् कदम्बपुष्पत्व  
कदम्बपुष्पसादृश्यम् उपैति प्राप्नोति । बाभ्यातिङ्गं निदधानां शतह्रदारी । उपजाति  
वृत्तम् ॥४७॥

वसन्तसेनासमागम स्वसोभाग्यमिव भयमान चाददत्त वयसि-वषशतमिति ।  
अविरता अविश्विन्नां वायु यस्मिन् तथाभूत दुदिन मेघाच्छन्नदिनं वषाणां शत  
वर्षशतम् अस्तु भवतु शतह्रदा विद्युत् च स्फुरत्तु यत् यस्मात् कारणात् अहं  
पारशरत अस्मद्विघातां मादृशानां दरिद्राणां बुद्धभया लब्धम् अरक्षयया प्रियया  
वसन्तसेनया परिष्वक्त. आतिङ्गित । आर्या वृत्तम् ॥४८॥

अभ्यानीति । तेषां जन्तानां जीवितानि जीवनानि धर्यानि ससु निरप्यन

हे बादल, तुम और अधिक गम्भीर गर्जन करो, तुम्हारी कृपा से काम से पीड़ित मेरा शरीर (वसन्तसेना के) स्पर्श से रोमाञ्चित एवं रागयुक्त होकर कदम्ब पुष्प के सदृश हो रहा है ॥४७॥

विदूषक—राज्ञी के पुत्र दुर्दिन तुम बड़े अशिष्ट हो जो इस समय इन श्रीमती जी को विजली से डरा रहे हो ।

चारदत्त—मित्र, (दुर्दिन को) उपासम्म देना उचित नहीं । सजल (वृष्टि) धारावाला दुर्दिन सो वर्ष तक रहे, विजली (शतहृदा) चमकती रहे, क्योंकि (गरजते हुए मेघ और चमकती हुई विजली के कारण ही) हमारे जँसों के लिये दुर्लभ प्रिया के द्वारा मेरा आलिङ्गन किया गया है ॥४८॥

और भी; मित्र,

वास्तव में उनके जीवन घन्य है जो घर में आई हुई कामिनियों के बाँसल के जल से शीतल हुए शरीरो का (अपने) शरीरो पर आलिङ्गन करते हैं ॥४९॥

प्रिये वसन्तसेने—

जिसके (स्तम्भों के आधार के लिये बनाये गये) वेदी समूह भीषे तक हिंस्र रहे हैं ऐसा वितान जर्जरित होने के कारण स्तम्भों पर किसी प्रकार ठहरा हुआ है, और यह विचित्र दीवार मुग्धा-द्रव के लेपन (सफेदी) के फट जाने के कारण बहुत से जल से भीग (सील) गई है ॥५०॥

प्रगंसनीयानि मे जनाः गृहम् स्वयेहम् आगतानां कामिनोनां मेघोवदेन शीतलानि  
यात्रानि शरीरानि गान्देव स्वशरीरेषु परिष्वजन्ति आलिङ्गन्ति । अपस्तुतश्चसा ।  
इन्द्रव्या वृत्तम् ॥४९॥

स्वगृहस्य जीर्णता दशयन् वसन्तसेनां प्रति कथयति चारदत्तः—स्तम्भेषु  
इति । प्रचलितः कम्पितः वेविलम्बयानां वेदिसमूहानाम् अगतः पर्यन्तमागो यस्य  
व्यामूर्तं विनाशं शोभन्वान् जीर्णत्वात् कथमपि कष्टेन काठिन्येन वा स्तम्भेषु  
पायते । एषा च क्षिप्रचित्तिः क्षिप्रयुक्ता भित्तिः स्फुटितः विदीर्णः यः मुग्धाववरय  
अनुलेप तस्मान्-मुग्धाद्रवानुलेपस्य स्फुटितत्वाद् इत्यर्थः, सुस्तिममरेण इष्टिजमा-  
शिवरेण सचित्तना आर्द्रं जातम् । अतोऽनावस्थानं च दुर्लभमिति इत्यम् । इहनिनी  
इत्यम् ॥५०॥

(ऊर्ध्वम् लोषय) अये इन्द्रधनुः । प्रिये, पश्य पश्य ।

विद्युज्जिह्वं नेदं महेन्द्रतापोच्छ्रितायतभुजेन ।

बसधरविद्वृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥५१॥

तदेहि । धर्म्यन्तरमेव प्रविशायः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

तासीषु तारं विद्युषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं सलिलेषु चण्डम् ।

संगेतवीणा इव ताड्यमानास्तासानुसारेण पतन्ति घाटाः ॥५२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

दुहितो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।



विद्युदिति । विद्युदेव जिह्वा यस्य नेन, महेन्द्रचापम् इन्द्रधनु एव उच्छ्रितो  
चलन्तौ धामतो विद्यालोष युजो यस्य तैज, जसधरः मेघः एव विद्वृद्धा हनुः विबुध  
पञ्चमोऽङ्कः अन्तरीक्षेण आवासेन विजृम्भितम् इव । रूपम् उपमेयात् ।

(ऊपर देखकर) अरे ! इन्द्र धनुष ! गिये, देखो ! देखो

दिवनी रूपी जिह्वा वाले, इन्द्र धनुष रूपी उन्नत एवं विज्ञात (व्यापक) गुण वाले मेघ रूपी बड़ी हुई ठोड़ी (हनु) वाले आकाश ने मानो जम्भाई भी है ॥११॥ वो आबो, भीतर ही प्रवेग करें (उठकर घूमता है)।

अडहूत (ताडयमाना) सङ्गीत वीणा के समान (बर्षा की) धाराएँ तालदृशों पर उच्च स्वर से दृप्त की शालाओं पर गम्भीर, गिलाओं पर झसी (कर्कश) एवं जल में तुमुलध्वनि मे ताल के अनुसार गिर रही हैं ॥१२॥

(सब निकल जाते हैं)

दुहित नामक पांचवां अङ्क (समाप्त)

तापीनु इति । ताडयमाना वाद्यमाना सङ्गीतवीणा इव धाराः दृष्टिजातः  
तापीनु तावदनेनु तारम् उच्चैः विटपेनु वृषणामामु मङ्गं गम्भीरं गिलासु कर्शु सन्तिनेनु  
उनेनु वाड नुनुष ध तात्रानुमारेष वनन्ति । उन्मा । उन्वातिः इत्यम् ॥१२॥

इति दुहितो नाम पञ्चमोऽङ्कः

## षष्ठः

(तत् प्रविष्टति चेटी)

चेटी—कथं अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्जादि । भोदु । पविस्सिअ पविबोद्य-  
इत्तम् । [कथमद्याप्यार्या न विवृध्यते । भवतु । प्रविश्य प्रनिबोधयिष्यामि ।]  
(इति नाटकेन परिष्कारमिति)

(तत् प्रविशत्याद्यादित्तरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—(निरूप्य) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ । पमाद सबुत्तम् । [उत्तिष्ठतूत्ति-  
ष्ठत्वार्या । प्रभातं सबुत्तम् ।]

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कथं रत्ति ज्जेव पमाद सबुत्तम् । [कथं रात्रिरेव  
प्रभातं सबुत्तम् ?]

चेटी—अह्हाण एत्तो पमादो । अज्जआए उण रत्ति ज्जेव । [अस्माकमेत-  
त्प्रभातम् । आर्यायाः पुनः रात्रिरेव ।]

वसन्तसेना—हञ्जे क्कहि उण सुह्हाण जूटिअरो ? [चेटि, कृतं पुनश्च प्माकं  
धूतकर ?]

चेटी—अज्जए, वद्धमाणअ समादिसीअ पुण्णए रण्णअ जिण्णुज्जाणं गदो अज्ज  
आएदत्तो । [आर्ये, यद्यमानकं समादिश्य पुण्यकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्य-  
चारुदत्त ।]

वसन्तसेना—किं समाविस्सिअ । [किं समादिश्य ।]

चेटी—जोएहि रात्तीए पवहणम्, वसन्तसेना गच्छति । योजय रात्रीं  
प्रवहणम्, वसन्तसेना गच्छत्विति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, क्कहि मए वन्तव्वम् ? [चेटि, कुत्र मया गन्तव्यम् ?]

चेटी—अज्जए, क्कहि चारुदत्तो । [आर्ये, यत्र चारुदत्त ।]

वसन्तसेना—(चेटी परित्यज्य) हञ्जे, सुट्ठु ॥ निग्गाइदो रात्तीए । ॥  
अज्ज पण्णवत्त पेत्तिसत्तम् । हञ्जे, किं पविट्ठा अहं इह अत्तन्तरघटुत्तात्तम् ?  
[चेटि, सुष्ठु न निर्यातो रात्री । तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । चेटि, किं प्रविष्ट-  
हस्मिन्नाभ्यन्तरवत्तु शालकम् ?]

चेटी—ण वेवत्त अत्तन्तरघटुत्तात्तम् । सत्तव्वणत्तस सिं हिअअ पविट्ठा ।  
[न केवलमभ्यन्तरवत्तु शालकम् । सर्वजनस्मापि हृदयं प्रविष्टम् ।]

## छठा अङ्क

(तत्पश्चात् चेटो प्रवेश करती है)

चेटो—क्या आर्या अब भी नहीं जाग रही हैं ? अच्छा, प्रवेश करके जगाऊँ ।  
(निमन्य से प्रमत्तो है) ।

(तत्पश्चात् ढके हुए नरीर वाली सोई हुई बसन्तसेना प्रवेश करती है)

चेटो—देखकर आर्यो, उठिये, उठिये । सवेरा हो गया ।

बसन्तसेना—(जागकर) क्या रात्रि हो-सवेरा हो गई

चेटो—हमारा तो यह सवेरा है । किन्तु आर्यों की तो रात्रि ही है ।

बसन्तसेना—चेटी, तुम लोगों के जुआरी (आर्य चाखदत्त) कहाँ है ?

चेटो—आर्य, बर्धमानक का आदेश देकर आर्य चाखदत्त पुष्पकरपट्टक (नामक) भौगोदान में चले गये हैं ।

बसन्तसेना—क्या आदेश देकर ?

चेटो—रान मे ही बहमी जोड़ सेना (जिससे) बसन्तसेना चली जाये ।

बसन्तसेना—चेटी, मुझे कहाँ जाना है ?

चेटो—आर्य, जहाँ चाखदत्त है

बसन्तसेना—(चेटी का आलिङ्गन करके) चेटो, रात्रि में (आर्य चाखदत्त) अनौचित्यप्रकार नहीं देखे थे । हमलिये मान प्रत्यक्ष देखूँगी । चेटो, क्या मैं यहाँ भीतर चतुःशाता मे प्रविष्ट हो गई हूँ ?

चेटो—केवल भीतरी चतुःशाता मे ही नहीं । सब जनों के हृदय मे भी प्रविष्ट हो गई हूँ ।

चेटो चाखदत्तस्य सेविका । पुष्पाणां कारणकं पात्रविद्येयः पुष्पकरपट्टकम्, उदानस्य नाम ।

निष्पत्तिः दृष्टः । परिचयः अनुपायिवर्गः, सेविकायतो वा अथ तु 'दली' ।  
हृदयः सम्यक् प्रतिभाति । सन्त्यजे ममात्रागमनात् संतापं प्राप्स्यति ।



वसन्तसेना—अथ संतप्सवि चास्वप्सस परिभणो । [अपि सन्ताप्यते चार-  
दत्तस्य परिजन ।]

घेटी—सतप्ससदि । 'सतप्स्यति ।]

वसन्तसेना—कदा । [कदा ।]

घेटी—जबो अज्जया गमिस्सवि । [यदार्या गमिष्यति ।]

वसन्तसेना—तवो मए पढम सतप्सिष्वम् । (सानुनयम्) हञ्जे, गेह् एदं  
रमणावत्तिम् । मम अहिणोभाए अज्जापूदाए गदुअ समप्पेहि । भणिदम्भ च—'अहं  
सिरिष्ठावदत्तस्य मुष्णिज्जिवा दासी, तदा मुम्हाण पि । ता एसा तुह ज्जेव कण्ठाहरण  
होतु रमणावत्तो । [तदा मया प्रथमं सन्तप्ताव्यम् । घेटी, गृहाणमां रत्नावलीम् ।  
मम भगित्या आर्यापूतार्यं गत्वा समर्पय । वपत्तव्य च—'अहं श्रीचारदत्तस्य  
गुणनिजिता दासी, तदा मुष्पाकमपि । तदेवा तवैव कण्ठाभरणं भवतु  
रत्नावली' ।]

घेटी—अज्जए, कुपिस्सदि चारवत्तो अज्जए वाव । [आर्ये, कुपिष्यति  
चारदत्त आर्यायै तानत् ।]

वसन्तसेना—अच्छ थ कुपिस्सेदि । [गच्छ । न कुपिष्यति ।]

घेटी—(गृहीत्वा) न आणवेवि । (इति मिच्छम्य पुनः प्रविशति) अज्जए,  
अणादि अज्जा पूवा 'अज्जउत्तेण मुम्हाण पत्तावी किरा । न युत्तं मम एव गेण्हित्तुम् ।  
अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणवित्तेतो ति जानातु घोवी' । [यदाज्ञापयति । आर्ये,  
भणार्यार्या सूता—'आर्यपुत्रेण युष्पाकं प्रसादीकृता । न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम् ।  
आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती ।] .

(ततः प्रविशति चारकं गृहीत्वा रदनिका)

रदनिका—एहि वच्छ, सज्जिभाए कोत्तम्ह । [एहि वत्स, शकटिकया  
क्रीडावः ।]

चारकः—(सकन्दनम्) रदणिए किं मम एवम्प सट्टिआसअडिआए । त ज्जेव  
सोवण्णसअडिअ वेहि । [रदनिके किं भगवतया मृत्तिवगशकटिकया । तामेव  
सौवर्णशकटिकया देहि ।]

रदनिका—(सनिर्वेद मिश्रवरय) वाव, कुबो अज्जहामं सुवण्णवचहारो ? तवत्त  
पुणोवि रिट्ठीए सुवण्णसअडिआए कोसिस्ससि । ता आव विणोदेवि जम् । अज्जभाए  
वसन्तसेनाए समीष उप्पसिप्पसम् । (उपसृत्व) अज्जए, पण्णामि । [जात, कुतो-  
अम्माक सुवर्णव्यवहारः । तातस्य पुनरपि शकटिका सुवर्णशकटिकया क्रीडि-  
ष्यति । तद्यावद्विनादयाम्येनम् । आर्याया वसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि ।  
आर्ये, प्रणमामि ।]

वसन्तसेना—क्या चाखदत्त का परिवार (हमारे जाने से) दुःखी है ?

चेटी—दुःखी होगा ।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आर्या चली जायेंगी ।

वसन्तसेना—तब (चाखदत्त के परिवार से पृथक् होने पर) पहले मुझे सन्ताप करना होगा । (अनुनय सहित) चेटी, इस रत्नावती को ले लो, जाकर मेरी बहिन आर्या घूना को समर्पित कर दो और कह देना—'मैं थी चाखदत्त के गुणों से बगीरूत दामो है, तब आपकी भी (दामो हूँ) । तो यह रत्नावती आपके ही कण्ठ का आमषण भेदे ।

चेटी—आर्य, तब चाखदत्त आर्या पर क्रुद्ध होंगे ।

वसन्तसेना—जा । क्रुद्ध नहीं होंगे ।

चेटी—(लेकर) जो आज्ञा करती हूँ । (बाहर निकल कर पुनः प्रवेश करती) आर्य, आर्या घूना कहती हूँ—आर्यपुत्र ने आपको (यह रत्नावती) प्रसन्न होकर शान की है । मेरा इसको लेना उचित नहीं है । आप यह समझ लें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं ।

(तत्पश्चात् बच्चे को लेकर रदनिका प्रवेश करती है)

रदनिका—बेटे, आजो (हम दोनों) गाड़ी से चेतते हैं ।

बच्चा—(करणा सङ्घित) रदनिके, हम बिट्टी की पाड़ों से मुझे क्या ? उस स्वर्ण की गाड़ी लो दो ।

रदनिका—(दृ.सपूर्वक सखी स.म लेकर) बेटे, उपागे यहाँ सोने का भ्रवहार कहाँ ? (अरने) पिताजी की पुनः ममृष्टि से फिर सोने की पाड़ी से भवनना । तो जब तक हमको बहनाती हूँ । आर्या वसन्तसेना के पाम बचूँ (समीप जाकर) आर्य प्रणाम करती हूँ ।

मुग्धं दाशिन्यादिभिः निजिता बघीकृता । आर्यपुत्रः एव मम पतिः एव मम पुत्रायाः आभरन्विक्रमः विजिष्टम् आभूयन्म् । अत्र हि भारतीयनार्याः आर्यार्ग-  
रिभ्यश्चने, उक्तं हि—'भर्ता हि परम नार्या भूपतं भूवनेविना ।'

अन्वपुत्रः अन्व इव मुग्धं यस्य सः ।

यसन्तसेना—रवणि ए साअव वे । कस्स उण दारओ ? अणत्तकिदसरोते वि चण्डमुहो आणन्देदि मम हिअभम् । [रदनिके स्वागत ते । कस्स पुनरय दारकः ? अनलङ्कृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम् ।]

रवणिका—एसो ऋणु अज्जघाएदत्तरस पुत्तो रोहसेणो णाम । [एय सत्वार्य-घाएदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम ।]

यसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्रअ, भासिङ्ग । (इत्यङ्ग उपवेश्य) अनुक्तिद अणेण पिदुणो व्वम् । [एहि मे पुत्रक, आसिङ्ग । अनुकृतमनेन पितृ रूपम् ।]

रदनिका—न वेवल व्वम् सील वि सब्बेदि । एदिणा अज्जघाएदत्तो मत्ताणअ पिणोदेदि । [न वेवल रूप, शीलमपि तर्कयामि । एतेनार्यघाएदत्तं आत्मानं विनोदयति ।]

यसन्तसेना—अथ विणिमित्त एसो रोअदि ? [अथ किनिमित्तमेव रोषति ?]

रदनिका—एदिणा पडियेत्तिअणहवइदारअकेरिआए सुवण्णसअडिआए कीत्ति-व्वम् । तेण अ सा भोदा । तदो उण त मग्गन्तरस मए इअ मट्टिअसअडिआ ऋणुअ विण्णा । ततो भणदि—'रवणि ए कि मम एवाए मट्टिआसअडिआए । त उजेव सोक्-कणत्तअडिअ वेहि' ति । [एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया श्लीडितम् । तेन च सा नीता । ततः पूनस्ता याचतो मयेय मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता । ततो भणति—'रदनिके, किं ममेतया मृत्तिकाशकटिकया । तामेव सौवर्णशकटिका देहि' इति ।]

यसन्तसेना—ह्णो ह्णो । अअ वि णाम वरसवतोए सत्त्पडि । अअव वअन्त, पोएणरयत्तपडिइत्तकिन्दुत्तरितेहि कीत्तसि तुम पुत्तिसभाअरेएत् । (रति सारा) आ मा रोड । सुवण्णसअडिआए कीत्तिसुत्तिसि । [हा धिक् हा धिक् । अयमपि नाम परसंपत्त्या संतप्यते । भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजलविन्दुसदृशं क्रोडसि त्वं पुरुषभागधेयैः । जात मा रुदिहि । सौवर्णशकटिकया श्लीडिप्यसि ।]

दारक —रवणि ए, वा एसा [रदनिके, वैया ।]

यसन्तसेना—पिदुणो वे गुणणिज्जरा दासी । [पितुस्ते गुणनिजिता दासी ।]

रदनिका—आव अज्जआ वे जणणो भोदि । [जात, आर्या ते जननी भवति ।]

दारक —रवणि ए, असिअ तुम भणासि । अग्हाण अज्जआ जणणो ता कीत्त अत्तरिहा ? [रदनिके, अतीर्कं त्वं भणसि । यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलङ्कृता ?]

वसन्तसेना—रदनिके, तुम्हारा स्वागत है। यह बच्चा किसका है? आभूषणहीन शरीर वाला भी चन्द्रमा जैसे मुख वाला यह मेरे हृदय को आतन्द्रित कर रहा है।

रदनिका—यह रोहसेन नाम का आर्य चारदत्त का पुत्र है।

वसन्तसेना—(दोनों भुजायें फैलाकर) आओ मेरे बेटे, गले लगो।

(गोदी में बैठकर) इतने पिता के ही रूप का अनुकरण किया है।

रदनिका—केवल रूप ही नहीं, अनुमान करती हूँ स्वभाव भी (अपने पिता के ही अनुकूल पाया है), इसमें आर्य चारदत्त अपने को बहनाते हैं।

वसन्तसेना—फिर यह किस लिये रो रहा है ?

रदनिका—यह पड़ोसी गृहस्वामी के बच्चे की सोने की गाड़ी से लत रहा था और वह उसने ले ली। तब फिर उस (सोने की गाड़ी) को माँगने पर मैंने यह मिट्टी की गाड़ी बनाकर दे दी। तभी से यह कह रहा है—‘रदनिके, मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या ? उसी सोने की गाड़ी को दो।’

वसन्तसेना—हाय ! हाय ! यह भी पराई सम्पत्ति में दुःखी होता है। भगवान् ईश्वर, कमल के पत्र पर निरे हूये पानी की बून्दों जैसे मनुष्यों के भाग्यों से तुम यिनबाढ़ कर रहे हो ! (अधु सहित) बेटे, मत रो। सोने की गाड़ी से खेलना।

बच्चा—रदनिक, यह क्यों है ?

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गुरों में यशोभूत दार्मी।

रदनिका—बेटे, आर्या तुम्हारी माता होने हैं।

बच्चा—रदनिके, तुम झूठ बोलती हो। यदि आर्या हमारी माता हैं तो आभूषणयुक्त क्यों हैं ?

प्रतिवेनिकरुधातो गृह्णतिः गृह्णन्वागो तस्य चारदत्तस्य वानरदत्तस्य पुत्रस्य वा।

श्रुतान्तः विधिः तत्सम्बुद्धौ। पुररूपत्रे वसन्तपत्रे वनिताः ये जडविन्दकः  
ःःःः। वपत्तः इति भावः। अगत हे वत्त। अतोरुधु अवत्तम्। मुष्येन मनोदरेण

वसन्तसेना—जाद, मुद्देण मुहेण अदिकरुण मन्तेसि । (नाटभेनाभरणान्य-  
यतायं रुवति) एसा हाणि दे जणणी सबुता । ता गेण्ह एर असञ्चारअम् । सोवण्ण-  
समइअ घडावेहि । [जात, मुग्धेन मुसेनातिकरुण मन्त्रयसि । एपेदानी ते  
जननी सवृत्ता । तद्गृहाणैनमलङ्कारम् सीवर्णशकटिका घटय ।]

हारक—अवेहि । ण गेण्हिस्सम् । रोदसि तुमम् । [अपेहि । न प्रहीप्यामि ।  
रोदियि त्वम् ।]

वसन्तसेना—(अयूणि प्रमृज्य) जाद, ण रोदिससम् । गच्छ । कील । (मल-  
ङ्कारं मृच्छकटिकं पूरयित्वा) जाद कारेहि सोवण्णसमइअम् । [जात, न रोदि-  
प्यामि । गच्छ । क्रीड । जात, कारय सीवर्णशकटिकाम् ।]

(इति हारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(प्रविश्य प्रवहणाधिकृष्ट)

चेट—सइणिए सइणिए, निवेदेहि अज्जआए वसन्तसेनाए—'ओहासिअ  
परत्तदुआलए सज्ज पवहण चिट्ठदि' । [रदनिके रदनिके, निवेदयायायि वसन्त-  
सेनायि—'अपवारितं पक्षद्वारे सज्ज प्रवहणं तिष्ठति' ।]

(प्रविश्य)

रदनिका—अज्जए, एसो बइडमाणओ विण्णवेदि वरत्तदुआरए सज्ज पवहण  
सि । [आर्ये एव वर्धमानको विज्ञापयति—'पक्षद्वारे सज्ज प्रवहण इति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, चिट्ठु मुहुत्ताअम् । जाव भह अत्ताणअ पसाधेमि । [चेटि,  
तिष्ठतु मूहर्तकम् । यावदहमात्मानं प्रसाधयामि ।]

रदनिका—बइडमाणअ, चिट्ठु मुहुत्ताअम् । जाव भज्जमा मत्ताणअ पसाधेदि ।  
[वर्धमानक, तिष्ठतु मूहर्तकम् । यावदायात्मानं प्रसाधयति ।]

चेट—ही ही भो, मए वि जाणत्वके विगुत्तिदे । ता जाव गेण्हम  
आअच्छामि । एवे णत्तासज्जुकुआ बइस्सा । भोदु । पवहणेण अजेव गहाणरि  
कलिरसाम् । [ही ही भो, मयापि यानाम्तरण विस्मृत । तद् यावद् पृहीत्वाअ-  
गच्छामि । एते नासिकारज्जुकटुका बलीवर्दाः । भवतु । प्रवहणेनैव गतागति  
करिष्यामि । (इति निष्क्रान्ताचेट)

वसन्तसेना—हञ्जे, उवणेहि वे पसाहणम । अत्ताणअ पसाधइस्सम् । [चेटि  
उपनय मे प्रसाधयन् । आत्मानं प्रसाधयिष्यामि ।] (इति प्रसाधयन्ती स्थिता)

(प्रविश्य प्रवहणाधिकृष्ट)

रपावरकरचेटः—आण्णसोग्हि सअत्तासज्जकणेण—'धावलअ, पवहण  
गेण्हम पुष्ककलअइअ त्रिण्णुअण तुसिअ आअच्छेहि' ति । भोदु । तहि अजेव गच्छामि ।  
बइह्य बह्य बइस्सा, बह्य । (परिजम्भावतोषय च) बय तामराअवेहि सुटे मग्गे । कि  
हाणि एरप वसइरसाम् । (साटोपम्) असे से, ओसत्तय ओसत्तय । (माकर्ष्य) कि

वसन्तसेना—बेटे, भोले मुँह से अत्यन्त कल्पापुत्रक बोल रहे हो । (अभिनय में आभूषणों को उतार कर रोनी हुई) यह अब (मैं) तुम्हारी माता हो गई हूँ । तो इस आभूषण को लो । सोने की गाड़ी बनवा लेना ।

बच्चा—जाओ । नहीं लूँगा । तुम रो रही हो ।

वसन्तसेना—(आभूषणों को पोंछकर) बेटे नहीं रोऊँगी । जाओ । खेती । (आभूषणों में मिट्टी की गाड़ी को भरकर) बेटे, भोले की गाड़ी बनवा लो ।

(बच्चे को लेकर रदनिका निकल जाती है)

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

बेट—रदनिके, रदनिके, भायाँ वसन्तसेना से निवेदन करो—'बगल के द्वार पर बन्द (इकी हुई) सुमग्जित गाड़ी खड़ी है ।

(प्रवेश करके)

रदनिका—आप, यह बर्धमानक कहते हैं—'बगल के द्वार पर गाड़ी तैयार है ।

वसन्तसेना—बेटि, सज भर ठहरो । जब तक मैं अपने को सज्जित कर लूँ ।

रदनिका—(बाहर निकलकर) बर्धमानक, सज-मर ठहरो । जब तक भायाँ बनने की सुमग्जित करती है ।

बेट—अरे, भायचर्म ! मैं गाड़ी का बिछावन (गद्दी) भूल आया । तो जब तक लेकर आऊ हूँ । ये बेल नाद (= नासिकारज्जु) के बडबडे (नाक की रस्मी को न सहन करने वाले, तेज) हैं । अच्छा, रथ से ही नौट-फेर करूँगा । (बेट बाहर निकल जाता है) ।

वसन्तसेना—बेटो, मेरी प्रमाधन-सामग्री लाओ । अपने को सुमग्जित कर लूँ ।

(गुद्गार करती है)

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ प्रवेश करके)

स्वाशरक बेट—राजा के माने संस्थानक के द्वारा—मुझे यह आज्ञा दी गई है—'स्वाशरक, गाड़ी लेकर पुन्धररथक (नामक) जीर्णोद्योग में शीघ्र आओ । अच्छा नहीं जाता है । खनी ! बतों खनी ! (पूछकर और देखकर) क्या रात की गाड़ियों से रास्ता रक्त गया ? अब यहाँ क्या करूँ ? (पर्वपुत्र) अरे, हरो ! हरो ! (मुनकर) क्या यह कहते हो कि—'यह किमकी दातो है ?' यह राजा के माने संस्थानक की

सत्वेन वा । अनिकरन्तम् अत्यन्तं कल्पानुवक्तम् । अन्वयानि वदन्ति ।

अनवारितम् आह्वनम् । प्रबहदम् आरुहः बेटः । ही ही इति प्रकम्पान्तरण-  
अत्यन्तम् । मानस्य आन्तरणं कल्पविशेषः ददास्तीये जनाः पानम् उपविशन्ति । नामिका-  
रन्वा कटुवाः दुःमदाः अतिचरताः इत्यर्थः । यतागति कल्पानुवक्तम् ।

प्रमाधनम् अतद्गारः, प्रमाधनसेनेति, प्रमाधनसामग्री इत्यर्थः । स्वाशरकः

मगाद्य—'एषो कश्शकेसके पवहणे' ति । एषो साभशातभगठाणकेतके पवहणे ति । ता शिग्य भोगसद्य । (अवलोक्य) कथम्, एषो अवले शहिअ विअ भ येविसअ शहस अजेव जूहपसाइदे विअ जुदिअले ओहसिअ अत्ताणअ अण्णदो अवकन्ते । ता को उण एषो । अपया कि मय एदिणा । तुसिद पमिरसम् । अले ले गामतुआ, भोगसद्य । कि मगाद्य—'मुहत्तअ चिट्ट । चक्रपविर्वट्टि देहि' ति । अले ले, साभशातभगठाणकेसके हणे गूले चक्रपविवट्टि दइइयम् । अथवा एषो एआई तवशशी । ता एअव कलेमि । एअ पवहण अज्जजापुदतरस चक्रवाटिआए पक्सदुआलए धावेमि (इति प्रवहण सस्याप्य) एषो ह्य आअदे । [आज्जप्तोअस्मि राजशयालकसस्थानेन—'स्थावरक, प्रवहण गृहीत्वा पुष्पकरण्डके जीर्णोद्यान स्वरितमागच्छ' इति । भवतु । तत्रैव गच्छामि । बहत बलौवदो बहसम् । कथं ग्रामशकटै रुटो मार्गः । किमिदानीमप करिष्यामि । अरे रे, अपसरत अपसरत । कि भणय 'एतत्कस्य प्रवहणम्' इति । एतद्राजशयालकसस्थानस्य प्रवहणमिति । तच्छोघ्रमपसरत । कथम्, एषोअर सभिकगिव मा प्रेदय सहसैव दूतपलायित इव दूतकरोअपवायोरिमानमन्यतोअक्रान्त । तत्क पुनरेव । अथवा कि मभंतेन स्वरितं गमिष्यामि । अरे रे ग्राम्या, अपसरत अपसरत । कि भणय—'मुहत्तं तिष्ठ । चक्रपरिवृत्तिं देहि इति । अरे रे राजशयालकसस्थानस्याह शूरश्चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि । अथवा एष एकावी तपस्वी । तदेव करोमि । एतत्प्रवहणमार्गं चारुदत्तस्य वृशवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि । एषोअस्यागत ।] (इति निष्क्रान्त )

घंटी—अज्जए, जेमिसदो विअ सुणोअदि । ता आअवो पवहणो । [आय, नेमिशब्द इय श्रूयते । तदागतं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हज्जे गच्छ । तुवरदि मे हिअअम् । ता आदेसेहि चरतदुआलअम् । [चेटि, गच्छ । स्वरयति मे हृदयम् तदादिश पक्षद्वारम् ।]

घंटी—एहु एहु अज्जआ । [एत्वेत्वार्या ।]

वसन्तसेना—(परिब्रम्य) हज्जे, बीसम् तुमम् । [चेटि, विश्राम्य त्वम् ।]

घंटी—अ अज्जआ आणवेदि । [यदायाज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्त)

वसन्तसेना—(दक्षिणादिशपन्द पूचयित्वा प्रवहणमधिरह्य च) कि अदे कुरिअ वाहिणं सोअणम् । अथवा चादरसरस अजेव दत्तण अणिमित्तं मयअहरसदि । [कि न्विद स्फुरति दक्षिणं लोचनम् । अथवा चारदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमाजं-पिप्यति ।]

माझी हे । इसलिए शीघ्र हटो । (दिवकर) जुए से भागे जुआरी के जंसा यह कोई (बनर) दूताध्यस (मन्त्रिक) के समान मुझे देखकर, अपने को दिखाकर—यहस्वात् दूतरो धोर भाग गया है ? तो फिर यह है कौन ? अथवा मुझे इनमें क्या ? तुल्य बर्ष । अरे प्रामोनी, हटो ! हटो ! क्या यह कहते हो—सम-भर टहरो । पहिये को फेर दो । अरे, राजा के सारे सत्त्वानक का शूर (सिवरु) मैं पहिया फेरूँगा ? अथवा यह बेचाप अकेला है । तो ऐसा करता हूँ । इस (अपनी) नाड़ी को आभं चाहदत की हृत्तवाटिका के पञ्जदार पर लड़ा किये देता हूँ । (रथ को लड़ा करके) मैं यह आया । (निरुक्त जाता है)

बेटो—आये। चक्रपरिधि का शब्द-या सुनाई दे रहा है, इसलिए (प्रतीत होता है कि) माड़ी आ गई है ।

बसन्तसेना—बेटो, यशो । मेरा हृदय बनापना हो रहा है । इसलिए पञ्ज-दार (का मार्ग) बनाओ ।

बेटो—आये, (इष्टर ने) आदये, आदये ।

बसन्तसेना—(पूजकर) बेटो, तुम विधाम करो ।

बेटो—जो आया आजा करनी है । (निरुक्त जाती है)

बसन्तसेना—(दाहिनी जंघा पर फटकना सूचिन करके और रथ पर चढ़कर) यह क्या ? यह दाहिनी जंघा फटक गयी है अथवा चक्ररत्न का दर्शन श्री अग्निष्ट को दूर कर देना ।

शक्ररत्नं मानवदृकः । अथवाचं आच्छाद्य । अथवाचः पतायितः । एतेन अत्यंघ्न्य पतायनम् उच्यते । (पूर्वो०) । चक्रस्य मानवदृकस्य परिवर्तितं परिवर्तनम् ।

चक्रपरिधित्वात्पामि—इत्यत्र वाचुः न दाह्योन्मोच्यते । त्रैभिः प्रपिः । पञ्चान्वयात् । इतिमं सोचनं स्त्रीणां दक्षिणाङ्गुल्यन्वु अगुल्यन्वुं कल्पते । अनिमित्तम् अनिमित्तम् ।



स्यावरकरवट—ओशातिदा मए रामदा । ता जाव गच्छामि । (इति नाट्ये-  
नामिहस्य चालयित्वा) । (स्वगतम्) भान्तिके पबहणे । अथवा धरुचरतिवट्टिआए पति-  
शान्तरा भान्तिके पबहणे परिभासोदि । भोदु । गमिऽशाम् । जाघ गोणा, जाघ ।  
[अपसारिता मया शकटाः । तद्योवद्गच्छामि । भारवत्प्रवहणम् । अथवा चङ्ग-  
परिवर्तनेन परिश्रान्तस्य भारवत्प्रवहण प्रतिभासते । अवतु । गमिष्यामि यात  
गावो, यातम् ।]

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिका, अप्रमत्ता सएतु सएतु गुल्मट्ठानेषु होध । एतो अग्ग  
गोपालदारओ गुप्तिअ भञ्जिअ गुत्तिबालअ वावादिअ बन्धण मेदिअ परिअमट्टो अवह-  
भरि । ता वेण्हय वेण्हय । [अरे रे दोवारिका, अप्रमत्ता स्वेषु स्वेषु गुल्मस्थानेषु  
भवत । एपोऽथ गोपालदारको गुप्ति भङ्गत्वा गुप्तिपालक व्यापाद्य बन्धन  
भित्वा परिअपट्टोऽपक्रामति । तद्गृह्णीत गृह्णीत ।]

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सप्रान्त एकचरणसम्पन्ननिगदोऽवगृष्टेन  
आयंकं परिश्रामति)

घट—(स्वगतम्) महन्ते अमस्तोए राममे उप्पण्ये । ता तुत्तिइ तुत्तिइ गमि  
णाम् । [महान्तगया संप्रम उत्पन्न । तत्त्वरित स्वरित गमिष्यामि ।]  
(इति निष्क्रान्त )

आयंक —

हित्वाह नरपतिबन्धनापदेश-  
व्यापत्तिव्यसनमहाणव महान्तम् ।  
पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षा-  
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि ॥१॥

भो, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरिधासेन राज्ञा पातनेन घोषादानीय  
विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्ध । तस्माच्च प्रियसुहृच्छविलम्बप्रसादेन बन्ध-  
नात्परिभ्रष्टोऽस्मि । (अधुनि विसृज्य)

भारवत् भारयुक्तम् । दोवारिका दारपाता, द्वारे नियुक्ता इत्यर्थे 'तत्र नियुक्ता'  
पा० ४ ४ ६६' इति ठङ् । अप्रमत्ता सावधाना । गुल्मस्थानेषु रक्षणप्रदेशेषु । गोपा-  
लस्य द्वारक पुत्र । गुप्ति वाराहहम् । व्यापाद्य हत्वा । भित्त्वा तोडयित्वा । परिअपट्ट-  
मुक्त, निर्गत । अप्रमत्तामति अपसरति । सप्रान्त परिवृत् । एकचरणे सम्पन्न निगदो  
गम्य तयामुत् । सम्पन्न सक्षेप भयादिना स्वरणमिति यावत् ।

(प्रवेश करने)

स्वावरक घेठ—मैंने बाड़ी हटा दी । इसलिये अब जाता हूँ (अभिनय से चड कर, चलाकर) मन्दी बोजिल (प्रतीत होती) है । अथवा पहिया 'धुमाने से बके हुए (मुँह) को रख बोजिल प्रतीत हो रहा है । अच्छा । चलूँ । चलो बँतो, चलो ।

(निपट्य मे)

अरे द्वारपालो, अपने रूपने रक्षण-स्थानों (धीकियो) पर सावधान हो जाओ । यह गोपान-पुत्र आज कारागार को छोडकर कारागार के रक्षक (जितर) को मारकर बगन काटकर छूटा हुआ भागा जा रहा है । अतः पकड़ो ! पकड़ो ! (बिता पर्दा गिरे पवड़ाया हुआ, एक पैर में पडी हुई बेड़ी वाला मुँह छिपाने हुए आपंक धूमठा है)

घेठ—(अपने आप) मगरो मे बड़ी पबराहट उत्पन्न हो गई है । इसलिये गुप्त चरू । (निकल जाता है)

'राजा की मँद' के ब्याज (अपदेश) से होने वाले मरणरूप संकट (धमन) के बिनाल महासागर को छोडकर (पार करके) पैर के अग्रभाग में स्थित एक शूद्रता-पाग को लीचने वाला मैं बगन से मुक्त हाथी के समान भूम रहा हूँ ॥१॥

अरे, सिद्धदेश अन्य भय के कारण राजा बालक के द्वारा मुझे बहीरों की बस्ती से मंगारुत गुप्त-बध्नस्थान (विगमन) में शूद्रताओं में जकड़ दिया गया था । त्रिपमित शक्तिरु की कृपा से उस बगन से मुक्त हो गया हूँ । (आँसू बहाकर)

बगनान् परिभ्रष्टः अयंनः क्वयति-हित्वेति । महान्तं नरपतेः राजा पानरस्य बगनं वन्दीकरणम् अपदेशः ब्याजः मस्याः सा वा व्यापत्तिः मृत्युः समभङ्गी व्यसनम् आगतिः संकटं वा तदेव महान्तः महासागरः सं हित्वा मुक्त्वा पारागे रिपन् निपटस्य शूद्रतानाः 'एकपाशं एवबगनं कर्पति इति सः बहस्य आपंकः बगनान् प्रभ्रष्टः मुक्तः यत्र इव अभाभि । पूराजिं अपद्भूतिः, उत्तरार्धे बोपना । प्रर्पिनी वृत्तम् ॥१॥

सिद्धदेशेन त्रिपिनः उत्पन्नः सः परिजामः तेन । बिगमने बध्नस्थाने बध्ननिमित्तं वा 'निमित्तान् कर्मयोगे' इति सप्तमी । गुप्तगारे गुप्तस्थाने ।

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोष्पराधो  
 गहन्यनाग इव सममितोऽस्मि तेन ।  
 देवो न सिद्धिरपि लक्ष्म्यितु न शन्या  
 गम्यो नृपो पलवता सह का विरोधः ॥१॥

तन्कुञ्ज गच्छामि मन्दभाग्य । (विशोकः) इदं कस्यापि साधोर्जावृत  
 पक्षद्वार गेहम् ।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।  
 ध्रुव वृद्धुम्बी व्यसनाभिभूता दशा प्रपन्नो मम तुल्यभाग्य ॥३॥

तदसौ तावत्प्रविश्य तिष्ठामि ।

(निपथ्ये)

जाघ गोमा, जाघ । [यात्त गावौ, यातम् १]  
 भायंङ्—(प्राकृत्य) जये प्रवहर्णमित्त एवाभिवतते ।  
 भवेद् गोष्ठीयान न च विपगशीलैरधिगतं  
 वधूसयान वा तदभिगमनोपस्थितमितम् ।  
 धहिर्नेतय्य वा प्रवरजनयोग्य विधिवशा-  
 द्विवित्तत्वाञ्छून्य मम खनु भवेद्देवविहितम् ॥५॥

भाग्यनीति । यदि मे भायंङ्कस्य भाग्यानि राज्यप्राप्ति मम भाग्ये निश्चिता  
 तदा मम च अपराध दोष न कोष्पीत्यर्थः । यत् यस्माद् तेन पालकेन गहन्यनागः  
 वनगज इव सममितः बद्धः अस्मि । शंभो सिद्धिः भाग्यात्प्राप्ता सिद्धिः अपि च  
 लक्ष्म्यितु निवारयितु न शक्या नावश्यभाविनापर्यानां प्रतिवारः शक्यः कर्तुमिति  
 भावः । तस्यापि नाहं पालकस्य राज्ञः विरोधः करोमि यतो हि नृपः गम्यः सर्वेषां सेव्यो  
 हि राजा । पलवता सह च मादत्तस्य निर्बलस्य कः विरोधः ? उपमा अर्थात्तरयासम्ब ।  
 यस्तन्वतिलका वृत्तम् ॥२॥

मनावृतं पक्षद्वार यस्य तद् गेहम् ।

इयमिति । इदं गृहं भिन्नसंश्रयघनानां क्षिणितत्वाद् अर्जितम् । अत्र च  
 महाकपाटः अदत्तदण्डः न दत्तः दण्डः अगंता यस्य ताटनः, विशीर्णसन्धिः च

यदि मेरे (अच्छे) भाग्य ही हैं तब मेरा क्या अपराध है, जिससे उस (राजा पालक) ने मुझे-जबली हाथों के समान बन्धन में डाल दिया था ? विधि की शक्ति का उल्लंघन नह किया जा सकता, (फिर भी) राजा (सब का) सेव्य है, (शुद्ध) मनशास्त्री के साथ क्या विरोध ?

तो मैं अमाया कहाँ जाऊँ ? (देखकर) यह किसी सत्पुरुष का खुले हुए पक्षदार वाला घर है—

यह घर फूटा हुआ है; इसके बड़े किवाड़ में अंगना नहीं लगी है तथा (जीर्ण होने के कारण) जोड़ (सन्धि) टूटे (विशीर्ण) हैं । अवश्य ही (यह) मेरे जैसे (मन्द) भाग्य-वाला कुटुम्बी सज्जुदाक्रान्त दशा को प्राप्त हो गया है ॥३॥

इसलिये यहाँ पुस कर-बैठता हूँ ।

(नेपथ्य में)

(बलो बंनो बसो)

आयंक—(सुनकर) अरे, गाढ़ा इधर हो आ रही है ।

क्या यह किसी गोष्ठी (सामाजिक समारोह) में जाने वाली सवारी है जो कुटिलाचरण करने वालों से अर्पिष्ठन नहीं है अथवा यह बधू की सवारी है जो उसे न जाने के निवे उगमिथत हुई है । या सत्पुरुष (प्रवर) के शोष्य (यह गाड़ी) भाग्यवशात् बाहर से जाई जा रही है, ? निर्वन (परिचारक आदि से रहित) होने के कारण खानी (प्रतीत होती हुई) यह गाड़ी क्या मेरे भाग्य द्वारा उपस्थित हुई है ॥४॥

विशीर्णं, भग्नः सन्निः फलकानां संयोजनं परस्य तादृशस्य । प्रुचं निश्चितनेतद् म् अस्म्य कुटुम्बी गृह्णवामी ध्यसनेव विपदा अविपुताम् आक्रान्ता दशां प्रपन्नः प्राप्तः कश्चिद् मम आयंकस्य तुल्यभाग्यः तुल्यं भाग्यं यस्य तथाभूतः नमानभाषणेषु, एवास्ति । उपेद्रवजा वृत्तम् ॥३॥

वर्षमानकस्य प्रवहणस्य ध्वनियार्णव्यं आयंकः टर्कयति-अवेदिति । इदं प्रवहणं विपयशीलं विमहमचरितं न च अदिगनम् अनर्पिष्ठित शोष्ठीयानं समारस्य यानं भवेत् अथवा इदं तदविगमनोपरिषत् तस्याः अविगमनाय उपस्थितं प्रस्तुतम् इदं अपुसंयानं भवेत् । वा अथवा प्रवरजनयोर्म्यं श्रेष्ठप्रनामाम् अधिरोहणयोग्यम् इदं यानं विधिबशात् देवपशात् कर्मवशात् वा शक्तिः नेतृम्यं नेतुं योग्यं भवेत् । विविक्तत्वान् निर्वनत्वाद् परिचरकान्दरहितत्वाद् इति यावत् शुन्यं रिक्तं प्रतीयमानं इदं यानं लभु मम आवेकस्य देवविहितं देवपशितं भवेत् । सन्देहानन्दारः । शिवारिणो पुनम् ॥४॥

{तत प्रवहणेन सह प्रविश्य}

वर्धमानकवनेट—ह्रींसाणहे । झाणीवे मए जाणत्पत्तके । सइणिए, निवेदेहि  
अज्जआए वसन्तरोणाए—'अवत्थिदे राज्जे पवहणे अहितुहिअ पुप्फकलभंभं अिण्णु-  
ज्जाण गच्छुअ अण्णआ ।' [आश्वयम् । आनीत मया यानास्तरणम् । रदनिके,  
निवेदयाम्यां वसन्तसेदार्या—'अवस्थित सज्ज प्रवहणमधिहृत्वा गुणकरण्डकं  
जीर्णोद्यान गच्छत्वाम्यां ।]

आर्यक.—(आश्वय) गणिकाप्रवहणमिदम् । वहियानि च । भवतु ।  
अधिरोहामि । (इति रश्मिगुप्तकति)

श्लोक—(श्रुत्वा) कथं वेजसाहे । सा आअदा षणु अज्जा । अज्जा, इमे  
अज्जाकटुआ वइस्सा । ता विट्ठवो एजेव आसुहुअ अण्णआ । [कथं सुपुराणम् ।  
तदागता एत्वाम्यां । आये, इमो नासिकारज्जुवट्टको बलीवदो । तत्पृच्छं  
एवारोहत्वाम्यां ।]

(आर्यकरतया करोति)

श्लोक—शशुष्कालघातिबाधं वेजसाण वीशान्तो इदो । एतवचन्ते म पवहणे ।  
तथा तवनेमि शपथ अज्जआए आमूवाए होइअम् । ताणव्यामि । जाथ गोणा, जाथ ।  
[पादोरफालघातितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः । आराकान्त ए प्रवहणम्  
तथा तर्कमामि स्यात्तमार्याण्युद्धया भवितव्यम् । तद्गच्छामि । यात माथो  
यातम् ।]

(प्रविश्य)

वीरव—अरे रे, अरे जय-जयमाण-चन्देणअ-मञ्जुल फुत्तमइप्पमुहा,  
कि अल्लभ वीसइआ जो सो गोवालदारओ बडो ।  
भट्ठण सम दच्चइ णरवइहिअअ अ वन्धण अ ॥५॥

अते पुरस्मिणे शरीरमनुवाणे चिट्ट तुमम् । तुम ॥ शिञ्जये, सुमं वि इत्थिणे,  
तुम पि उच्चरे । जो वि एतो पामारराओ, एद अहितुहिअ चन्देण सम अणुम  
भवसोएमि । एहि चन्धअ, एहि । इवो हाव । [अरे रे, अरे जय-जयमाण-चन्देणक-  
मन्त्रेण गुणभद्रप्रमरा ।]

(तदनन्तर गाड़ी सहित प्रवेश करके)

वर्धमानकचेद—आर्यवर्य ! मैं दाढ़ी की बिल्लवण (रही) से बाया हूँ । रदनिके, बायाँ वसन्तसेना में निवेदन करो—मुसन्जित सहो हुई गाड़ी पर चढ़कर बायाँ पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में जायें ।

आर्यक—यह बैस्या की गाड़ी है । और बाहर जाने वाली है । अर्घ्य । चढ़ता है । (घोरे में पास आ जाता है)

चेद—(मुनकर) क्या नूपुर का शब्द ? तो आर्या मा ही बई हैं । आर्यो ये धन नाय (—मासिकारज्जु—नाक में डालने की रस्मी) के कड़वे (झूठे) होकर झपटने वाले) हैं । इसलिये आर्या पीछे से ही चढ़ें ।

(आर्यक बैसा करता है)

चेद—पैरों के उठाने से हिलते हुए नूपुरों का शब्द शान्त ही गया है । और पाई पारयुक्त है । अतः अनुमान करता हूँ कि अब आर्या (रथ पर) आरुढ़ हो गई होंगी तो जाता हूँ । चलो ! चलो ! चलो ! (भूषण है)

(प्रवेश करके)

गौरक—अरे ! अरे ! जय, जयमान, चन्दनक, मङ्गल, पुष्पमद आदि (प्रमुख रसको),

विश्रान्त होकर (निश्चिन्त) क्यों (सड़े) हो ? जो गोपासपुत्र बन्दी किमा गया था वह राजा के हृदय एवं श्रद्धालु (दीनों) को एक साथ ही तोड़ कर भागा जा रहा है ॥३॥

अरे तुम पूर्ण दिशा में गत्ती के मुख पर सड़े हो जाओ, और तुम भी पश्चिम में, तुम दक्षिण में, तुम उत्तर में ! यह जो प्राचीर बन्द है इस पर चढ़ कर मैं चन्दनक के साथ जाकर (घारों और) बैसता हूँ । जाओ, चन्दनक जाओ । इधर तो जाओ ।

अहिर्बनिं गमनं बह्वेति जालिमहोदयः । सर्वैरं मन्दम् ।

पारयोः उदकालनेन उत्थापनेन चासिताभाय् ।

किमिति विद्ययाः विद्ययाः किं वचं स्य भवप तिष्ठत्य इत्यर्थः ? यः सः

गोपासपुत्रः आनंभः बह्वः रटः सः भरपनेः पानरस्य नूपस्य हृदयं चन्दनं च अपि त्वं नुपुण्द्र एव मित्वा विश्वं वदति पनापते । अतिगर्भोत्थिभूना सहोत्थिः अरुद्रात् ।

आनं भुनम् ॥३॥

किं स्य विथव्या. य स गोपालदारको बद्धः ।

भित्वा झमं व्रजति नरपतिहृदय च बन्धनं चापि ॥

अरे, पुरस्तात्प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वम्, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमप्यु-  
त्तरे । योऽप्येव प्राकारखण्ड, एनमधिह्य चन्दनेन समं गत्वावलोकयामि ।  
एहि चन्दनक, एहि । इतस्तावत् ॥

(प्रविश्य सध्रान्त.)

चन्दनक—अरे रे वीरअ-विसल्ल-भीमङ्गअ दण्डकालअ-दण्डसूरप्पमुहा,  
आअच्छघ वीसत्या तुरिअ जत्तेह लहु करेज्जाह ।  
सच्छी जेण ण रण्णोपहवइ गोत्तन्तरं गन्तुम् ॥६॥

अवि अ ।

उज्जाणेमु सहामु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।  
त त जोहह तुरिअ अङ्का वा जाअए जत्थ ॥७॥  
रे रे वीरअ किं किं दरिसेसि भणाहि दाव वीसदम् ।  
भेत्तूण अ बन्धणअ को सो गोवालदारअ हरइ ॥८॥  
कस्सट्टमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो ।  
छट्टो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पञ्चमो, कस्स ॥९॥  
भण कस्स जम्मछट्टो जीवो णवमो तहेअ सुरसुओ ।  
जीअन्ते चन्दणए को सो गोवालदारअ हरइ ॥१०॥

[अरे रे वीरक-विशल्य-भीमोङ्गद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः,  
आगच्छत विश्वस्तास्त्वरित यतध्व लघु कुस्त ।  
लक्ष्मोर्वेन न राज्ञ. प्रभवति गोत्रान्तर गन्तुम् ॥

अपि च ।

उज्जाणेपु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।  
त तमन्वेपयत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥  
रे रे वीरक किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विभ्रमम् ।  
भित्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥  
कस्याप्टमो दिनकरः कस्य चतुर्भ्रंश वसंति चन्द्रः ।  
पञ्चमं भागं वग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥  
भण कस्य जन्मपट्टो जीवो नवमस्तयैव सुरसुतः ।  
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥

(घनहाम्या द्वारा प्रवेश करके)

चन्दनक—अरे, वीरक, विद्वन्म्य, भीमाङ्गद, दण्डकाल, दण्डमूर आदि (रक्षको) विद्वन्म्य होकर आओ, तुरन्त (बन्दी को पकड़ने का) प्रयत्न करो, शोधना करो जिससे राजा (पातक) की नदमी दूतरे शोध में न जा सके (और कोई राजा न बन सके) ॥२॥  
शोर शौ—

उद्यानो में और सभाओं में, मार्ग में नगरी, बाजार और शहरों की बस्ती, में—जहाँ भी सन्देश उत्पन्न हो तुरन्त उस स्थान को दूँदो ॥७॥

अरे वीरक, क्या दिखना रहे ही, क्या विरवन्म्य होकर कह रहे हो ? बन्धन को तोड़कर वह कौन गोजान पुत्र को छुड़ाये लिये जा रहा है ? ॥८॥

सूर्य किसके आठवें स्थान पर है ? चन्द्रमा किसके चतुर्थे स्थान पर, शुक (मार्गवपट) किस के छठे स्थान पर, मंगल (भूमिमुन) किसके पञ्चम स्थान पर है ? ॥१॥

बताओ बृहस्पति (जीव) किसकी जन्मराशि के छठे स्थान पर है तथा मनि (भूमिमुन) नवम स्थान पर है ? चन्दनक के जीवित रखे हुए कौन है, वह जो गोपाल-पुत्र को छुड़ाये ले जा रहा है ? ॥१०॥

सप्तममम प्रविश्य चन्दनकः कथयति—आगच्छतेति । विरवन्म्यः आगच्छत स्वरितं यतश्चम् आसकं ग्रहीतुं यत्नं कुरुत, सपु शीघ्रं कुरुत कार्यं येन रातः पालकस्य मन्त्रीः राग्यतरमीः शोभान्तरम् कल्पत् कुलं यन्तुं न प्रभवति न समर्था भवति । गाथा वृत्तम् ॥६॥

बघानेतिविति । उद्यानेषु सभाषु मार्गेषु नगराणाम् आपनेषु पम्बवोप्या घोषे धामोर-घोषे च यत्र प्रवेशो वा-शब्दा आपते सन्देशो भवति स तं देवं स्वरितम् अन्विष्यत । गाथा वृत्तम् ॥७॥

रे रे इति । रे रे वीरक, कि कि दर्शयति ? विधग्गं विरवन्म्यं यथा स्यात् तथा भगनि कथयति तावन् ? चन्दनकं धित्वा वः गोपालशरवम् आपक-हरति तः कः वनः ? गीतिर्जाति-वृत्तम् ॥८॥

कस्याप्यकः इति । अथ इति (गुणम्) । कस्य जनस्य जन्मराशोः अष्टमः अष्ट-मराशिस्यः दिनकरः सूर्यः ? कस्य अशस्य च चन्द्रः चतुर्थः चतुर्थराशिस्यः वर्तते ? कस्य वा मार्गवपटः शुकः षष्ठः भूमिमुनः मङ्गलः च पञ्चमः वर्तते ॥१॥

अथ कथम् कस्य जनस्य जीवः बृहस्पतिः जन्मपथः जन्मराशोः पञ्चम्याने स्थितः सपुंश्च शूरमुनः सूर्यमुनः धनिः नवमः नवमराशिस्यः वर्तते ? यथा उत्सम्भानेषु स्थिताः एते पन्नाः अनिष्टकराः भवन्ति तथैव गोपालशरवस्य अपहर्तुंरपि मर्दरनिष्टं समु-पनिष्टमिति भावः । उजोतिः शास्त्रानुमानेन च अष्टमसूर्यस्य पत्रं 'नरवम्', चतुर्थ-चन्द्रस्य च 'दुःशरीकः', षष्ठजुहस्य च 'विनाशः', पञ्चममङ्गलस्य च 'शक्तिः', पञ्चमस्योः फलं 'शोकः' 'अनुवृद्धिर्ब', नवमसूर्यवस्य च फलं च 'अननाकः' इति चम्पते ॥१०॥



धोरक — भइ चन्दणआ,

अवहरइ कोवि तुरिअं चन्दणअ सवामि तुज्ज हिअएण ।  
जइ अद्धूइददिणअरे गोवालअदारओ खुडिदो ॥११॥

[भट चन्दनक,

अपहरति कोऽपि त्वरित चन्दनक शपे तव हृदयेन ।

यथाधोदितदिनकरे गोपालदारक खुटितः ॥]

षेट — जायं गोणा, जय । [यात यावौ, यातम् ।]

चन्दनक — (रुद्रा) अरे रे, पेवस, पेवस ।

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्जेण राअमग्गसस ।

एय दाव विआरह कसस कहि पवसिओ पवहणो त्ति ॥१२॥

[अरे रे, प्रथम पश्य ।

अपवारित प्रवहणं प्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।

एतत्तावाद्दिचारय कस्य कुत्र प्रेषित प्रवहणमिति ॥]

धोरक — (अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ, मा माय एष्यं पवहण वाहेहि ।

वस्तुकेरक एवं पवहणम् । को वा इध आरुढो । कहि वा वज्जइ । [अरे प्रवहण-  
वाहक मा तावदेतत्प्रवहण वाहय । कस्येतात्प्रवहणम् । को वा इहारुढः । कुत्र  
वा प्रजति ।]

षेटः — एषो बभूव पवहणे अग्गच्चालुवत्तसस । इध अग्गआ वरान्तरोणा आलुआ  
पुष्पकरण्डअं जिणुज्जाणं कोत्तिइ चालुवत्तसस जोअदि । [एतत्तल्लुप्रवहणमार्य-  
चारुदत्तस्य । इहायां वसन्तसेनारुढा । पुष्पकरण्डक जीर्णोद्धानं क्रीडितुं  
चारुदत्तस्य नीयते ।]

धोरक — (चन्दनमुपगृह्य) एतो पवहणवाहओ संजादि — 'अग्गच्चालुवत्तसस पवहणं  
परान्तरोणा आलुढा । पुष्पकरण्डअं जिणुज्जाणं जोअदि' त्ति । [एय प्रवहणवाहको  
भणति — 'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणं वसन्तसेनारुढा । पुष्पकरण्डक जीर्णोद्धानं  
नीयते' इति ।]

चन्दनक — ता एवदतु । [सद्गच्छतु ।]

धोरक — भणवत्तोइवो न्जेव । [अनजोलोकित एव ।]

चन्दनक — अथ इं । [अथ किम् ।]

धोरक — वस्तु पच्चएण । [कस्य प्रत्ययेन ।]

चन्दनक — अग्गच्चालुवत्तसस । [आर्यचारुदत्तस्य ।]

बीरक—बीर चन्दनक, मैं तुम्हारे हृदय की शपथ उठाता हूँ. हे चन्दनक, कीर्ति शीघ्रता से (गोपालपुत्र आर्यक) को छुड़ाये से जा रहा है क्योंकि मुर्य के आघात उदित होने के समय वह गोपालपुत्र भाग निकला था ॥११॥

चेट—चलो ! चलो : चलो ।

चन्दनक—(देखकर) अरे देखो, देखो—

बन्द (ढकी हुई) गाड़ी राजमार्ग में जा रही है। ठनिक यह तो विचार करो (पुष्टताय करो) कि गाड़ी किसकी है ? कहाँ जा रही है ॥११॥

बीरक—(देखकर) अरे गाड़ीवान् (बहलवान्) गाड़ी को मत हँको। जिसकी है यह गाड़ी ? कौन इसमें आरूढ़ है ? और कहाँ जा रहा है ?

चेट—यह गाड़ी आर्य चारदत्त की है। इसमें आर्या वसन्तसेना बैठी हैं। चारदत्त के साथ लीला करने के लिये पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में ले जायी जा रही है।

बीरक—(चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवान् कहता है कि आर्य चारदत्त की गाड़ी है, वसन्तसेना आरूढ़ है। पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान को ले जायी जा रही है।

चन्दनक—तो जाने दो।

बीरक—बिना देखे ही ?

चन्दनक—बीर क्या ?

बीरक—किसके विश्वास से ?

चन्दनक—आर्य चारदत्त के।

अपहरतीति । हे चन्दनक, तव हृदयेन मे शपथं करोमि । कीर्ति शीघ्रता से त्वरितं तम् आर्यकम् अपहरति यथा अर्घोविते दिनकरे सूर्योदयराते सः योगतदारकः आर्यकः क्षुद्रितः पलायितः दिग्बन्धो वा जातः । आर्याव्रतिः वृत्तम् ॥११॥

अपवारितमिति । अपवारितम् आच्छादितं प्रवृत्तं राजमार्गस्य मध्येन दृश्यति गच्छति । एतन् तावन् विचारय कस्य जनस्य इदं प्रवृत्तं कुत्र च प्रोचितं गच्छति । मेविमृशति पाठान्तरम् ॥१२॥

याहदा स्थिता । प्रत्ययेन विभवात्तेन ।

धीरक —को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तसेना ? जेण अणयलोइव यञ्जवि ।  
[य आर्यंचारुदत्त ? का वा वसन्तसेना ? येनानवलोपितं व्रजति ।]

चन्दनक —अरे, अज्जचारुदत्त ण जानासि, ण वा वसन्तसेणिअम् । अ  
अज्जचारुदत्त वसन्तसेणिअ वा ण जानासि, ता यअणे जीष्हासहिं चत्थं पि तुमं ण  
जानासि ।

फो त्त गुणारविन्द शीलमिअद्दु जणो ण जानादि ?  
आवण्णदुत्तरामोक्खं चउसाअरसारअ रअणम् ॥१३॥

दो ज्जेअ पूअणीया इह णअरीए तिलअमूदा अ ।  
अज्जा वसन्तसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥१४॥

[अरे आर्यंचारुदत्त न जानासि ? न वा वसन्तसेनाम् ? यद्यामचा-  
दरा वसन्तसेना वा न जानासि, तदा गगने ज्योत्स्नाराहितं चन्द्रमपि त्वं न  
जानासि ।

कस्त गुणारविन्दं शीलमृगाच्छुं जनो न जानाति ?  
आपन्नदुत्तरमोक्षं चतु सागरसां रत्नम् ॥

द्वायेव पूजनीयाविह नगरीं तिलवभूती च ।  
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥]

धीरक —अरे चन्दनआ,

जानामि चारुदत्त वसन्तसेणा अ सुट्ठु जानामि ।  
पत्तो अ राअवज्जे पिदर पि अह ण जानामि ॥१५॥

[अरे चन्दनक,

जानामि चारुदत्त वसन्तसेना च सुष्ठु जानामि ।  
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमप्यह न जानामि ॥]

भाषक —(स्वगतम्) अयं मे पूर्ववरी । अयं मे पूर्वचक्षुः । यतः ।

एककार्यनिर्भोगेऽपि नानयोरतुल्यशीलता ।  
विवाहे च चिताया च यथा हृतमुजोर्दयोः ॥१६॥

**बोरक**—कौन आर्यं चारुदत्त है और कौन वसन्तमेना है ? जिससे बिना देखे ही (यह गाड़ी) चली जाये ।

**चन्दनरुं**—अरे, आर्यं चारुदत्त को नहीं जानते हो और न ही वसन्तमेना को ? यदि आर्यं चारुदत्त और वसन्तमेना को नहीं जानते हो, तो तुम आकाश में चन्द्रिका-सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो ।

गुर्यों के कारण कमल के समान (मनोहर), सञ्चरित्र के कारण चन्द्रमा के तुल्य (प्रिय) आपसिप्रस्त जनों के दु स्रो को दूर करने वाले, चारों समुद्रों के सारभूत रत्न उद (आर्यं चारुदत्त) को कौन मनुष्य नहीं जानता ? ॥१३॥

आर्यां वसन्तमेना और धर्मनिधि चारुदत्त ये दो ही यही (उज्जयिनी) नगरी में दूग्ध एवं अपङ्कुरभूत हैं ॥१४॥

**बोरक**—अरे चन्दनरुं—

चारुदत्त को जानता है और वसन्तमेना को भी भली भाँति जानता है । (किन्तु) राजकीय कार्य पढ़ने पर मैं (अग्ने) पिता को भी नहीं जानता हूँ । ॥१५॥

**आर्यं**—(अग्ने आर) यह मेरा पूर्व (जन्म का) शत्रु है । यह मेरा पूर्व (जन्म का) वंशु है । क्योंकि—

एक कार्य में निरुक्त होने पर भी इन दोनों का स्वभाव समान नहीं है । जिन प्रकार विवाह में और विना पर दो अग्निमों में स्वभाव की गमानता नहीं होती ॥१६॥

क इति । शुभं मीष्टमायोर्दिभिः अरविन्दं कमलं तन्महत्तमित्यर्थं । (गुणा-नाम् कर्तव्यं वा) शीतस्य मृगाङ्कुरं रुद्रम् आपनानाम् आपसिप्रस्तानां बुक्षस्य मोक्षं पीडामुविश्रम्पानं चतुर्णां सगराणां मार रत्नं त चारुदत्त कः जनः न जानामि । रुद्रकालद्वारः । आर्यां वृत्तम् ॥१३॥

इतिवैति । इह अर्थां नदयां उज्जयिन्यां द्वौ एव पूजनीयौ पूजायोग्यौ निरुक्तमूनो अतद्धारुद्रो व एवा आर्यां वसन्तमेना (यः वेद्यादि कृती काशु-शोना) कपरवध धर्मस्य निधि चारुदत्त । आर्यांवातिः ॥१४॥

जानामीति । चारुदत्त जानामि वसन्तमेनां व मुष्टु मन्दम् रूपेण जानामि किन्तु राजकार्ये प्राप्ते समुपस्थिते नति अहं बोरकः सितरम् अपि स्वधनव्यपि न जानामि । आर्यांवातिः ॥१५॥

एवेति । एवमित्यन् रसादने कार्ये निर्वाणे निरुक्तो अपि अन्वयोः तुल्य-गोपना समानं शीतं नास्ति यथा विवाहे विनाया च द्वयोः दूतमुक्तो दूतं मुद्रकं इति दूतमुक्तं अग्निः तयोः एवमित्यन् दहनवर्धनि निरुक्तयोः अपि समानं शीतं न परति एवो हि मुक्तं, अररन्तु अमुक्तं । उदमानद्वारः । उदमानवध वृत्तम् ॥१६॥

चन्दनक — तुम तन्निती सेषावई रण्यो पञ्चइदो । एवे धारिदा मए बइत्ता ।  
भवलोएहि । [त्व तन्निल सेनापती राज प्रत्ययित । एतो धारितो मया  
बलीवदो । अवलोन्वय ।]

वीरक — तुम पि रण्यो पञ्चइदो बलवई । ता तुम ज्जेव अवलोएहिं  
[त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपति । तस्मात्त्वमेवावलोन्वय ।]

चन्दनक — मए अवलोइइ तुए अवलोइइ भोइ । [मयावलोकिंत त्वयाव-  
लोकिंत भवति ।]

वीरक — ज तुए अवलोइइ त रण्यो पालएण अवलाइवम् । [यत्पयावलो  
किंत तत्राज्ञा पालकेनावलोकिंतम् ।]

चन्दनक — रे, उण्णामेहिं घुरम् । [अरे, उन्नामय घुरम् ।]  
(चेटस्तथा करोति)

भार्यक — (स्वगतम्) अपि रक्षितो मामवलोकयन्ति । अस्त्रप्रवासि  
मन्दभाय्य अथवा ।

भीमस्यानुपरिष्णामि वाहु शस्त्र भविष्यति ।

वरं व्यायच्छतो गृत्सुर्न गृहीतस्य बन्धने ॥१७॥

अथवा साहसस्य तावदनवसर ।

(चन्दनको नाटकेन प्रवृत्तमाह्वयवलोक्यति)

भार्यक — शरणागतोऽस्मि ।

चन्दनकः — (संस्तुतमाधिस्य) अभय शरणागतस्य ।

भार्यकः —

त्यजति किल त जयश्रीर्जहति च मित्राणि वन्धुवर्गश्व ।

भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागत त्यजति ॥१८॥

चन्दनक — एए अजओ गोवासदारओ सेणवित्तासिदो विअ पतरहो साउणि-  
अस्त हये निवइदो । (विबिन्ध्य) एतो अणवरारो सरणाअरो अजघारदत्तस  
पवहण आहओ पाणपदसस मे अज्जतवित्तअस्त मित्तम् । अण्वदो राअणिओओ । ता  
किं वणि एत्थ सुत्त अणुविट्ठिदुम् । अथवा अं भोदु तं भोदु । पदस उज्जेव अमअ  
दिणम् ।

तन्निलः पिन्तापर (पृथ्वी०) । प्रत्ययित विभवासपात्रम् । घुर यात्रमुत्तम् ।  
इष्टु प्रवृत्ते रक्षकत्वेन आर्यक मनसि करोति—

भीमस्येति । यद्यपि मम पाशवै शस्त्र नास्ति तथापि अहं भीमस्य अनुचरि-

चन्दनक—तुम राजा की चिन्ता करने वाले विश्वस्त सेनापति हो । ये दोनों बँत मैंने पकड़ लिये हैं । देख लो

बीरक—तुम भी राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो । इसलिये तुम ही देख लो ।

चन्दनक—मेरा देखा हुआ तुम्हारा देखा हुआ हो जायेगा ।

बीरक—जो तुमने देख लिया सो राजा पालक ने देख लिया ।

चन्दनक—अरे जुआ सटाओ (उतारो) ।

(बैठ बैसा करता है)

आर्यक—(अपने भ्रात्र) क्या रथक मुझे देखते हैं ? और मैं अध्याग शस्त्रहीन हूँ । अथवा—

मीम का अनुकरण करूँगा, (मेरी) भुजा ही शस्त्र होगी । लड़ते हुए मृत्यु बन्धी है, कारागार में पड़े हुए की नहीं ॥१७॥

अथवा माहस कर (यह) अनसर नहीं है ।

आर्यक—शरणागत हूँ ।

(चन्दनक अभिनय से रथ पर चढ़ कर देखता है)

चन्दनक—(संस्कृत में) शरणागत को अभय है ।

आर्यक—जो शरणागत का त्याग कर देना है, उसको विजयलक्ष्मी त्याग देती है । मित्र एवं बन्धुगण भी त्याग देने हैं तथा वह सदा उपहास के योग्य होता है ॥१८॥

चन्दनक—गोपाल-पुत्र आर्यक बाज से भयभीत पक्षी (पत्ररथ) के समान शिकारी के हाथ में कैसे आ पड़ा ? (विचार कर) (एक ओर तो) यह निरपराध एवं शरण में आया हुआ है जो आर्य चारदत्त ने रथ पर आरूढ़ है । बीरभर जोवनदाता शक्तिरु का मित्र है । दूररी ओर राजाज्ञा है । तो अब यहाँ बसा करना उचित है । अथवा जो हो, मो हो । (मैंने) पहले ही अभयदान दे दिया है ।

ध्यामि अनुकरणं करिष्यामि तथा मम बाहु शस्त्रं प्रविष्यति ध्यायन्तः पुरुषैः  
(परपरिभवं दुर्वतः इति पृथ्वीधर) शृणु शरणं वर ध्येष्ठ बन्धने बाराह्ये पृथीतस्य  
बद्धस्य तु मरणं न वरमिति भावः ॥१७॥

त्यजतीति । यः जनं हानु शरणागतं त्यजति न जनं किल निरवयेन जयतीः  
विजयलक्ष्मीः त्यजति मित्राणि गृह्यः बन्धुवर्गं च जहति त्यजति स च तदा उपहास्यः  
उपहासयोग्यः भवति । आर्जुनं वृत्तम् ॥१८॥

पत्ररथः पक्षी । शकुनिश्च शत्रुनि हनि दानं शत्रुनि तस्य ।

भीदाभयप्रदानं दत्तस्व परोपकाररसिञ्जस्व ।

जइ होइ होउ पासो तहवि ॥ लोए गुणो ज्जेव ॥१६॥

(सभयवतीयं) द्विती अञ्जो—(इत्यर्थात्) य, अञ्जया वसन्तसेना । तबो एसा भणारि—‘ब्रुत्त नेदम्, सरिस नेदम् खं अह अञ्जचारवत्तं अहिंसारिदुं गच्छन्ती राजमागे परिभूता’ [कथमार्यको, गोपालदारक. श्वेनवित्रासित इव पन्नरस्य. शाकु-  
निकस्य हस्ते निपतित । एपोऽनपराध शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढ-  
प्राणप्रदस्य मे आर्यशविलकस्य मित्रम् । अन्यतो राजनियोग । तत्किमिदानी-  
मत्र युक्तमनुष्ठानुम् । अथवा यद्भवतु तद्भवतु । प्रथममेवाभयं दत्तम् ।

भीताभयप्रदान ददतः परोपकाररसिफस्य ।

यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥

दृष्ट आर्यं—न, आर्या वसन्तसेना । तदेषां भणति,—‘युक्तं नेदम्, सहश नेदम्, यदहमार्यं चारुदत्तमभिसतुं गच्छन्ती राजमागे परिभूता’ ।]

शोरक—चन्दनजा, एतय मह संसभो समुष्णो । [चन्दनक, अत्र मं  
सशय समुत्पन्न ।]

चन्दनक—वर्धं वै ससभो ? [कथ ते सशय ?]

शोरक—

सभमपगधरकण्ठो तूमं पि जादो सि जं तुए भणिदम् ।

दिदो मए मन्नु अञ्जो पुणो वि अञ्जा वसन्तसेनेति ॥१७॥

एतय मे अप्पच्चओ ।

[सभमपगधरकण्ठस्त्वममि जातोऽसि यत्तया भणितम् ।

दृष्टो मया खल्वार्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ॥

अत्र भेऽप्रत्ययः ।]

चन्दनकः—अरे को अप्पच्चओ तुह । वर्धं वविल्लणत्ता अप्पत्तभासिणो । लस-  
लसि-लस-लडडठोविसअ-कण्णाट-कण्ण-प्पाव-रणभ-द्विड-चोल-चीण-वर्वर-सेर-खान-  
मुक्क-मधुघातप्रभृताणि मित्तिच्छजादीणि अणेअवेसभासाभिण्णा जहेट्ठं मन्तमाम, दिदो  
दिदो वा अन्तो अञ्जया वा । [अरे, कोऽप्रत्ययस्त्वव । वय दाक्षिणात्या अव्यक्त-  
भाषिण । खण-वृत्ति-खड-खडडठोविल-कण्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्विड चोल-चीन-  
वर्वर-सेर-खान-मुक्क-मधुघातप्रभृतीना म्तेच्छजातीनामनेकदेशभाषाभिशा यथेष्टं  
मन्त्रयाम, दृष्टो दृष्टो वा, आर्यं आर्या वा ।]

शोरकः—व अहं पि पलोएमि । राजअण्ण एसा । अहं रण्णो पच्चदरो ।  
[मन्वहमपि प्रलोकयामि । राजार्जपा । अह राजः प्रत्ययित ।]

चन्दनक.—ता कि अहं अप्पच्चदरो सवुत्तो । [तत्किमहमप्रत्ययित-  
सवृत्त ।]

इसे हुए को अभयदान देने वाले परीपकार के प्रेमी (व्यक्ति) या यदि बिनास हो जाता है तो होने दी फिर भी समार मे (इसे हुए को अभयदान करना) वस्तुतः शुभ ही है।

(भय सहित उत्तरकर) देव विद्या आर्य... (यह आया कहने पर) नहीं, आर्या बन्तसेना। और यह कहती है—'यह उचित नहीं है, यह योग्य नहीं है। जो आर्य बादरत के प्रति अभिसरण को जाती हुई मेरा सङ्क पर अपमान किया गया।'

धीरक—चन्दनक, इसमे मुझे मन्देह उत्पन्न हो गया है।

चन्दनक—तुम्हें किम लिये मन्देह है ?

धीरक—जब तुमने (पहले) मेरे आर्य . . . विद्या (तथा बाद मे) आर्या पञ्चतसेना (देखली) ऐसा कहा जब तुम्हारा वस्तुतः के कारण धर्म ध्वंस करने लगा ॥२०॥

यही पर मुझे अविश्वास है।

चन्दनक—अरे, तुम्हें अविश्वास क्यों है ? हम वाञ्छिणाय जल्पट बोलने वाले होते हैं। स्वप, सति, कड, कडटोविल, कर्पाटक, कर्णशरवण, द्रविड, चोल, चीन, बर्बर, वेर, खान मुस, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशों की भाषा को जानने वाले (हम) ज्ञाना चाहते हैं बोल देते हैं—देव लिया या देखनी, आर्य या आर्या।

धीरक—तो मैं भी देखता हूँ। यह राजा की आत्मा है और मैं राजा का विश्रामपात्र हूँ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्वमनीय हो गया ?

मीतेति । मीतेभ्यः अभयप्रदानं ददतः परीपकाररतिरस्य परीपकारे उत्तरस्य परि नारा. भवति तयापि तनु लोके शुभः एव ॥१६॥

संघमेति । त्वं चन्दनकः धीरोर्जि तनु सम्प्रमेच धर्मः कथं वस्य ताहाः आत मति, धनु स्वया (पूर्व) मणितं रचितं मया तनु आर्यः दृष्टः पुनः अपि य मणितम् आर्या पञ्चतसेना दृष्टा इति ॥२०॥

अप्यक्तम् अस्पष्टं भाषते चन्दनीनः इति अथक्तभाषी तन्मं मय्यक्तभाषिणः मन्त्रपातः कन्त्यामः ।



धीरक — नं सामिणिओओ । [ननु स्यामिनियोगः ।]

चन्दनक — (स्वगतम्) अञ्जभोवातदारवो अञ्जचारदत्तस्य प्रवहणं अहिरहित्य  
अववमदि ति अइ षहिउज्जदि, तवो अञ्जचारदतो रण्णा सामिज्जइ । ता को एत्थ  
उवाओ ? (विचिंत्य) कण्णाटवसहप्पओअ वलेमि । (प्रवाशम्) अरे धीरअ, मए  
चन्दणकेण पलोइव पुणो वि तुम पलोएसि । को तुमम् ? [आयंगोपलदारक  
श्रायचारदत्तस्य प्रवहणमधिकरुह्यापक्रामतीति यदि वक्ष्यते, तदार्यचारदतो राजा  
तास्यते । तत्कोऽत्रोपाय । कर्णाटकलहप्रयोग करोमि । अरे धीरक, मया चन्दन  
केन प्रलोकितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि । कस्त्यम् ?]

धीरक — अरे, तुमं वि को ? [अरे, त्वमपि क ?]

चन्दनक — पुद्दज्जन्तो मानिज्जन्तो तुमं भप्पणो जांदि ण तुमरेसि । [पूज्य-  
मानो भान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ।]

धीरक — (सत्रोधम्) अरे का मह जादी ? [अरे, ना मम जाति. ?]

चन्दनक — को भणउ ? [को भवतु ?]

धीरक — भणउ । [भणतु ।]

चन्दनक — अहवा ण भणामि ।

जाणन्तो वि हु जांदि तज्ज अ ण भणामि सीलविहनेण ।  
चिदुठउ महच्चिअ मणे किं अ कइत्थेण भग्गेण ॥२१॥

[अथवा न भणामि ।

जानन्तपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।

तिष्ठतु ममैव मनसि किं च कपित्थेन शग्गेण ॥]

धीरक — नं भणउ भणउ । [ननु भणतु भणतु ।]

(चन्दनक सगा ददाति)

धीरक — अरे किं वेदम् ? [अरे, किं न्विदम् ?]

चन्दनक —

सिण्णासिलाअलहत्थो पुरिसाण कुच्चमान्ठसंठवणो

कत्तरिवावुदहत्थो तुमं पि सेणावर्द जादो ॥२२॥

[श्रीणंशिलातलहस्त पुरुषाणा कूर्चंघन्यसस्थापन. ।

वर्तरीव्यापृतहस्तस्त्यमपि सेनापतिर्जाति. ॥]

सपृत सजात. । स्वामिन राज नियोग आज्ञा । ज्ञास्यते दृश्यते ।

कर्णाटकलह कर्णाटप्रदेशस्य वल्लह (मिष्यावनह इति काले) तस्य प्रयोग ।

जानन्नपीति । तव जातिं त्वत्तु जानन् अपि जात्मन शीलविभवेन शील-

बीरक—तो भी स्वामी की धाता है ।

चन्दनक—(अपने बाप) 'आर्य शोषान-मुत्र आर्य चादत्त वे रथ पर आरूढ होकर भाषा जा रहा है' यदि यह कह दिया जाता है तब आर्य चादत्त राजा के द्वारा दण्डित होते हैं । तो यहाँ क्या उपाय है ? (विचार कर) कर्पाटक (के लोगों बंसी) इतह का प्रयोग करता हूँ (प्रकट रूप में) अरे बीरक, मुझ चन्दनक के द्वारा दंडे हुए (निरीक्षण किए हुए) को तुम दोबारा देम रहे हो ? कौन हों तुम, (दोबारा देखने वाले) ?

बीरक—अरे, तुम्हीं कौन हों ?

चन्दनक—पूजनीय और सम्माननीय तुम अपनी जाति की स्मरण नहीं करते ।

बीरक—(श्रीयपूर्वक) अरे क्या है मेरी जाति ?

चन्दनक—कौन कहे ?

बीरक—कह दो ।

चन्दनक—अपना, नहीं बहता ।

तुम्हारी जाति को ठीक-ठीक जानते हुए भी (अपनी) शील-सम्पन्नता के कारण नहीं कह रहा हूँ । (तुम्हारी जाति का नाम) मेरे ही मन में रहे, कैंप तोड़ने से क्या साम ? (अर्थात् तुम्हारी जाति प्रकट करने से तुम्हारी नीचता ही सिद्ध होगी । जिस प्रकार ऊपर से सुन्दर लगने वाले कैंप के फल को तोड़ने में अन्दर की निस्कारता प्रकट हो जाती है) ॥२१॥

बीरक—नहीं, कहो, कही !

[चन्दनक (उसकी जाति का परिचायक) सकेत देता है ]

बीरक—अरे यह क्या है ?

चन्दनक—दूटे पत्थर के टुकड़े को (उत्तरा पँनाने के लिये), हाथ में रखने वाला, पुराने की दाही बनाने वाला तथा कैंची (बनाने) में अस्त्र हाथ वाला तु (नारी) भी सेनापति हो गया ॥२२॥

चन्दनकः न कर्णामि कथयामि । सा जातिः मय एव मनसि तिष्ठतु । तथा च कथित्येव उन्मानकञ्चनकित्तो देव मानेन हि को सामः ? आर्य जातिः ॥२१॥

संतां वराणि जातिदूषकं सङ्कृतं करोति ।

शीघ्रत । शीघ्रं शिमान्तं सुखादिपरिणामं पापानस्यः हस्ते दम्य सः पुराणा कुचंद्रण्यि सन्धु स्थापयति इति सः ताहः- कर्तरोप्यातुः हस्तः मस्य तथादूतः त्वं बीरकः अपि सेनापतिः आत । एभिः सज्जनैः शक्तिजातिः भूविता ॥२२॥

वीरक —अरे, चन्दनमा तुम पि माण्डिज्जन्तो अप्पणो केरिक् जाति ण मुमरेसि । [अरे चन्दनक, त्वमपि मान्यमान आत्मनो जाति न स्मरसि ।]

चन्दनक —अरे, का मह चन्दनभस्स चन्दविशुद्धस्स नादो ? [अरे, का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जाति ? ]

वीरक —को भणउ ? [को भणतु ?]

चन्दनक —भणउ, भणउ । [ भणतु, भणतु ]

(वीरको नाटकेन सजा ददाति)

चन्दनक —अरे, कि णेमम । [अरे कि न्यिदम् ।]

वीरक —अरे, सुणाहि सुणाहि । [अरे शृणु शृणु ।]

जादो तुज्ज विमुद्धा माता भरी पिदा वि दे पडहो ।

दुम्मुह करडअभादा तुम पि सेणावई जादो ॥२३॥

[जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटह ।

दुमुं प, वरटकभाता त्वमपि सेनापतिर्जाति ॥]

चन्दनक —(सङ्गोष्ण) अह चन्दनभो चम्मारभो, सा एसोएहि पवहणम् ।

[अह चन्दनकश्चमकार, तत्प्रलोचय प्रवहणम् ]

वीरक —अरे, पवहणवाहा पच्चियन्नावेहि पवहणम् पलोइत्तम् । [ अरे प्रवहणवाहा, परिवर्तय प्रवहणम् । प्रलापयिष्यामि । ]

(वेटरावा करोति । वीरकं प्रवहणमारोडुमिच्छति । चन्दनक सहसा वेशेषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च ।

वीरक —(सङ्गोष्णव्याय) अरे, अह तुए वीसत्थो राभाण्णत्ति करेण्णो सहसा केत्तु नेण्णिअ पावेण ताडिबो । सा सुणु रे, अहिअरणमज्जे जइ दे घउरइ न वप्पावेमि, तवो ॥ होमि वीरओ । [अरे अह त्वया विश्वस्तो राजाज्जिदि कुर्यन्सहसा वेशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः । तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते वतुरइ न वत्पयामि, तदा न भवामि वीरकः ।]

चन्दनक —अरे राअउत्त अट्ठिअरण वाचन्त । कि तुए मुणभारितेप ।

[अरे, राजकुलमधिकरण वा व्रज । त्वया श्रुनकसदुशेन ।]

वीरक —तथा । (इति निष्प्रान्त ।)

चन्दनक —(दिनोन्मलोचय) गच्छ रे पवहणवाहा गच्छ । जइ ने, वि पुच्छेदि तवो ण्णेसि—चन्दनअवीरएहि अवलोइव पवहण वच्छइ । अजे यत्ततेणे दमं च अहिण्णणे दे देयी । [गच्छ रे प्रवहणवाहा, गच्छ । यदि कोऽपि पृच्छति तदा भण—चन्दनकवीरगाम्यामवलोकित प्रवहण व्रजति' आर्ये यसात्ततेने, इदं चाभिज्ञानं ते ददामि ।] (इति सदीग प्रवच्छति)

बीरक—अरे चन्दनक, सम्मान पाकर तु भी अपनी जाति को स्मरण नहीं करता है।

चन्दनक—अरे, चन्द्रमा के समान विरुद्ध मुझ चन्दनक को क्या याद ?

बीरक—कौन कहे ?

चन्दनक—कहो, कहो !

[बीरक अभिनय से (उसकी जाति का परिचयक) सन्देश देता है]

चन्दनक—अरे, यह क्या ?

बीरक—अरे, सुनो, सुनो—

तुम्हारी जाति (सपमुच) बड़ी पवित्र है। भेरी माता है, पट्ट पिता है, करक (एक प्रकार का वाद्य-यन्त्र) माई है। तुम (धर्मकार होकर) भी सेनापति हो गये ॥२२॥

चन्दनक—(क्रोधपूर्वक) (यदि) मैं चन्दनक बमार हूँ तो देख ले माई को !

बीरक—अरे, माईवानु, माई की पुत्राओ ! विरोध न करो !

(बैठ बैठा करता है। बीरक माई पर चढ़ना चाहता है। चन्दनक अचानक शान पकड़कर लपेटे गिरा देता है, और शान से पीटा है)।

बीरक—(क्रोधपूर्वक उठकर) राजा के सन्देश (एक पालन) मरग हुए मुझ विरमस्त (धर्मपारी) को तुमने शान पकड़ कर शान से पीटा है। तो मुझे दे, मगया-मर के बीच में यदि तेरे भारी अङ्गों को न कटवा हूँ तो बीरक नहीं रूँवा (तो मेरा नाम बीरक नहीं)।

चन्दनक—अरे, राजहून के जा दा म्यामानय में दूरी जैसे तुम से क्या ?

बीरक—अच्छा ! (बाहर निकल जाता है)

चन्दनक—(भारी और देगावर) जा, दे गाबीवानु जा। यदि कोई पूजा है तो कट देना—'चन्दनक और बीरक द्वारा देवी गई (निरीक्षण) माई या रही है। और आज हमने देना यह परवान हुये देना हूँ।

(इत्तवार देता है)

चन्द्र इव विरुद्धः चन्द्रविरुद्धः इत्यम् ।

जातिविशेषः । तथा जातिः विरुद्धः परलभ्यते । माता भेरी सारोदिकेभ्यः रितां-  
भरि ते तथा पट्टः । हे हुयुंत्त बहुकारिन् इत्यर्थः । इत्यधिकेभ्यः एतावत् इत्यर्थः ।  
मेवात्मनः जातिः एतद्विः सर्वमन्वितैः स्याद्विद्वेहैः सर्वकारण्यैः दूषिता ॥१॥

चतुर्दश चतुर्दश ब्रह्मणा समाहातः इत्यन्वयि कर्तव्यम् ।

ब्रह्मं— (सद्य इत्येवा नृस्यंनान्तगतम् ) ।

अये सुम्न मया प्राप्य स्वन्दने दक्षिणो पुङ्गुः ।

अनुत्सन्नं च सकलं हन्त सरक्षितो ह्यहम् ॥२३॥

चन्दनक—अज्जए,

एष मए विष्णुविदा पत्तन्ना चन्दनं पि चुनरेत्ति ।

प भणामि एस तुडो पेहस्स रत्तेण दोम्भानो ॥२५॥

[आयं,

अत्र मया वित्तप्राप्त्या प्रचयिता चन्दनमपि स्मरति ।

न भणाम्येष तुड्यः स्नेहस्य रत्तेन धूमः । ]

शार्पक—

चन्दनश्चन्द्रशोलादयो देवादेव्यं चुहन्मम ।

चन्दन भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेवस्तथा यदि ॥२६॥

चन्दनरः—

अमज्ज तह देउ हरो विष्णु वम्हा रवी अ चन्दो अ ।

हतूप सत्तुववत्त मुम्भणितुम्भे जप्पा देवी २७

[अभय तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविरच ।

ह वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भी यथा देवो ]

(चैत प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्दनक—(निपट्याभिमुगमवनांवर) अरे, निवकमन्तरस मे विप्रव्रतसो  
हस्तिनलो पिटुसो जेव अणुत्तमो गदो । भोदु । यथावदण्डधारको वीरको राजप्रत्य-  
गारको शिरोहिदो । ता जाव एहपि पुत्तभानुपण्डितुसो एद उजेव अणु सत्तमि ।  
[अरे निष्कमतो मम प्रियवयस्यः क्षविलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः । भवतु ।  
प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययवारो विरोधितः । तदावदहमपि पुन-  
प्रातृपण्डित एतमेवानुगच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः ।)

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

चन्दनत्वात् शस्त्रं प्राप्य शार्पकं स्वमनसि चिन्तयति—अये इति । अये मया  
शार्पकेण शस्त्रं प्राप्तम् मम ए दक्षिणं मुञ्च माहः स्वन्दते स्फुरति, अतः सत्तं  
मम अनुत्सन्नं प्रतीयते [पुरपत्य हि दक्षिणमुजस्यन्दनं शृभसूचकं भवति] । हनेति  
हये गहम् शार्पकः हि निवचयेन सरसित सम्यक् गतितः ॥२४॥

चन्दनकः वसन्तसेनाभ्यानेन शार्पकं निवेदयति—अथेति अत्र मया परवहणेन

आयं—(वनवार लेकर हयं सहिते अयने अ. ५) —

अरे ! मैंने शस्त्र प्राप्त कर लिया चाहती थी। (वन.) मय कुछ बनकर है. हयं है, मैं बच बना हूँ ॥२४॥

चन्दन—आये,

यहाँ नरे शाय मुक्ति (या मुक्ति परित्यज) (अप) विद्वान् शोक कन्दनक को भी मार रतना । मैं यह नोभयग नहीं कहना, अदिनु स्पेह-रु के कारण वह एतु ॥२५॥

आयं—चन्द्रमा के समान (मनोहर) स्वभाव वाला (चन्दनक) अयने में आयने का निर है । हे (निज), यदि निज का आदेश मय (तदा) हुआ तो (तुन) चन्दनक को मार रतना ॥२६॥

चन्दनक—गिव, विष्णु, कृष्ण, मूयं और चन्द्रमा अयुक्त को मार कर तुम्हें इसी प्रकार अय्य प्रदान करें जिन प्रकार शुन्भ और निगुन्भ को मार कर दुयादेवी ने (सिने) को अयन प्रदान किया था ॥२७॥

(बिट नाही द्वारा बना जाता है)

चन्दनक—(नेदम्य को और देखकर) अरे ! (आयं) के बाहर निकलते ही नेट निज निज शक्तिरु (रथ के) पीछे ही गया हुआ निज रथा । अन्धा । गया के गिगान् प्रगत अङ्गप्रारक वारक को विरोधी बना चिन्ता है तो तब तक मैं भी तुन और अयुक्तों सहित इन्हीं का अनुसरण करता हूँ ।

(बाहर निज जाता है)

'मान-परिवर्तन' नामक छटा बहुत समान ।

विना मुक्ति परित्यज या अयनिका अयने विद्यानं प्रयाया व त्वं चन्दनकम् अति  
स्वर्ग स्वर्गनि । एत. अर्हं मुद्यः कतःविचोभुत्तः मय न प्रयायि वयानि चिन्तु  
संशय रत्न मयिन एव इमः वयं कथयानः ॥२३॥

चन्दन इति । चन्दनम् शानं शानन्वभाव इत्यर्थः तेन आह्वयः मुक्तः चन्दनः  
इति संज्ञानाम् अथ मन आयेकस्य सुहृन् निज वा इति गीः । यदि विद्यारणः  
पौनःप्रायः शयः भविष्यतीति विद्वान् तथा यथार्थं कथयति वाच्य भविष्यति  
कीः शयः चन्दनं स्मरिष्याति ॥२६॥

चन्दनकः अयं इत्य मङ्गलदान्तां करोति—अमर्षनि । एत निजः विष्णुः  
इति एतः च चन्द्रः च मयपत्रं पातकवर्त्त इत्या (तदेव) तव आयेकस्य अयने  
पातु बना देवी तुम्हें शुन्भनिगुन्भो तनानकी देवी इत्या देवैः अयन दनपरी ।  
मनोहर ॥२७॥

निजानकः निजानकः अयेकस्य । अनुवन्तः अनुवन्तः । शयः चन्दनं विद्यानं  
पातयेति एतन्व्यथाः ।

इति अयनपरिवर्तनो नाम पाठः ॥

## सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चारदत्तो विदूषकश्च)

विदूषकः—भो, वेरल वेरल पुष्करण्डमजिण्णुज्जाणस्त तात्तरोअदाम् ।  
[भो पश्य पश्य पुष्करण्डकजीर्णोद्यानस्य सथीकताम् ।]

चारदत्त — वयस्य, एवमेतत् । तथाहि ।

वणिज इव भान्ति तरव पथ्यानीव स्थितानि मुसुमानि ।

शुल्कमिदं साधयन्ना मधुकरपुर्या प्रविचरन्ति ॥१॥

विदूषक — भो, इमं अस्तकाररमणीयं सित्ताअल उपविस्तु मधम् । [भाः  
इदमस्तकाररमणीयं शिलानलमुपविशतु भवान् ।]

चारदत्त — (उपविश्य) वयस्य, चिरयति वधमानकः ।

विदूषक — मण्हो मए वड्ढमाणअ—'वसन्तसेणिअं गेण्हिअं महुं महुं  
आमच्छ' ति । [भणितो मया वधमानक—'वसन्तसेना गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ'  
इति ।]

चारदत्त — तर्कं विन्याति ।

किं यान्यस्य पुरः शनं प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गते

भग्नेःक्षेपरिवर्तनं प्रकृस्ते छिन्नोऽथ वा प्रग्रहः ।

वर्गाभितोऽग्नितदारचारितगतिर्मान्तरं यत्पते

स्वेरं प्रेरितगोयुगं किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति ॥२॥

(प्रविश्य गुप्तार्थं प्रवहणस्यः)

छेद — आद्यं घोषा, जाघ । [यात गावी, यातम् ।]

चारदत्तः उद्यानस्य घोषां वर्णयति—वणिज इति । तरवः वृक्षाः घण्टिअ एव  
वस्तुविज्ञेयतार इव भान्ति प्रतीयन्ते मुसुमानि पथ्यानि विषयवस्तूनि इव स्थितानि सन्ति  
मधुकरा एव पुर्या, राजपुर्या इति यावत् शुल्कं राजशास्रं इत्यम् इदं साधयन्त-  
गृह्णन्तः प्रविचरन्ति इतराः भ्रमन्ति । आर्यां वृत्तम् ॥१॥

अस्तकारेणैव सत्कारामल्लेणैव रमणीयं प्रवृत्त्या रमणीयमिति भावः ।

वधमानकः कथं विलम्बं करोतीत्यस्मिन् विषये चारदत्तः तर्कयति—विमिति ।

किम् अथ वधमानकस्य पुरः अथ प्रवहणं शनं, मन्दं याति स च तस्य अन्तरं गमनाय

## सातवाँ अङ्क-

(तत्पश्चात् चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

विदूषक—श्रीमान् जी, पुण्यकरबडक जीर्णोद्यान की शोभा-सम्पन्नता को देखिये, देखिये।

चारुदत्त—मित्र ऐसा ही है। क्योंकि—

(इन बाटिका के वृक्ष बलिक के समान शोभित हो रहे हैं, गुप्ता विक्रय पहाषी के लुप्त स्थित हैं। चौरि (राजकीय) पुरष के समान शुल्क-सा खेत हुए भ्रमण कर रहे हैं ॥१॥)

विदूषक—श्रीमान् जी, आप संस्काररहित होने पर भी सुन्दर (तपने वाले) रूप शिला तम पर बैठिए।

चारुदत्त—(बैठकर) मित्र, वर्धमानक देर लगा रहा है।

विदूषक—मैंने कहा था 'वर्धमानक' बर-ससेना को लेकर शीघ्र-शीघ्र जाओ।'

चारुदत्त—तब क्यों देर कर रहा है ?

क्या उसके आगे घोरे-घोरे (कोई) गाड़ी जा रही है और बहुत उससे निकलने का अवसर बूँद रहा है ? चक्र (अश्व) के टूट जाने पर (उसको) बदल रहा है या (बैलों के बाँधने की) रस्सी टूट गई है, क्या राजकीय आदेश से (किसी विशेष कारण से) पानायाल रोड़ने के हेतु) राजमार्ग पर दानी हुई लकड़ियों के कारण अवरुद्ध गति माना (वर्धमानक) अन्य मार्ग बूँद रह चुका है। अथवा दोनो बैलों को पीने-धीमे हाँसता हुआ (वर्धमानक) स्वच्छन्दतापूर्वक आ रहा है ॥२॥

(जंग पर आर्षक घुमा हुआ है ऐसे रथ पर स्थित प्रवेश करके)

घेट—चलो ! चलो, चलो !

परसातं मार्गते अन्विष्यति ? किं वा अर्थे चक्रे ज्ञाने मानं परिचयं प्रचुरने ? अपन्ना प्रपुं. वृषभाना बन्धनरश्मिः सिन्धुः मुदितः । कपका कर्मान्ते मार्गस्य पथे जगित्तं ह्यस्ते-बाधमिः काष्ठैः कारिता क्वा गतिः पथे तादृश. मुद् । कर्मान्ते इति पाठान्तरम् 'कर्मान्ते' रामादीना निजो-विविक्तैः तन्मन्विषिभिः धर्मं त्यक्तवाप्यनि तैः प्रनिरुद्धं पन्त. — इति पृथगीतर ।) मार्गान्तरम् अन्यं मार्गं याचने प्रार्थयति ? अथवा स्वैरं प्रेरितं कारितं योग्यं वृषभानुसं देन स. इवकल्पेन धयेच्छुम् प्रापयति सिन्धुं दिवसं विसम्भ-धारणम् इति मतमोक्तः । मन्देहातच्छार । शार्दूलविशोक्ति वृत्तम् ॥२॥

पुनः आर्षक. यस्मिन् तस्मिन् प्रवृत्ते स्थितः घेट. ।



आयं क (स्वगतम्)

नरपतिपस्थाणा दर्शनाद्भीतभीतः

सान्निगडन्नग्भत्वात्सावशेषापसार ।

अविदितभेदिरूढो यामि साधोस्तु याने

परभूत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ॥३॥

अहो नगराल्पदूरमपक्रान्तोऽस्मि । तत्रिमस्मात्प्रवहणादवतीर्य कृश  
वाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथवा कृ  
वृक्षवाटिकागहनेन । अमुपपन्नवत्सलं ससु तत्रभवानायं चारुदत्तं धूमने ।  
तत्प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि ।

स तावदस्मादन्यसनाणंवात्थित निरोह्य साधुः सन्नुपैति निर्बृत्तम् ।

शरीरमेतदगतभीहृष्टो दशा घृतं मया तेस्य महात्मनो गुणैः ॥३॥

श्लोक — इमं तं उज्जायम् । आव उज्जायामि । (उज्जाय) अज्जायिते ।

[इदं तदुद्यानम् । यावदुपसर्पामि । आयमं प्रियम् ।]

विदूषक — भो, पित्रं द जितेदेमि । वदुदमाणभो मन्तेदि । आगराप वसन्त  
सेनाय होदश्वम् । [भो प्रिय तं निवेदयामि । वर्धमानको मन्त्रयति । आगतो  
वसन्तसेनाया अमितव्यम् ।]

चारुदत्त — प्रियं न प्रियम् ।

विदूषक — दासीए पुता, कि विरक्षेति । [वास्या पुत्र, कि चिरादि  
तोऽस्ति ।]

श्लोक — अज्जायितेभ मा कुप्य । आणवत्तरे विमुर्मतिदे ति शपुत्र नगरादि  
वत्तेने वितदेहि । [आयमं प्रिय, मा कुप्य । यानास्तरण विस्मृतमिति कृत्या  
गतागति कुर्वन्निचरामितोऽस्मि ।]

चारुदत्त — वर्धमानक, पण्डितय प्रवहणम् । ससे मंत्रेय, अवतार  
वसन्तसेनाम् ।

विदूषक — कि निभडेण बद्धा से गोइहा जेण तज्ज न जोरेदि ? (उदया  
प्रवहणमुदाटय) भो, ए वसन्तसेना, वसन्तसेनो वसु एसो । [किं निगडेन बद्धा  
वस्या पादो, येन स्वयं भावनरति । भो, न वसन्तसेना, वसन्तसेनं रात्वेप ।]

आयं क मनसि चिन्तयति — नरपतीति । नरपतिपस्थाणा रामपुराणा  
दशानाम् भीतभीतं ज्ञायन्त भीत, निगडेन सहितं सन्निगडं परणं यम्यं स तन्नि-  
गडपरणं तस्य भाव सन्निगडवरणस्य तस्मात् श्रुत्वात्सुतपरणस्याप्य हेतो तावन्नेक  
किञ्चिद् प्रवक्ष्यति अपतार अपतरणं पलायनं यस्य तादृशं अहम् आयं क तावो

आपंक—(अपने आप)

राजपुरियों के देखने में जल्दन् इरा हुआ, बेड़ीयुक्त बंद होने के कारण पूर्ण-  
तया न भाग सकने वाला (मैं) काक मादाओं के द्वारा रक्षित कोयल के समान (विभी)  
मन्पुर्य की मवारों पर अनजाना ही आरुढ़ होकर जा रहा हूँ ॥३॥

अहो ! नगरी में बड़ो दूर निकल गया हूँ ! तो क्या इस रथ से उतर कर  
दृष्ट वाटिकाओं के गहन म्यान में धुम जाऊँ ? या फिर रथ के स्वामी के दर्शन करूँ ।  
अथवा गहन वृक्ष वाटिकाओं को रहने दूँ ? पूर्य आप चाण्डल शरणागत-वत्सल सुने  
जाते हैं तो (उनके) दर्शन करके जाऊँगा ।

यह मन्पुर्य इस आपत्ति रूपी समुद्र से पार उतरे हुए (मुझे) देखकर बानन्द  
को प्राप्त होगा । मैंने इस अवस्था को प्राप्त हुआ यह शरीर उम महात्मा (चारदत्त)  
के गुणों से ही धारण किया है ॥४॥

छेद—यह वह उद्यान है । जब तक समीप चला हूँ । (समीप जाकर),  
मंत्रेय ।

विदूषक—श्रीमान् जी, आपने प्रिय निवेदन करता हूँ । वर्धमानक पुत्र  
रहा है । बन्तमेना आई होगी ।

चारदत्त—प्रिय है ! हमारे लिये प्रिय है ।

विदूषक—दामी के पुत्र, देर बने की ।

छेद—आप मंत्रेय, क्रोध मत कीजिये । गाड़ी की बिदावन (गहिया) भूल  
गया था, इनलिये लौट कर कन्ते हुए देर हो गई ।

चारदत्त—वर्धमानक, गाड़ी को फेर लो । मित्र मंत्रेय, बन्तमेना की  
(उत्तर लो) ।

विदूषक—क्या इसके पंर बेड़ी में बंधे हैं, त्रिमने यह स्वयं नहीं उतरती ?  
(उठकर गाड़ी को उठाइ कर) श्रीमान् जी, यह बन्तमेना नः, बन्तमेन है ।

चारदत्तस्य दाने अविदितम् अज्ञातकालेन आघट्टः सन् वायमीभिः शक्तीभिः भीटे  
कृतापे रक्षितः परभृतः कोविन् । इव धामि मन्त्रामि । उपमातद्वारः । मालिनी  
वृत्तम् ॥३॥

अज्ञानः दूरं गतः वृक्षवाटिकाया उद्यानम् गहनं दुर्गन्तस्थानम् । कृतम्  
बन्तम् । मन्पुर्यपन्नेषु शरणागतेषु धन्तः मन्त्रेयः ।

स इति । माघः मन्त्रेयः सः चाण्डलः अस्माद् ध्यमनम् अगतिः एव अन्तः  
मारः तस्मात् ज्ञानिमायरात् उत्थितम् उत्तीर्णं वा निरोधेय विचोच्य विदुषि  
दुर्गं मन्पुर्यं प्राप्स्यति तावत् । ईहायां दमा गन्तु एतत् शरीर मया तस्य  
महात्मेन चाण्डलस्य मुनेः परोपकारार्थिना घृतम् । चाण्डलस्य ब्रह्मणे विप्राः गान्धेय  
अहं पन्तमेन रक्षितः इति भावः । वर्धमानं वृत्तम् ॥४॥

चारदत्त — वयस्य, अल परिहासेन । न कालमपेक्षते स्नेह । अयं वा स्वयमेवावतारयाति । (इयुत्तिष्ठति)

आयंकः—(दृष्ट्वा) अये अयमेव प्रवहणस्वामी । न केवलं श्रुतिरमणीय दृष्टिरमणीयोऽपि । हन्त, रक्षितोऽस्मि ।

चारदत्त — (प्रवहणमधिरह्य दृष्ट्वा च) अये त्तकोऽयम् ।

करिकरसमबहु सिंहपीनोन्नतास

पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायतास ।

कथमिदमसामान प्राप्त एवत्रिधो यो

बहुति निगडमेक पादलग्न महात्मा ॥५॥

तत. लो भवान् ।

आयंकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरायंकोऽस्मि ।

चारदत्तः—किं घोपादानीय योऽसौ राज्ञा पालवेन बद्ध ।

आयंक — अथ किम् ।

चारदत्तः—

विघ्नैर्बोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागत ।

अपि प्राणानह जह्या न नु त्वा शरणागतम् ॥६॥

(आयंको हयं नाटयति)

चारदत्त — वर्धमानक; शरणान्निगटमपनय ।

वेद — ज अजो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अयम्, अवणीदाई निगसाई ।

। यदायं आजागयति । आय अपनीतान निगडान् ।।

आयंक — स्नेहमयान्यन्यानि दृढशरणि दस्तानि ।

विरूपक — संगच्छेहि निअडाइ । ऐसो पि मुक्को । सपद अह्ने बज्रिस्तामो ।

[सगच्छस्व निगडानि । एपोऽपि मुक्तः । साप्रत वयं ब्रजिष्यामः ।]

चारदत्त — धिवशान्तम् ।

आयंकः—सखे चारदत्त, अहमपि प्रणयेनदं प्रवहणभारदः । तत्सन्त-  
ध्यम् ।

न कालम् अपेक्षते कालविशेष न सहते, नियं जनमविलम्बेन दाप्तुमप्रि-  
सापो भवतीति भाव । श्रुतो धवणे रमणीय मनोरम इष्टो दर्शने रमणीय ।  
हन्त इति हयं ।

स्वप्रवहणाकृष्टम् आयंक दृष्ट्वा चारदत्त ब्रजयति—ब्ररीति । करिण हस्तिनः  
दरेण शुण्डादण्डेन समी तुल्यो बाहू यस्य, सिंहस्य इव पीनो पुष्टो उन्नतो च अंती

चारदत्त—मित्र, परिहास को रहने दो। प्रेम समय (दिली) को नहीं सहन करता है। अपना मैं स्वयं ही उकारता हूँ। (उठता है)

आर्यक—(दिग कर) अरे ! यही गाड़ी के स्वामी हैं। केवल सुनने में ही रमणीय नहीं हैं अपितु देखने में भी मनोरम हैं। अहा ! मैं सुरक्षित हो गया हूँ।

चारदत्त—(गाड़ी पर चढ़कर तथा देखकर) अरे ! तब यह कौन है ?

हाथी के सूड के समान जिसकी मुजाएँ हैं, मिह के समान पुष्ट एवं उन्नत कंधे हैं, अल्पतं विद्यान तथा समनल बभ्र स्वयं है, नाग्रवर्णं चञ्चल तथा दीर्घ नेत्र हैं—जो इन प्रकार का यह महानुभाव है, वह इस अनुचिन्त दगा को प्राप्त होकर पर मैं बँधी हुई वेड़ी को क्यों धारण कर रहा है ? ॥१॥

आर्यक—आपकी करण में आया हुआ मैं योपाल का पुत्र आर्यक हूँ ?

चारदत्त—क्या जिते घोष से लारुन राजा पालक ने बन्दी बनाया ?

आर्यक—और क्या ?

चारदत्त—सौभाग्य से यहाँ लाये हुए तुम मेरी दृष्टि के विषय हुए हो। चाहे मैं प्राणों को भी त्याग दूँ किन्तु शरण में आये हुए तुमको नहीं त्यागूँगा ॥६॥

(आर्यक हर्ष का अभिनय करता है)

चारदत्त—वर्धमानक पर मे वेड़ी लौन दो।

चेट—जो आर्य आजा दें। (बँसा करके) आर्य वेड़ियाँ दूर कर दीं।

आर्यक—(किन्तु) दूररी अधिक दृढ प्रेम की वेड़ियाँ पहना सी हैं।

बिद्वयक—वेड़ो साथ ले लो। यह भी मुक्त हो गया। अब हम लोग चलेंगे।

चारदत्त—धिक चुन रहो।

आर्यक—मित्र चारदत्त, मैं भी स्नेह के कारण इस गाड़ी पर बस गया था, तो मुझे क्षमा कर देना।

इच्छां दस्य, वृषुतरं विज्ञानं ममं च दशस्वतं दस्य, ताभ्रं शास्त्रवर्षं सोते चञ्चले  
आपते दीर्घं च अक्षिणी लोचने दग्धा, सः एवविधः महात्मा सः इदं पुरो दृश्यमानम्  
अममानम् अनुरूपं प्राप्तः पादतान् पादे समन् एकं निगड इयं वर्ति धारयति ?  
उत्तमात्कृष्टः । मानिनी वृत्तम् ॥१॥

गोपालः प्रकृति. कारण अनक इति पावन् दस्य तदाभूतः । विधिनेति ।  
विधिना भाष्येन उपनीतः मय सधीपन् जन्मोतः स्वम् आर्यकः मम चारदत्तस्य धनुर्विषयं  
दृष्टियोरकरताम् अयतः प्राप्तः अहं प्राणान् अवि जहाम् स्वमेरुम्, त किन्तु शरणायनं  
त्वां न त्यज्यामि इति शेषः ॥६॥

सप्तमोऽङ्कः संगतानि कुच, आर्यं नय इति भावः (टि०) ।

चारुदत्त — अलङ्कृतोऽस्मि स्वयं ग्राहप्रणयेन भवता ।

आयंक — अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारुदत्तः — गम्यताम् ।

आयंक — भवतु अवतरामि ।

चारुदत्त — सखे, नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीन्सयमनस्य भवतोऽलङ्कृतसवारा गतिः । सुलभपुरुषसचारेऽस्मिन्प्रदेशे प्रवहण विश्वासमुत्पादयति । तत्प्रवहणेनेव गम्यताम् ।

आयंक — यथाह भवान् ।

चारुदत्त —

क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आयंक —

ननु मया लब्धो भवान्बान्धवः

चारुदत्तः —

स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आयंक —

स्वात्मापि विस्मयंते ।

चारुदत्तः —

त्वा रक्षन्तु पयि प्रयान्तगमराः

आयंक —

सरक्षितोऽहं त्यया

चारुदत्त —

स्वर्भायैः परिरक्षितोऽसि

आयंकः —

ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ॥७॥

चारुदत्त — यदुच्यते पालके महती रक्षा न वर्तते, तच्छोद्यमपकामतु भवान् ।

आयंकः — एवं पुनदर्शनाय । (इति निघ्रान्तः)

स्वयंग्राहः (टि०) अभ्यनुज्ञात अनुमत । प्रत्यग्रं नवीनम् अन्नीत दूरीकृतं सयमनं बन्धनं यस्य । अलङ्कृतं मन्दं सञ्चारं वेगं यस्या सा गतिः । सुलभसवारा इति पाठान्तरं लघु अत्र सवारं सवरणं (दिपानां) यस्या तेषामभूता इत्यर्थः । सुलभं पुरपाणां

चारदत्त—स्वयं बहग में स्नेह रखने वाले आपने द्वारा मैं अंतर्दूत हो गया हूँ ।

आयंक—आप से आज्ञा पाकर मैं जाना चाहता हूँ ।

चारदत्त—जाइये ।

आयंक—बन्धा, उतरना हूँ ।

चारदत्त—मित्र, उतरना नहीं चाहिये । अग्नि (अन्यत्र) हृद्यया (मोचा) गया है बन्धन त्रिमरुः ऐसे आपकी चार मन्त्र वेप वाली है, इस प्रदेश में जहाँ कि बहुत बद्रिष्ठ (राज) पुष्टियों का समनामनन हो रहा है, माही विश्वास उत्पन्न करती है । इन्हींमें माही में ही जाइये ।

आयंक—बैसा आप कहें ।

चारदत्त—कुशलतापूर्वक अपने सम्बन्धियों के पास जाओ ।

आयंक—मैंने तो आपको ही सम्बन्धो पाया है ।

चारदत्त—आप बालचीन में मेरा भी स्मरण कर लेना ।

आयंक—अपनी आत्मा भी फुलाई जाती है ?

चारदत्त—भाग में जाने हुए तुम्हारी देखता रसा करे ।

आयंक—मैं आपके द्वारा ही सरक्षित हो गया हूँ ।

चारदत्त—अपने भाग्य में रक्षित हुए हो ।

आयंक—किन्तु उसमें भी आप ही कारण हैं ॥३॥

चारदत्त—बताकि पावक (पकड़ने के लिये) उदट है त्रिमने आपकी भती भौति रगा नहीं हो सकती, इमनिसे आप भीष्ट बने जाइये ।

आयंक—अच्छा फिर दर्शन के लिये (आज्ञा करता हुआ जाना हूँ)

(निकल जाता है)

मन्त्रधारो यत्र तस्मिन् । क्षेमैनेति (अर्थ) चादनादंस्थोत्तरेण अष्टसप्तः  
श्रीः (पृथ्वीः)

क्षेमैण मनुजान् बाणधनुं स्वजनान् प्रति वत्र पक्ष ।

मनु निरिषुतमिदं यत्र मया आयंकेन धनुं चारदत्तः बाणधनुः सप्तः  
प्रान्तः । अथवा आयंकेन कदाचनरेषु वासिनां मध्ये अहं चारदत्तः स्वर्ग्यः स्वरपीयः  
अग्निः । स्वात्मा स्वकीयः आत्मा तपि त्रिमर्दते किम् ? न कदापि विस्मयंते इति  
भावः । चारदत्तश्च आयंकेन बाणधनुः । जन एतः 'न कथं त्रिमर्द' इत्यने ?  
पुनश्चारदत्तः तस्य धुमं चाम्पते—एषि मापं प्रशान्त मन्त्रं स्वाम् आयंकम् अमराः  
देवाः रक्षन्तु । आयंकः उत्तरयति—अहं स्वया चारदत्तं संरक्षितः । चारदत्तस्यो-  
दयं प्रकृतयति—स्वैः स्वकीयैः भावैः परिरक्षितः अग्नि स्वम् न न् मनेति । आयंकः  
इत्यत्रां द्योपति—हे तत्र अग्नि मापं कृतेषु रक्षणे धनुं चारदत्तं हेतु मनु  
निरवदेन । शार्दूलविशीरितं वनम् ॥३॥

उदने उदनं कुर्वति ।

धारदत्त—

कृत्वैव मनुजपतेमहदव्यलोकं

स्वातु हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन् ।

मैत्रेय क्षिप निगड पुराणकूपे

पश्येन्नु क्षितिपतयो हि चाग्दृष्टया ॥८॥

(वामाक्षिस्पर्शन सूचयित्वा) सखे मैत्रेय वसन्तसेनादशनोत्सुकोऽयं जन । पश्य ।

अपश्यतोऽद्य ता कान्ता वाम स्फुरति लोचनम् ।

अकारणपरित्रस्त हृदय व्यथते मम । ६॥

तदेहि । गच्छाव । (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदगिक श्रमणकदशनम् ।  
(विषय) प्रविशत्स्वयमनेन पथा । वयमप्यनेनैव पथा गच्छाम । (इति निष्क्रान्त)

इत्यार्यकापहरण नाम सप्तमोऽङ्कः ।

कृत्वैति । मनुजपते नृपते पालकस्य महद् व्यलोकम् अहितम् अपराधं वा  
कृत्वा अस्मिन् स्थाने क्षणम् अपि स्वातु न प्रशस्तं मुक्तम् । हे मैत्रेय निगडम् मापन्न  
रणात् अपनीतं न्यायं पुराणकूपे क्षिप पातय हि यत क्षितिपतय भूपतय धारा एव  
दृष्टिं तथा पश्येद्यु । चारुचक्षुषो हि राजान, । प्रहर्षिणो वृत्तम् ॥८॥

घारदत्त—इस प्रकार नृपति (पालक) का महान् अउराध करके इस स्थान पर लज भर भी ठहरना अच्छा नहीं । है भैत्रेय, इस बेड़ी को पुराने कुएँ में फेंक दो, क्योंकि राजा (शक्तिपति) दूत-रूपी दृष्टि से इसे देख लेंगे ॥८॥

(बाईं जाँख का फटकना प्रकट करके) मित्र भैत्रेय, यह जन (अर्थात् मैं) वसन्तसेना को देखने के लिये उत्सुक है । देखो—

आज इस प्रियतमा को न देखते हुए मेरी बाईं जाँख फटक रही है । तथा बिना कारण के ही भयभीत हुआ मेरा हृदय व्यथित हो रहा है ॥९॥

तो आओ, जाते हैं । (धूमकर) क्या सामने ही अमङ्गलकारी बीडमिथु का वर्तन हो गया ? (विचार कर) यह इस मार्ग से प्रवेश करें । हम भी इस (दूतरे) ही मार्ग में जाते हैं ।

(निकल जाता है)

आर्यक-अपहरण नामक सप्तम अङ्क समाप्त

अपरपत इति । अथ तां शान्तां प्रियां वसन्तसेनाम् अपरपतः अनप-  
लोक्यतः मम सोचनं वामनेत्रं स्फुरति । मम घारदत्तस्य च कारणं विना  
एव परित्रस्तं भयभीतं हृदयं व्यथते ॥९॥

अभ्युदयः सङ्कल्पः प्रयोजनं यस्य तद् आभ्युदयिकम् न आभ्युदयिकम् अनाभ्यु-  
दयिकम् अमङ्गलम् अमङ्गलं बीडमिथुः ।

इत्यार्यकानहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।



## अष्टमोऽङ्कः

(ततः शक्तिवत्यादं चोवरहस्तो भिज्ज )

भिज्जु - अज्ञा, कलेष घम्पश्चञ्ज

शज्जमाघ णिअगोटं णिञ्च जग्गेध झाणाउहेण ।

विशमा इन्द्रिअबोला हलन्नि निलसाचिदं घम्पम् ॥१॥

अवि ॥ । अनिक्कवाए पेक्खिअ णवस दाव घम्पाण सत्तणम्हि ।

एञ्चज्जण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ गाम लम्बिदे ।

अबले अ चण्डाल मालिदे अबस वि शेणल शग्ग गाद्दि ॥२॥

शिल मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिदे कोश मुण्डिदे ।

जाह उण अ चित्त मुण्डिदे शाह् शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ॥३॥

दिहिरकसाभोवए एते घोचते, जाव एव सट्टिअशातकाहकेसवे उज्जाने पक्खिसिअ  
पोक्खल्लिणीए पक्खल्लिअ सहुं सहुं अबक्कमिअणम् । (अज्ञा ... न घम्पंसचयम् ।

सपच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन ।

विषमा इन्द्रियचोरा हरन्ति चिरसञ्चित्त घर्मम् ॥

अपि च । अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावदमर्षाणां शरणमस्मि ।

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामोदरक्षितः ।

अवलः क्व चाण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥

शिरो मुण्डितं तुण्ड मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम् ।

यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

पृहीतकषायोदकमेतन्नीवरम्, यावदेतद्राष्ट्रियशयात्कस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्या प्रसात्य सधु लघ्वपक्कमिअ्यामि । (परिक्ख्य तथा वतोति)

(निपथ्ये)

शकार.—चिठ्ठ ॥ दुट्टशमणका, चिठ्ठ । [तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक, तिष्ठ ।]

भिज्जुकः वयमपि सपच्छतः इति । हे अज्ञा अज्ञानिनः, निजोदरं स्वकीयम्  
उवर सपच्छत सपत्तं भुरग, ध्यानमेव पटह, वाचविशेष, तेन नित्यं सदा जाग्रत  
सावधाना भवत । मुत इत्याह—यत, इन्द्रियाणि एव चोरा इन्द्रियचोरा विषमा

## आठवाँ अङ्क

(तब गोना बस्त्र हाथ में लिए हुए भिक्षु प्रविष्ट होता है)

भिक्षु—अज्ञानी जनो, धर्म का संवय करो ।

अपने लडेर को समत करो, ध्यान-रूपी पटह (नगाड़े) में सदा धामते रहो;  
(क्योंकि) ये इन्द्रिय-रूपी चौर भयङ्कर हैं । ये बहुत समय से सचित धर्म को हर लेते हैं ॥१॥

और भी । (हंसार को) अनिरपत्ता के भाव से देखकर मैं एकमात्र धर्मकायी  
की शरण में (आ गया) हूँ ।

जिमने पाँच जनों (इन्द्रियों) को मार दिया, (अविद्या-रूपी) स्त्री को मारकर  
(गरीर-रूपी) ग्राम की रक्षा कर ली तथा दुबल चाण्डाल (अहङ्कार) का नाश कर  
दिया, वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥२॥

गिर मुँहा लिया, मुझ मुँहा लिया किन्तु मन नहीं मुझाया (पवित्र नहीं किया)  
यह मुँहाजा किस काम का है ? और फिर जिसका चित्त भली प्रकार मट गया है  
(पवित्र हो गया है) उसका गिर भली भाँति मुट गया है ॥३॥

प्रथमतः (यावत्) इन राजा के माने (संभ्यातक) के उद्यान में प्रवेश करके  
गैर-रंग में युक्त इन बस्त्र की पोखर में प्रोकर लोप्रातिगीम्र बना जाऊँगा ।  
(धूमकर बंसा हो करता है)

(नेपथ्य में)

सकार—ठहर, अरे, दुष्टधनगर ठहर ।

भयङ्करा भवन्ति ते च विरताञ्छ्वभं बहूनामेव जगतिर्धर्मदुष्यं हरन्ति । आर्षास्तिः  
वृत्तम् ॥१॥

पञ्चजनना इति । देव जनेन उच्यते । पञ्च इन्द्रियाणि इत्यर्थः मारिताः  
पञ्चीकृतानि, तिरपम् अविद्याम् इति भावः मारयित्वा नाशयित्वा धाम । शरीरम् आत्मा  
या रक्षितः अक्षयः अक्षयः दुबलो वा चाण्डालः अहङ्कारः इत्यर्थः मारितः स मरः  
अथर्वं स्वर्गं गच्छति । वैशालीयं वृत्तम् ॥२॥

गिर इति । यस्य जनस्य गिरः मुण्डितम्, लुण्ठं मुगं मुण्डितम्, चित्तं न  
मुण्डितं न संपत्नीकृतम् । तथा किमर्थं मुण्डितं तस्य मुग्धनेन न कोर्षेति साधः इति  
भावः । बन् । किन्तु बस्य जनस्य चित्तं साधु मन्दम्, मुण्डितं तस्य गिरः मुग्धं सम्पत्  
मुण्डितम् । वैशालीयं वृत्तम् ॥३॥

भिक्षु—(दृष्ट्वा सभयम्) ही अविदमानहे । एषो शी साभयानांशोऽपि आभवे  
एकेन भिक्षुणा भवत्यहे किंचे अन्नं पि जहि जहि भिक्षुः पेश्चतं, तहि तहि योप  
विज चास विन्धिअ भोवाहेहि । ता कर्हि भसलने शस्यं गमिरयम् । अथवा भट्टारके  
ब्रजेव बुद्धे मे मतये । [आश्वयम् । एषा स राजत्यालसंत्पानक आगतः । एकेन  
भिक्षुणापराश्रे कृतेऽन्यमपि यत्र तत्र भिक्षुः पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासिकी  
विद्धवापदाहयति । तत्कुवाशरणं शरणं गमिष्यामि । जगवा भट्टारक एव बुद्धो  
मे सारयाम् ।]

(प्रविश्य हसद्गनेन विटेन सह)

शकारः—चिट्ठ से बुद्ध्यामपका, चिट्ठ । आवाचअमज्जतविट्ठरा विअ  
सत्तयुतअरा शीशं वे भोद्धइराम् । [तिष्ठ रे दुष्ट श्रमणक, तिष्ठ । आपानकम-  
ध्यप्रविष्टत्येव रक्तमूलकस्य शीषं ते भइष्यामि । (इति ताडयति)]

विट्—हागेलीयात, न युक्त निवेदयतकपायं भिक्षुः ताडयितुम् ।  
तत्किमनेन । इदं तावत्सुखोपगम्यनुद्याम पश्यतु भव न् ।

अशरणशरणप्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाणचारुकर्म ।

हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिजितोपभोग्यम् ॥४॥

भिक्षुः—शामयम् । पुगोइतु उवाशके । [स्वागतम् प्रसीदतूपासकः]

शकारः—भावे, देवक पेश्च । आरकोधरि यम । [भाव, पश्य पश्य आङ्को-  
शति माम् ।]

विट्—किं ववीति ।

शकारः—उवाशके त्ति मं वपादि । किं ह्यगे आदिहे । [उपासक इति नां  
भर्णात् किमहं नापितः :]

विट्—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तीति ।

शकारः—पुत्रु शमगका, पुत्रु । [स्तुहि श्रमणक, स्तुहि ।]

भिक्षु—सुमं वण्णे, सुमं पुण्णे । [त्वं धन्यं, त्वं पुण्यः ।]

पूर्वतं वपायोदकं वपावर्णम् उदकं देन तद् । शीवर वरत्र बोद्धभिधुराणां  
वपेवितोपो वा । वृष्वरिष्यां वृत्रमस्योदरे (साते) । यद्यपि राजन्मानवः  
एव राट्टियः तथापि—'राट्टियस्यासत्त्वेन च पुनः सयोवः प्रकथंस्वापनायं.' इति  
पृथ्वीधरः ।

अपवाहयति अजसारयति, दूरीकरोति । भट्टारकः स्वामी, देवः । सायानं  
पानगोष्ठीं मद्यानां समाज इति यावत् तस्य माये प्रविष्टस्य रक्तमूलकस्य शीषं  
इव, 'मद्यः हि जनसकभायमपनीय मूलकमुपवगोबुवंति'—इति प्रतिदि- निबंदेन  
भैरव्येन प्रोक्तं कथाय वेन तम् । 'कथा' इति वाचस्पत्यम् ; सुभेन उच्यमानम्

मित्रु—(देखकर भयपूर्वक) नाराचयं, यह यह राजा ना साना संन्यासक आ गया। एक मित्रु के अपराध करने पर (अब यह) जहाँ-जहाँ दूसरे भी मित्रु को देखता है, वही उसे बँस के समान नाक बेंछकर (नाथ कर) बाहर निकाल देता है। तो आश्रमहीन मैं किसकी करप में जाऊँ? अबवा भद्रवान् बुद्ध ही मेरे आश्रय है।

(मध्व तिमिरे हुए विट के साथ प्रवेश करते)

शाकर—ठहर, अरे, दुष्ट धमनक, ठहर। मैं महिरालय में आई हुई बात सुनो के समान तेरे गिर को तोड़ना है। (मारता है)

विट—कानेनी के पुत्र, बंराय से देखा कात्र धारण करने वाले इस मित्रु को मारना ठीक नहीं। तो हमसे क्या? आप तनिक इस मुसमम् उदान को देखिये।

जिनमें आश्रमहीनों को आश्रय तथा आनन्द देने वाले वन-वृक्षों के द्वारा मनोहर कार्य किया जा रहा है, जो दुष्ट-जनों के हृदय के समान (पदेष्य विहार आदि के कारण) धनिधनिता है और नवान राज्य के समान भलो-भाति अधिकृत न किया गया तथा सबके उपभोग के योग्य है ॥३॥

मित्रु—स्वागत है उपासक (बुद्ध के पूजक) होयें।

शाकर—मात्र, देखो, देखो यह मुझे यार्ता दे रहा है।

विट—क्या कहता है?

शाकर—मुझे उपासक' कटता है, क्या मैं लार्ई हूँ?

विट—'बुद्ध का उपासक' ऐसा कह कर आपको प्रणम्य करता है।

शाकर—प्रणम्य करो, धमनक, प्रणम्य करो।

मित्रु—पुत्र वन्य हो, पुत्र पुत्र (पवित्र) हो।

उदानम् (टि०) । अशरपति । अशरवानाम् आश्रमहीनानां करपम् आश्रयः, प्रमोदभूताः आनन्दम्भरुणाः अशरपकरदानव ते प्रमोदभूतावर्गं सं. वनतर्पितः वनवृक्षाः विपमार्गं धार्य वनोरणं वनं वनं तद् । 'पुराणमनां दुष्टानां (व्याहृताभिति धनिः—काने) हृदयम् इव वपुतम् वनिधनिताम् । नहं नूतनं राज्यम् इव अत्रिजिनि धादिहृतं पतरव सर्वैः उपभोग्यं सर्वेषाम् उपभोगयोग्यम् अत्र सुकरः मित्रुकम् प्रवेगः इति भावः । वनानन्दारः । पुनिताज्ञा वृत्तम् ॥३॥

माफोतनि दानिप्रदान करोति । उपासते इति उपासकः मादिप्रोति उपासकः उपासे स हि केनसर्वप्रमदने उपासे—उपासे, आसते—लिप्यति । अबवा 'स हि उपासको पत्य, इत्यादिम्' (इति पृथ्वीषट्) ।

गनासकः—पार्षिकः, पासकः इत्यन्ते । कोपकः इष्टकादिरचित उत्तरदानं

शकार — भावे धेष्णे पुष्णे ति मं भणानि । किं ह्यगौ शताशके कोशके कोम्भकारे वा । [ भाव, धन्य पुष्य इति मा भणानि । किमहचार्याक, कोष्ठक कुम्भकारो वा ।

विट — काणलीमात ननु धन्यस्त्वम् पुष्पस्त्वम् इति भवन्तं स्तीति ।

शकार — भावे, ता कोश एते इय आगते । [ भाव, तत्किमपि इहागत ]

मिक्षु — इद चीवर पक्कालिदुम् । [ इद चीवर प्रदालयितुम् । ]

शकार — अस्ते दुष्टशमणका, एते मम धेष्णीपदिना शम्भुज्जाणान एवते पुष्करुलपुद्गुजाणे दिष्णे महि दाव शुणहका शिभात्ता पाणिन पिअन्ति । ह्ये वि पक्कलुत्तिरो मशुराके न व्हाआमि । तहिं तुम पुक्कलिणीए पुत्ताणकुलुत्तयज्जागवणाइ उरराण्णियमाइ चीवलाइ पक्कालेशि । ता तुम एकपहातिअ कलेमि । [ अरे दुष्ट-श्रमणक, एतम्मम भगिनीपदिना सर्वोद्यानाना प्रवर पुष्पकरण्डोद्यान उत्तम्, यत्र तावच्छुलका शृगाला पानीय पिबन्ति । अहमपि प्रवरपुत्तपो मनुष्यको न स्नामि । तत्र त्व पुष्करिण्या पुराणकुलित्ययूपसवर्णाग्धुप्रगन्धीनि चीवराणि प्रदालयसि । तत्त्वामेकप्रहारिक करोमि । ]

विट — काणलीमात, तथा तर्क्यामि यथानेनाचिरप्रव्रजितेन भवित-  
ष्यम्

शकार — कथं भावे जणानि ? [ कथं भावो जानाति ? ]

विट — किमत्र ज्ञेयम् । पश्य—

अद्याप्यस्य तथैव नेशचिरहाद्गौरी ललाटच्छवि-

कानस्याल्पतया च चीवरकृत स्कन्धे न जातं किञ्च ।

नाम्भस्ता च वरायवस्त्ररचना दूरं निगूढान्तरं

परत्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिलं स्वन्धे न सतिष्ठते ॥५॥

मिक्षु — उवाशके, एवम् । अचिलपक्कजिरे ह्ये [ उपासक, एवम्, । अचिर-  
प्रव्रजितोऽहम् । ]

शकार — ता कोश तुम जातमेतक अजेवण पक्कजिरे । [ तत्किमपि त्वं  
जातमात्र एव न प्रव्रजित । ] (इति ताडयति)

(निदानम्) एत्र एतव पानीय पिबन्ति तद् हि पुष्प प्राण्यनुग्रहात् । कुम्भकारोऽपि  
पुष्पं जनानामुपकारकरणात् । अथवा शकारवचनाद् अनर्थका एव इमं शब्दाः ।

प्रवर धेष्णम् । शुनका कुबहुराः । पुराण कुलित्य अन्विधेयं तस्य  
पुष्पस्य शवर्णानि तुत्यानि 'शवर्णानि' इति पाठान्तरम् । उग्रगन्धीनि तीदण्य-  
पुनानि । एकप्रहारिकम् एकं प्रहारः जीवितापहारत्वेन अस्ति अस्य, एकप्रहारेण

शकारः—भाव, 'धन्य-पुण्य' ऐसा मुझको बहता है । क्या मैं चार्वाक (भौतिकवादी) हूँ, कोष्ठक (अण्डारी, अन्न का कोठा या जल भरने की चर—देगिये टिप्पणी) बयवा भुम्भकार हूँ ।

बिट—काणेली के पुत्र, वह तो 'तुम धन्य हो ।' नृम पवित्र हों—इस प्रकार तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है ।

शकार - भाव, तो किस लिये यहाँ आया ?

मिक्षु—इस वस्त्र को घीने के लिये ।

शकार—अरे दुष्ट श्रमणक, मेरे बहनोई ने सब उद्योगों में श्रंष्ट यह 'पुण्य-कराज' नाम का उद्योग मुझे दिया है जहाँ कुत्ते और तिमार पानी पीते हैं, श्रंष्ट पुरुष, मनुष्य मैं भी यहाँ स्नान नहीं करता हूँ । तू उस गोलरी में पुराने कुत्ताप के बात्रे (पूप) जैसे रंग वाले, उग्र दुर्गन्ध युक्त वस्त्रों को धोता है । मैं तुझे एक प्रहार से (ही) मारता हूँ ।

बिट—काणेली के पुत्र, मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह कुछ समय से ही परिव्राजक हुआ है ।

शकार—आप कैसे जानते हैं ?

बिट—इसने जानने योग्य ही क्या है ? देखो—

सौत्र भी केशों के अभाव से इसके तनाट की कान्ति वैसे ही गौर वर्ण है । अल्प समय होने के कारण ही कर्णों पर वस्त्र का चिह्न नहीं हुआ । इसे वेदए वस्त्रों के पहनने (अथवा रगने) का भी (पूर्ण) अभ्यास नहीं हुआ है, तथा जो उसके शरीर के मध्य भाग को अत्यन्त ढक रहा है एवं वस्त्र की विशालता के कारण शिथिल है, ऐसा इसके वस्त्र का छोर-(वस्त्रान्तम्) कर्णों पर नहीं टकुर रहा है ॥३॥

मिक्षु—उपासक, ऐसा ही है, कुछ समय से ही मैं परिव्राजक हुआ हूँ ।

शकार—तू उत्पन्न होते ही परिव्राजक क्यों नहीं हुआ ? (मारता है)

भारतीयमिति भावः । एक प्रहारेण मारणोक्तवयम् प्रयोगः इति पृथ्वीधरः ।

अचिरेण प्रयजितः अचिरप्रयजितः तेन ।

वयम् अनिरप्रयजितोऽयं भिक्षुरिति प्रतिपादयति बिट—अप्येति । अथ अथि केशविरहात् देशानाम् अस्मादाद् अस्य भिक्षुस्य सत्तादस्य छविः शोभा तपेव इहस्प्राप्तमे स्थितस्यैव गौरी गौरवपां इत्यये । बालस्य अल्पतया च धीवरहताः वस्त्रवृत्तः किणः धर्षणज व्रणचिह्नं स्वच्छे म जातः । वयापवस्त्रस्य रचना रञ्जनवार्थं वस्त्राणां कपायीकरवमिति यावद् वापायवस्त्रधारणं वा न स्पन्दना म सम्पत् शोभितम् । इदम् अत्यन्तं निगूढम् मयाध्यादिनम् यन्तरं गरीरस्य मध्यभागः येन तन्म, पटस्य वस्त्रस्य उच्छ्रिताम् विज्ञानतया प्रतिषिद्धं च वस्त्रान्तं वस्त्रान्धनः, नपुंसवत्वं विस्वमिति पृथ्वीधरः । स्वच्छे स्वच्छप्रदेशे त मनिष्ठे स्थितो न भवति । मनुष्यस्य काव्यतिङ्गुचामपुत्री । गाढंनिबिडोदितं इतम् ॥३॥

मित्त्वेणमो बुद्धया । नमो बुद्धाय ।]

विट्—किमनेन ताडितेन तपरिवना । मुच्यताम् । गच्छतु ।

शकारः—असे, विट्ठ शश आश सपद्यासेमि । [अरे, तिष्ठ तावत्, याव-  
स्तंप्रधारयामि ।]

विट्—केन सार्धम् ।

शकारः—असतो हृदयकेन । [आत्मनो हृदयेन ।]

विट्—हन्त, न गतः ।

शकारः—पुत्रका हृदयका पट्टके पुत्रके, एते सपणके भवि नाम कि गच्छतु,  
कि चिरदंढु । (स्वगतम्) नापि गच्छतु, नापि चिरदंढु, (प्रकाशम्) भावे, सपद्यासिद  
भए हृदयकेण सह । एते मह हृदयके भणारि । (पुत्रक हृदय, भट्टारका पुत्रक,  
एव श्रमणकोऽपि नाम कि गच्छतु, कि तिष्ठतु । नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु ।  
भाव, संप्रधारित मया हृदयेन सह । एतन्मम हृदय भणति ।]

विट्—कि यवोति ।

शकारः—मापि गच्छतु, नापि चिरदंढु । नापि क्रूरसदु, नापि शीघरातु ।  
इय ज्ञेय ज्ञप्ति पांडुभ भवेत् । [मापि गच्छतु मापि तिष्ठतु । माप्युच्छ्वसितु,  
मापि निरवसितु । इहैव ज्ञप्ति पतित्वा श्रियताम् ।

मित्त्वेणमो बुद्धया शसनागवेन्दि । [नमो बुद्धाय । शरणागतो-  
ऽस्मि ।]

विट्—गच्छतु ।

शकारः—अ कामएण । [ननु समयेन ।]

शकारः—तथा क्वम फेलदु, जया पापिअं पट्टाइस न होवि । भयवा पाणिअं  
पुञ्जीकदुअ कइमे फेलदु । [तथा कर्दमं प्रक्षिपत्, यथा पानीयं पट्टाविसं न  
भवति । अथवा पानोर्यं पुञ्जीकृत्य कर्दमे क्षिपत् ।]

विट्—अहो भ्रूयता ।

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ध्मभिः ।

मासदुधीरियं मुखेभारिकान्ता धमुग्धरा ॥१॥

(विद्युनाद्येनाहोशति)

शकारः—कि भणारि । [कि भणति ।]

विट्—स्तोति भवन्तम् ।

शकारः—पुणु पुणु पुणो वि पुणु । [स्तुहि स्तुहि । पुनापि स्तु हि ।]

(तथा कृत्वा निष्गन्तो विद्यु )

मिथु—बुद्ध की प्रणाम है ।

विट—इस ने शरों को मारने में क्या नाश है ? छोड़ दीजिये । क्या जाने (जाने दीजिये) ।

शकार—अरे, तनिक ठहर । अब तक विचार करता हूँ ।

विट—किसके साथ ?

शकार—अपने हृदय के साथ ।

विट—हाय, यह क्या नती ।

शकार—पुत्र हृदय, राजा हृदय, यह बौद्ध मन्दाती क्या जाने या टहरे ? (घरनें आप) न जाये जोर न टहरे । (प्रकट कर मे) भाव, देने हृदय क लक्ष निरुपम कर दिया । मेरा हृदय यह कहता है ?

विट—क्या कहता है ?

शकार—न तो जाये, न टहरे । न उच्छ्वास से, न विश्वास से, यही पर पुराण गिर कर मर जाये ।

मिथु—बुद्ध की प्रणाम । मैं शरण में आया हूँ ।

विट—यह जाये (इसे जाने दो) ।

शकार—किन्तु ममय (मत्त) से ।

विट—कौसा समय ?

शकार—यह इस प्रकार कीचड़ फेंक दे जिससे कि पानी गदगा न होवे । अपना पानी को इकट्ठा करते कीचड़ में फेंक दे ।

विट—बहो, कौसी भूलता है ?

विपरीत विचार तथा कार्य करने वाले, शिनापण्ड के सवान शरीर (वर्ष) शान्ति भास के दुर्भों जैसे मूलों के द्वारा यह पृथ्वी भारवती हो रही है ॥६॥

(मिथु अभिनय द्वारा कोसता है)

शकार—क्या कहता है ?

विट—आपकी प्रणाम करता है ।

शकार—क्षणता करो, प्रणाम करो; एक बार फिर प्रणाम करो ।

(वेसा करके मिथु निकल जाता है)

वानमात्रः उत्पन्नः । तत्त्विकता धरादेश । मद्रघाट्यानि विचारत्यानि, निरिचिनोमि वा ।

भट्टारक स्वामिन् । धर्मवदः बौद्धस्यवासी । अवि नाम इति पाश्या-  
नशूरे । सप्रणारितं निगिबतम् । समयेन शरदेन । वरुं पदुम् । वदुर्गवम्  
एदुने मनिनम् । शकारस्य मूर्गनामय वचनं श्रुत्वा विट वदति—विपरोतेति ।  
विपरोस्ते विपरीते मनः सेप्टा न देवा तादुर्गः शितारकसवन् पाश्यानगरवन्  
वर्नं शरीरं वेपथं । तः मातस्य वृषः इव मूर्त्तं शकारमदुर्गः जनैः इव वदुर्गपरा  
दुर्गः भारानन्ता भारवती वरुंते । उपमा करुण वानशूरो ॥६॥



विट.—काणेलीमातः, पश्योद्यानस्य शोभाम् ।

अमी हि वृक्षा फलपुष्पशोभिता

कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः

नृपाजया रक्षिजनेन पालिता

नराः सदारा इव यान्ति निर्वर्तिम् ॥७॥

शकारः—शुश्रुत् स्यावे भण्यदि ।

बहुशुभविचिन्तिता अ भूमि

कुशुभभलेण विणामिदा अ स्वखा ।

दुमशिहलतदाअलम्बमाणा

पणशफना विअ बाणला ललम्बि ॥८॥

[मुष्टु भावो भणति ।

बहुकुशुभविचिन्तिता च भूमिः कुशुभभरेण विणामिताश्च वृक्षाः ।

दुमशिहलतदाअलम्बमानाः पणसफलानीव वानरा ललम्बि ॥]

विट — काणेलीमातः, इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकार — एते हि माण्डि । (इति विटेन सहोपविशति) स्यावे अज्ज' वि तं पश'ततोपिअ शुभतामि । बुज्जणवअणं विअ हृदयकारो ण ओसतदि । [एयोऽस्म्यस्य दिनः । भावः, अद्यापि तां वसन्तसेना स्मरामि । दुर्जनवचनमिव हृदयमान्ना-पसरति ।]

विट — (स्वात्म) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा ।

स्त्रीभिर्निमानितानां कापुर्याणां विवर्धतेः मदनः ।

सत्पुरपस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥६॥

शकार—साये, वा वि येला यावत्तयेद्वेषता भणित्तरा 'प्रगृह्णं गेहिअ सहुं सहुं आण्ण्ये' ति । अज्ज वि ण आण्ण्येवि ति चित्तग्धि पुणुवित्ते । अण्ण्ये ॥ शक्रीअवि पादेहि गणुयु । ता पेवत्त पेवत्त ।

अमीति । पुष्ये कर्त्तुं च शोभिता कठोर पादं यथा स्यात् तथा निष्पन्दरामि. निश्चलापि सतामि. उपवेष्टिता आलिङ्गिताः अमी दृश्यमाना वृक्षा नृपय भानया रक्षिजनेन रक्षजनेन पालिता. रक्षिता. सदारा स्त्रीभि. सहिता नरा

दृष्ट—काणोली के पुत्र, उद्यान की शोभा को देखो ।

फल एवं पुष्पों से मुषोभित, निश्चल (निष्पन्द) वृत्तों से भली-भांति (शोर—गाइ) आतिथित ये वृक्ष राजा की आज्ञा से रसको द्वारा रचित सपत्नीक पुर्यों के समान मूल (निर्वृति) को प्राप्त कर रहे हैं ॥७॥

शकार—आप ठीक रहते हैं ।

भूमि अनेक रंग के पुष्पों से चित्रित है तथा वृक्ष पुष्पों के भार से झुके हैं । वृक्षों के ऊपर की छायाओं (सत्ता) पर लटकते हुए बानर कटहल (पत्त) के फल के समान शोभायमान हैं ॥८॥

दृष्ट—काणोली के पुत्र, इस शिलातल पर बैठिए ।

शकार—यह मैं बैठ गया । (दृष्ट के साथ बंठना है) । भाव, आज भी उस वसन्तसेवा का स्मरण करना है । दुष्ट जन के वचन के ममान वह मेरे हृदय में नहीं निरसनी है ।

दृष्ट—(अपने भाग) उम प्रकार निरस्त (निरस्त) होकर भी उसको याद करता है । अथवा स्त्रियों के द्वारा निरस्त हुए अपम (बापर) पुरुषों का काम-भाव (कामवातना) अधिक बढ़ जाता है, किन्तु सज्जनों का काम-भाव तो (स्त्रियों से अस्मानित होने पर) कम हो जाता है अथवा रहता ही नहीं ॥९॥

शकार—भाव, 'स्यावरक' मेबरक से यह रहे हुए कितना समय हो गया कि—'शाही को लेकर शीघ्र से शीघ्र आ जाओ' यह अब तक भी नहीं आ रहा है, मैं बहुत देर से भूला हूँ । मर्यादा में बँदल नहीं जाया जा सकता तो देखो, देखो—

इव निर्वृति मुलं यान्ति प्राप्नुवन्ति । उपमा, समामोक्तिश्च । बंगम्य वृत्तम् ॥१॥

बहुकुमुमेति । दूतिः बहुभिः नानावर्णैः कुमुमैः पुष्पैः विचित्रता, वृत्ता ध कुमुमवरेण विनामिता नम्राः कृता । वृत्ताणां वृत्ताणां शिलरतनाभ्यः प्रथमादगाधाधः अवसम्भमानाः वानरा एनमकृतानि (कटहल इति मश्यायाम्) इव सतन्ति शोभन्ते । उपमातद्भावेः । पुष्टिताया वृत्तम् ॥२॥

शिलातलम् अध्यास्यनाम् इति हेतुः । निरस्त निराहृतः, प्रत्याश्रयात् । श्रो-मिरिति । श्रोभिः विमानितानां निरस्तनाया वातुदवायाम् अधोरजनानां मदनः कामः विवदन्ते तु किन्तु सत्युपस्य स कामः एव मुहुः अन्व-अपति वा अथवा नैव मयति विनामति इति भावः ॥३॥

गहोमज्जगदे धूले दुप्पेवखे कुविदवाणलशस्तिच्छे ।  
भूमी दढशतता हट्ठपुत्तशदेव्व भन्धाली ॥१०॥

[भाव, कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य 'प्रवहणं गृहीत्वा सप्तु मध्यागच्छ' इति । अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्नं न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम् । तत्पश्च पश्य ।

नभोमध्यगत-सूर्यो दु-प्रेक्ष्य कुपितवानरसदृशः ।  
भूमिहृदसन्ध्या हनपुत्रसतेव गन्धारी ॥]

शिट — एयमेवम् ।

छायासु प्रतिमुक्तगन्धकवल निद्रायते गोकुलं  
तृष्णातश्च निपीयते वनमृगैरुष्ण पयः सारसम् ।  
सतापादतिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते  
तप्ता भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥

शकारः - भावे,

शिलशि मम शिलीणे भाव शुञ्जश पादे  
शउणिलगविहङ्गा सुवक्षशाहाशु सीणा । '   
फलगुलिजमपुशशा उण्हीदीहं शसन्ता  
फलशरणनिपण्णा आदवं शिव्वहन्ति ॥१२॥

भावे, अज्ज वि शे चेटे पाअअध्वि । अत्तमो विणोदधनिमित्तं किं वि पाइरताम् (इति पायति) भावे, भावे शुचं तुए अ मए पाइवम् । [भाव,

शिरसि मम निलीनो भाव, सूर्यस्य पादः  
शकुनिलगविहङ्गा मृक्षशाखासु सीनाः ।  
नरपुरपगनुध्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो  
गृहशरणनिपण्णा आतपं निवहन्ति ॥

भाव, अद्यापि स चेटो नागच्छति । आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि । भाव भाव, श्रुत त्वया यन्मया गीतम् ।।

आकाश के मध्य में गया हुआ सूर्य द्रुव वानर के (बुध के) समान है, देखा जाना कठिन है । मारे गये वे मो पुत्र जिसके उस गान्धारी के समान यह पृथ्वी अत्यन्त सतप्त है ॥१०॥

विट—यह ऐसा ही है ।

कोमल घास के प्राग को छोड़कर शायों का समूह छाया में नोद ले रहा है । प्यास से व्याकुल वन-मृगों के द्वारा मरोवर का गर्म जल पिया जा रहा है । सताप से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य नगरी के मार्ग (सड़क) पर नहीं चल रहे हैं । अतः मैं समझता हूँ कि सन्तप्त भूमि को छोड़कर वह यात्री वहाँ ठहर गई है ॥११॥

राक्षस - भा

सूर्य की किरण (चरण) मेरे मिर पर स्थित है, पशु (सब विहङ्ग) वृक्ष की शाखाओं में छिप गये हैं, मनुष्य (नर, पुरुष) यम तथा सम्बी सात् लेते हुए घर (गृह, शरण) में बैठे आतप (के समय) को व्यतीत कर रहे हैं ॥१२॥

भाव, अब भी वह सेवक नहीं आ रहा है । अपने मनोरञ्जन के लिए कुछ माता है । भाव, तुमने मुना, जो मैंने गाया ?

नमः इति । नमस्तः आकाशस्य मध्यगतः मध्यभागे स्थितः सूर्यः क्षुधितवानरस्य द्रुववानरस्य सहस्राः कुप्येभ्यः दुःखेन प्रेरितुं शक्यः । एतं पुत्रसत् यस्याः तथाभूता गान्धारी दुर्घोषनादीनां माता इव भूमिः हृदं यथा स्यात् तथा सन्तप्ता यथा गान्धारी शोकेन सन्तप्ता आसीत् तथा भूमिः आतपेन सन्तप्ता इति भावः । उपमानद्वारः । आर्षान्वातिः वृत्तम् ॥१०॥

विटः श्रीरत्नमन्त्रार्थं वर्णयति—छायामु—इति । प्रतिमुक्तां त्यक्त्वा शर्याणां शान्तवृषानां क्वचताः घासाः येन तथाभूत गोक्षुत गोमूह छायांषु निशपन्ते स्वपिति । वृष्णार्ते, विभामाकुलैः वनमृगैः वनपशुभिः उष्णं सारसं नरसः इदं मारमं यद् जलं पीयते । सन्तापाम् सूर्याय आतपाद् अतिशङ्कितैः भीरुः नरैः नगरोमागं न सेष्यते न गम्यते । अहं मन्ये यद् तथा भूमिम् अपास्य त्यक्त्वा प्रवह्य क्वचिद् छायाभयप्रदं सस्तिपत्तम् । उपभावोक्तिरतद्वारः । भाद्रुं सवित्रीदितं वृत्तम् ॥११॥

सिारसीति । भाव, सूर्यस्य पाद-किरणः मम शिरसि मिलितः स्थितः । शकुनयः पशियः ते एव शशाः विहङ्गाश्च । गान्धारीकित्वात् पुनरतिः न शोचय । (एकमपेक्षी) वृत्तशास्त्रामु सीना । नराः ते एव पुरुषाः मनुष्याश्च वर्णं बोधं च शक्यन् इह उद्देश्यं शरणं तत्र निवसन्ताः उपविष्टाः आनयं निर्बहन्ति दास्यन्ति । मातिनी वृत्तम् ॥१२॥

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

राकारः—कथं गन्धर्वे ण भविशशम् ।

हिङ्गुज्जले जीलकमद्मुशते वचाह गण्ठी शगुडा अ शृण्ठी ।

एशे मए शेविद गन्धजुस्ती कथं ण हग्गे न्धूलशकले त्ति ॥१॥

भावे, पुणे वि दाव गाइरराम् (तथा करोति) भावे भावे, शुद्धं तुए ज मए गाइरम् ।  
[कथं गन्धर्वो न भविष्यामि ।

हिङ्गुज्ज्वला जीरकमद्मुस्ता वचाया शम्बिः शगुडा च शृण्ठी ।

एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव मुनरपि तावद्गाम्यामि । भाव भाव, श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ।]

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

राकारःकथं गन्धर्वे ण भवामि ।

हिङ्गुज्जले दिष्णमरीचचुष्णे वग्घालिदे तैलपिण्ण निरशे ।

भुत्ते मए पालहुदीअमंजे कथं ण हग्गे मधुलणलेत्ति ॥१४॥

भावे, अग्जवि चेष्टे नाप्रच्छति । [कथं गन्धर्वो न भवामि ।

हिङ्गुज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।

भुक्तं मया पारभृतीयमारुतं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव, अद्यापि चेटो नागच्छति ।]

विटः—स्वस्थो भवतु भवान् । संप्रत्येवागमिष्यति ।

(ततः प्रविणति प्रवहणाधिष्ठा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः—भोदे वसु हग्गे । मज्जाण्हिके शुज्जे । मा वाणि कुबिदे साअतालताठामे  
हुविनदिदि । ता तुविद व्हामि । जाघ गोणा जाघ । भीतः खत्वहम् । माध्या-  
ह्निकः सूर्यः । नेदानो कुरितो राजशालसंत्यानको भविष्यति । तत्त्वरितं  
'व्हामि । यतं गायो यातम् ।]

वसन्तसेना—हृदी हृदी । व वसु वड्डमाणअस अजं सरतंशोशो । कि  
जेइम् । ति णु वसु अअवाकवसेण वाहनपरिस्समं परिहरन्तेण अण्णो मणुस्सो अण्णं  
पवहणं वेत्तिअं अघिससिदि । फुरदि वाहिणे सोअणम् । वेवदि मे हिअप्रम् । पुण्णामो  
वितामो । सअं गजेव विसंठुल पेवत्तामि । [हा धिक् हा धिक् । त खलु वघमान-  
वास्वायं स्वरसंयोगः । कि त्विदम् । कि नु खत्वायंचारुदत्तेन वाहनपरिभ्रमं  
परिहरतान्णो मणुअणोअन्यत्रवहणं प्रेषितं भविष्यति । स्फुरति दक्षिणं सोचनम् ।  
वपत्ते मे' हृदयम् । शून्या दिशः । सर्वमेव विसंठुलं पश्यामि ।]

बिट—क्या कहना ? आप गन्धर्व (गायकजातिविशेष) हैं .

शकार—गन्धर्व क्यों न होऊँ !

होंग से मिश्रित (शुभ्र) तथा जीरे सहित नागरमोषा, बच की गाँठ और गुड़ सहित सोंठ इस सुगन्धित योग (मिथुण Mixture) का मैंने सेवन किया है, तो मैं मधुर स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१३॥

भाव, फिर भी माता हूँ । भाव, भाव, तुमने मुना, जो मैंने बाया ?

बिट—क्या कहना । आप गन्धर्व हैं ।

शकार—गन्धर्व क्यों न होऊँ ?

मैंने होंग से उज्ज्वल, (काली) मिर्च के पूर्ण से युक्त बपारा हुआ तथा तेल और घी से मिश्रित कोयल का माँस खाया है, फिर मैं मधुर-स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१४॥

भाव, अब भी सेवक नहीं आ रहा है ।

बिट—आप स्वस्थ (निरिचन्त, प्रकृतिस्व) रहिये । अभी आ जायेगा ।

(सब गाड़ी पर बँठी हुई वसन्तसेना तथा चेट प्रवेश करते हैं)

चेट—मैं बहुत डरा हुआ हूँ । मूर्ख मध्याह्न मैं आ गया । वहीं इस समय राजबालक संस्थानक क्रुद्ध न हों । अतः-तीव्र गति से चलाता हूँ । चलो बँतो चलो ।

वसन्तसेना—हाय छेद ! हाय छेद ! निश्चय ही यह बर्धमानक का स्वर-संयोग नहीं है यह क्या (वात) है ? क्या बँतों (बाहन-बाह) की (अथवा ले जाने की) बकावट को बचाते हुये आप बाहरत ने दूसरा मनुष्य और दूसरी यात्री भेज दी होगी । मेरी चाहिनी बस कफ़कती है । मेरा हृदय काँप रहा है । दिशायें मूनी (साग रही) हैं सभी विपरीत सा देख रही हैं ।

गन्धर्वः संगीतप्रवीणः देवजातिविशेषः ।

हिरण्यवतीति । हिरण्युभिः उज्ज्वला शुभ्रा युक्ता वा, औरकतहिता मद्रमुन्ता बचायाः उपमग्यायाः 'धन्विः सगुहा मुनेन सहिता च शुभ्री एषा गन्धयुक्तिः गन्धानां गन्धद्वयानां योगः मया सेविता सहि अहं त्वत्तः क्वं न मधुरस्वरः मधुरः स्वरः दाय तादृशः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१३॥

हिरण्यवतीति हिरण्युभिः उज्ज्वलं वत्तं प्रशिव्यं शरीरपुष्पं यन्मिन् तत्, व्यापारितं तैस्तसहितैश्च युतेन च मिश्रितं (परमृतः एव पारमृतः कोविन्तः तस्येव पार-मृतीयम् 'शुभ्राश्च' 'इति छः'—इति काले) पारमृतीयमामं कोवितामास मया वृत्तम् । अहं क्वं न मधुरस्वरः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१४॥

शकार — (नेमिघोषभाकार्यं) भावे भावे, आगदे । पवहणे । [भाव भाव, भावतं प्रवहणम् ।]

वेट — कथं जानासि ।

शकार — किं ण पवहणे भावे । बुद्धशुभते विअ धुलधुत्ताप्रघाचं सरस्वीप्रदि ।

'किं न पश्यति भावः । वृद्धपाकर इव धुरधुरायमाण लक्ष्यते ।]

वेट — (हृत्वा) साधु लक्षितम् । अयमागतः ।

शकार — पुत्रका पावसका धेरा आगदे सि । [पुत्रक स्यावरक चेट, आग-  
तोऽसि ।]

वेट — अथ इ । [अथ किम् ।]

शकार — पवहणे वि आगदे । [प्रवहणमप्यागतम् ।]

वेट — अथ इ । [अथ किं ।]

शकार — गोणा वि आगदे । [शावावप्यागती ।]

वेट — अथ इ । [अथ किम् ।]

शकार — तुम वि आगदे । [त्वमप्यागतः ।]

वेट — (सहासम्) मट्टके म्हा वि आगदे । [भट्टारक, अहमप्यागतः ।]

शकार — ता पवेरोहि पवहणम् । [तत्प्रवेशय प्रवहणम् ।]

वेट — कथनेण मग्गेण । [कतरेण मार्गेण ।]

शकार — एतेण केव पणामसण्डेण । [एतेर्नैव प्राकारसण्डेण !]

वेट — मट्टके, गोणा मनेन्ति । पवहणे वि चन्नेदि । हग्गे वि धेरे मत्तामि ।

[भट्टारका, वृषभौ म्रियेते । प्रवहणमपि भज्यते । अहमपि चेटो म्रिये ।]

शकार — मते सारभयानके हग्गे गोणा मते, अबसे कीणिगसाम । पवहणे मग्गे, अवल घडाइशाम् । तुम मते मग्गे पवहणवाहके हुविरसदि । [धरे, राज-  
श्यालकोऽहम् । वृषभौ मृती, अपरो क्रोष्यामि । पवहण भानम्, अपरं कार-  
यिष्यामि । त्वं मृत अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति ।]

वेट — शब्धं उववणं हुविरसदि । हग्गे अत्तमकेतके ण हुविरसाम् । शर्व-  
मुपपन्न भविष्यति । अट्टमात्मीयो न भविष्यामि ।]

शकार — अने, सध्व वि णरसानु । पणालसण्डेण पवेरोहि पवहणम् । [अरे,  
सर्वमपि नश्यतु । प्राकारसण्डेण प्रवेशय प्रवहणम् ।]

वेट — विपञ्ज से पवहण, सध्व शामिना विपञ्ज । मग्गे पवहणे । भोटु  
मट्टके गडुम जिमेरेमि । (प्रविश्य) कथं ण मग्गे । मट्टके एणे उववणदे पवहणे ।  
विभञ्ज रे प्रवहण, सम स्वामिना विभञ्ज । अन्यत्प्रवहणं भवतु । भट्टारकं  
गत्वा निवेदयामि । नय न भानम् । भट्टारक, एतदुपरिधत्तं प्रवहणम् ।]

शकार—(पहिले के शब्द को सुनकर) भाव, भाव, गाड़ी या बई ।

बेट—कैसे जानते हो ?

शकार—क्या बाप नहीं देखते ? बूढ़े सूजर की जाँति घुर घुर करती (प्रवहण) प्रवीण हो रही है ।

बेट—(देखकर) ठीक जाना । यह (बेट) आ गया ।

शकार—बेटा, स्थावरक, बेट, आ गये ?

बेट—और क्या ? (जी हाँ)

शकार—गाड़ी भी आ गई ?

बेट—जी हाँ ।

शकार—बैल भी आ गये ।

बेट—जी हाँ ।

शकार—तू भी आ गया !

बेट—(हँसी के साथ) स्वामिन्, मैं भी आ गया ।

शकार—तो गाड़ी को प्रविष्ट करो ।

बेट—किस मार्ग से ?

शकार—इस पहारदीवारी के दूट भाग से ।

बेट—स्वामिन्, बंस मर जायेंगे । गाड़ी टूट अयेगी । मैं बेट भी मर जाऊँगा ।

शकार—अरे, मैं राजस्थानक हूँ । बंस मर गये तो दूसरे खरीद लूँगा । गाड़ी टूट गई तो दूसरी बनवा लूँगा । तू मर गया तो दूसरा गाड़ीवान् हो जायेगा ।

बेट—सब कुछ ठीक हो जायेंगा । मैं अने बाप (स्वयं) न रहूँगा ।

शकार—अरे, सब कुछ नष्ट हो जाये । गाड़ी को शवारसभ से प्रविष्ट करो ।

बेट—टूट जा री गाड़ी, स्वामी के साथ टूट जा । दूसरी गाड़ी हो जाये । मैं आकर स्वामी से निवेदन करता हूँ । (प्रवेश करके) क्यों ! (गाड़ी) टूटी नहीं । स्वामिन्, यह बाड़ी उपस्थित है ।

स्वस्यः स्वस्मिन् स्वरूपे स्थितः प्रकृतिस्थः । बाह्ययोः बाह्योः व्यस्योः इति यावत् परिभ्रमं परिहृता । विसंश्रुतं विवरीतम् । नेमिः अग्रप्रभिः पुरपुरापयामं पुरपुरा इति अस्यात् कम् कुर्वत् । प्राकारस्य सभ्यः प्राकारसभ्यः तेन ।

उपपन्नम् दुक्तम् प्राप्तं वा । सावरकः आदरसाहितः, अल्पतरकः अन्तरङ्गः प्रेषयते इति हेतोः स्वं पुरस्करणीयः अर्पे करणीयः सम्माननीयो वा ।



शकार— ष दिङ्गा गोपा । ष भवा सञ्ज् । तुम पि ष मते । [न छिन्ना वृषभो । न मृता रज्जव । त्वमपि न मृत ।]

चेट—अघ इ । [अय किम् ।]

शकार—षाव, आभच्छ । प्रवहण पेश्यामो । भावे, तुम १प मे शुतु पत-  
शुतु । पेश्यामसि शादतके अभन्तलकेति पुलकलधीएति तुम दाव पवहण अ-  
भहितुह । [भाव, आभच्छ । प्रवहण पस्याव । भाव, त्वमपि मम शुतु परम  
शुतु प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति । त्व तावत्प्रवहण-  
मप्रतोऽधिरोह ।]

विट—एव भवतु । (शवारोहति)।

शकार—अघवा विट तुमम् । तुह अप्यकेलके पयहणे, येन तुम अ-  
भहितुहसि । हणे पवहणसामो । अमारो पवहण अहितुहासि । [अघवा तिष्ठ त्वम ।  
तव पितृसबन्धि प्रवहणम, येन त्वमप्रतोऽधिरोहसि । अह प्रवहणस्वामी ।  
अप्रत प्रवहणमधिरोहामि ।]

विट—भवानेव ब्रवीति ।

शकार—अइ वि हामे एव भणामि, तद्य वि तुह एते आरते 'अहितुह  
भरतके' ति भणितुम् । [अघप्यहमेव भणामि, तथापि तवैव आचार 'अधि-  
रोह भट्टारक' इति भणितुम् ।]

विट—आरोहतु भवान् ।

शकार—एते शपद अहितुहामि । पुत्तका पावतका घेडा पतिवत्तावेहि प-  
हणम् । [एय साप्रतमधिरोहामि । पुत्तक स्यावरक चेट, परिवर्तय प्र-  
हणम् ।]

चेट—(परावर्त्य) अहितुहु भट्टारके । [अधिरोहतु भट्टारक ।]

शकार—[अधिरुद्रावलोच्य च शङ्कं नाटयित्वा स्वरितमवतीर्य विट बध्नेऽ-  
सम्भ्ये) भावे भावे, मतेसि मतेसि । पशहणाधिरुद्रा मरुततो घोले श पतिवत्तावे ।  
ता अइ सपत्नी, तयो उभे वि मूरो । अघ घोले तदो उभे वि सञ्जे । [भाव भाव,  
मृतोऽसि मृतोऽसि । प्रवहणाधिस्टा राक्षसी चोरो वा प्रतियसति । तद्यदि  
राक्षसी, तदोभावपि मुपितो । अण चोर. तदोभावपि सादितो ।]

विट—न भेतव्यम । कुतोऽन वृषभयाने राक्षस्या. सचार. । मा नाम  
ते मभ्याह्मकंतापच्छिन्नदृष्टे. स्यावरकस्य सकञ्चुका छाया दृष्ट्वा भ्रान्ति-  
रत्पन्ना ।

शकार—पुत्तका पावतका घेडा, • बोवेसि [पुत्तक स्यावरक चेट,  
जीवसि ।]

शकार—बैट नहीं दूटे ? रक्षियाँ नहीं मरी ? तू भी नहीं मरा ?

बैट—जी हाँ ।

शकार—भाव, भावो । गाड़ी को देखते हैं । भाव तुम भी मेरे गुरु हो, परम गुरु हो । तुम मेरे द्वारा आदरणीय बन्तरङ्ग (के रूप में) देखे जाते हो, इसलिये तुम भागे एतने योग्य हो । अतः तुम ही गाड़ी में पहले चढ़ो ।

बैट—ऐसा ही हो (चढ़ता) है ।

शकार—अबधा, तुम टहरो । क्या तुम्हारे बाप की गाड़ी है जो तुम पहले चढ़ते हो ? मैं गाड़ी का स्वामी हूँ, इसलिये पहले (बागे) गाड़ी पर चढ़ता हूँ ।

बैट—आपने ही ऐसा कहा था ।

शकार—यद्यपि मैंने ऐसा कहा, तथापि "स्वामी चढ़िये" यह कहना तुम्हारा गिह्याचार था ।

बैट—बाप चढ़िये ।

शकार—अच्छा, अब यह मैं चढ़ता हूँ । बेटा, स्वाररु, बैट गाड़ी घुमाओ ।

बैट—(घुमाकर) स्वामी, चढ़िये ।

शकार—(चढ़कर नीचे देखकर, शब्दा का अभिनय करके, तुरन्त उठर कर तथा बैट के गले तबकर) भाव, भाव, (तुम) मर गये, मर गये । गाड़ी पर चढ़ी हुई कोई राजसी है या चौर है । तब यदि राजसी है तो (हम) दोनों ही मुट गये, यदि चौर है तो दोनों ही खाये गये ।

बैट—डरना नहीं चाहिये । यहाँ बीतवाड़ी में राजसी का आगमन किये (हो मरजा है) ? ऐसा न हो कि दोनहर के कूरुं के ठाप से बहाधीष हृष्टि बाने तुन्दे, स्वाररु की मञ्जुसहित घाया को देखकर, भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो ।

शकार—तुम, स्वाररु, बैट क्या तुम जीवित हो ?

घेट—अथ इ । [अथ किम् ।]

शकारः—भावे, प्रवहणाधिनुदा इत्यत्रा पठिवशादि । ता अवलोएहि । [भाव, प्रवहणाधिनुदा स्त्री प्रतिवसति । तदवलोक्यम् ।]

बटः—कथं स्त्री ।

अवनतशिरसः प्रतियाम शीघ्रं पथि दूषभा इव वर्पताडिताशाः ।

मम हि सदसि गोरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकारतरं हि चक्षुः ।।१५।।

वसन्तसेना—(सविस्मयमात्मगतम्) कथं मम पायस्येण आभासभरो ज्वेद रामसासरो । ता सप्तद्वयम् मन्वभाभा । एते वाणि मम मन्वभाहणीए ऊत्तररसेल-  
वद्विहो विम बोभमुट्टी निष्कलो इय आगमयो संवुत्तो । ता हि एष्य करइस्तम् । [कथं  
मम नवनभोरामासकर एव राजस्यासः । तत्संखवितास्मि मन्वभाग्या ।  
एतदिदानी मम मन्वभागिन्या कृशरक्षेत्रवतित इव बीजमुष्टिनिष्फलमिहागमनं  
संवृत्तम् । तत्किमत्र करिष्यामि ।]

शकारः—कावले वषु एरो बुद्धवेदे परंहरणं नावतोएहि । भावे, आलोएहि  
परहणम् । [कारतः खल्वेष वृद्धघेटः प्रवहर्णं नावलोकयति । भाव, आलोक्य  
प्रवहणम् ।]

बिटः—को दीयः । भवतु । एवं तावत् ।

शकारः—कथम्, शिभासा उद्भेन्ति, वायसां वक्ष्यन्ति । ता जाव पावे  
अवलोहि मवलोअदि, वन्तोहि वेवलोअदि, ताव हगे पंसाइरगाम् । [कथंम्, श्रृंगाला  
उद्भोयन्ते, वायसा व्रजन्ति । तत्रावद्भावोऽशिभ्यां भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं  
पत्तायिष्ये ।]

बिटः—(वसन्तसेना इष्ट्वा । सविषादमात्मगतम्) कथमये, मृगी भ्याघम-  
नुसरति । भोग, कष्टम् ।

चेट—जी हाँ ।

शकार—भाब, बाड़ी पर चड़ी स्त्री बंठी है । देखो तो ।

बिट—क्या स्त्री ?

(तब तो) गाय में वर्षा (की घारा) से ताहित आँखों वाले बंलों के समान सिर नीचा किये हुए मैं शीघ्र जाता हूँ, क्योंकि समार में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले मेरी (दोरे जैसे व्यक्ति की) दृष्टि कुनीन स्त्रियों को देखने में भीर है ॥१२॥

वसन्तसेना—(आश्वयं से, अपने भाप) क्या मेरे नेत्रों में पीड़ा करने वाला (घटकने वाला) यह वही राजा का खाना है ? तब तो मन्दभास्य बाँधी में आपत्ति (संघर्ष) में पड़ गई है । इस समय मुझ मन्दभासिनी का यहाँ आना ऊपर सेट में पड़ी हुई बाँध की मुट्टी के समान निष्कल हो गया । तो क्या कहें ?

शकार—यह बड़ा छेवक भीर है, यह बाड़ी को नहीं देखता । भाब, तुम बाड़ी को देखो ।

बिट—क्या हानि है ? अच्छा ऐसा ही हो ।

शकार—क्यों ? विचार बढ़ रहे हैं, कीएँ भाग रहे हैं । तो जब तक भाग (राजकी के हाथ) आँखों से छाने जाते हैं तथा दाँतों से देखें जाते हैं, तब तक मैं भागता हूँ ।

बिट—(वसन्तसेना को देखकर, कुनतुर्वक अपने भाप) बरे, सँठे ! मृषी म्याम का अनुकरण कर रही है बरे, सँठ है ।

प्रवहने स्त्री वसति-दृष्टि शकारवचनं निरुप्य विटः कथयति-अवगतोति । यदि प्रवहने स्त्री विच्छति तर्हि क्वि नाम् बर्यः कृष्टिभिः ताहितो बसिषो देवा ते वर्ततादिनाज्ञा अत्रएव अवगतानि गिराणि देवा तथापुत्राः कृपमाः इव बर्यः परकृतप्रदानंनसंकोचेन अवगतानि नम्रानि गिरांसि देवाः तथापुत्राः कृत्यः प्रयागः सन्धानः । हि मः सवमि उभायां दीरव प्रतिष्ठा दिवं इत्य इत्य मय विटाय वसुः दृष्टिः कुसबनस्य कुनीनस्य स्त्रीवनस्य इति कातरं भीर । उपगतकृत् । पुष्पिताया वृषम् ॥१२॥

संगतिना संतनमान्या विरति प्राप्ता इति यावत् । अत्रोत्रे प्रतिज्ञा का निवृत्तिः बीयानां कृष्टिः कृष्टिनिविज्ञानि बीयानि इत्यर्थः । अतिष्ठा वस्ये तः प्रेक्षने इति विदतीतीति ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाश पुलिनान्तरसायिनम् ।

हसी हस परित्यज्य वायसे समुपस्थिता ॥१६॥

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने, न युक्तमिदम्, नापि सहशमिदम् ।

पूर्वं मानादवशाय द्रव्यार्थे जननीवशात्

वसन्तसेना—ण । [न ।] (इति शिरश्चासयति ।)

विटः—

अशीष्ठीर्यंस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥१७॥

ननूक्तमेव मया भवती प्रति 'सममुपचर भद्रे सुप्रिय चाप्रिय च ।

वसन्तसेना—पवहणविपज्जासेण आगता । सरणागवन्हि । [प्रवहणविप-  
यसिनागता । शरणागतास्मि ।]

विटः—न भोतव्यं न भोतव्यम् । भवतु । एन वञ्चयामि । (शकारमुपगम्य)  
काणेलीमात, सत्य राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।

शकारः—भावे भावे, जह स्वस्वसो वसति, ता कीश ण तुम सुरीदि ? अथ  
धोते, ता किं तुम ण वरिस्सदे । [भाव भाव, यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत्कथं  
न त्वा भ्रुण्णाति । अथ चौर तदा किं त्व न भक्षितः ।]

विटः—किमनेन निरूपितेन । यदि पुनस्तानपरम्परया पदभ्यामेव नगरी-  
मुज्जयिती प्रविशाव., तदा'को दोष स्यात् ।

शकारः—एव्व किदे किं भोवि ? [एव कृते किं भवति ?]

विट—एवं कृते व्यायाम सेवितो घुर्याणा ष परिधमः परिहृतो  
भवति ।

शकारः—एव भोवु । धावसमा वेडा, जेह पवहणम् । अथवा चिट्ट चिट्ट ।  
देवदाण ऋहणाण ष अगदो सलगेण गच्छामि । गहि गहि । पवहण अहितुहिअ  
गच्छामि, जेण दूतवो म वेरिस्सअ भणिसन्ति—'एते शे खरिदअशासे भट्टासके  
गच्छदि' । [एव भवतु । स्यावरक चेट, नय प्रवहणम् । अथवा तिष्ठ तिष्ठ ।  
देवताना ग्राह्याणां चाग्रतश्चरणेन गच्छामि । नहि नहि । प्रयहणमधिरह्य  
गच्छामि, येन दूरतो मा प्रेक्ष्य भणिस्यन्ति—एव म राष्ट्रियश्यालो भट्टारको  
गच्छति' ।]

शरदिति । शरच्चन्द्र शरच्चन्द्र तस्य प्रतीकारो सहस्र पुलिनस्य तीकृतप्रदेशस्य  
अन्तरे मध्ये शेते इति त हस परित्यज्य त्यक्त्वा हसी वायसे नाक समुपस्थिता ।  
भौदायादिगुणयुक्तं हससदृश चाटदत्त त्यक्त्वा वसन्तसेना शकसदृशमेत शकार प्रति  
कथमागता इति शेष । अप्रस्तुतप्रशसासद्धार । पभ्यावक्त्र वृत्तम् ॥१६॥

पूर्वमिति । पूर्वं मानात् सर्वात् शकारम् अथवाप्य शिरसस्तस्य सम्प्रति जननी वशान्  
मानुराजावशात् द्रव्यार्थे धनार्थम् आगता । यद्येतन्नास्ति तदा अशीष्ठीर्यं मनोदार्ढ्यं  
, स्वभावः यस्य तेन वेशभावेन वेर्यात्वेन आगता इति मन्यते ॥१७॥

गरु शत्रु के चन्द्रमा के समान (श्वेत) बानुषा तट पर स्थित हंस को छोड़ कर हंसों काक के समीप आ गई ॥१६॥

(समीप में) बसन्तसेने, यह उचित नहीं, यह योग्य भी नहीं ।

पहले मानपूर्वक उस (शकार) का तिरस्कार करके माता की अधीनता से धन के लिये—(आई हो)

बसन्तसेना—नहीं (खिर हिलाती है ।)

बिट—(तब) उदारता (या गर्व) रहित है (अधोमूर्ध) है स्वरूप जिसका ऐसे ब्रह्मपति के कारण (तुम यहाँ आई हो) —यह समझा जाये ॥१७॥

किन्तु मैंने (पहले ही) आप से कहा ही था—'मद्रे' सुप्रिय और अप्रिय दोनों की समान रूप से सेवा करो ।'

बसन्तसेना—माता के चलने से आ गई हूँ ।

बिट—इसी नहीं, इतनी नहीं । अच्छा, इस (शकार) को बहसाता हूँ । (गकार के पास जाकर) कागली के पुत्र सचमुच राक्षसी ही उस पर बैठी है ।

शकार—भाव, भाव, यदि राक्षसी है तो तुम्हें क्यों नहीं सुटा और यदि चोट है तो तुम्हें क्यों न सा लिया ।

बिट—इस विचार से क्या लाभ ? उद्यान की परम्परा से (एक उदात्त से दूसरे में होकर) पैदल ही उर्वरन नगरी में प्रवेश करें तो क्या हानि है ?

शकार—ऐसा करने से क्या होगा ?

बिट—ऐसा करने से व्यापाम ही जायेगा और बँलों का परिचय दब जायेगा ।

शकार—ऐसा ही हो । स्थावरक बेट, पाड़ी साओ । या टहर; टहर । (कहा) देवताओं तथा ब्राह्मणों के साथे पैदल चलूँ ? नहीं, नहीं । पाड़ी पर चला हूँ जिससे दूर से मुझे देखकर सोच कहेंगे—'यह वह हमार स्वामी राजा का माना जा रहा है ।

अष्टमस्य विपर्यासः श्रमः संपरीत्यं वा तेन । निरूपिनेन विचारितेन । धूर्तानां दुग्धानां वृषभपोरिति यावत् बहुवचनं चिन्त्यम् । सामान्याभिधाय बहुवचननिमित्तं वाते । राट्टियं राट्टे अभिपिक्तः ('राट्ट + च') तस्य श्यालः रात्रश्यालः इत्यर्थः । अनीयघ्नं नीयघ्नं कर्तुम् इति औपशोभितम् । विषं प्राणविषोक्तं इत्यम् औपशोभितुं औपशोभितेन परिवर्तयितुं दुष्कृतम् । दुर्जनस्य आनुकूल्येन परिवर्तनम् अतिवृत्तिम् इति भावः— अस्तुमयंता । ज्ञानं वाचं ब्रह्मव्यमेतत् । वापुर्वेष इव वानुदेवकः इवे अतिवृत्तौ इति क्व प्रत्ययः ।

विट — (स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकृतुंम् । भवतु । एवं तावत्  
(प्रकाशम्) काणेलीमात , एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता ।

वसन्तसेना—सन्तं पापम् । सन्तं पापम् । [शान्तं पापम् । शान्तं पापम् ।]

शकार — (सहयंम्) भावे भावे, म पयत्पुलिश मधुरश वासुदेवकम् । [भाव  
भाव, मां प्रवरपुरुष मनुष्य वासुदेवकम् ।]

विटः—अथ किम् ।

शकार —तेण हि अपुष्पा शिली शमाशादिदा । तरिश काले मए सोशाइदा,  
शपदं पादेयु पडिअ परादेमि । [तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता । तस्मिन्काले मया  
रोपिता, साप्रतं पादयो पतित्वा प्रसादयामि ।]

विट —साध्वभिहितम् ।

शकार —एशे पादेशुं पडेमि । (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके, अम्बिके  
शुशु मम विणत्तिम् । [एष पादयो. पतामि । मातः, अम्बिके, शृणु मम  
विज्ञप्तिम् ।]

एशे पडामि चलणेशु विशालणेतै

हस्ताञ्जलि दशणहे तव शुद्धदन्ति ।

ज त मए अवकिद मदणातुलेण

त खम्मिदाशि नलगत्ति तव म्हि दारो ॥१॥

[एष पतामि धरणयोविशालनेत्रे हस्ताञ्जलि दशनखे तव शुद्धदन्ति ।

यत्तव मयापकृत मदनातुरेण तत्क्षामितासि धरगान्नि तवास्मि दासः ॥

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि । अणञ्ज मन्तेसि । [अपेहि । अनार्य  
मन्त्रयसि । (इति पादेन ताडयति)]

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुम्बिदे अम्बिकमादुकेहि गदे ण देवाणं वि जे पणामम् ।

शे पाडिदे पादतलेण मुण्डे वणे शिआलेण जघा मुदङ्गे ॥१६॥

अले धावलजा चेडा, कर्हि तुए एशा शमाशादिदा ।

[यच्चुम्बितअम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम् ।

तत्पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृताङ्गम् ॥

धरे स्यावरकं चेट, कुत्र त्वयीषा समासादिता ।]

बिट—(अपने बाप) बिष की बीजलि-बनाना है। अच्छा तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) कागती के पुत्र, यह वसन्तसेना आपसे अभिसार करने आई है।

वसन्तसेना—पाप शान्त हो, पाप शान्त हो।

शकार—(हृषीकेश) भाव, भाव, मुझ धेष्ठ पुरुष मनुष्य वामुदेव से ?

बिट—ओर क्या ?

शकार—तब तो अपुत्र सन्धी प्राप्त की है। उस समय मैंने इसे दृष्ट (दृष्ट) कर-दिया था, इन समय पौरों के गिर कर मनाता हूँ।

बिट—ठीक कहा।

शकार—यह मैं तुम्हारे चरणों में गिरता हूँ। (वसन्तसेना के समीप जाकर) माता अम्बिका के मेरा निवेदन सुनो।

हे विमान नेत्रों वाली, यह मैं चरणों में गिरता हूँ। हे सुदृढ दाँतों वाली, तुम्हारे (चरणों के) दश नखों में अपनी हस्ताम्बलि रखता हूँ। हे धेष्ठ मात्र वाली, काम से आतुर हुए मैंने जो (पहले) तुम्हारा अहित (बुरा) किया है, उसे तुमसे क्षमा कराता हूँ (क्षमा करने की प्रार्थना करता हूँ)। मैं तुम्हारा दास हूँ ॥१७॥

वसन्तसेना—(कोषदुर्बक) दूर हटो, अनार्य बात बहते हो (चरणों से मारती है)

शकार—(कोष के साथ)

जिते अम्बिका और माता ने पूजा है, जो देवों को भी नहीं भुजा, उस मेरे मस्तक को तूने चरणतल से इन प्रकार दिया दिया जैसे वन में भृगाव द्वारा वृत्क शरीर (कुबना जाता है) ॥१८॥

अरे, स्थावरक, चेत तुमने इसे वहाँ प्राप्त किया ?

समाप्तारिता प्राप्ता । विवर्ति निवेदनम् ।

एष इति । हे विमाननेत्रे विमाने नेत्रे दम्पा । वा विमाननेत्रा तस्मिन्नुद्दी एषा अहं शकारः तव चरणयोः वनाभि । हे सुदृढदन्ति मुदाः दन्ता । मस्माः सा (मन्मुदा) तव दशान्ते दशानां नखानां समाहारः दशनस तव चरणयोः दशानु नखेषु हस्ताम्बलि करोमि इति शेषः । हे वरगात्रि कल्याणाङ्गि । वरानामुरेष कामानुरेष मया नकारेण मनु तव अनङ्गनम् अरकारो विहितः तन् क्षामिना क्षमां वतु शिरिता याचिता वा अस्ति । अयं तव दासः अस्मि । वसन्तदिलका वृत्तम् ॥१७॥

वरिणि । मनु मम मुग्धम् अम्बिकाया मातृकामिः य (मातृका इति स्वार्थे कः प्रायसः कर्कारवाक्यत्वात् पुनरुक्तिः) बुम्बिनम् । मनु वेवानामपि प्रणामं न दत्तं देवान् प्रति अस्ति न वनउत्तम् । तन्मु मुग्धं मस्तकं स्वना पादननेन तर्पय पातितं यथा वने भृगावेन वृगाङ्गं वृत्कदरीरम् ॥१८॥



चेट — भट्टकेः गामशान्तेहि ध्रुवे सामगमे । यदो धातुवत्तन्ना सुखलवाडिभ्यश्च  
 पवहण याविअ तर्हि ओदत्तिज जाय धक्कपलियट्टिअं कलेमि, ताव एशा पपवहणविप-  
 ञ्जाशेण इह आत्तडे त्ति तवकेमि । [भट्टक, ग्रामशान्तं रुद्धो राजमाग । तदा  
 चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकाया प्रवहणं स्थापयित्वा तत्राब्रवीत्तं यावच्चक्रपरिवृत्तिं  
 करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्ययसिन्हारुद्धेति तर्कयामि ।]

शकार — कथं पवहणविपर्ययाशेण आगदा । न न अहिशातिदुम । ता आदत्त  
 ओदत्त भमकेलकादो पवहणावो । तुम त्त वसिहृशदथवाहपुत्तक अहिशातेसि । ममकेल-  
 काद् गोशाद् वाहेसि । ता ओदत्त ओदत्त गम्भदासि ओदत्त, ओदत्त । [कथं प्रवहण-  
 विपर्ययसिनागता । न मामभिसारयितुम् । तदवतरावतर मदीयात्प्रवहणात् । (व  
 त्त्त द्दरिद्रसायवाहपुत्तकमभिसारयसि । मदीयो गावो वाहयसि । तदवतरावतर  
 गर्भदासि अवतरावतर ।)]

वसन्तसेना — त अञ्जषादरत्त अहिसारेसि सि न तच्चम अलकिवग्धि इमिणा  
 वअणेण । सपव ज भोदु । त भोदु [तमायचारुदत्तमभिसारयसीति यत्सत्यम् अलङ्-  
 कृता स्म्यमुना वचनेन । साप्रत यद्भवत तदभवत् ।]

शकार —

एदेहि दे दशणहृप्पलमण्डलेहि  
 हत्थेहि चारुशदताडणलम्पडेहि ।  
 कट्टामि वे वलतणु णिअजाणकादा  
 केषणु बालिदइअ वि जहा जडाऊ ॥२०॥  
 [एताभ्यां ते दशनस्यो परामण्डलाभ्यां  
 हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् ।  
 कर्णामि ते धरतनु निजयानकात्  
 केषोपु बालिदयितामिव यथा जटायु ॥]

बिट —

अग्राह्या मूर्धजेप्वेता स्थियो गुणसमन्विता ।  
 न-सता पत्त्वच्येदमर्हन्त्युपवनोद्भवा ॥२१॥  
 तदुत्तिष्ठ त्वम . महमेनामवतारयामि । वसन्तसेने, अवतीर्यताम् ।

(वसन्तसेनावतीर्यकां ते स्थिता)

शकार — (स्वगतम्) जे शे मम वअणावमाणेण तदा सोगाग्घो शंधुचित्ते, अञ्ज  
 एशाए पादप्पहातेण अणेण पञ्जसिदे । त शंपव मातेमि मम् । भोदु । एम् शव ।  
 (पशाशब्) भावे भावे ।

चेष्ट स्वामिन्, ग्राम की माडियों से राजमार्ग रुक गया । तब चारदत्त की वृद्धवाटिका में माड़ी की सहा करके, वहाँ उतरकर ज्यों ही चङ्गपरिवर्तन (पहिया फेरना) किया, तब ही यह माड़ी की धूल से इसमें चङ्ग गई—ऐसा अनुमान करता है (समझता है) ।

शरार—बया ? गाड़ी की धूल से चङ्ग गई है, मुझसे अभिमरण के निये नहीं ! तो उतर, उतर मेरी गाड़ी से । तू उस दरिद्र सार्धवाह के पुत्र (चाण्डल) के प्रति अभिमरण कर रही है और मेरे बँतों को जोतती है (पां मेरे बँतों से भार बहन कराती है) तो उतर, उतर, गर्भदात्री, उतर, उतर ।

वसन्तमेना—‘उम आयं चाण्डल के प्रति अभिमरण करती है’—सचमुच ही इस कथन में मैं भ्रमद्भ्रम हो गई हूँ । अब जो हो, सो हो ।

शरार—एक नम्र रूपी कमल समुदाय से युक्त तथा शतशः प्रिय वचनों के समान हो मारने में तत्पर (सम्पट) इन हाथों से तुम्हारे सुन्दर शरीर को केस पकड़ कर अपनी गाड़ी में उतरी प्रकार खींचता है जिम प्रकार जटायु ने बालि को प्रिया (शारा) को (खींचा था) ॥२०॥

विट—(सुन्दरता आदि) गुणों से युक्त इन नारियों के केस नहीं पकड़ना चाहिए, क्योंकि उद्यान में उन्मूल्य होने वाली सनापें (कीमत) परो तोड़ने योग्य नहीं होती ॥२१॥

इसलिये तुम उठो । मैं इसको उठारता हूँ । वसन्तमेना, उतर जाइये ।  
(वसन्तमेना उतर कर एकाक्ष में लड़ी हो जाती है )

शरार—(अपने धार) उम समय मेरे वचन के विरस्कार से जो क्रोध की अग्नि धनी की वह आत्र इव (वसन्तमेना) के इस पाद-प्रहार से प्रग्वलित हो गई है तो अब इसे मारता हूँ । अन्धो, इम प्रकार । (प्रकट रूप में) भाव, भाव ।

एताभ्यामिनि । इत मन्त्रानि एव उत्पत्तमन्त्रत कनकसमूहः ययोः ताम्याम्  
षाडुशातानि सिद्धवचनशतानि इव ताडने सम्पटाभ्यां तत्पराम्याम् एताभ्यां हुताभ्यां  
ते वरतनुं मुन्दरशरीरं वेगोनु दृष्टीन्वा निजपादकान् कर्षीम यया जटायुः बालिहन्ति  
बालिहन्ति ताराम् आश्रयन्त । अत्र ‘ने ते’ इति ‘ययाइव’ इति च पुनरुक्तम् । व्याह-  
तोत्तं वेदं जटायुना बालिहन्त्यायाः कर्षनापावात् । वसन्तमेनाका वृत्तम् ॥२०॥

अप्राह्यंति । पुनः सोन्दर्यादिभिः सयन्विताः युक्त्यः एताः विश्वः नायः  
भूर्भुवेषु वेगोनु अप्राह्याः न प्रीतभ्याः । तथा ही उपवनम् उक्त्वः उत्पत्तिस्थानं यासां  
ताः उद्याने उदायाः मयाः पत्तवधेदेर विमनसता देदन न अर्हन्ति । इत्यान्तातक्याः ।  
पन्थावर्तं वृत्तम् ॥२१॥

जदिच्छणे लम्बदशाविशाल प्रावालञ्च शुत्तशदेहि जुत्तम् ।  
मश च खादु तह तुष्टि कादु चूह चूह चुक्कु चूह चूह इति ॥

[य स मम वचनावमानेन तदा रोवाग्निः संधुक्षित अद्यैतस्मा पाद-  
प्रहारेणानेन प्रज्ज्वलित । तरसाप्रत मारयाग्नेनाम् । भवतु । एव तावत् ।  
भाव भाव,

यदीच्छसि लम्बदशाविशाल प्रावारक सूत्रशतैयुक्तम् ।  
मास च खादितु तथा तुष्टि कर्तु चूह चूह चुक्कु चूह चूह इति ॥  
बिट — तत्र विम् ।

शकार — मम विअ कलेहि । [मम प्रिय कुरु ।]

बिट — वाढ करोमि वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकार — माये मकज्जाह गग्गे वि गरिष । सपल्लशी कावि गरिष । [भाव  
अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति । राक्षसी कापि नास्ति ।]

बिट — उच्यता तर्हि ।

शकार — मातेहि वशान्तगोमिअम् । [मारय वसन्तसेनाम् ।]

बिट — (बणी पिघाय)

बाला स्त्रिय च नगरस्य विभूषण च

वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम् ।

एनामनागसमह यदि घातयामि

केनोडुपेन परलोकनदी तरिष्ये ॥२३॥

शकार — अह ते भेदक दहनसाम् । अथ च विवित्ते उरुआणे इय मासन्त को  
सुम वैश्वर्यादि । 'अह ॥ उडुप दास्यामि । अन्यच्च विवित्ते उदान इह  
मारयन्तं कस्त्वा प्रेक्षिष्यते । ]'

बिट —

पश्यन्ति मा दशदिशो वनदेवताश्च

चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽग्रम् ।

सपुतित दीप्तः । 'धुधु' धातु दीपनकलेशनबीजनेषु चतंते तस्मान् 'क्त'  
प्रत्यय । पठोति । यदि मस लम्बदशासि दीपंवरशान्तं विराल सूत्रशतै पुक्तं  
प्रपितं च प्रावार प्रच्छद गहीतुं इच्छति । तथा 'चूह चूह चुक्कु' 'चूह चूह इति

यदि तुम लम्बे आँसुओं वाला, सँकड़ों सूत्रों से युक्त विद्याल दुहाता मुझसे सेना चाहते हो और चूड़-चूड़ चुक्कू-चूड़-चूड़—इस प्रकार (का शब्द करते हुए) मांस खाना तथा वृष्टि प्राप्त करना चाहते हो ॥२२॥

विट—तो क्या ?

शकार—मेरा चाहा हुआ करो ।

विट—हाँ, करूँगा, किन्तु अकार्य को छोड़कर ।

शकार—भाव अकार्य की तो गन्ध भी नहीं है । कोई राखती नहीं है ।

विट—तो कहिये ।

शकार—वसन्तसेना को भारी ।

विट—(कान मूँदकर) ।

यदि मैं बाला, स्त्री (उर्जिन) नगर की भूपथ वेश्या (होकर भी) वेश्याभिनय शर्पाद् कुनस्त्री के उद्यम प्रेम-व्यवहार करने वाली इस निरपराध वसन्तसेना को मारता हूँ तो परलोक की नदी को किस नौका से पार करूँगा ॥२३॥

शकार—मैं तुम्हें नौका दूँगा । और दूसरी बात यह है कि इस निर्जन सदान में इसे मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा ?

विट—

दशों दिशाओं, वनदेवता अन्द्रमा और दीप्त किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और

ध्वनि कुर्वन् मांसं स्नादितुं तृष्टिं तृष्टिं च कर्तुंम् इच्छसि । 'उतः मम शिवं कुरु'— इति वक्ष्यमाणेन अन्वयः । उपजातिः वृत्तम् ॥२३॥

अकार्यम् अनुचितं कार्यम्, वस्तुमयोप्यम् इति भावः । अकार्यस्य वस्तुमत्त्वम् अकार्यं तस्य गन्धः नेशः ।

बालामिति यदि अहं विट बालां स्त्रियं च अबनाभूतां मारयितुमनर्हाम् इति भावः नगरस्य विभूषणं च अलङ्कारभूतां च वेश्या वेश्यारूपेण स्वितामपि अवेतासहस्राः कुननारीजनोचितः प्रेमव्योपचारः प्रेमव्यवहारः यस्याः ताम् अनागतं नास्ति कामः अचराय. यस्याः ताम् निरपराधाम् एतां वसन्तसेनां पातयामि मारयामि तर्हि केन उद्वेग्येन दान्द्रनौकया परलोकस्य नदीं अंतरणोनाम्नां तरिष्ये तरिष्यामि ? 'तरिष्ये' इत्यत्र आत्मनेपदं चिन्तयम् । परिश्रान्तश्रुतः । वसन्तनिका वृत्तम् ।

विजनेऽपि इतं पापं योरापिन्तुं न शक्यते इत्याह विटः—परमन्तीति । दशदिशः वनदेवताः च अन्द्रः च अथ पुरः स्थितः बोधाः किरणाः यस्य सः दिनकरः सूर्यः च धर्मः अनित. वायुः च गणनं च तथा अन्तराहणा भूमि. च सुहृत्तुरुहृत्तयो. पुष्पनाभयोः स्नातिसूना । एतन्व विद्वद्बनपरिषादेन सर्वेषां विवेचनम् । पुष्पनाभयोः

धर्मानिली च गगनं च तथान्तरात्मा

भूमिस्तथा मृकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२५॥

शकार—तेण हि पडन्तोवातिव कइअ मात्तेहि । तेन ही पटान्तापवारिता कृत्वा मारय ।]

चेट—पूर्व अपध्वस्तोऽसि ।

शकार—अधम्मभोलू एरो बुद्धकोले । भोद्धु । चावलअ चेड अणुणेमि । पुत्ता पावलका चेश, शोक्णलडुआइ इइशाम् । [अधर्मभोरुरेय वृद्धकोले । भवतु । स्थावरक चेटमनुनयामि । पुत्रक स्थावरक चेट, मुवणकटवनि दास्यामि ।]

चेट—अहं पि पहित्तिसाम [अहमपि परिधास्यामि ।]

शकार—शोक्ण हे पीठके क.सइशाम् । [सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि ।]

चेट—अहं पि जवविशिशाम् [अहमप्युपवेक्ष्यामि]

शकार—शम्भ हे उच्छिष्टप्र इइशाम् । [सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि ।]

चेट.—अहं सइशाम् अहमपि खादिष्यामि ।]

शकार—शम्भचेडाण महत्तसक कलइशाम् । [सर्वचेटाना महत्तरकं करिष्यामि]

चेट—भट्टके हुविरशाम् । [भट्टक, भविष्यामि ।]

शकार—ता मण्णेहि मम बज्जम् [तन्मम्यस्व मम वचनम् ।]

चेट—भट्टके, शम्भ बलेमि वरिज्जअ अकज्जम् [भट्टक, सर्वं करोमि वर्जयित्वाकायम् ।]

शकार—अकज्जाइ गच्छे वि जतिय । [अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति ।]

चेट—मणाडु भट्टके । [भणतु भट्टक ।]

शकार—एण वरान्तरोणिअ मात्तेहि । [एना वसन्तसेना मारय ।]

चेट—पग्गोइडु भट्टके । इअ मए अणज्जेण अरजा पवहणपत्तिपत्तणेअ भाणीसा । [प्रसीदतु भट्टक । इयं मयानार्षेणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता ।]

शकार—जत्ते चेडा, तवापि च पहवामि । [जरे चेट, तवापि न प्रभवामि ।]

चेट—पहववि भट्टके शलीसाह, न घालिताह । ता परोवडु परोवडु भट्टके । भाआमि वणु अहम् । [प्रभवति भट्टक शरीरस्य, न धारितस्य तत्प्रसीदतु भट्टक, विभेमि एत्वहम् ।]

वायु एवं आकाश तथा (मेरा) अन्तरात्मा और भूमि—जो पर-पुरुष की मायी हैं, वे सब मुझे देखती हैं ॥२४॥

शकार—तो वस्त्राञ्चल से छिनाकर मार दो ।

चेट—भूख, पतिव्रत (?) हो ।

शकार—यह बूझा शूकर अधर्मभोग है ! अच्छा, स्थावरक सेवक की मनाता हूँ । पुत्रक, स्थावरक, चेट (तुम्हें) सोने के कड़े दूंगा :

चेट—मैं भी पड़ूँगा ।

शकार—मेरे निन्दे मोने की चौकी बनवा दूँगा ।

चेट—मैं भी (उस पर) बैठूँगा ।

शकार—सारा उच्छिष्ट (भोजन) तुम्हें दूँगा ।

चेट—मैं भी खा लूँगा ।

शकार—सब नेचको का बड़ा (इज्जत) बना दूँगा ।

चेट—स्वामी, मैं बन जाऊँगा ।

शकार तो मेरा कहना भावो ।

चेट—स्वामी, अकार्य को छोड़कर सब करूँगा ।

शकार—अकार्य की गन्ध भी नहीं है ।

चेट—तो बनताइये, स्वामी ।

शकार—इस बन्धनेना को मार दो ।

चेट—स्वामी, कृपा करें । यह आर्या (बन्धनेना) मुझ अकार्य (धनारी) के द्वारा मर्दों की शूच (या परिवर्तन) से यहाँ से जाई गई ।

शकार—अरे चेट, क्या तुम पर मेरा प्रभुत्व (अधिकार) नहीं है ?

चेट—स्वामी, इस शरीर के प्रभु है, चरित्र के नहीं । तो स्वामी प्रमत्त हों, प्रमत्त हों । निरवय ही मैं डरता हूँ ।

साक्षिपूत्रनि इमानि सर्वान्देव भां पायन्ति इत्यर्थः । सुप्तोपिज्ञातद्वारः । वसन्तनिवत्ता इत्यन् ॥२४॥

पदान्तेन अकार्यत्वाच्चनेन, अपकारितां समान्दर्शनात् । अकार्यस्तः प्रिवृतः इति पृथोपधः । होम शूकरः । पीडकम् आमनम् । उच्छिष्टं भोजनम् अवशिष्टम् ।

न प्रभवामि प्रभु नास्मि । अतिव्रत्य चरित्रान्, चरित्रात्पदाद् स्वार्थेण् । सुप्तं च सुप्तं च मयो ममाहारः मुहुरमुपूत्रं तस्य - विप्रनिषिद्धं चानधिकारपदादि पा० २।४।१॥ इति विक्रमेन ममाहारः । चरित्रात्पदात् परान्तात् प्रत्ययः ।

रकार—शुभ भव घेडे पवित्र रक्षा भाग्यासि ? [त्व मम वेदो भूत्वा  
कर्मदादिवमेपि ?]

घट—भट्टके पतलोमरुस । [भट्टक परलोकात् ।]

शकार—के शे पतलोए ? [क स परलोए ?]

घट—भट्टके शुक्तिदुर्विकदरा पतिनामे । [भट्टक, मुकुतदुःकृतस्य  
परिणाम ।]

शकार—केमिसे शुक्तिदरा पतिनामे ? [कोदरा मुकुतस्य परिणाम ?]

घट—जादिशो भट्टके बहुयुवणमण्डिडे । [यादशो भट्टको बहुयुवणं  
मण्डित ]

शकार—दुर्विकदरा केमिसे ? [दुःकृतस्य कोदरा ?]

घट—जादिशो हगे पतपिण्डमण्डके भूडे । ता अकरुज ण कसइरराम ।

[यादशोऽह परपिण्डमण्डको भूता । तदकाय न करिष्यामि ।]

शकार—अले, ण भासितरासि । [अरे न मारयिष्यसि ।] [इति बहुविधे  
तादपति ।]

घट—पिट्टणु भट्टके मालेदु भट्टके अकरुज ण कसइरराम् ।

जेण म्हि गम्भदाणे विणिमिदे भाअधेयदोमहि ।

अहिअ ख ण कीणिइण देण अकरुज पसिह्वासामि ॥२१॥

[तादपतु भट्टक, मारयतु भट्टक, अकायं न करिष्यामि

येनाग्नि गम्भदाणे विनिमित्तो भाअधेयदोयं ।

अधिक ख न वेष्पामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥]

यत्तन्ततेम—भाय शरणागतमिह । [भाव, शरणागतास्मि ।]

विट—काणेलीमात मयम मपर्यं । साधु रपावरक, साधु ।

अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्र

प्रथ्य परम फलमिच्छति नास्य भर्ता ।

तस्मादमी कपमिवाद्य न याति नाश

ये वर्धयन्त्यसहस्र सहस्रं त्यजन्ति ॥२६॥

अपि ५ ।

येनेति । येन हेतुना भाअधेयदोयं भाग्यदोयं पापस्य फलैरिति यावद् गम्भदात  
अपरा एव दास विनिमित्त इति अस्मि तेन तस्मात् शरणात् अदिकं पापस्य

शकार—तू मेरा सेवक होकर कितने दरता है ?

शेट—स्वामी, परलोक से ।

शकार—क्या है वह परलोक ?

शेट—स्वामी पुण्य और पाप का फल ।

शकार—पुण्य का फल क्या होता है ?

शेट—जैसे बहूत में स्वर्ण से आभूषित आप हैं ।

शकार—पाप का क्या (परिणाम) होता है ?

शेट—जैसा मैं हमारे का अन्न खाने वाला हूँ । अन्नः अकार्य नहीं करूँगा ।

शकार—अरे नहीं मारोने । (बहुत प्रकार से मारता है) ।

शेट—स्वामी, पीटें या मारें किन्तु अकार्य नहीं करूँगा ।

क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत कर्मों का फल) के दोष (अर्थात् पापों के फल) से मैं जन्म में ही बाम बनाया गया हूँ इसलिए उन्हे (पापों के फल को) अधिक नहीं अधिक करूँगा तथा अकार्य का त्याग करूँगा ॥२३॥

वसन्तसेना—भाव, मैं मरणागम्य हूँ ।

बिट्ट—कापिलों के पुत्र, क्षमा करो, क्षमा करो । धन्य ! म्यावरक, धन्य !

धन्यानिभ है अबस्था जिसकी ऐसा यह दृष्टि दास (स्वावरक) परलोक के फल की इच्छा करना है, किन्तु इसका स्वामी मदार नहीं । तब जो (जन्म जैसे) उन अनुचित कर्म (या अयोग्य जनों) की कृति करते हैं तथा उचित कर्म (या योग्य पुरुषों) का त्याग करते हैं वे मात्र ही भाग्य को प्राप्त क्यों नहीं होते ? ॥२६॥

और भी—

भाग्यदोष वा न श्रेय्यामि अर्थाप्य्यामि, अकार्यं पापकार्यं च परिहरामि त्यजामि ॥२५॥

शेटमकारणोत्तरवर्त्या भाग्यविपत्तिर्त्तं च क्षिप्तवन् बिट्टः कथयति—अप्येव इति । परिपुना तिरग्भुता कता मस्य सः बट्टः दिशंनः प्रेष्यः सेवकः अपि मम एवः स्वावरकः परत्र परलोकके फलम् इच्छति, अस्य मर्ता स्वामी मकारः तु न इच्छति । तस्माद् कारणाद् ये मकारस्तद्व्याः अनाः अस्तद्व्यम् अकार्यम् यजोर्मं पुनर्यं वा शयंति मत्स्यम् उचितं कर्म धोर्मं पुनर्यं वा त्यजन्ति अथो इमे अथ कथमिह भाग्यं न प्राप्तं न शान्नुवन्ति ? एतच्च बिट्टैः विन्यसितमेवेति भावः । वदन्त्यसिना इत्यन् ॥२६॥



रन्धानुसारी विरम कृतान्तो यदस्य दास्य तव चेश्वरत्वम् ।

श्रिय त्वदीया यदयं न भुङ्क्वते यदेतदाजा न भवान्करोति ॥२७॥

शकार—(स्वगतम्) अयम्पिसुए बुद्धसोडे । पल्लोप्रसोत्त एत गम्पदाते । हुमे सट्टिभगाले कशा भाभामि वलपुत्तिरामणुरशे । (प्रकाशम्) असे गम्पदाते चडे, गच्छं तुमम् आवलके पविशिश वीशन्ते एमन्ते चिरट । । अधर्मभीहको वृद्धभृगाल । परलोकभीहरेय गभंदास । अह राष्ट्रियश्याल कस्मादिबभामि वरपुश्य-मनुष्य । अरे गभदास चेट गच्छ त्वम् । अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ ।]

चट—ज भट्टके आणवेदि । (वसन्तसेनामुपसृत्य) अजए एतिके मे विह्वे । [यदभट्टक आज्ञापयति । आर्यं एतावान्मे विभद ।] (इति निष्क्रान्त )

शकार—(परिकर वचनं) चिरट वसन्तज्ञाणि पिरट । मालइरराम । [तिष्ठ वसन्तसेने तिष्ठ । मारयिष्यामि ।]

विट—आ ममाग्रतो व्यापादयिष्यासि । (इति गले घृह्णाति)

शकार—(भूमौ पतति) भावे भट्टक मासेदि । (इति मोह नाटयति । चेतनां सञ्चया)

श०वकाल मए पुष्ट मशेण अ घिएण अ ।

अज्जे कज्जे शमुप्पण जाये मे वैल्लिए कधम ॥१८॥

(विचिन्त्य) मोहु । सडे मए उवाए । विण्ण बुद्धसोडण शिसरवालणराणा । ता एव पेशिश वसन्तशेणिअ मालइरराम । एव्थ हाव । (प्रकाशम्) भावे, ज तुम मए भण्णिरे त कय हुमे एव्थ बुद्धकेहि भल्लकम्पमाणेहि कुत्तेहि जाये भकज्ज क्खेमि । एव्थ एव अङ्गीकलावेदु मए भणिसम् । [भावो भट्टक मारयति ।]

सर्वकाल मया पुष्टा मासेा च घृतेन च ।

अद्य कार्यं संप्रुत्पन्ने जातो मे वैरिक कथम् ॥

भवतु लब्धो मद्योपाय । दत्ता वृद्धभृगालेन शिरश्चालनसज्ञा । तदेतं प्रेष्य वसन्तसेना मारयिष्यामि । एव तावत् । भाव, यस्य मया भणितं, तत्कथमहमेव बृहत्तरं मल्लकप्रमाणी कुलैर्जातोऽकाय वरोसि । एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम् ॥

रश्मि ति । कृतान्तं देव रश्मानुसारी द्विदान्वेषः विरम विपरीत वक्रो-  
वाशस्ति यन् यत् अस्य स्थावरकस्य दास्य दासता तव शकारस्य च ईश्वरत्व प्रभुता  
विद्यते । यन् च अय स्थावरक स्वदीयां शकारसर्वाधिनी धिय सम्पत्ति च मुद्गसे

द्वैव (विघाता) छिद्रान्वेपी तथा विपरीत कार्य करने वाला है जो इस (धार्मिक भाव वाले चेट) के दासता तथा तुम (पाप्मप्रवृत्ति वाले शकार) को प्रभुता दी है तथा जो यह तुम्हारी लक्ष्मी का उपभोग नहीं करता है और आप इसके आशान्कारी (सिक्क) नहीं हैं ॥२७॥

शकार—(अपने आप) यह बूढ़ा सियार (विट) अघम से डरने वाला है। यह जन्मजात दास (स्वावरक) परलोक से डरने वाला है, किन्तु मैं धोखे पुष्ट, मनुष्य, राजा का साता किससे डरूँगा ? (प्रकट रूप में) अरे जन्म के दास चेट, तुम जानो किसी गुप्त (या पृथक् स्थित) स्थान में प्रवेश करके विश्राम करते हुये एकान्त में ठहरो।

चिट—जो स्वामी आज्ञा करें। (वसन्तसेना के समीप जाकर) भावें, इतना ही मेरा सामर्थ्य है। (निकल जाता है)

शकार—(कमर बांधति हुए) ठहर, वसन्तसेना, ठहर। भाऊँगा।

चिट—अरे, मेरे सामने मारोमै। (गला पकड़ लेता है)

शकार—(भूमि पर गिरता है) भाव, भवामी को मारते हो। (मूर्च्छा का अभिनय करता है। चेतना प्राप्त करके)—

सब समय भाँस तथा धूत से मैंने तुम्हें पुष्ट किया है। भाव काम या पत्र पर तू मेरा बैरी कैसे हो गया ? ॥२८॥

(सोचकर) अच्छा मैंने उपाय पा लिया। बूढ़े सियार (विट) ने सिर हिलाकर (वसन्तसेना को) सकेत दिया है। तो इस (विट) को भेजकर वसन्तसेना को भाऊँगा। तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) भाव, जो मैंने तुमसे (वसन्तसेना को मारने के विषय में) कहा है, भला ऐसे मल्लक (?) के समान बड़े कुल में उत्पन्न होकर मैं आकार्य कैसे कहूँगा ? इस प्रकार तो अपने को स्वीकार कराने के लिए मैंने कह दिया है।

यत् न भवान् शकारः एतस्य स्वावरकस्य आत्माद् आदेशं न करोति न पालयति । एतच्च सर्वं कृतान्तस्य विषमता एवेति भावः ।-उपजातिः कृतम् ॥२७॥

अपवारके गृहविशेषे-इति पृथ्वीघरः । विभवः सामर्थ्यम् ।

परिकर कटिवस्त्रम्, काष्ठ इति प्रसिद्धम् । व्यापादविध्यामि भारविष्याति । सर्वकालमिति । सर्वकालं सदा भया शकारेण भासेन घृतेन च पुष्टः (त्वम्) अद्य कार्यं समुत्पन्ने प्राप्ते सति मे शकारस्य बैरिकः बैरी एव बैरिकः स्वार्थे कं कथं जातः ॥२८॥

शिरदचातनेन संज्ञा सद्भूतः । यस्तकः लघुपात्रविशेषः (टि०) । समुद्रप्रमाणा- इति वक्तव्ये मौर्यात् मल्लकप्रमाणतया कुलमुपमिनोति-इति पृथ्वीघरः । 'धूलिः' इति बहुवचनं शकारवचनत्वात् ।

षिट —

किं कुलेर्नोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति सुतरां स्फीता सुक्षेत्रे कण्टविद्रुमाः ॥२६॥

शकार — भावे, एषा तव अग्रायो, सज्जाभदि, न त्र अङ्गोक्तैरि । ता गच्छ ।  
पादतज्जये नए विशिष्टे गदे वि । एषो पताइम गच्छेवि । ता त पेष्ठिम आमच्छु  
भावे । [भाय, एवा तवाग्रतो तज्जते न मामङ्गीकरोति तदगच्छ ।

स्यावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि । एष प्रपत्साम्य गच्छति । तस्मात्  
गृहीत्वागच्छतु भाव ।]

षिट — (स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वरान्तसेना शीण्डीयंभावान्न भजेत मूर्खम् ।

तस्मात्करोम्येष विविक्तमस्या विविक्तविश्रम्भरसां हि काम् ॥३०॥

(प्रकाशम्) एवं भवतु । गच्छामि ।

वसन्तसेना—(पटात्ते गृहीत्वा) न भगानि शरणागवन्निह । [ननु भगामि  
शरणागतास्मि ।

षिटः—वसन्तसेने, न भैतव्यं न भैतव्यम् । काणेलोमात, वरान्तसेना तव  
हस्ते ग्यास ।

शकार—एषम् ? मम हस्ते एषा जामेण चिष्टतु । [एयम् : मम हस्त  
एषा ग्यासेन तिष्ठतु ।]

षिट—सत्यम् ।

शकार.—गच्छतु । [सत्यम् ।]

षिट—(निविद् गत्या) अथवा मयि गति नृशंसो हन्यादेनाम् । तदपवा-  
रितशरीरं पश्यामि तां वदस्य चिकीर्षितम् । (इत्येकान्ते स्थित )

शकारः—चोडु । मालइशम् । अथवा कवचकावदिके एषो वक्ष्णं जुद्ध-  
कोष्ठे कदावि औवासिरकालोते मरिच शिभाते मविम हुमुमुलि वनेदि ता  
एदशा वञ्चणानिमित्त एव दाव कलंइशम् । (कुमुमावचय मुयंन्तमानं  
कण्टवति) वाशु वाशु मशन्तसोणिण, एहि । [भवतु । मारयिष्यामि । अथवा कपट-

किमिति । कुलेन उपदिष्टेन कथितेन किं को साम ? यत अत्र अक्रोयंकरणे  
शील एवभाव. एवं शरणाग्रम् । तथाहि सुक्षेत्रे कण्टविद्रुमाः कण्टवमेवा हुमाः सृजा सुतरां  
स्फीता अरयन्तं विस्तृताः समृद्धा वा भवन्ति । इत्यमेव उत्तमकुलेऽपि पापिनो जामन्ते  
इति भाव । अर्धान्तरग्यास ॥२६॥

बिट—

कुन के कयन से क्या (लाभ) ? क्योंकि इस (अकार्य करने) में तो स्वभाव (या लाचरण) ही कारण है जैसे कि अच्छे खेत में भी कांटो वाले वृक्ष भैली-भाति ममूढ़ हो जाते हैं ॥२९॥

शकार—भाव, यह तुम्हारे सामने सजाती है तथा भुझे स्वीकार नहीं करती । अतः तुम जाओ । मेरे द्वारा पीटा गया स्थावरक चेट गया भी । (देखो) यह भाग कर जाता है इसलिये आप उसे लेकर आइये ।

बिट - (अपने आप) हमारे सामने वसन्तसेना उदात्त गुणों के कारण कदाचिद् इस मूर्ख को स्वीकार न करे, इसलिये मैं वसन्तसेना के लिये (इस स्थान को) निर्जन करता हूँ क्योंकि काम निर्जन एवं विरवस्त स्थान में आनन्ददायक होता है ॥३०॥

(प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, जाता हूँ ।

वसन्तसेना—(आँख पकड़कर) मैं कहती हूँ न, कि मैं शरणागत हूँ ।

बिट—वसन्तसेना, उठो नहीं, उठो नहीं । काण्डी के पुत्र, वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में धरोहर है ।

शकार—अच्छा, मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे ।

बिट—उचमुच !

शकार—सच ।

बिट—(बुद्ध दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर यह क्रूर इस (वसन्तसेना) को कदाचिद् मार देगा । अतः अपने आप (शरीर) को छिपाये हुए इसके इरादे (कार्य करने की अभिनाया-विकीर्ण) को देखना हूँ । (एकान्त में ठहर जाता है) ।

शकार—अच्छा, हाँगा । अथवा धूर्तों में अग्रणी यह ब्राह्मण कूटा-सिपार क्ली अर्धे आनको धिपार (यज्ञ) जाकर सिपार सा बनकर धन करता हो । उच

अस्मदिति । अस्मत्समसं हि अस्माकं समसो वसन्तसेना शीघ्रीयंभावात् उदात्तभावात् मूर्खं न मनेन मेवेत् । तस्मान् कारणात् एषः अहं अस्याः वसन्तसेनायाः विविक्तं विजय करोमि हि यतः कामः विविक्ते विजने मूर्खे वा विषम्ये विषवासे च यतः आनन्दो यस्य तादृजः भवति । अर्धान्तर्यासोऽनद्धारो । उपजातिः वृत्तम् ॥३०॥

वपटं वरतीति कारटिनः । वपटेषु कारटिकः बन्धकाप्रतीतियर्थः । (पृथ्वी०) क्षपारितम् आन्धादित शरीरं येन सः ।

कापटिक एव ब्राह्मणो वृद्धशृगाल कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा शृगालो भूत्वा कपटं करोति । तदेतस्य वञ्चनानिमित्तमव तावत्परिष्यमि । बाले बाले वसन्तसेने, एहि ।]

षिट -- अये, कामी सवृत् । हस्त, निवृत्तोऽस्मि । गच्छामि । (इति निष्क्रान्त )

शकार —

शुवण्णं देमि पिअ वदेमि पडेमि शीशण शवेष्टणेण ।

सथा वि न णेच्छसि शुद्धदन्ति किं सेवकं कष्टमया मणुरणा ॥३१॥

शुवर्णं वदामि प्रिय वदामि पतामि शीर्षेण सर्वेष्टनेन ।

सथापि मा नेच्छसि शुद्धदन्ति किं सेवकं कष्टमया मनुष्या ॥]

वसन्तसेना को इत्य सदेहो । (अवनतमुखी जल चरित' इत्यादि श्लोकद्वय पठति)

जलचरितं निकृष्टं जातदोषं कथमिह मां परिलोभसे घनन ।

मुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलमधुपापरित्यजन्ति ॥३२॥

यत्नेन सेवितव्यं पुरुषं कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि ।

शोभा हि पणत्त्रीणां सहस्राजनसमाश्रयं काम ॥३३॥

अवि अ । सहस्रापरारव सेवित्रं न पलाशपादवं अङ्गीकरिस्सम् । [कोऽत्र सन्देह ।]

अपि च । सहकारपादप सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि ।]

शकार — दाशौए घोए दलिहंषालुवत्तके सहस्रापरारवे कडे, हुगे उण पलाशे भणिते किणुके वि ण कडे । एम्भं तुम मे गालिं बेत्ती मग्गवी त ज्जेव षालुवत्तकं शुमलेसि । दास्या 'पुत्रि, दरिद्रचारदत्तकं सहस्रापादपं कृतं अहं पुन पलाशो भणितं किणुकोऽपि न कृतं । एव त्वं मत्स्यं गालिं ददत्यद्याप तमेव चारुदत्तकं स्मरसि ।]

वसन्तसेना -- हिमभगवो ज्जेव कित्तं मं सुमरीअरि । [हृदयगत एव किमिति न स्मर्यते ।]

भूयान् ब्रामोऽस्यास्तीति कामी । सकृत् सजात । निवृत्तं सुधीं निश्चिन्त । शुवर्णकमिति । अहं तुभ्यं शुवर्णं वदामि प्रिय वदामि सर्वेष्टनेन शीर्षेण शिरसा पतामि तव चरणयोरिति शब्द । तथापि हे शुद्धदन्ति, मां शकार सेवकं किं कथं ष इच्छति ? अहा ! मनुष्या हि कष्टमया । उपजाति वृत्तम् ॥३१॥

इसकी वञ्चना के लिए इस प्रकार कहें । (पुण्य-वचन करता हुआ अपने आपको भूषित करता है) बाले, बाले, वसन्तसेने, आओ ।

विट—अरे, कामी बन गया । अहा ! अब निश्चिन्त हो गया । जाता है ।  
(निकल जाता है)

शकार—

मैं तुम्हें सुवर्ण देता हूँ प्रिय वचन कहता हूँ, पगड़ी सति, त मिर से (तुम्हारे चरणों में) गिरता हूँ, तथापि हे मूढ़ दातो वाक्षी क्यों मुख सेवक को नहीं चाहती ही (खेद है) मनुष्य बड़े कष्टमय है ॥३१॥

वसन्तसेना—इसमें क्या सन्देह है ? (नीचे मुख किया हुए 'क्षलचरित इत्यादि' दो श्लोक पढ़ती है)

हे दुष्ट चरित्र वाले अधम, तुम पाप से युक्त होकर यहाँ भुङ्गे घन से क्यों घुमाते हो ? सुन्दर (आह्लादकता आदि) स्वभाव वाले तथा निर्मल आकृति वाले कमल को भ्रमर नहीं छोड़ते हैं ॥३२॥

कृतीत तथा सदाचारी पुरुष का दरिद्र होते हुए भी धन से सेवम करना चाहिये, क्योंकि अनुरूप जन हैं <sup>अभिप्रेत</sup> जिसका ऐसा प्रेम ही वैश्याओ की शोभा है ॥३३॥

और भी । आश्रय का सेवन करके पलाशवृक्ष की स्वीकार नहीं करेगी ।

शकार—दासी की पुत्री, दरिद्र चारुदत्त को आश्रय बना दिया और मुझे पलाश कहा, 'किशुक' भी नहीं बनाया । इस प्रकार तू मुझे पाली बेती हुई आज भी डमी चारुदत्त का स्मरण करती है ।

वसन्तसेना वह हृदय में स्थित ही है, फिर उसका स्मरण क्यों न किया जाये ?

क्षलचरितेति । हे क्षलचरित दुष्टचरित, निकृष्टः अधमः, क्षातः उत्पन्नः शोषः पापं यस्य तादृशः सन् इह अत्र मां वसन्तसेना कथं घनेन परितोमते परितोममति ? सुचरितं शोभनं चरितं शीलम् आह्लादकरवादि यस्य तादृशं विशुद्धः विमलः देहः शरीरं आकृतिर्वा यस्य तादृश कमलं मधुपाः भ्रमराः न परित्यजन्ति हि न त्यजन्ति इति निश्चितम् । अनेन चारुदत्तं न स्पृश्यामीति व्यज्यते । अग्रस्तुत-प्रशंसान्जहारः । पुष्पिताया वृत्तम् ॥३२॥

यत्नेनेति । कुलशौलवान् कुलशौनयुक्तः पुष्ट्यः दरिद्रः अपि सन् यत्नेन प्रयत्नपूर्वकं सेवितव्यं सेवनीयः, हि यतः सदृशजनः अनुरूपजनः समाश्रयः यस्य तादृशः कामः अनुपमः पमस्तोत्राणां वर्यानां शोभा भवति । अर्थान्तरग्याप्तः । आर्मा वृत्तम् ॥३३॥

शकार—अञ्ज वि वे हिअअगदं तुम च शर्म ज्जेव भोदेवि । ता बलिहाराधवाहं  
भमगुराकामुकिणि, चिरट चिरट [अद्यापि ते हृदयगतं त्वां च सममेव मोट-  
यामि । तद्दिरिसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि, तिष्ठ तिष्ठ ।]

वसन्तसेना—भण भण पुणो वि नन सताहणिआइ एदाइ' अबजराइ' । [भण  
भण पुनरपि भण श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि ।]

शकार—वसिन्ताअडु दारीए पुत्ते बलिहवानुवत्तके तुमम् । [परित्रायती  
यास्या पुत्रो वरिश्चिचारुदत्तकस्त्वाम् ।]

वसन्तसेना—परित्ताअवि जदि म वेवजदि । [परित्रायते यदि मां प्रक्षते ।]

शकार—

किं शो शनके बालिपुत्ते महिन्दे सम्भापुत्ते कालनेमी शुबन्धु ।

सुदे लाआ द्रोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुः ? ॥३४॥

अथवा, एदे वि वे न सवलन्ति ।

चाणक्केण जघ्ना शोदा मालिदा भालदे जुए ।

एव्यं दे मोडइश्यामि जडाऊ विअ दोव्वदिम् ॥३५॥

[किं स शक्रो बालिपुत्रो महेंद्रो रम्भापुत्र कालनेमि, सुबन्धुः ।

रदो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणकयो वा धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुः ?

अथवा, एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति ।

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे ।

एव त्वां मोटयिष्यामि जटायुश्च द्रोणदीम् ॥

(इति ताडयितुमुद्यत )

वसन्तसेना—हा असे, कर्हिं सि । हा अञ्जचारुदत्त, एसो जणो असंपुण्णमणो  
एथो ज्जेव विवज्जदि । ता उट्टं अबकन्दहरसम् । अथवा वसन्तसेना उट्टं भनकावति  
ति सज्जणीअं कपु एवम् । णमो अञ्जचारुदत्तस । [हा मातः, कुत्रासि ? हा  
आर्यचारुदत्त, एथ जनीअसंपुण्णमनोरथ एव विपद्यते । तद्दूर्ध्वमा-क्रन्दयिष्यामि ।  
अथवा वसन्तसेनोर्ध्वमाक्रन्दतीति सज्जनीयं सत्वेतत् । नम आर्यचारु-  
दत्ताय ।]

शकार—अञ्जवि गग्गदासी तसरा ज्जेव पावसस णाम नेण्हवि । (इति कण्ठे  
पीडयन्) शुभत गग्गदासि शुभत । [अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम  
पृच्छति । स्मर गर्भदासि, स्मर ।]

वसन्तसेना—णमो अञ्जचारुदत्तस । [नम आर्यचारुदत्ताय ।]

शकार—आज ही तुझे और तेरे हृदय में स्थित (दोनों) को साथ ही पीस डालता हूँ। तो दरिद्र सार्ववाह अर्थात् चाण्डल को चाहने वाली, ठहर ठहर।

वसन्तसेना—बहो, कहो फिर भी कहो। ये जजर (चाण्डल कामुकिनी) सराहनीय हैं।

शकार—दामो का पुत्र दरिद्र चाण्डल तुम्हारी रक्षा कर ले।

वसन्तसेना—रक्षा करते यदि मुझे देखते।

शकार—बह (चाण्डल) क्या इन्द्र है? वाति का पुत्र महेंद्र है, या रम्भा का पुत्र कातनेमि है अथवा भुवन्धु है? वह राजा रघु है या श्रेण का पुत्र जटायु है? चाणक्य है, घुग्घुमार है अथवा त्रिशङ्कु है ॥३४॥

जैसे भारत के युग में चाणक्य ने सीता को मारा था इसी प्रकार जटायु के शोपदी को मारने के समान मैं तुम मारूँगा ॥३५॥

(भारते को उद्यत हो जाता है)

वसन्तसेना—हाय माँ! कहीं हो! हाय आर्य चाण्डल! यह जन (मैं) बिना मनोरथ पूर्ण हुए ही मर रहा हूँ। अब मैं ऊँचे स्वर से क्रन्दन करूँगी। अथवा 'वसन्तसेना ऊँचे स्वर से क्रन्दन करती हैं'—बह लज्जा का विषय है। आर्य चाण्डल को नमस्कार।

शकार—अब भी यह गर्भदासी उम पापी का ही नाम ले रही है। (गला दबाता हुआ) स्मरण कर गर्भदासी, स्मरण कर।

वसन्तसेना—आर्य चाण्डल को नमस्कार।

‘पलाश’ शब्देन राजसोऽप्यभिधीयते पल मांसमपनातीति पलाशः। भोदप्यामि क्षूर्गप्यामि। दरिद्रमायंवाहकः चामी मनुष्यश्च तस्य कामुकिनी मन्त्रिलापिणी तस्मिन्बुद्धी।

क्रिमिति। सः चाण्डलेः किं शक्र-इन्द्रः, वातिपुत्रः महेंद्रः किम्? शक्रः महेंद्रः इति पुनरुक्तिः वातिपुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्। अथवा रम्भायाः पुत्रः कातनेमिः भनुरविशेषः सुबन्धुः कविविशेषः—अथ रम्भापुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्, रघुः एतन्नामकः राजा अथवा श्रेणस्य पुत्रः जटायुः श्रेणपुत्रः इति विरुद्धम्; चाणक्यः, घुग्घुमारः भनुरविशेषः अथवा त्रिशङ्कुः किम्। वातिनी बुद्धम् ॥३४॥

चाणक्येन। यथा भारते युगे चाणक्येन सीता मारिता एवं जटायुः शोपदीम् इव च त्वां वसन्तसेनां भोदयिष्यामि क्षूर्गपिष्यामि मारयिष्यामि सा शकारवाच्यत्वाद् भवद्भनम् ॥३५॥



शकार.—मत् गण्यदासि, मत् । [स्त्रियस्व गर्भदासि, स्त्रियस्व ।]  
(नाटर्षं न कण्ठे निपीड्यन्मारयति)

(वसन्तसेना मूर्च्छिता निश्चेष्टा पतति)

शकार —(सहर्षम् ।)

एदं दोषकलण्डिअं अविणअश्शावाणभूद सलं  
सत्तं तश्श किलागदश्श लमणं कालागद आअदम् ।  
किं एणे शमुदाह्वामि णिअअं वाहूण शूलत्तणं  
णीशाणे वि मलेइ अम्ब शुमला शीदा जघा भालदे ॥३६॥  
इच्छन्तं मम नेच्छति स्ति गणिआ सोशेण मे भासिदा  
भुण्णे पुष्पकलण्डके स्ति शहशा पाशेण उत्तासिदा ।  
शवावञ्चिद भादुके मम पिदा मादेव शा दोष्पदी  
जे शे पेवलदि णेदिशं ववमिदं पुत्ताह शूलत्तणम् ॥

भोवु । शपथ बुद्धिखोडे आगमिरकथि ति । ता ओशसिअ चिरटामि ।

[एता दोषकरण्डिकाभविनयस्यावासभूता खला  
रक्ता तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।

किमेयं शमुदाहरामि निजक बाह्वीः शूरत्वं  
निःश्वासापि स्त्रियतेऽम्बा सुमृता सीता यथा भारते ॥

इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता  
शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेनोत्प्रासिता ।

शैवावञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्वीपदी  
दोऽसौ पश्यति नेंदूशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ॥

भवतु । सांप्रतं बुद्धशृंगाल आगमिष्यतीति ततोऽपसृत्य तिष्ठामि ।]

(तथा करोति)

(प्रविश्य चेटेण सह)

विट —अनुनीतो मया स्थावरकचेट । तच्छावरकणेलीपातरं पदयामि ।  
(परिक्रम्यावलोच्य च) अये, भार्यं एव पादवो निपतितः । अनेन च यतता हन्त्री भ्यापा-  
विता । नो पाप, किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया । तत्रापि पापिनः पतनात्प्रोच्यदशंने-  
भातीव पातितता मयम् । अनिमित्तमेतत्, परस्परं यतन्तसेना प्रति शङ्कितं मे मनः ।  
शर्वथा देवता, स्वस्ति करिष्यन्ति । (शकारमुपगूह्य) कणेलीमानः, एव मयानुनीतः  
स्थावरकचेटः ।

शकार—मर जा गर्भदासी मर जा । (अभिनय से गला दबाता हुआ मारता है (वसन्तसेना मूर्च्छित होती है तथा निश्चेष्ट होकर गिरती है)

शकार—(हृष्टपूर्वक)

दोषों की पिटारी, अविनय का निवास स्थान, दुष्टा, अनुरागयुक्ता, यहाँ आये हुए उस चारुदत्त से रमण के लिये आई हुई काल (मृत्यु) को प्राप्त हुई—इस वसन्तसेना की (मैंने मार दिया है) मैं अपनी भुजाओं की शूरता का क्या वर्णन करूँ? श्वास रहित हो जाने पर भी यह बेचारी स्त्री (वसन्तसेना) इसी प्रकार मर रही है जिस प्रकार भारत युग में सीता मली-भाँति मर गई ॥३६॥

‘चाहने वाले मुझको यह बेव्या (वसन्तसेना) नहीं चाहती है—इस कारण से इस शून्य पुष्पकरण्डक नामक उद्यान-में सहसा अपने बाहुपाय से गला दबाकर उसकी द्रौप्य से मैंने मार दिया है । जो मेरा भाई, पिता तथा द्रौपदी जैसी माता अपने पुत्र द्वारा की गई हम शूरता को नहीं देखता है वह मेरी सेवा से वञ्चित रह गया ॥३७॥

अच्छा, इस मन्मथ बूढ़ा सिमार आ जायेगा, अतः उससे हटकर लडा होता हूँ । (बैसा करता है)

(घेट के साथ प्रवेश करके)

घिट—स्वावरक घेट को मैंने मना लिया है । सी अब कागेली के पुत्र को देखता है (धूमकर और देखकर) अरे, मार्ग में ही वृक्ष गिर गया है । और गिरते हुए इसने स्त्री को मार डाला । अरे, पापी तूने यह क्या अकार्य कर दिया । तुझ पापी के पतन से होने वाले स्त्रीवध के दशान मे हूँ अधिक पतित कर दिया है । यह अपशकुन है, सबमुच ही वसन्तसेना के विषय में मेरा मन शङ्कित हो गया है । सर्वथा देवता कल्याण करेंगे । (शकार के पास जाकर) कागेली-पुत्र, अच्छा मैंने स्वावरक घेट को मना लिया है ।

एतामिति । दोषाणां ऋषिद्विकी पेटिका (पिटरी इति भाषा), अविनयस्य आवासभूता निवासस्थानम्, सत्ता दुष्टां रक्षां अनुरागयुक्ताम् आगतस्य तस्य चारु-दत्तस्य रमणे रमणनिमित्तम् अगता कालागतां कालप्राप्ताम् एतां वसन्तसेनाम् अह मारितवान् इति श्लेषः । एषः अहं निवृत्तं स्वकीयं बाह्यो भुजयोः शूरत्वं शूरतां किमुदाहरामि किं वर्णयामि ? निश्वासा श्वासरहिता अपि अम्बा वराको स्त्री तथा अत्रियते यथा भारते युगे सीता समृता सम्यक् मृता । (हतोपमम्) । शार्दूलविश्रीदितं वृत्तम् ॥६६॥

इच्छन्तमिति । इच्छन्तं कामयमानं मां शकारं यमिकां वसन्तसेनाम् इच्छति इति हेतोः शून्ये विजने पुष्पकरण्डके तन्नामके उद्याने सा मया शकारेण सहया पारोन् बाहुपायेन उत्थासित प्रास यमिना निपीडिता वा, रोषेण मारिता च इति । .यः मम छाता पिता, द्रौपदी इव माता च पुत्रस्य शकारस्य व्यवसितं वृत्तम् ईदृशं शूरत्वं न पायति अमी सेवावञ्चितः मय सेवया वञ्चितः इति भावः ॥३७॥

शकार—भावे शाप्रद वे पुस्तका पावतका चेडा, तशादि शाप्रदम् ।

[भाव, स्वागत ते । पुत्रक स्यावरक चेट तवापि स्वागतम् ।]

चेट—अथ इ अय किम् ।]

विट—मदीय न्यासमुपनय ।

शकार—कोदिशे शासो । [कोदृशो न्यास ।]

विट—वसन्तसेना ।

शकार—गडा । [गता ।]

विट—इद ।

शकार—भावशा उज्वेव फिरटो । [भावस्यैव पृष्ठल ।]

विट—(सहितकंम्) न गता खनु सा गया दिशा ।

शकार—तुम कदमाए दिशाए गडे । [स्यं कतमया दिशा गत ।]

विट—पूवया दिशा ।

शकार—शा वि दक्षिणाए गडा । [सा पि दक्षिणया गता ।]

विट—अहं दक्षिणया ।

शकार—शा वि उत्तसाए । [साप्सुत्तरया ।]

विट—अत्याकुल कययसि । न शूद्रयति मेन्तररमा । तत्वपय सत्यम् ।

शकार—शकामि कावरा शीशो अलणकेसरेहि पादेहि । ता कडावेहि हिअप्रम् एसा मए मातिहा । [गपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्या पादाभ्याम् । ततः सत्पापय हृदयम् । एथा मया मारिता ।]

विट—(सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ।

शकार—अह मम वज्रयो न पतिभाअशि, ता देवस पडम सट्टिअसालसांठा-गाह सुलसनम् । [यदि मम वज्रने न प्रत्ययसे, तत्पश्य प्रथमं राष्ट्रियशाल-सस्थानस्य धूरत्वम् । (इति दर्शयति)]

विट—हा हृशोऽस्मि मन्दभाग्यः । (इति क्रुब्धः पतति)

शकार—हो हो उवसदे भावे । [हो हो । उपरतो भाव ।]

चेट—शमराशशु शमराशशु भावे । अविचारित पक्षस्य आपण्णेण वजेव मए पडम मातिहा । [समाश्वसितु समाश्वसितु भावः । अविचारितं प्रबहण-मानयतीव मया प्रथमं मारिता ।]

विट—(समाश्वस्य सकरणम्) हा वसन्तसेने,

अपभ्रुत्य दूर गत्वा । स्त्रीवधवशनेन (कतुंभूतेन) अथ पातित्वा पापविनः

शकार—भाव, तुम्हारा स्वागत है। पुत्र, स्थावरक चेट, तेरा भी स्वागत है।

चेट—अच्छा, (धन्यवाद)।

विट—मेरी धरोहर लाओ।

शकार—कैसी धरोहर ?

विट—वसन्तसेना।

शकार—गई।

विट—कहाँ ?

शकार—आपके पीछे।

विट—(वितर्क-पूर्वक) वह तो उस दिशा से नहीं गई।

शकार—तुम किन दिशा से गये थे ?

विट—पूर्व दिशा से।

शकार—वह भी दक्षिण से गई।

शकार—मैं दक्षिण दिशा से (गया था)।

शकार—वह भी उत्तर दिशा से (गई)।

बहुत धबराहट से कह रहे हो मेरा हृदय संशय-ग्रहित नहीं हो रहा है। तो सच कहो।

शकार—अग्ने चरणों से आपके सिर की शपथ मंता हूँ। वो हृदय को स्थिर करो। उसे मैंने मार दिया।

विट—(विद्याद्वयपूर्वक) सचमुच, तुमने मार डाली ?

शकार—यदि तुम मेरे कथन पर विश्वास नहीं करते तो पहले राजशालक संस्थानक की धूर्ता देखो (दिखनात्रा है)।

विट—हाय मन्दभाग्य वाला मैं मारा गया (मूर्च्छित होकर गिरता है)।

शकार—अहो, 'भाव' मर गया।

चेट—आप धैर्य धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये, बिना बिचारे, गाड़ी को साते हुए मैंने ही उसे पहले मार दिया था।

विट—(धैर्य धारण करके, कदनापूर्वक) हाय, वसन्तसेना।

वृत्ताः। पाठकं क्रियमानं पश्यन्निर्जनः पातसी भवतीति भावः। अनिमित्तम् अपगतुनम्।

दक्षिणदिगात्तत्त्वं मृतत्वमनि (पृथ्वी०)। अत्याकुलम् आकुलतापूर्वकं परस्पर-विरुद्धं वा न शक्यति (?) शुद्धः संशयसहितः नास्तीति भावः। प्रथमसे विनवसिपि 'ही' इति विसमभेदम्। उच्यते मृतः।

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-

र्हा हालङ्कृतभूपणे सुवर्दने क्रोडारसोद्भासिनि ।

हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा माहशामाश्रय

हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकर ॥३८॥

(सासम्) कष्ट भोः कष्टम् ।

किं नु नाम भवेत्कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।

आपापा पापकल्पेन नगरथ्योनिपातिता ॥३९॥

(स्वगतम्) अये कदाचिदय पाप इदमकार्यं मयि सङ्गामयेत् । भवतु । इतो गच्छामि । (इति परिह्वामति)

(शकार उपगम्य धारयति)

विट — पाप, मा मा स्प्राक्षी । अल त्वया । गच्छाम्यहम् ।

शकार — असे वसन्तसेना शम उजेव मामिम मं वृशिम कंह पत्तामदि ? शपद इदिते हग्गे अणाधे फविरे । [अरे, वसन्तसेना स्वयमेव मारयित्वा मा दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? साप्रतमोदशोऽहमनायः प्राप्तः ।]

विट — अपध्वस्तोऽसि ।

शकारः—

अथ शदं देमि सुवण्णं दे

कहावणं देमि शवोडि अं दे ।

एशे दुशदठणं पल्लवमे मे

जामाण्णाए भोदु मणुशश्राणम् ॥४०॥

[अर्थं शतदिदामि सुवण्णं ते वार्पावणं ददामि सवोडिकं ते ।

एष दोषस्वार्णं पराक्रमो मे रामान्यको भवतु मनुष्यकानाम् ॥]

'मया वसन्तसेना मारिता' इति शकारवचनं निगम्य विट. अनुशोचति—  
दाक्षिण्येति । दाक्षिण्यम् औदार्यम् एव उदकं तस्य वाहिनी नदी विगलिता नष्टा । रतिः  
स्वदेशं स्वर्गं याता गता हा । हा ! अलङ्कृतभूपणे, अलङ्कृतानि भूपणानि यया सा  
सम्बुद्धी, सुवर्दने सुमुखि, क्रोडारसस्य रतित्रोहाया बालन्दस्य ज्वमासिनि, प्रहासः एव  
पुलिनं बालुकामयतटं यस्या. तथाभूते, हा ! सौजन्यरय नदि, हा ! माहशाम् आश्रये  
आश्रयभूते, हा ! हा ! मन्मथस्य वामस्य विपणिः पण्यबोविका (हट्टः), सौभाग्यम् एव

उदारता हवी जल की नदी नष्ट हो गई, रति अपने देश (स्वर्ग) को घली गई। हा ! मूषणों को अलङ्कृत करने वाली, सुन्दर मुख वाली, (रति) क्रीडा के आनन्द को उद्भ्रमित करने वाली, हा ! हास रूपी बालुकामय तटो वाली सुजनता की नदी ! हा ! मेरे जैसे की आश्रयभूत, हाय ! कामदेव की हाट, सौभाग्य हवी विक्रय द्रव्य की निधि नष्ट हो गई ॥३८॥

(अधुपूर्णे होकर) अरे कष्ट है कष्ट !

क्या प्रयोजन (सिद्ध) हो सकेगा ? जिसमे तूने यह (दुष्कर्म) किया है। पापी जैसे तूने पाप रहित नगर की लक्ष्मी को मार दिया है ॥३९॥

(अपने आप) अरे, कहीं यह पापी इस दुष्कर्म को मुझ पर ही बात दे। अच्छा, यहीं से जाता हूँ।

(शकार पास जाकर पकड़ता है।)

विट—पापी, मुझे मत छुओ। तुम रहने दो। मैं जाता हूँ।

शकार—अरे वसन्तसेना को स्वयं मारकर मुझे दोष लगाकर कहीं भागते हो अब मैं ऐसा बनाप हो गया ?

विट—तुम पतित हो !

शकार—

मैं तुम्हें नौ सुवर्णमुद्रा की धनराशि दूँगा, मैं तुम्हें बीस कौड़ी (बोड़ी) सहित एक 'कार्पापण' दूँगा। मेरा यह पराक्रम (वसन्तसेना का मारना) जो दोष का स्थान (अपराध) है यह मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाये (मेरे नाम न लगाया जाये) ॥४०॥

पुन्यं विक्रयवस्तु तस्य आकरः खनिः निधिर्वा भश्यति । स्वप्नान्ज्वारः । परणो रसः । शार्ङ्गलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३८॥

किमिति । किं नु नाम कार्यं प्रयोजनं भवेत् येन यद्दृश्येन स्वया प्रकारेण इहं दुष्कर्म कृतम् । यत् पापवृत्तेन पापिनः ईश्वर्युक्तेन पापिसहभेन वा स्वया अपापा पाप-रहिता नगरस्य धीः निषानिता मारिता । वसन्तसेनां हत्या नगरमिदं श्रीविहीन विहितम् इति भावः । उपमानज्वारः ॥३९॥

सहामयेद् आरोगयेत् । अपश्वस्त्रः पतितः ।

अर्थमिति । अहं शकारः ते विटाय ज्ञान सुवर्णकम् अर्थं धनं ददामि । ते तुभ्यं सवोदिकं वोटिनामत्रमुद्रामन्त्रिनं कार्पापणम् एतन्नाम्नी राजमुद्रां ददामि । दोषस्य स्थानम् एषः मे मम शकारस्य पराक्रमः मनुष्याणां सामान्यकः साधारणः भवतु । वेनापि वसन्तसेना मारिता इति वक्तव्यम्, न तु धनारेण मारितेति । उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

बिट — घिक् तवैवास्तु ।

चेट — शान्त पाबम् । [शान्तं पापम् ।]

(शकारो हसति)

बिटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुष्यता हि हासो

घिक्प्रीति परिभवकारिकामनार्याम् ।

मा भूच्च त्वयि मम सद्गत वदाधि

दाच्छिन्नं घनुरिक् निगुंण त्यजामि ॥४१॥

शकार — भावे, पशोर पशोद एहि । नलिणोए पविशिम कीलेम्ह । [भाव,  
प्रसीद प्रसीद । एहि । नलिन्या प्रविश्य झिडाव ।]

बिट —

अपतितमपि तावत्सेवमान भवन्तं

पतितमिव जनोऽय मन्यते मामनार्यम् ।

फपमहमनूयाया त्वा हतस्त्रोकमेन

पुनरपि नगरस्त्रीशङ्कितार्घाक्षिदुष्टम् ॥४२॥

(सनरुगम्) वसन्तसेने,

अन्यस्यामपि जाती मा वेण्या भूस्त्व हि मुन्दरि ।

धारिन्वगुणसम्पन्ने जायेथा विमत कुले ॥४३॥

दोष कृत्वा हसन्त शकार दृष्ट्वा बिट वचयति—अप्रीतिरिति । हास विमु-  
ष्यतो त्यज्यता हि अप्रीति त्वया सह मम स्नेहस्य अभावात् भवतु (अपवा एव अप्रीति  
दुःखं भवतु ।) परिभवकारिकां तिरस्कारकारिणीम् अनायां निवृष्टा प्रीति त्वया सट  
मैत्रं घिक् । त्वयि शकारे मम बिटस्य सद्गत क्वाधिक् अनि मम मुन् । दाच्छिन्न  
भान निगुंण ज्यारहित घनु इव दयादिगुणरहित त्वा त्यजामि । उपमातद्वारः ।  
प्रहसिणो वृत्तम् ॥४१॥

नलिण्यां वरस्याम्, नसानि वमलानि सन्त्यस्यामिति ।

विट—(तुम्हें) धिक्कार है । (यह दोष) तुम्हारा ही रहेगा ।

षेट—पाप शान्त हो ।

(धकार हंसता है)

विट—

इस हंसी को छोड़ दो । तुम्हारे साथ मेरा स्नेह नहीं रहेगा । अनादर करने वाली इस निहृष्ट मंत्री को धिक्कार है । मेरा और तुम्हारा सङ्ग फिर कभी न हो । टूटे हुए तथा प्रत्यञ्चा रहित धनुष के समान क्यादि गुण रहित तुझको मैं त्यागता हूँ ॥४१॥

शकार—भाव, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ । आओ (इत) कमल सरोवर में प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करें ।

विट—

आपकी सेवा करते हुए मुझ पाप-रहित को भी लोग अनार्य एवं पापयुक्त समझेंगे । तब स्त्री (वसन्तसेना) को मारने वाले इसी हेतु नगर की स्त्रियों के द्वारा शङ्कित अधन्वनी आशों से देखे गये तुम्हारा अनुसरण मैं कर्मे करूँ ॥४२॥

(कहनापूर्वक) हे वसन्तसेना,

हे सुन्दरी, तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ । हे चरित्रगुण से युक्त (वसन्तसेना), तुम किसी पवित्र कुल में जन्म लो (अथवा हे वसन्तसेना, तुम किसी चरित्र गुणयुक्त पवित्र कुल में जन्म लो) ॥४३॥

त्वया सह मम सङ्गनिर्गमुक्तेति विटः शकारं वयपति-अपतितमिति । अवत्तं शकारं सेवमानम् अपतितम् अति मां विटम् अयं जनः माधारणो लोकः अनादंम् अश्रेष्ठं निहृष्टमिति दावत् पतितम् पापयुक्तम् इव च मन्यते मंस्यते इत्थं च हतस्त्रीकं हता स्त्री येन तं पुनः अपि च भगरस्त्रीभिः शङ्कितैः अदर्शितभिः अधोन्मीलितलोचनैः दृष्टं त्वा शकारम् अहं विटः कथम् अनुगाम्यम् अनुगच्छेत्तम् । न कथमपि त्वामनुगन्तुं शक्नोमीति भावः । वाच्यनिङ्गातद्वारः । मातिनी वृत्तम् ॥४१॥

अन्यस्यामिति । हे सुन्दरि त्वम् अन्यस्यां भाविन्यां जातो जन्मनि अपि वेश्या मा भूः न भव । चारित्र्यं सच्चरित्रम् एव गुणः तेन सम्पन्ना युक्ता तत्सम्बुद्धौ हे चरित्र-गुणयुक्ते वसन्तसेने, (अथवा चारित्र्यगुणसम्पन्ने भुक्ते इति सम्बन्धः) त्व विमने दोष-रहिते, पवित्रे भुक्ते जायेया अ-म दृष्ट्वा; इति वसन्तसेना प्रति शुभकामना ॥४॥



शकार—ममकेलके पुष्करुण्णकजिष्णुज्जाणे वसन्तसेनिअ माविभ कहि पलाअति ? एहि । मम आवुत्तरा अगदी वषहाल देहि । [मदीये पुष्पनरुण्डक-जोर्णोद्याने वसन्तसेना मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि । मम आवुत्तस्या-एतो व्यवहार देहि ।] (इति धारयति)

विट—आ, तिष्ठ जालम । (इति सद्गमावपंति)

शकार—(सभयम्पमृत्) कि से भोवेति । ता वच्छ । [कि रे, भीतोऽसि तद्गच्छ ।]

विट—(स्वगतम्) न युक्तमवस्थानुम् । भवतु । यन्नायंशविलकचन्द्रगक-प्रभृतय सन्ति, तत्र गच्छामि । (इति निजान्त)

शकार—निघ्न वच्छ । असे पावसका पुलक, कीतिसे नए बडे । [निघ्नं गच्छ । अरे स्यावरक पुलक, कीदृशं भया कृतम् ।]

चेट—मट्टके, महन्ते अकज्जे बडे । [भट्टक, महदकार्यं कृतम् ।]

शकार—असे चेडे, कि गणाति अकज्जे कडेसि । भोदु । एए दाप । (तानाभरणान्यवतार्यं) गेह एव असकारअम् । मए ताव विष्णे । जेतिके बेसे अलंक-सेमि तैत्तिक बेस मम । अण्ण तव । [अरे चेट, कि भणस्यकार्यं कृतमिति । भवतु । एवं तावत् । घृहाणेभमलङ्कारम् । भया तावद्दत्तम् । यावरया वेला यामलङ्करोमि तावती वेला मम । अन्यदा तव ।]

चेट—मट्टके अजेव एवे शोहन्ति । कि मम एवेहि । [भट्टो एवेते शोभन्ते । कि ममेति ।]

शकार—ता गच्छ । एदाई गोणाइ गेहिअ ममकेलकाए पासाइवालागएवो-दिक्काए विट । जय हुणे आमच्छामि । [तद्गच्छ । एतो वृषभो गृहीत्वा मदीयाया प्रासादवासाप्रप्रतोसिकाया तिष्ठ । यावदहभागच्छामि ।]

आवुत्तस्य भगनीपते । व्यवहार विवाद, विचारम् इति पृथ्वीधरः । 'परस्पर अनुध्याया स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यान्वयावाद्भ्यवस्थानं व्यवहार उदाहृत' । इति मित्राक्षर । जालम, असनीश्वकारिद् । निघ्न मृत्यु गच्छ । वाताय मत्तवारणम्

शाहर—मेरे 'पुष्पकरण्डक' नामक पुराने उद्यान में वसन्तसेना को मार कर कहीं भागते हो ? आओ, मेरे बहनोई (राजा) के सामने सफाई (स्पष्टवहार) दो । (पकड़ता है) ।

बिट—अरे, बिना विचारे कार्य करते वाले (जाल्म) ठहर । (तत्पश्चात् खीन्चता है) ।

शाहर—(भयपूर्वक हटकर) अरे क्या डर गया, तो जा ।

बिट—(अपने भाव) यहाँ ठहरना उचित नहीं । अच्छा, यहाँ बायें शविलक, तथा चन्दनक आदि हैं, वहाँ जाता हूँ । (निकल जाता है) ।

शाहर—भर जा ! अरे म्यावरक, पुष्पक, मैंने कौंसा कार्य किया ?

चेट—स्वामी, बड़ा बुरा काम किया ।

शाहर—अरे चेट, क्या कहता है, 'बुरा काम किया' । अच्छा, ऐसा ही (सही) (अनेक आभूषणों को उतार कर) इन आभूषण को ले । मैंने तुझे बे दिया । बितले समय, पहनूँ उतने समय मेरा । अन्य समय तेरा ।

चेट—ये (तो) स्वामी की ही गोमा देते हैं । मेरा इनमे क्या (प्रयोजन) ?

शाहर—तो जा : इन वस्तुओं को लेकर मेरी बटारी (बालाघ्न) वाली गली में ठहर जब तक मैं आता हूँ ।

घट — अं मृत्के आणवेदि । [यद्भट्टक आज्ञापयति ।] (इति निष्प्रान्त )

शकार — अक्षपतित्ताने भावे गदे अदंशणम् । चेड वि वासादवात्तगण्योति-  
काए णिगत्तपूतित्वं कवुअ पावइइशम् । एख मन्ते सवित्ते भोदि । ता गच्छामि ।  
अथवा पेशतामि दाव एवम् । कि एशा मत्ता आहु पुणो वि मासइइशम् । (अवलोभव)  
कथ सुमत्ता । भोडु । एदिणा पावात्तएण पच्छादेमि णम् । अथवा णामद्धिदे एते ।  
ता के वि अज्जपुत्तिरो पच्छहिजाणेदि । भोडु । एदिणा वातालीपुञ्जितेण सुवत्तण्ण-  
पुटेण पच्छादेमि । (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोडु । एख दाव । सपदं अथिअसणं  
गच्छिअ दवहात्त तिहायेमि, जहा अत्थरा कासणावो शत्थवाहवालुवत्ताकेण भम्वेत्तकं  
पुष्करत्तण्डकं जिण्णुज्जाण पवेत्तिअ वशन्तरोणिआ वावादिदे ति ।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवड णवम् ।

णअलीए विण्णुद्धाए पशुपाइ व्व दात्तुणम् ॥४४॥

भोडु । गच्छामि । (इति निष्प्रम्य हृत्वा सभयम्) अथिद मादिके । जेण जेण गच्छामि  
मणेण तेण ज्जेव एरो दुष्टशमणके गहिदकराओदकं खोवत्त वेणिहअ आमण्णदि ।  
एरो मए णशि च्छिदिअ थांहिदे । किदवेत्ते कदावि धं वेविलअ एदेण मात्तिदे ति  
पआराइशदि । ता कथ गच्छामि । (अवलोभव) भोडु । एद अद्धपडिअ पाभात्तत्तणं  
वत्तत्तुअ पच्छामि ।

एणे म्हि तुलित्तुलिदे लक्काणअलीए गमणे गच्छन्ते ।

भूमिए पाअले हणूमशिहले विअ महेन्दे ॥४५॥

[आत्मपरित्राणे भावो गतोऽवर्षानम् । चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रती-  
लिकाया निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि । एव मन्त्रो रक्षितो भवति ।  
तद्गच्छामि । अथवा पश्यामि तावदेनाम् । किमेवा मृता, अथवा पुनरपि  
भारयिष्यामि । कथ सुमृता । भवतु । एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयाम्येनाम् ।  
अथवा नामाङ्कित एवः । तत्वोऽप्यार्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति भवतु एतेन .....  
वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि । भवतु एते तावत् । सांप्रत-  
मधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथाथंस्थ कारणात्सायंवाहकचारुदत्तकेन  
मदीयं पुष्करत्तण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति ।

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम् ।

नगर्यां विण्णुद्धायां पशुपातमिव दारणम् ॥

चेद—ओ स्वामी आजा दें । (निकल जाता है) ।

शकार—अपनी रखा के निमित्त बिट (भाव) विनुप्त हो गया । \*चेद को भी प्रासाद की अटारी चानी गती में बेड़ी डालकर रक्खूया । इस प्रकार भेद टिा रहेया (?) तो जाता है । अथवा पहले इम (वसन्तसेना) को देखता है, क्या यह मर गई । अथवा फिर माहंगा (देखकर) क्या भली-भांति मर गई ? अच्छा, इस वस्त्र से इसको ढक देता है । अथवा यह (वस्त्र) तो नामाङ्कित है । तो कोई भायंजन पहचान लेया । अच्छा वायु के जोके से इकट्ठे किये गये इस भूखे पत्तों की रागि (डेरी) से ढक देता है । (बैसा करके सोचकर) अच्छा, तो इस प्रकार । अब न्यायालय में जाकर 'व्यवहार' (अभियोग) तिसाजा है कि धन के निमित्त सायंवाह चावदत ने मेरे पुण्डकण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर वसन्तसेना को मार दिया ।

पवित्र नगरी में भयङ्कर पशुवध के समान चावदत के विनाश के लिये मैं एक नया रूपट करता हूँ ॥४४॥

अच्छा जाता है । (निकलकर, देखकर भयपूर्वक) ओह ! जिस जिस मार्ग से जाता है उसी से यह दुष्ट बीड़ भिक्षु गेरुए रंग के रंगे वस्त्र लेकर आ जाता है । मेरे हाथ नाक छेदकर निकाला गया यह (मेरे साथ) शत्रुता करके, कयाचित्, मुझे देखकर "इसने मारी है" यह प्रकट कर देया । तो कैसे जाऊँ (देखकर) अच्छा, इस बाधी गिरी हुई चारदीवारी को साथकर जाता हूँ ।

भारमपरिचाने स्वरभानिमित्तम् । निगड्धुरितम् अतिपुरुषग्रगोक्तिरियम्  
(शुक्वी०) मन्त्रः गुप्तवादेः 'बेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । प्रावारकेण उत्तरीय-  
वस्त्रेण । नामाङ्कितः वसन्तसेनायाः । इति शकारस्य वेति तिष्ठिताश्रयः (शुक्वी०) ।  
जातासिः वाञ्छकं तथा पुञ्जितम् एकत्रीकृतम् । अधिकरणं न्यायालयः । व्यवहारं  
विवादम् ।

चारवर्तेति । विमुञ्चायां पवित्रायां नगर्याम् उज्जयिन्यां चारुधं भयङ्करं पशुघातं  
पशुवधम् इव चास्वत्तस्य विनाशाय नव रूपटं करोमि ॥४४॥

अविदमादिके भयसहिते विस्मये (अव्ययम्) । गृहीतं कवच्योद्धं गैरिक्तमयजतं  
देन त्त् । हृतं चरं येन ताहयः ।

भवतु । गच्छामि । अविद भादिने । येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनै-  
वेप दुष्टप्रमणको गृहीतकपायोदक चीवर गृहीत्वागच्छति । एष मया नासा  
छित्त्वा वाहित शृतवेर कदापि मा प्रथ्यतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति ।  
तत्कथ गच्छामि । भवतु । एतमर्घंपतितं प्रानारखण्डमुत्सदध्य गच्छामि ।

एयोऽस्मि त्वरितत्वरितो लङ्कानगर्या गगने गच्छन् ।

भूम्या पातालै हूमूर्च्छित्तर हव महेन्द्र ॥

(इति निष्पन्नम्)

(प्रविश्यापटीशेषेण)

सवाहको भिक्षु — पयतासिधे एरो मए चीयलखण्डे । किं शु श्चु साहाए  
शुपलावइरराम् । इय वाणला विलुप्पन्ति । किं शु श्चु भूमोए । वूलोवोरो होवि । ता  
कहिं पयानिअ शुवलावइरराम् (दृष्ट्वा) भोदु । इय वादासीपुञ्जिदे शुवसवसशखए  
पयालइरराम् । (तया कृत्वा) नमो बुद्धरा । (इत्युपविशति) भोदु । धम्मवत्तसाइ  
उदाहसामि (‘पञ्चउज्जण जेण मालिदा (८२) इत्यादि पूर्वोक्त पठति) अथवा अत  
मम एदेण शणेण । जाय ताए यत्ततोणिआए बुद्धोपासिआए पच्चुपकाल न कत्तेमि,  
जाए दशान शुवणकान किडे जूरिक्केहिं निरहोदे, ततो वहुवि ताए कौव विअ  
अत्ताणअ अअगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं शु श्चु पण्णोवते शमुगरादि । अथवा ।

वादादवेण तत्ता चीयलतोएण तिम्मिदा पत्ता ।

एदे विधिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुलन्ति ॥४६॥

[प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् । किं नु खलु शाखाया शुष्कं करि-  
ष्यामि । इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् । धूलिदोषो भवति ।  
तत्तुद्ग प्रसार्य शुष्कं करिष्यामि । भवतु । इह वातालीपुञ्जिते शुष्कपत्र-  
सचये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु धर्माक्षराण्युदाहरामि अथवात्  
मर्मतेन स्वर्गेण । यावत्तस्या यस्तन्तेनाया बुद्धोपासिकाया प्रत्युपकार न  
करोमि यया दशाना सुवर्णकाना कृते द्यूतकाराभ्या निष्क्रीत, तत प्रभृति  
तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि । किं नु खलु पयोदरे समुच्छ्वसिति ।  
अथवा ।

वातात्पेन सप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।

एतानि विस्तोर्णपत्राणि मन्ये पत्राणोव स्फुरन्ति ॥]

एष इति । एष अहं शकार लङ्कानगर्या लङ्कानगरी प्रति गगने भूम्यां पाताले  
हूमूर्च्छित्तरे च गच्छन्, तेषां मार्गेण गच्छन् इति भव महेन्द्र इव त्वरित-

यह मैं (मकार) आकाश, भूमि, पाताल और हनुमान् (वस्तुनः महेंद्र पर्वत) के किलर से लड़ा को जाते हुए महेंद्र (वस्तुतः हनुमान्) के समान शीघ्रातिशय जा रहा हूँ ॥४५॥

(निकल जाता है)

(सवाहक, बिना पदां उठाये प्रवेश करके)

सवाहक—यह चीवर मैंने धो लिया । क्या इसे वृक्ष की शाखा पर सुखा लूँ ? यहाँ दानर नष्ट कर देंगे [फाड़ देंगे] । क्या फिर भूमि पर (सुखा लूँ) ? धूलि (लगने) का दोंप हो जायगा । तब कहीं फँलाकर सुखाऊँ ? (देखकर) अच्छा, यहाँ वायु के झोंके से एकत्रित मूँछे पत्तों की राशि पर फँसाऊँ ? (बँसा करके) बुद्ध को नमस्कार । (बैठ जाता है) अच्छा, धार्मिक शब्दों का उच्चारण करता हूँ । (पञ्चवचनाः येन मारिताः ८-२ इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक पढ़ता है) अथवा इस स्वयं से मेरा क्या (साम है) ? जब तक उस बुद्ध की उपासिका वसन्तमेना का शत्रुपकार न करूँ । जिसने वसु सुवर्ण (मुद्रा) के द्वारा (बदले) उन दोनों धूतकरों से छुड़ाया । तब से लेकर मैं अपने को उसके द्वारा शरीर शया या समझता हूँ । (देखकर) पत्तों के भीतर कौन साँस-सी ले रहा है । अथवा—

बात सहित आतन मे सन्तप्त ये पत्तें मेरे वस्त्र के जल से धार्तें होकर मानो कँच गये हैं पक्ष जिनके ऐसे (पक्षियों के) डँकों के समान हिन रहे हैं ॥४६॥

स्वितिः अतिशयं गच्छन् अस्मि । 'महेंद्रशिखराद् इव हनुमान् इति वक्तव्ये मकारोक्तत्वाद् विपरीतम् (पृष्ठा०) । व्यावहृतोपमम् आया । वृत्तम् ॥३५॥

धानानपेनेति । बातसहितेन आतनेन तप्तानि शीघरस्य वसनसन्तस्य तोपेन जननं स्तिमितानि आर्तंस्त्रं प्राप्तानि एतानि वस्त्राणि मन्ये श्लेषा विस्तीर्णानि प्रमृजानि पत्राणि (पत्त) मय तानि पत्राणि पत्रा इव स्फुरन्ति । उत्प्रेसा । आया वृत्तम् ॥४६॥

(वसन्तसेना संज्ञां सञ्जा हस्तं दर्शयति)

मिक्षु — हा हा । बुद्धालकालभूषिदे इत्यिमा हृत्प्रेषणिकमदि । कथम् । बुद्धि  
 किं हृत्प्रे । (यद्बुद्धि निवेष्टं) पञ्चभिर्जाणामि विप्र एह हृत्प्रेम् । अथवा किं विचारेण ।  
 शक्त्ये शे ज्ञेय हृत्प्रे जेण मे अग्रम दिण्णम् । भोदु । पेविस्समम् । (नाट्टेनोद्घाट्य  
 हृत्प्रेया प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्ञेय बुद्धोवाशिभा । [हा हा, शुद्धालङ्कारभूषित  
 स्त्रीहस्तो निष्क्रामति । कथम् । द्वितीयोऽपि हन्त । प्रत्यभिज्ञानामीवैत हस्तम् ।  
 अथवा किं विचारेण । सत्य स एव हस्तो येन मेऽभय दत्तम् । भवतु । पश्यामि ।  
 सैव बुद्धोपासिका ।

(वसन्तसेना पानीयमाणाद्भाति)

मिक्षु — कथम् । उदकं मत्पेदि । दूले च विविधा । । कं दर्शन एव कलह-  
 शम् । भोदु । एह धीवत्त शे उवत्ति मालइशम् । [कथम् । उदकं यावते । दूरे  
 च दीपिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि । भवतु । एतन्चीवरमस्या उपरि  
 मालमिष्यामि ।] (तथा करोति)

(वसन्तसेना सजा लम्बोत्तिष्ठति । भिक्षु पटान्तेन वीजयति)

वसन्तसेना — अज्ज, को तुमम् । [आयं, कस्त्वम् ।]

मिक्षु — किं न ण सुमत्तेदि बुद्धोवाशिभा वराशुवण्णणिरकीदम् ? [किं मा  
 न स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम् ?]

वसन्तसेना — सुमरामि । ण उण, जघा अज्जो मणादि । परं अहं उवरवा  
 ज्जेव । स्मरामि । न पुनर्यथामो भणाति । वरमहमुपरतैव ।]

मिक्षु — बुद्धोवाशिभा, किं णेदम् । [बुद्धोपासिके, किं न्विदम् ।]

वसन्तसेना — (सनिवेदम्) ज सरिस्स वेसमावस्स । [यत्सदृशं वेशभावस्य ।]

मिक्षुः — उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवाशिभा एह पाववत्तमोवजाद सव ओलम्बिभ ।

[उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकेता पादपसमीपजाता नतामवलम्ब्य ।]  
 (इति सता नामयति)

(वसन्तसेना शूद्रोत्तिष्ठति)

मिक्षु — एदंशा विहाले मम धम्मवर्हिणभा चिट्ठदि । तर्हि रामरशिदमणा  
 मविज उवाशिभा नेहं गमिस्सदि । ता शेणं शेण गच्छतु बुद्धोवाशिभा । (इति परित्रा-  
 मति । हृत्प्रेया) ओशात्तध अज्जा, ओशात्तध । एशा तनुणो इत्थिभा, एशो मिवसु ति सुद्धे  
 मम एरो धम्मे ।

(बसन्तसेना चेतना पाकर हाथ निकालती है)

मिथु—हा, हा; शुद्ध आभूषणों से भूषित मारी का हाथ निकल रहा है। क्या! दूसरा भी हाथ है? (बहुत प्रकार से देखकर) इस हाथ को पहचानना सा है। अथवा विचार से क्या (लाभ)? मचमुच यह वही हाथ है जिसने मुझे अप्रम (दान) दिया था। अच्छा। देखता हूँ। (अभिनय से उछाड़ कर, देखकर तथा पहचान कर) वही बुद्ध की उपासिका है।

(बसन्तसेना पानी चाहती है)

मिथु क्या? जल मागती है? बावड़ी दूर है अब यहाँ क्या कहें? अच्छा यह बरत इसके ऊपर निचोडता हूँ। (बैसा करता है)।

(बसन्तसेना चेतना पाकर उठती है। मिथु बरत के छोर से हवा करता है)

बसन्तसेना—आर्य, तुम कौन हो?

मिथु—नया बुद्ध की उपासिका दश सुवर्णों द्वारा खरीदे गये मुझको स्मरण नहीं कर रही है?

बसन्तसेना—स्मरण करती हूँ। किन्तु उम प्रकार नहीं जिस प्रकार आप कह रहे हैं। इससे तो मैं मरी ही अच्छी।

मिथु—बुद्ध की उपासिका, यह क्या (हूआ)।

बसन्तसेना—(दुःख के साथ) जो वेण्या के योग्य है।

मिथु—बुद्धोपासिका इस वृद्ध के समीप उत्पन्न हुई लता का सहारा लेकर उठ आयें, उठ जायें। (लता को मुकाता है)।

(बसन्तसेना लता को पकड़कर उठती है)

मिथु—इस विहार (बौद्ध-मठ) मे मेरी प्रम-बहन ठहरी है। वही स्वस्वचित्त होकर उपासिका घर आयेगी। अतः बुद्धोपासिका धीरे-धीरे चले। (धूमता है, देखकर) आर्षजनो हटो, हटो। यह सुबती स्त्री है और यह मैं मिथु हूँ। इमलिये यह मेरा पवित्र घर्म है।

हांपति नि सारयति इति भाव । शातयिष्यामि जन्मेकार्यं निष्पीडयिष्यामि ।  
वेशभादस्य वेण्यात्वम्य ।

ममाववस्तु मनो यस्याः तथाभूता स्वस्वचित्ता इति भाव ।



ह यशजदो मुहञ्जदो इन्द्रियशञ्जदो शौ बसु माणुशे ।  
किं कलेदि लाअउले तपश पलासोओ हृत्ये णिच्चले ॥४७॥

[एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति । तत्र समाश्वस्तमना भूत्योपासिका  
मेहं गमिष्यति । तच्छने शनं गच्छतु बुद्धोपासिका । अपसरत आर्या अपसरत ।  
एषा तरुणी स्त्री, एषा भक्षुरिति शुद्धो मर्मय धर्म ।

हस्तसयतो मुखसयत इन्द्रियसयत स खलु मनुष्य ।  
किं करोति राजकुल तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥]

(इति निष्क्रान्त )

इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।

—

हस्तेति । स खलु मनुष्य य हस्ते एतेन वा सयत सयमपुत्र नकार्य-  
करणानिदृक्त इति यावत्, मुखेन सयत असत्यभाषणादिरहित इन्द्रियं सयत

यही वस्तुतः मनुष्य है जो हाथों से संयमी है, भुल से संयम रखता है तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण रखता है । राजकुल उसकी क्या (हालि) कर सकता है जिसके परलोक (स्वर्ग आदि) निश्चित रूप से हाथ में है ॥४७॥

(सब निकल जाते हैं)

वसन्तसेना-मर्दन नामक अष्टम अङ्क समाप्त ।




---

रूपादिविषयेषु अनासक्तः । तस्य एतादृशस्य जनस्य राजकुलं किं करोति ? ॥ किमपि  
इत्यर्थः । तस्य हस्ते परलोकः निरघतः ध्रुवः । परिसंख्यातद्वारः । गाथा वृत्तम् ।  
इति वसन्तसेनायाः मोदनं मर्दनं कण्ठनिषीडनं वा यत्र सः ।

## नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनक — आणसन्निह अघिअरणमण्डपेहि — 'अरे सोहणमा, व्यवहारमण्यप गहुअ भासणाइ सज्जीकरेहि' इति । ता जाव अघिअरणमण्डप सज्जितुं गच्छामि (परिब्रम्यावलोक्य च) एह अघिअरणमण्डपम् । एष पवित्रमि । (प्रांश्य, समाज्यासन-माधाय) विविक्ष कारित् मए अघिअरणमण्डपम् । विरहदाह मए आसणाइ । ता जाव अघिअरणिआण ण्ण निवेदेमि । (परिब्रम्यावलोक्य) कथम् एसो रट्टिअरसातो इट्टुज्जणमणुस्सो इवो एव्व आअरुद्धि । ता विट्टिअध परिहरिम गमिरसम् । [आशप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकं — 'अरे शोधनक, व्यवहारमण्डप गत्वासनानि सज्जीकुरु' इति । तद्यावदधिकरणमण्डप सज्जितु गच्छामि । एपोऽधिकरण-मण्डप । एष प्रविशामि । विविक्ष कारितो मयाधिकरणमण्डप । विरक्षितानि मयासनानि । तद्यावदधिकरणिनात्ता पुननिवेदयामि । ययम्, एष राष्ट्रियश्यातो दुष्टदुर्जनमनुष्य इत एवागच्छति तद्दुष्टिपय परिहृत्य गमिष्यामि ।] (इत्येकान्ते स्थितः)

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलवेपथारः शरारः)

शरार —

ण्हादेह ससित्तजलेहि पाणिएहि

उज्जाण उववणणाण निरणे ।

णालीहि शह जुवधीहि इणित्ताहि

गन्धव्वे श्रुविहिदेहि अज्जकेहि ॥१॥

खणेण गण्ठी खणजूतवे मे खणेण वाला खणकुन्तले वा ।

खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्तं विचित्तं हगे लाअसाले ॥२॥

[अहिमन्नद्वे शरारवापदस्यो व्यवहार वर्धते]

शोधनक शोधनादिकर्ता न्यायालयस्य सेवकः, शोधयति इति शोधन निज-न्तुष्टपाठो नन्दित्वात् स्यु प्रत्यय ततश्च सज्ञाया वन् प्रत्यय । अधिकरण न्यायालय अधिक्रियते विवाद्ये यस्मिन्निति । अधिकरणस्य भोजकं पालनं अधिकारिभिः इति यावत् । व्यवहारस्य विवादस्य मण्डप भवनविशेषः । अधिकरणिना अधिकरणे नियुक्ता न्यायधीशाः ।

## नवम अङ्क

(तब 'शोधनक' प्रवेश करता है)

शोधनक—न्यायालय के अधिकारियों ने मुझे आज्ञा दी है—'अरे शोधनक, विवाद-मण्डप (न्याय-भवन) में जाकर आसनों की व्यवस्थित करी। अतः तब तक न्यायालय को व्यवस्थित करने के लिये जाता हूँ। (पूमकर और देखकर) यह न्याय-भवन है। यह मैं प्रविष्ट होना हूँ। (प्रवेश करते, सफाई करके तथा आसन रखकर) मैंने न्याय-भवन को स्वच्छ (विविक्त, पवित्र) करा दिया है, आसन लगा दिये हैं। तो अब न्यायधीशों से पुनः निवेशन करता हूँ। (पूमकर और देखकर) यह राजा का सारा दृष्ट दुर्जन ध्यक्ति इधर ही क्यों आ रहा है? तो इसके दृष्टिभार्य (बालों) से बचकर पाता हूँ।

(एकान्त में खड़ा हो जाता है)

[तदनन्तर उज्ज्वल वेष वाला शकार प्रविष्ट होता है]

शकार—

मैं (शकार) पानी (सलिल, पानीय) से नहयाया, नारियों (युवतियों, स्त्रियों) के साथ उद्यान (उपवन, कानन) में बैठा, सुसज्जित अङ्गों से युक्त मैं गन्धर्व के समान हूँ ॥ १॥

मेरे केशों की क्षण में गांठ, (द्वितीय) क्षण में जुड़ा होता है। क्षण भर की दे (सानान्य) बाल और क्षण में घुघराते बाल ही जाते हैं। क्षण भर में खुले हुए (केश) हैं और अग्रिम क्षण ही ऊपर को शिक्षायुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मैं रग-विरंगा (अद्भुत) राजा का सारा हूँ ॥ २॥

स्नान इति । अह शकारः सलिलैः जर्नैः पानीयैः स्नातः, नारीभिः युवतीभिः, स्त्रीभिः सह उद्याने उपावने निषण्णः स्थितः सुविहितं प्रमाधितैः अङ्गैः शरीरवपर्वैः सज्जितोऽहं गन्धर्वः अस्मि । शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिः । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥ १॥

शकारः स्वकेशविन्यासं वर्णयति क्षणेनेति । मम केशानां क्षणेन प्रस्थितवन्धनं भवति क्षणेन द्वितीये क्षणे च अस्मिका वन्धविशेषः (जूड़ा इति प्रसिद्धः) अद्भुतः इति पाठान्तरम्, क्षणेन मे मम बाताः सामान्यकेशाः क्षणेन वा द्वितीयक्षणे च कुन्ताः वक्रकेशाः क्षणेन मुक्ताः बन्धरहिताः क्षणे च ऊर्ध्वचूडाः ऊर्ध्वम् उपरिभागे घृष्टा शिवाः देया तदामुनाः भवन्ति । इत्यमहं चित्रः विचित्रः अद्भुतः राजसपातः अस्मि । इत्यमहं चित्रः विचित्रः "शुभोऽहं राजसपातः इति व्याख्येयम्"—इति पृथ्वीषट् । अनशक्तिः वृत्तम् । उन्नेद्वया इति पृथ्वीषट् ॥ २॥

अथि अ । विशगण्ठिगभपदिरटेण विअ कोइएण अन्तस मग्गमाणेण वाधिइ मए महवन्त-  
 तम । ता वदता एद किविणचेटिअ पाइइइराम (स्मृत्या) ? अं गुमत्तिद मए । इति-  
 ह्वातुदत्ताश एद किविणचेटिअ पाइइइराम । मण च । अत्तहे वलु ये । तया  
 शम्ब वाभावीअदि । भोइ । अधिअसणमण्डव गहुअ अग्गदो ववहाल तिहावइराम्,  
 मया चालुदत्ताणे वधुन्तोषिआ मोडिम मात्तिदा । ता जाव अधिअसणमण्डव ज्जेण  
 गच्छामि । (परिजम्भावलोचय च) एद त अधिअसणमण्डवम् । एय पविशामि ।  
 (परिजम्भावलोचय च) इधम, आशानाह दिष्णाइ चिष्टन्ति । जाव आमच्छन्ति  
 अधिअसणमोइआ वाव एदरिआ पुप्यचत्तले मुहुत्तअ उवविशिम पडिवालइराम् ।

[स्नातोऽह सलिलजलं पानीयैरद्यान उपवनकानने निपण्ण ।

नारीभि सह युवनोभि स्त्रीभिर्गन्धवं इव सुविहितैरङ्गकं ॥

क्षणैर्धन्यि क्षणजूलिवा मे क्षणं बाला क्षणकुन्तला वा ।

क्षणैर्मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चिल्लो विचित्रोऽह राजश्याल ॥

अपि च विषयप्रतिगभप्रविष्टेनेव कीटकेनान्तर मार्गमाणेन प्राप्त मया महद-  
 न्तरम् । तत्कस्येदं कृपणचेष्टित पातयिष्यामि ? आ, स्मृत मया । दरिद्रचारुदत्त-  
 स्येदं कृपणचेष्टित पातयिष्यामि । अन्यच्च । दरिद्रः खलु स । तस्य सर्वं संभा-  
 व्यते । भवतु । अधिकरमण्डप गत्वाप्रतो व्यवहार लेखयिष्यामि, यया चारुदत्तेन  
 वसन्तसेना भोटयित्वा मारिता । तयावदधिकरणमण्डमेव गच्छामि । एष  
 सोऽधिकरणमण्डप । अत्र प्रविशामि । कणम्, आसनानि दत्तानि तिष्ठन्ति ।  
 यावदागच्छत्यधिकरणभोजका तावदास्मिन्दूर्वाचिन्वरे प्रतिपालयिष्यामि ।]  
 (तथा स्थित )

शोधनक—[अथ परिजम्भ पुरो हृत्वा] एदे अधिअरणिआ आमच्छन्ति  
 ता जाव उवत्ताप्यामि । [एतेऽधिकरणिका आशवलन्ति । तयावदुपसर्पामि ।]  
 (हर्युपसर्पति)

(तत प्रविशति श्रेष्ठिवायस्यादिपरिहृतोऽधिकरणिका)

अधिकरणिक—भो भो श्रेष्ठिवायस्यो ।

श्रेष्ठिकायस्यो—आणवेतु अज्जो ।

अधिकरणिक—अहो, व्यवहारपराधीनतया दुष्कर खलु परचित्तग्रहण-  
 मधिनरणिके ।

और भी । विपग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट कीट के समान मार्ग (छिद्र) ढूँढते हुए मैंने महान् उपाय प्राप्त कर लिया है । तो इस कुकृत्य को किस पर आरोपित करूँ ? (स्मरण करके) हाँ, मैंने स्मरण किया । इस कुकृत्य को चाण्डल पर आरोपित करूँगा । और वह दरिद्र भी है, अतः उसमें सब सम्भव माना जा सकता है । अज्ञा, न्याय-भवन में जाकर पहले ही अभियोग लिखवाता है कि चाण्डल ने बसन्तसेना को गला दबाकर मार दिया । तो पहले न्याय-भवन में ही जाता है । (घूमकर और देखकर) यह वह न्यायालय है । यहाँ प्रविष्ट होता है (प्रवेश करके और देखकर) क्या, आसन लगा दिये गये हैं ? जब तक न्यायालय के अधिकारी आते हैं तब तक इस दूबवाले खबूतरे पर क्षण भर बैठकर प्रतीक्षा करता है । (उसी प्रकार बैठा है) ।

शोधनक—(दूसरी और घूमकर तथा सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी भा रहे हैं । वो निकट जाता है । (समीप जाता है)

(तत्पश्चात् श्रेष्ठी और कायस्य आदि के साथ न्यायाधीश प्रवेश करता है)

अधिकारिक—सेठ जी और कायस्य जी,

श्रेष्ठिकायस्य—आयं, आदेश कीजिये ।

अधिकारिक—अहो ! व्यवहार के पराधीन होने के कारण न्यायाधीशों के द्वारा दूसरों (वादी-प्रतिवादी) के मन को जानना कठिन है ।

विपग्रन्थेः (विपग्रन्थि-इति पाठान्तम्) गर्भे अभ्यन्तरे प्रविष्टेन । अन्तरं बहिर्निगमनार्थं छिद्रम् । मार्गमात्रेण अन्वेषयता । महदन्तरं महच्छिद्रम्, महाद् मार्गः उपायो वा इति भावः । कुपणचेष्टितं कुकृत्यम् भोटयित्वा कण्ठं निष्पीड्य । श्रेष्ठी दणिक् । कायस्य. व्यवहारलेखक. जातिविशेष. व्यवहारस्य विदार-निर्णयस्य पराधीनतया वादिप्रतिवादिसाक्ष्यादीनां युक्त्यधीनतया । परचित्तस्य वादि-प्रतिवादिचित्तस्य ग्रहणं ज्ञानम् अधिकारिकैः दुष्करम् ।

छन्न कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृत  
 स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागामिभूता स्वयम् ।  
 तं पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृप स्पृश्यते  
 संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुगुणो दूरत ॥३॥

अपि च ।

छन्न दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृता  
 स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा द्रष्टव्यम् ।  
 ये पक्षापरपक्षदोषसहिता पापानि सपुवते  
 संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुगुणो दूरत ॥४॥

यत अधिकरमिह क्षत्

शास्त्रज्ञ कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन—  
 स्तुत्यो मितपरस्वयेषु चरित हृष्टवैद दत्तोत्तर ।  
 बलीवान्पालयिता शठान्व्यपयिता छर्म्यो न लोभान्वितो  
 द्वाभवे परतत्त्वबद्धहृदयो राजशच कोपापह ॥५॥

कथं परावृत्तग्रहणं दुष्करं किं च तस्य फलमित्याह ध्वनमिति । पुरुषा जना-  
 न्यायेन नीत्या अथवा प्रमाणैरप्यपरीक्षणं न्याय- तेन दूरीकृतं रहितं छन्न पररूपेण  
 आच्छादितं कायम् अभियानादिकम् उपक्षिपन्ति निष्पयायम् उपस्थापयन्ति । रागेण  
 स्वार्थानुरागेण भूमिभूता आक्रान्ता अधिकरणे स्वान् दोषान् न कथयन्ति । तं  
 पक्षापरपक्षाभ्यां वादप्रतिवादिपक्षाभ्यां वर्धितं बलम अपकीर्तिजननसामर्थ्यं येषां तादृश  
 दोषैर् नृप स्पृश्यते । नृपस्यापकीर्तिप्रवर्ततीति भावः यत नृप एव यास्य परमम्  
 अधिष्ठानम् । एव संक्षेपात् द्रष्टु निर्भावकस्य अपवाद अपकीर्ति सुलभ गुण- कीर्तिस्तु  
 दूरत सुलभा एवेति भावः । काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः । शास्त्रविशोदितं वृत्तम् ॥१॥

उक्तमेवाथ भङ्गप्रन्तरेण कथयति ध्वनमिति । कुपिता द्रोपयुक्ता जना-  
 न्यायेन दूरीकृता रहिता परेषा ध्वन पररूपेण आच्छादितं दोषम उदाहरन्ति  
 उपस्थापयन्ति किंतु स्वान् दोषान् अधिकरणे यायाधिष्ठाने न कथयन्ति ।  
 एभि सह ते सन्त सज्जना निर्दोषा अपि द्रष्टव्यं भवन्ति ये पक्षाप-  
 क्षपरपक्षास्य वा दोषण सहिता पापानि सपुवते भवन्ति । संक्षेपात् द्रष्टु ।

लोग (बादी तथा प्रतिवादी) अन्य रूप में (छन्न) न्याय से रहित अभिपोग (दोष) को (निर्णय के लिये) उपस्थित करते हैं। (स्वायं साधन की) आसक्ति (राग) से युक्त होकर वे न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं। इसलिये वादी और प्रतिवादी के पक्षों के द्वारा बढ गया है (अपकीर्तिजनन) मामर्थ्य जिनका ऐसे (निर्णय की अपयथार्थता) के दोष राजा पर लगते हैं, संक्षेप में न्यायाधीश (द्रष्टु) को अपकीर्ति (अपवाद) मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ॥३॥  
और भी—

न्याय से हीन मनुष्य क्रुद्ध होकर अन्य रूप में (दूसरों के) दोष न्यायालय में प्रस्तुत करते हैं, न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते हैं। (ऐसे लोगों के साथ) वे बुद्धिमान् (सज्जन) भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, जो बादी या प्रतिवादी के दोष में साथ होकर पाप करते हैं। संक्षेप में न्यायाधीश को अपकीर्ति मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ॥४॥

क्योकि, अधिकरणिः तो

शास्त्रों का शाठा (बादी-प्रतिवादी द्वारा किये गये) कपट को समझने में कुशल, वक्ता तथा क्रोधरहित होना है। बड़ मित्र, शत्रु एवं स्वजनों में समान दृष्टि रखने वाला (बादी प्रतिवादी के) व्यवहार (चरित) को देखकर निर्णय देने वाला, दुर्वर्तों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला, धर्मयुक्त होता है तथा सोभ से युक्त नहीं होता। उपाय रहते दूसरों की मयार्थ बात को जानने में दत्तचित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होता है ॥५॥

व्यवहारनिर्णायकस्य न्यायदर्शिनो वा अपवादः एव सुलभः गुणः तु दूरतः एव तिष्ठति । काव्यलिङ्गम् अनङ्कारः । मारुतवित्रीदितं वृत्तम् ॥३॥

अधिकरणिः स्वल्प दर्शयति—शास्त्रज्ञ इति । अधिकरणिः हि शास्त्रज्ञः शास्त्राणि जानाति इति सः । कपटस्य वादिप्रतिवादिजनस्य छन्नस्य अनुमारे अनुसरणे कुशलं वक्तव्यं न च क्रोधनः क्रोधी, मित्रपरस्वकेषु मित्रे शत्रौ स्वजने च सुत्यः समदर्शी, चरितं वादिप्रतिवादिनोः व्यवहारं दृष्ट्वा समीक्ष्य एव दत्तोत्तरं वक्ष्यति उत्तरं निर्णयः येन तथाभूतः शत्रोश्चान् निर्बलान् पातयित्वा शठान् धूर्तान् ध्यययिता दण्डयित्वा, धर्म्यः धर्मयुक्तः धर्माद् अनपेक्षः धर्म्यः धर्मसन्धान् यत्प्रत्ययः, न सोभान्वितः सोभयुक्तः दाम्नि द्विः उपायः तस्य भावे विद्यमानज्ञान उपाये सति इति भावः परस्य वादिनः प्रतिवादिनः वा तत्त्वे वाग्विभ्रताज्ञाने बद्धहृदयः दत्तमतिः सति सभवे तयोः यावार्थज्ञाने प्रदत्तशीलः इति भावः [कार्लेमहोदयस्मृ-द्वामादि न सोभान्वितः इत्यन्वयः, इत्याह । उक्तोवादीनामवसरे सति यः सोभयुक्तो न भवतीति तदर्थः] राज्ञः च कोपापहः वाक्पाटवेन वस्तुतुष्टकथनेन च नृपकोपस्य नाशको भवति । मारुतवित्रीदितं वृत्तम् ॥५॥



श्लेष्मिकायत्थी—अञ्जस्त वि नामं गुणे दोषो त्तिबुच्चदि । अह एवम्, ता चन्द्रालोए वि अञ्जस्तो त्ति बुच्चदि । [आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते । यद्येवम्, तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते ।]

अधिकरणिक — अह शोधनक, अधिकरणमण्डपस्य भागमावेशाय ।

शोधनकः—एतु एतु अधिकरणमोहभा, एतु । [एत्वेत्वधिकरणभोजक, एतु ।]

(इति परित्रामन्ति)

शोधनकः—एष अधिकरणमण्डपम् । तत्र पविस्सन्तु अधिकरणमोहभा । [अयमधिकरणमण्डप, तत्रप्रविशन्त्वधिकरणभोजकाः ।]

(एषे च प्रविशन्ति)

अधिकरणिकः—अह शोधनक, अहिनिष्क्रम्य शायनाम्—,क क कार्यायी, इति ।

शोधनक — अ अञ्जो भाणवेदि । (इति निष्क्रम्य) अञ्जा, अधिकरणिभा भवन्ति—को को इय अञ्जत्थी' ति । [यदायं आशापयति । आर्या, अधिकरणिका भवन्ति 'कः क इह कार्यायी' इति ।]

शहर — (सहर्षम्) उच्यति ए अधिकरणिके । (साटोप परित्रम्य) हृष्ये अस्तपुंसि च मगुरां ब्राह्मणे चरित्तमशाले अत्रशाले कञ्जत्थी । [उपस्थिता अधिकरणिकाः । अह वरपुत्थी मनुष्याः । आमुदेवो राष्ट्रियशालो राजश्याल कार्यायी ।]

शोधनक — (सप्तमम्) हीमाश्वि, एतम् एतेव रट्टिमशालो कञ्जत्थी । भोतु । 'अञ्ज मुहस्त' चिट्ट । शय अधिकरणिभाष निवेदेमि । (उपगम्य) अञ्जा, एतो वन्तु रट्टिमशालो कञ्जत्थी व्यवहार उच्यति चो । (हन्त, प्रथममेव राष्ट्रियशालः कार्यायी । भवतु । आर्यं मुहूर्तं तिष्ठ । शायदधिकरणिकानां निवेदयामि । आर्याः एष एतु राष्ट्रियशाल कार्यायी व्यवहारमुपस्थितः ।]

अधिकरणिक — एषम् । प्रथममेव राष्ट्रियशाल कार्यायी यथा सुपदय उपरामो महापुदयविनिपातमेव चययति । शोधनक, अत्राकुलेनाए व्यवहारेण अक्षितम् । अह, निष्क्रम्योच्यतम्—गच्छाए च इत्यते इव व्यवहार, इति ।

श्रेष्ठ-कायस्थ—व्या आपके गुणों में भी श्रेष्ठ है' ऐसा कहा जा सकता है ?  
यदि ऐसा है तो चन्द्रमा के प्रकाश में भी 'अन्धकार' कहा जा सकता है ।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक, न्याय-भवन का भार्य बतलाओ ।

शोधनक—आइये, आइये न्यायाधीश, आइये ।

(चलते हैं)

शोधनक—यह न्याय-भवन है, अतः न्यायाधिकारी गण प्रवेश करें ।

(सब प्रवेश करते हैं)

अधिकरणिक—भद्र शोधनक बाहर निकलकर ज्ञात कीजिये—'कौन-कौन' व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक (कार्यार्थी) है ?'

शोधनक—जैसी आप आज्ञा करें । (बाहर जाकर) सज्जनों, न्याय के अधिकारी कहते हैं—"यहाँ कौन-कौन व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक है ?"

शकार—(हर्यपूर्वक) न्यायाधिकारी उपस्थित हैं । (गर्वपूर्वक चलकर) मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, वासुदेव, राष्ट्रिय, राजशालक कार्यार्थी हूँ ।

शोधनक—(घबराहट के साथ) हाँ, पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है । अर्द्धा, आर्य, क्षत्र भर ठहरो, तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ । (समीप जाकर) आर्पणों, यह राजा का साला कार्यार्थी होकर व्यवहार में लिए उपस्थित हुआ है ।

अधिकरणिक—क्यों ? पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है । जैसे सूर्योदय का ग्रहण (किसी) महापुरुष की मृत्यु को सूचित करता है । शोधनक, आज का व्यवहार (न्याय-निचार) अव्यवस्थित (आपत्तिपूर्ण Causing disturbance) होगा । भद्र, बाहर जाकर कहिये—'जाओ आज तुम्हारा विवाद नहीं विचार जाता ।

कार्यार्थी कार्य व्यवहारः व्यवहारार्थी, व्यवहारोपस्थापनस्य अधिलापी इति यावत् । साटोर्पं सगर्वम् । व्यवहार व्यवहारार्थम् उपस्थितः । 'व्यवहारे' इति पाठान्तर-व्यवहारनिमित्तमित्यर्थः । उपराधः ग्रहणम्, सूर्यस्य ग्रहणः । व्याकुलेन क्षोभयुक्तेन ।

शोधनक—अ अज्जो आणवेदि ति । (निष्क्रम्य अक्षरमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भणन्ति—'अज्ज गच्छ । न दोसदि तव व्यवहारो' । [यदायं आज्ञापयतीति । आर्यं अधिकरणिका भणन्ति—अद्य गच्छ । न दृश्यते तव व्यवहार' ।]

शकार—(शक्रोघम्) आ किं न दोसदि मम व्यवहारो ? अद्य न दोसदि, तवो वाज्जत्ता साआण पात्तअ वहिणोववि विण्णविअ बहिण्णि अतिकरु च विण्णविअ एव अधिअत्तनिअ इत्थे फेत्तिअ एत्थ अण्ण अधिअत्तनिअ ठावदृशम् । [आ, किं न दृश्यते मम व्यवहार । यदि न दृश्यते, तदावुत्त रजान पालक भगिनीपति विज्ञाप्य भगिनी मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिक दूरीकृत्या नान्यमधिकरणिक स्थापयिष्यामि ।] (इति गन्तुमिच्छति)

शोधनक—अज्ज रट्टिअसात्तअ, मुहत्तअं चिट्ठ दाव अधिअरणिआणां निवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्टिअसात्तो कुपिबो भणारि । [आर्यं राष्ट्रियश्याल, मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । एष राष्ट्रियश्याल कुपितो भणति ।] (इति तदुक्त भणति)

अधिकरणिक—सर्वमस्य मूलंस्य सन्नास्यते । अद्य, उच्चताम्—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहार' ।

शोधनक—(शकारमुपगम्य), अज्ज अधिअरणिआ भणन्ति 'आगच्छ । दोसदि तव व्यवहारो । सा पयित्तु अज्जो । [आर्यं, अधिकरणिका भणन्ति—'आगच्छ । दृश्यते तव व्यवहार' ।] सत्प्रविशत्वार्यं ।]

शकार—पदम भणन्ति न दोसदि, शपरे दोसदि ति । सा गाम भोदमोदा अधिअत्तणभोइआ । जेत्तिअ हत्थे भणित्ता तेत्तिअं पत्तिआवदृशम् । भोदु । पविशामि (प्रविशोपनृत्य) शुशुह अम्हाणम्, तुम्हाण पि शुहं वेमि आ वेमि अ ।

[प्रथम भणन्ति न दृश्यते साप्रतं दृश्यत इति । तन्नाम भीतनीना अधिअत्तणभोजका । यावदहं भणिष्यामि, तावत्प्रत्यागयिष्यामि । भवतु । प्रविशामि । सुसुखमस्माकम् युष्माकमपि सुख ददामि न ददामि च ।]

अधिकरणिक—(स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिन (प्रनाशम्) उपविश्यताम् ।

शकार—अ, अंतणकसका शे भूमो । सा जहिं मे रोअवि तट्टि उपविशामि (येच्छिन्त प्रति) एष उवविशामि । (शोधनक प्रति) न एत्थ उवाचामि । (इत्थधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एष उवविशामि । [आ, आत्मोपेया भूमि । तद्यत्र मत्स्य रोचते तत्रोपविशामि । एष उपविशामि । नन्वत्रोपविशामि । एष उपविशामि ।] (इति भूमावुपविशति) ।

शोधनरु—जो कार्य जाता करे (निकलकर, घंकार के पास जाकर) कार्य, न्यायाधिकारी कहते हैं—'जाओ बाब तुम्हारा विवाद नहीं विचारा जायेगा ।'

शोधनरु—(क्रोधपूर्वक) बा: ! क्या मेरा विवाद नहीं विचारा जायेगा ? यदि नहीं विचारा जाता तो मैं अपने बहनोई, बहन के पति राजा पातक से कहकर बहन तथा भाता से कहकर इस न्यायाधीश को हटाकर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूंगा ।

(जाना चाहता है ।)

शोधनरु—कार्य राजमालक, सच भर ठहरो । तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ । (न्यायाधीशों के पास जाकर) यह राजा का सलाह कृपित होकर कहना है (उसके कहे को कहता है ।)

अधिकारिक—इस पूर्व से सब सम्भावना की जा सकती है । भद्र, कहिये—

शोधनरु—(शंकार के पास जाकर) कार्य, न्यायाधिकारी कहते हैं कि बा जाओ तुम्हारा विवाद सुना जाता है । तो कार्य प्रवेग करे ।

शंकार—पहले कहते हैं—'नहीं सुना जाता अब (कहते) हैं 'सुना जाता है ।' तो अबरन ही न्यायाधिकारी अत्यन्त डर गये हैं, जो-जो मैं कहूँगा वही-वही उनसे स्वीकार करा लूँगा । अश्रद्धा प्रवेग करता हूँ । (प्रविष्ट होकर तथा पास जाकर) हमारा मनो-माँडि कुरल है दुम्हें भी सुख देता हूँ अथवा नहीं देता हूँ ।

अधिकारिक—(उत्तरे ध्यान) अहो ! इस कार्यार्थी के संस्कारों की हड़ता (अर्थात् न्यायानय में भी यह अपनी लादनों पर हड़ है) (प्रकट रूप में) बैठिये ।

शंकार—हाँ, यह अपनी भूमि है । तो जहाँ मुझे अच्छा लगेगा वहाँ बैठूँगा । (श्रेष्ठों से) यह मैं बैठता हूँ । (शोधनरु से) नहीं, मैं यहाँ बैठता हूँ । (अधिकारिक के मन्त्र पर हाथ रखकर) यह मैं बैठता हूँ । (भूमि पर बैठता है) ।

'आः' इति क्रोधेऽप्यम् । आबुत्तं भविनीपतिम् । ससंस्कारवत्त्वात् पुनरुक्तिः । नाम इति निरन्तरमेऽप्यम् । प्रत्यागमिष्यामि प्रत्ययं विस्वासे कारयिष्यामि, स्वीकारः विष्यामि वा ।

स्वियः संस्कारो यस्य सः स्थिरसंस्कारः तस्य भावः स्थिरसंस्कारता, संस्कारता इत्यत्र इति यावत् ।

अधिवरणिक—भवान्कार्यायो ।

शकार—अद्य ह्ये [अद्य किम् ।]

अधिकरणिक—तत्कार्यं कथय ।

शकार—कण्ठे कञ्ज कथयिष्यामि । एष्व बद्धके मत्सर्वकम्पमाणाह कुले ह्यग्रे  
पारे ।

साअशशुने मम पिता लाजा तादृश होइ जामादा ।

लाअशिशुने ह्यग्रे ममावि वह्निनीपती लाजा ॥६॥

[कर्णे कार्यं कथयिष्यामि । एव ब्रूहि मल्लकंप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः ।]

राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।

राजस्यासौऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥]

अधिकरणिक—सर्वं ज्ञायते ।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति नितरा स्फोता सुक्षेत्रे कष्टकिद्रुमा ॥७॥

तदुच्यतां कायम् ।

शकार—एष्वं भणामि, अवलम्बाह वि न अ मे कि वि क्तइयादि तदो तेन  
ग्रहिणीवदिना परितुष्टेन मे कीनिदु त्विलदु शब्दुज्जाणन पदले पुष्करलण्डकजिण्णुज्जाणे  
दिणे । तर्हि च वेस्तिदु अणुदिअह शोभावेदु घोषावेदु पोत्पावेदु सुणावेदु ऽग्यामि । हेस्व-  
जोएण वेस्सामि, न वेस्सामि वा इत्थिआतसीत् तिवाडिरम् । [एः भणामि, अपराद्ध-  
स्यापि न च मे किमपि करिष्यति, ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितु  
रक्षितु सर्वोद्यानाना प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम् । तत्र च प्रेषितु-  
मनुदिवसं शुष्क कारयितु शोधयितु पुष्टं कारयितु सूत कारयितु गच्छामि ।  
दैवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीरं निपतितम् ।]

अधिकरणिक—अयं ज्ञायते का स्त्री विपनेति ।

शकार—हहो अधिअतणभोइआ किति न जानामि । स तादिदि पअसमअइए  
कञ्चगशदभुतगिअ । कण वि कुपुत्तण अत्थकस्सवत्तण कात्तपादो शुण्ण पुष्करलण्डक-  
जिण्णुज्जाण पवेशिअ बाहुपदस्यतवत्तरेण वपन्तणेणिआ मारित्ता न मए । [अहो  
अधिवरणभोजका, किमिति न जानामि । ता ताहशी नगरमडण्डन काञ्चनशत-  
भूषणा, वेनापि कुपुत्रेणार्थकल्यवर्तस्य वारणाञ्छून्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं  
प्रदेस्य बाहुपाशबलात्कारेण वेसन्तसेना मारिता । न मया ।] (इत्यघोक्ते  
मुत्तमाइणोति)

अधिकरणिक—आन कार्यार्थी हैं ?

शकार—ओर क्या ?

अधिकरणिक—तो कार्य बतलाओ ।

शकार—कान में कार्य कहूँगा । ऐसे (?) बड़े मल्लक जैसे कुल से उत्पन्न हुआ है ।

मेरे पिता राजा के श्वसुर हैं, राजा (पालक) मेरे पिता का जामाता होता है । मैं राजा का सासा हूँ और राजा भी मेरी बहन के पति हैं ॥६॥

अधिकरणिक—यह सब ज्ञात ही है ।

कुल के वर्णन से क्या (लाभ) ? क्योंकि यहाँ तो चरित्र ही (निर्णय का) कारण है । अच्छे खेत में भी काँटों वाले वृक्ष बहुत अधिक बढ़ जाते हैं ॥७॥

अतः 'कार्य' बतलाइये ।

शकार—अच्छा कहता हूँ । अपराधी होते हुए भी (राजा) मेरा कुछ नहीं करेगा । तो मेरी बहन के पति उस राजा ने प्रसन्न होकर झोड़ा करने के लिये और रक्षा करने के लिये सब उद्यानों में श्रेष्ठ 'पुष्पकरण्डक' नामक जीर्णोद्यान मुझे दिया है । और वहाँ मैं प्रतिदिन देखभाल करने के लिये (आर्द्र प्रदेशों को) शुष्क कराने के लिये, सफाई कराने के लिये, पालन कराने के लिये तथा (आवश्यकतानुसार) कटवाने के लिये जाता हूँ । संभोग-वन वहाँ मैंने एक स्त्री का शरीर पड़ा देखा या नहीं देखा ।

अधिकरणिक—क्या ज्ञात हुआ कि मृतक कौन थी ?

शकार—वहो न्यायाधिकारी गण, भला, उस ऐसी (प्रसिद्ध) नगर की शोभा, सँकड़ों आभूषणों वाली को क्या मैं नहीं जानता ? किसी कुपुत्र (दुर्जन) ने कलेवे जैसे सुच्छ घन के निमित्त, निर्जन पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में प्रवेश करके भुजपाश से बलपूर्वक (दबाकर) वसन्तसेना को मार दिया । मैंने नहीं । (श्च) प्रकार भाषा कहे जाने पर मुझ डक सेठा है ।

राजश्वसुर इति । मम पिता राज्ञः पालकस्य श्वसुरः राज्ञश्च मम तातस्य पितुः जामाता भवति । अहं शकारः राजश्वसुरः राजा अपि च मम भगिनीपतिः । माया वृत्तम् ॥६॥

स्मिन्नि । उपरि (अष्टमाङ्के २६ तम पद्यम्) व्याख्यातम् ॥७॥

काष्ठवनस्य कृतं भूषणानि यस्याः ताम् । बाहुः एव पाशः तस्य बलाकारेण । मुद्गसंवरणं वधनस्य स्थननं सूचयति । प्रमादः वनवधानता । हीमादिकं सेवे मये वाञ्छ्यम् । उद्वेगवशमेव इति पाठान्तरम् त्वरया प्रवर्तमानेन इत्यर्थः । पायसं

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणीं प्रमादः । भो. श्रेष्ठिकायस्मै, न मयेति  
ध्यवहारयत् प्रथममभिलिख्यताम् ।

कायस्थ—अ अञ्जो अण्वेदि । (तथा गृत्वा) अञ्ज लिहिदम् । [यत्तयं  
भाजापर्यति । आर्यं, लिखितम् ।]

शकारः—(स्वगतम्) होमादिके । उततान्तेण विअ पाभ्रशपिण्डानकेण  
अञ्ज मए अत्ता एव्व पिण्णासिदो भोदु । एव्व दाव (प्रकाशम् अहो) अधिअ-  
सणभोइआ, अ भणामि. मए इवेव दिट्ठा । कि कोलाहलं क्त्तेघ । [आश्चर्यम् ।  
स्वरा कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेगाद्य मयात्मैव निनाशितः । भवतु एव तावत् ।  
अहो अधिकरणभोजका, ननु भणामि, मयैव हृष्टा । कि कोलाहलं गुप्त ।]  
(इति पादेन लिखित प्रोच्छति)

अधिकरणिक—कय स्वया ज्ञातं यया सख्ययंनिमित्तं बाहपासेन  
ध्यापादिता ।

शकारः—हहो, शूण पडिपूणाए सोपट्ठाणाए गीवालिआए निगुबण्णकेहि  
आहलणदठारोहिं तवकेमि । [हहो, नूनं परियून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया  
नि सुवर्णकैराभरणस्थानैस्तकंयामि ।

श्रेष्ठिकायस्यो—शुञ्जदि विअ । [युज्यत इव ।]

शकारः—(स्वगतम्) रिशिट्ठा पच्चुज्जीविदमिहि । अविदमदिके ।  
[दिव्ष्टया प्रत्युज्जीवितोऽस्मि । अविदमदिके ।]

श्रेष्ठिकायस्यो—भो, क एतो ववहारो अवलम्बदि । [भो, कमेप  
ध्यवहारोऽवलम्बते ।]

अधिकरणिकः—इह हि द्विविधो ध्यवहारः ।

श्रेष्ठिकायस्यो—हेरिसो । [कीदृशः ?]

अधिकरणिक—बाणपागुसारेण अर्थागुसारेण च । यस्तथाद्वाक्यानुसारेण,  
त एत्त्वादिप्रत्ययभिन्ना । यत्तथागुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्यो—ता वसन्तसेनामादरं अवलम्बदि ध्यवहारो [तद्वसन्तसेना-  
मातरमवलम्बते व्यवहारः ।]

अधिकरणिक—एवमिदम् । अत्र शोधनक, वसन्तसेनामातरमनु-  
द्धेयमन्नाह्वय ।

शोधनक—तथा (इति निष्क्रम्य गणिकामात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु तगजा ।  
[तथा । एवेत्यार्या]

परमान्, क्षीरमोजनम् । तस्य पिण्डारक (१) उदगमनम् पयसः स्वरसोदगमनं  
मया स्वनामाय भवति इत्यर्थः । (२) भोक्तुं प्रवृत्तो वा (३) भिक्षुको वा-पिण्डारो

अधिकरणिक—अहो, नगररक्षको की अगवधानना । हे श्रेष्ठि कायस्य 'मैने नही' (न मया) अभियोग शब्द प्रथमतः लिख लीजिये ।

कायस्य—जो आर्म जादेग करे । (बैठा करने) मार्य, लिख लिया ।

शकार—(अपने आप) खेद है, [गमं-गमं खाने के लिये] उतावले खीर खाने वाले (शिशुक) ने समान 'मैने आज अपने आपको ही नष्ट कर लिया । अच्छा, अब इस प्रकार कर्तू (प्रकट रूप में) अहो, न्यायाधिकारीगण, मैं तो यह कहता हूँ कि मैंने ही देखी । क्यों कोलाहल करते हो (लिखे हुए को पंर से पोंछ देता है)

अधिकरणिक—तुमने कैसे जाना कि जन के लिये भुजाश से (दबाकर) मारी गई ।

शकार—जी, उसकी सूनी रिक्त स्थान वाली धीवा तथा आमूषण (पहनने) के स्थानों के आमूषण रहित होने से ऐसा अनुमान करता हूँ ।

श्रेष्ठी-कायस्य—ठीक सा-ही है (हो सकता है) ।

शकार—(अपने आप) शोभाय से पुनः जीवित हो गया हूँ । सन्तोष है ।

श्रेष्ठी-कायस्य—श्रीमान्, यह व्यवहार किस पर आश्रित है ?

अधिकरणिक—उहाँ दो प्रकार का व्यवहार है ।

श्रेष्ठी-कायस्य—कैसा ?

अधिकरणिक—वाक्य (वादी-प्रतिवादी के बयान) के अनुसार होने वाला तथा अर्थ (वास्तविक तथ्य) के अनुसार होने वाला । जो वाक्य के अनुसार होता है वह तो वादी तथा प्रतिवादी (की शक्तियों) में एव जो अर्थ के अनुसार होता है वह न्यायाधिकारी को अपनी बुद्धि से निर्णय लिये जाने योग्य होता है ।

श्रेष्ठी-कायस्य—तब वसन्तसेना की माता पर यह व्यवहार आश्रित है ।

अधिकरणिक—ऐसा ही है । भद्र शोधनक, वसन्तसेना की माता को उद्दिग्ध न करते हुए बुला लाओ ।

शोधनक—अच्छा जी, (निकल कर और गणिका वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये आर्या, इधर आइये ।

भिक्षुके द्रुमे' इति कोशः व्यापादिता मारिना ।

। शूनशूनया (शूनशूनाए) इति पाठान्तरम् अत्यन्तम् उच्छूनया (Much swollen) इत्यर्थः । मोघ रिक्त्वं स्थानं यस्याः तथा । धीवालिकया धीवया । धीवालिका कण्ठस्य हाट्टमूत्रावली इत्यन्ये । अविडमारिके द्रव्यावशात् (काले) ।



वृद्धा—गवा मे वरिजा मितघरजं अतणो जोव्वणं अणुभवितुम् । एतो उण वोहाऊ मणादि—“आअच्छ । अधिअरणिओ सद्दवेदि । ता मोहपरवसं विअ अताणअं भवगच्छामि । हिअअ मे घरघरेदि । अज्ज आदेतोहि मे अधिअरण-मण्डवरस मग्गम् । गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो योवनमनुभवितुम् । एण पुनदीर्घायुर्भणति ‘आगच्छ’ अधिकरणिक आह्वयति । तन्मोहपरवशमिवा-त्मानमवगच्छानि । हृदयं मे प्रकम्पते । आर्यं, आदिश भहामधिकरणमण्डपस्य मार्गम् ।

शोधनक —एदु एदु अज्जा । [एत्वेत्वार्या ।]

(उभौ परिक्रामत)

शोधनक —एवं अधिअरणमण्डपम् । एत्थ पविसदु अज्जा । [एयाअधि-करणमण्डप । अत्र । प्रविशत्वार्या ।]

(इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा—(उपसृत्य) सुह सुग्हाणं बोदु भावमिस्साणम् । [सुत्तं युष्माकं भवतु भाव-मिश्राणाम् ।]

अधिकरणिक —भट्टे, स्वागतम् । आस्यताम् । .

वृद्धा—सध [तथा ।] (स्तुपुपविष्टा)

शाकारः—(साक्षेपम्) आगदासि बुद्धकुट्टनि, आगदासि । [आगतासि, वृद्ध-कुट्टनि, आगतासि ।]

अधिकरणिक.—अये, एवं कित्त पसन्तसेनाया माता ।

वृद्धा—अध इ [अथ किम् ।]

अधिकरणिक.—अवेदानीं वरागतसेना इव गता ।

वृद्धा—मित्तघरअम् [मित्रगृहम्]

अधिकरणिक —किन्नामधेय तस्या मित्रम् ।

वृद्धा—(स्वगतम्) हवी हवी । अविलग्गणीअं ण्णु एवम् । (प्रकाशम्) णणस्स पुच्छणीओ अअं अरयो, ण उअ अधिअरणिअस्स । [हा धिक्क् हा धिक्क् । अतित्त-पजनीयं सत्थियदम् । जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः न पुनरधिकरणिकस्य ।]

अधिकरणिक.—अत्तं सज्जया । ध्यवहारस्सो पृच्छति ।

धैष्ठिकाघरयो—व्यवहारो पुच्छति । णत्थि दोतो कधेहि । [व्यवहारः पृच्छति । नास्ति दोषः । कथय ।]

वृद्धा—कथं व्यवहारो । अइ एवम्, ता मुणन्तु अज्जमिस्सा । सो ण्णु सरयवाहविणअदसस्स णत्थिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहिदणामहेओ अज्ज-चारदत्तो णाम, सेट्ठित्तरे पडिअसदि । तर्हि मे दारिजा जोव्वणसुहं अणुमव्वि । [कथं व्यवहारः । यद्येवम्, तदा शृण्वन्त्वार्यमिश्रा. स सत्तु सार्यवाहविणप-दत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य त्तय., सुगृहीतनामधेय आर्यचारदत्तो नाम, धैष्ठित्तरे प्रतिव्रसति । तत्र मे दारिका योवनमुपमनुभवति ।

वृद्धा—मेरी पुत्री मित्र (चाहदत्त) के घर अपने यौवन को भोगने के लिये गई है और यह दीर्घायु कहता है—आओ, न्यायाधीश बुलाते हैं। इसलिये मैं अपने आप को मोह के अज्ञान (किञ्चित्त्व्यविमूढ) सी समझती हूँ। मेरा हृदय वापता है। आर्य, मुझे न्यायालय का मार्ग बताइये।

शोधनरु—आर्या, (द्वार से) आये, आये।

(दोनों चसते हैं)

शोधनरु—यह न्यायालय है। आर्या यहाँ प्रवेश करें।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

वृद्धा—(पास जाकर) आदरणीय आपका कल्याण हो।

अधिकारगिरु—भद्र स्वागत है, बँठिये।

वृद्धा—अच्छा (बँठती है)।

शकार—(आश्लेषपूर्वक) आ रई, बूढ़ी कुटनी भा गई।

अधिकारगिरु—अजी, तुम वसन्तसेना की माता हो ?

वृद्धा—जी हाँ।

अधिकारगिरु—तो इस समय वसन्तसेना कहीं गई है ?

वृद्धा—मित्र के घर।

अधिकारगिरु—उसके मित्र का क्या नाम है ?

वृद्धा—(अपने आप) हाय, हाय ? यह (बात) अत्यन्त सज्जा के योग्य है।

(प्रकट रूप में) यह बात साधारण लोगों के पूछने योग्य है, न्यायाधीश के नहीं।

अधिकारगिरु—सज्जा मत करो। आपसे 'अवहार' पूछ रहा है।

शेखी-कायस्थ—'अवहार' पूछ रहा है। कोई दोष नहीं। कहो।

वृद्धा—क्या ? अवहार है ? यदि ऐसा है तो धीमान् जी मुनिये। वह सार्यबाह् विनयदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, स्वनाम-धन्य आर्य चाहदत्त हैं जो सेठों के चौक में रहते हैं। वहाँ मेरी पुत्री यौवन मुझ का अनुभव करती है।

अवतम्बते आश्रयति । निष्पाद्यः करणीयः । अनुद्वेजयन् वसन्तसेनायाः भरणवृत्तान्त-  
कथनेन उद्भिन्ना न कुर्वन् । मोहेन परदशं पराधीनम् आत्मानम् मुग्धहीनं नामप्रेयं यस्य  
८ः । शारिका पत्नी ।

शाकार—शुभ अग्नेहि । तिहीअन्दु एदे अवसता । चातुदत्तेण राह मम  
विवादे । [श्रुतमार्ये । लिख्यन्नामेतान्यकाराणि । चास्दत्तेन । सह मम विवाद ।]  
श्रेष्ठिकायस्थी—चास्दत्तो भित्तो त्ति जल्पि दोसा । [चास्दत्तो भिन्नमिति  
नास्ति दोषः ।]

अधिकरणिक—ध्वहारोऽयं चास्दत्तमयत्तम्बते ।

श्रेष्ठिकायस्थी—एवं विअ । एवमिव ।]

अधिकरणिक—घनदत्त, वसन्तसेनापंचारदत्तम् शृङ्गे गनेति लिख्यतां  
ध्ववहारस्य प्रथम पाद । कथम् । आर्यंचास्दत्तोऽप्यस्माभिराह्वयमित्यर्थः । अपवा  
ध्ववहारतमह्वयति । अत्र शोघनक, गच्छ । आर्यंचास्दत्तं स्वैरपसघान्तमनुद्विग्नं  
सादरमाह्वय प्रस्तावेन—'अधिकरणिकस्त्वा इष्टुमिच्छति' इति ।

शोघनक—अ अग्ने आणवेदि । (इति निष्कान् चारदत्तेन सह प्रविश्य  
च) एदु एदु अग्ने । [यदार्य आज्ञापयति । एत्वेत्वार्यः ।]

चारदत्त—(विचिन्त्य) ।

परिज्ञातस्य मे राजा शीलेन च कुलेन च ।

यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिषाह्वते ॥५॥

(सवितकं स्वगतम्)

ज्ञातो हि किं न खलु बन्धनविप्रयुक्तो

मार्गागत प्रवहणेन मयापनीत ।

चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा

येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥६॥

अथवा किं विचारितम् । अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि । अत्र शोघनक, अधिकरणस्य  
मार्गमादेशय ।

घनदत्तंति कायस्थमग्नेयप्रथमम् । प्रथम पाद अणः । व्यवहारस्य हि चत्वारः  
पादाः भवन्ति । उक्तं च याज्ञवल्क्येन—'चतुष्पाद् व्यवहारोऽयं विवादेषूपदिशितः' ।  
तत्र प्रत्यपिनोऽप्रतो लेख्यमिति भाषापाद प्रथम । स्वैरं स्वच्छन्दम् । अत्रान्त  
सम्भ्रमरहितम् । अनुद्विग्नम् उद्वेगशून्यम् ।

अधिकरणिकेऽहृत चारदत्त. मनसि तन्वयति—परिज्ञातस्येति । राजा शीलेन  
भाषारेण कुलेन च परिज्ञातस्य सम्यग् ज्ञातस्य मे मम चारदत्तस्य इवम्

राजार—आर्यजनों ने मुन लिया । लिख लीजिये इन अक्षरों को, मेरा विदाद चारदत्त के माथ है ।

थेष्ठीकायस्य—चारदत्त (वत्तन्तमेना) का मित्र है, इसमें दोष नहीं है ।

अधिकरणिक—यह व्यवहार चारदत्त पर आश्रित है ।

थेष्ठीकायस्य—ऐसा ही है ।

अधिकरणिक—घनदत्त, वमन्तसेना आर्यचारदत्त के घर गईं, यह व्यवहार का प्रथमपाद निखिये । क्या ' आर्य चारदत्त को भी हमें बुलाना होगा । अथवा 'व्यवहार' उन्हें बुलाता है । भद्र शोधनक आओ । (व्यवहार के) 'प्रमङ्ग से न्यायाधीश आपसे मिलना चाहते हैं ।' यह कहकर आर्य चारदत्त को स्वतन्त्रतापूर्वक (या धीरे से) बिना धवराये बिना उद्दिग्न किये आदरपूर्वक बुला लाओ ।

शोधनक—जो आर्य आजा करें । (निकलकर तथा चारदत्त के साथ प्रवेश करके) आर्य, आइये आइये ।

चारदत्त—(सोचकर)

राजा के द्वारा शील और कुल से भली भाँति जाने गये मेरा यह आह्वान (बुलाना) सचमुच ही (प्रकट करता है कि वह) मेरी ऐसी (दृष्टिगत की) अवस्था के कारण शङ्कित है ॥८॥

(सकपूर्वक अपने आप)

वन्धन से मुक्त हुआ आर्यक मार्ग-क्रम से मेरे पास आया-और मैंने अपनी गाड़ी से उसे अन्यत्र पहुँचा दिया—क्या यह राजा ने (स्वयं) जान लिया अथवा दूत ही हैं नेत्र जिसके ऐसे राजा के कानों में आ गया, जिसने कि मैं अभियुक्त के समान इस प्रकार (न्यायालय में) जा रहा हूँ ॥९॥

अथवा विचार से क्या ? न्यायालय में हो जाता हूँ । भद्र शोधनक, न्यायालय का मार्ग बताओ ।

आह्वानं घत्सत्य निश्चितमेव अवस्थाम् ईदृशीं दृष्टिवाचस्थाम् अभिराहुते अभि-  
तस्य शङ्कने । दारिद्र्यस्य वारणान् न. मा प्रति शङ्कायुक्तो जात. इति भावः । उक्तं  
हि 'दारिद्र्यदोषो हि मुणस्यकिनाशो ॥८॥

ज्ञात इति । न्यत्रविप्रमुक्त वन्धनात् मुक्तः मार्गागतः मार्गणं मार्गक्रमेण मम  
समीपे आगतः मया प्रवहणेन अपनीतः अपवाहितः अत्यं क्विन्नु सत्तु ज्ञातः नृपेण  
स्वयं ज्ञातः वा अथवा धारा दूता. ईदृशं चक्षु. यस्य तस्य नृपने. श्रुति आगत. प्राप्त. ?  
येन हेनुना अहं चारदत्त. अभियुक्त. अभियोगेन दूषित इव एवं प्रयासि न्यायालयं  
गच्छामि । वसन्त्रविलका दृत्तम् ॥९॥

शोधनक — एदु एदु अग्गो । (एतु एतु आर्यं)  
(इति परिग्रामत )

आशयत — (सबद्धम्) तत्किमपरम् ।

रुक्षस्वरं वाशति वायसोऽप्य-

ममात्यभृत्वा मूहुराह्वयन्ति ।

सद्य च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य

ममानिमित्तानि हि रोदयन्ति ॥१०५॥

शोधनक — एदु एदु अग्गो सीर असमन्तम् । [एत्वेत्वार्यः स्वीरमसभ्रान्तम् ।]

आशयतः—(परिग्राम्यागतोऽनलोष्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्यामिशुक्षस्तथा ॥

मयि चोदयते वाम चक्षुर्धोरमसशयम् ॥११॥

(पुनरन्यतोऽनलोष्य) अथे, कथमथ सपं ।

मयि विनिहितदृष्टिभिन्ननीलाञ्जनाभः

स्फुरितविततजिह्व. शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।

अभिपतति सरोपो जिह्विताध्मातकुक्षि-

भ्रुजगपतिरय मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥१२॥

अपि च इवम् ।

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चाद्रं तमा मही

स्फुरति नयनं वामो बाहुमुहुश्च विकम्पते ।

अनिमित्तानि विविधेभ्यः पारदतश्चिन्तयति-रुक्षेति । अयं वायस कारु-  
कस्यस्वरं कर्वाणस्वरेण वाशति शब्दं करोति । अमात्यभृत्वाः ममात्यानाम् अधि-  
करणिषाणां वा सेवका मूहू पारवारम् आह्वयन्ति । सद्यं वामं च नेत्रं प्रसह्य  
बर्णाद् स्फुरति । एतानि अनिमित्तानि अपशङ्कानि हि मम खेदयन्ति । मम  
इति रोषत्वविवक्षया कर्मणि षष्ठी । अत्र च 'दारुणनादस्तस्वोऽटरोपगो वायसो  
महाभयद.' इति वराहमिहिरुक्तं 'वामनयनस्पन्दन बन्धुविन्धेद धनहादि वा' इति

शोधनरु—आइये, आइये, (दोनों चलते हैं) ।

चाण्डल—(झट्कापूर्वक) तब यह और क्या ?

यह कौआ ध्ये स्वर से बोल रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं, मेरी बाईं आँख यलपूर्वक फड़क रही है । ये अपजुमान मुझे खिन्न कर रहे हैं ॥१०॥

शोधनरु—आप दिना घबराये स्वतन्त्रतापूर्वक आइये ।

चाण्डल—(भूमकर तथा आगे देखकर) ।

यह कौआ सूखे वृक्ष पर बैठा है तथा सूर्य की ओर मुन्न किये है । और भुम पर अपनी बाईं आँख डाल रहा है । निःसन्देह मयङ्कर आपत्ति है ॥११॥

(फिर दूसरी ओर देखकर) अरे ! क्या यह सपं है ?

धूम्रिण नीले अञ्जन के समान आभा वाला, लम्बी जीभ को सपलनाता हुम्र, श्वेत चार दाढ़ वाला, मेरे माथे में फँसकर पड़ा हुआ, यह विद्वान सपं श्लोघपूर्वक वायु से फूले उदर को चक्र करता हुआ, भुम्र पर दृष्टि लगाए, मेरी ओर आ रहा है ॥१२॥

और भी यह—

भूमि पर रक्ता हुआ पैर फिमन रहा है, यद्यपि पृथ्वी यीती नहीं है । बाईं आँख फड़क रही है तथा बाईं मुना बार-बार कोर रही है ।

गणवचनं च अनुसन्धेयम् । उपजातिः वृत्तम् ॥१॥

शुभेति-गुणेषु स्थितः नया प्रादित्यादिभुजः । धादसः वारः भूमि चारुदरो वामं बाहुः धोदये त्रैरयति । अनस्य चोरं मृदुमय कथंते उक्तं च इदमहितायाम्—  
'कतहः शुष्कद्रु मन्त्रिये ध्वाङ्क्षे' ॥११॥

सर्वं बिलोचनं चाण्डलः विचारयति—अधीनि । भिन्नं चूपितं यत् नोनाञ्जनं एतद् आभा यस्य सः स्फुरिता वितता विस्तृता जिह्वा यस्य सः, भुजं वंष्ट्रावदुष्णं यस्य सः नं मम चाण्डलान्ध मार्यम् वाङ्मय सुप्तः सुप्तम् पतितः अयं भुजापत्तिः मृदुं सपं सरोजः रोपनुक्तः विहितः बन्नीवृत्तं आम्मातः बाधुना प्रकुन्तः कुशितः यस्य दाहयः तदा मधि चाण्डलो विनिहितदृष्टिः विनिहिता इत्त दृष्टियेव तथामृतः सद्गः धार्गनतति कतिमुचम् वागच्छति । इदं चाण्डलं मन्त्रिये । उपमा स्वभादोक्तिरथ । मानिनी वृत्तम् ॥१२॥

स्फुरतीति । भूमौ न्यग्मं स्फुरितं परस्मै स्मरति, न च मही पृथिवी धादं तना मतिरपेन धाद्री । नयनम् अर्जन् वामं नेत्रं स्फुरति वामं बाहुः च मृदुः वार वारं

शकुनिरपरश्चायं तावद्विरोति हि नैकश

वययति महाघोर मृत्यु न चात्र विचारणा ॥१३॥

सर्वथा वेक्षताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनक—एहु एहु अञ्जो । इम अधिकरणमन्वय पविस्तु अञ्जो ।  
(एत्वेत्वार्यः इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यं ।)

घारदत्त—(प्रविश्य समन्तादवनोत्प) अहो अधिकरणमण्डपस्य परा शो ।  
इह हि,

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोमिश्रह्वानुल

पर्यन्तस्थितचारनक्रमकर नागाश्वहिंसाश्रयम् ।

नानादाशककहुपक्षिरचित कायस्थसर्पास्पद

नोतिक्षुण्णतट च राजवरण हित्तं समुद्रायते ॥१४॥

महतु । (प्रविशन्निचरोपातमभिनीय सवितर्कम्) अहह, इदमपरम् ।

सव्य मे स्पन्दते चक्षुर्विरोति वामसस्तथा ।

पण्या सपेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु वैवत ॥१५॥

सावत्प्रविशामि । (इतिप्रविशति)

अधिकरणिक—अयमसौ घारदत्त । य एष ।

घोणोन्नत मुखमपाङ्गविशालनेत्रं

नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

विकल्पते । अथ च अपरः वावाद् अन्य वृथादि शकुनिं पशो सावत् नैकश ।  
मुहु विरोति शब्दं करोति । इदं सर्वं महाघोर भयङ्कर मृत्यु वययति सूचयति अत्र  
च विचारणा तर्कना न नास्ति । यतो हि इमानि अनिष्टसूचकानि मन्व्यन्ते हरिणी  
वृत्तम् ॥१३॥

इदं न्यायाधिकरण समुद्रज्दुःप्रवेश्यमिति वर्णयति घारदत्तः—चिन्तेति ।  
चिन्तायां व्यवहारीनन्तरे आसक्ता तत्पराः अतएव निमग्नः प्रीत्येव एव सोत्तमानि  
पत्र तद्, दूता एव ऊर्म्युद्धा शङ्का सं आकुलं मुक्तम्, पर्यन्ते इतस्तत स्थिता धारा  
दुष्पवराः एष नैका मवरा च यत्र तत्, नागा हस्तिन अथवा च हिंसा हिंस्रजन्तव  
इव तेषाम् आधक्यं विषदि यत्र एव, नाना बहुप्रकारां घाराणां शब्द

और यह दूसरा पक्षीभी अनेक बार बोलहा है । ये सब प्रयत्न मृत्यु की सूचना दे रहे हैं । इस विषय में कुछ सन्देह नहीं है ॥१३॥

सब प्रकार से देवता लोच कल्याण करेंगे ।

शोघनक—आर्य आइये आइये । आप इस न्याय-मण्डप में प्रवेश कीजिये ।

चाददत्त—(प्रवेश करके, चारों ओर देखकर) अहो, न्यायालय की उत्कृष्ट घोषा ! क्योंकि यहाँ—

जहाँ विवाद-विन्तन में तत्पर एवं निम्न मन्त्री ही जल के समान हैं, जो तरंगों पर आए हुए शङ्खों जैसे दूतों से युक्त हैं, जहाँ इधर-उधर स्थित गुप्तचर ही नाके और मगर हैं और हाथी-घोड़े रूमी हिस जन्तुओं की स्थिति है, जो बहुत प्रकार के शब्द करने वाले वादी-प्रतिवादी रूपी कङ्क पक्षियों से व्याप्त है, शायस्य रूपी सर्पों का स्थान, राजनीति से भग्न है तट (मर्यादा) जिसका ऐसा यह न्यायाधिकरण घातक जनों के कारण समुद्र के समान हो रहा ॥१॥

अच्छा (प्रवेश करता हुआ चिर टकराने का अभिनय करके तर्कपूर्वक) कष्ट ! यह और (अनशाकुन)—

मेरो बाई बाँस फड़कती है तथा कौआ चिल्ला रहा है । यह मार्ग सर्प से रका हुआ है । भाग्य से ही हमारा कल्याण होगा ॥१२॥

तब तक प्रवेश करता हूँ । (प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—यह है वह चाददत्त जो यह —

ऊँची नासिका से युक्त तथा विशाल कोनो वाले नेत्रों से युक्त मुख को धारण करता है । यह मुख, निश्चय ही, इच्छानुसार लगाये गए दोषों का पाच नहीं है ।

कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनः एव कङ्कपक्षिणः मांसादाः पक्षिविशेषाः (हाड़गिला इति भाषाया प्रतिज्ञाः) तं रचित व्याप्तम् (पृथ्वी०) अशुभसूचकत्वेन तेषां समवधानमुक्तम्-इति पृथ्वीघरः । ऋषयः एव सर्पाः तेषाम् आस्पद स्थानम् र्भक्तिः सामादिरूपा तथा सुगुणं नया इव भग्नं तटं समुद्रतटं मर्यादा वा यत्र तत् च राजकरणं न्यायाधिकरणं हिंस्रैः घातुकैः उनलजितं समुद्रायते समुद्र इव आचरति । उपमाहूपकयोः अलङ्कारयोः सङ्करः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । १४॥

सम्पन्निति । मे सभ्यं वाम वक्षुः, स्पन्दते स्फुरति तथा वायतः काकः विरोति शब्द करोति । अयं पश्याः मार्गः सर्पेण रक्तः अस्मानु देवतः भाग्यादेव स्वस्ति भवतु ॥१॥

चाददत्तमवसोक्य 'निर्दोषेयमाकृतिरिति' कथयति अधिकरणिकः—धोणोन्नत-मिति । यः एषः चाददत्तः घोषा उन्नता यत्र तत्, धोणदा वा उन्नतमुत्कृष्टम् । अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः विशाले नेत्रे यत्र तत् च (एतेन नेत्र-विशालत्वमुक्तम्-पृथ्वी०) एवं विघ्नं मुग्धं धारयति । एतत् तदर्थं मुखम् अकारणेन ह्येन आरोपितानां रूपणानां



नागेषु गोषु सुरगेषु तथा नरेषु

नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥१६॥

षाददत्त.—मोः अधिहृतेभ्य स्वस्ति । हंहो नियुक्ताः, अपि कुशल भवताम् ?  
अधिकरणिकः—(तसभ्रमम्) स्यायंतमार्यस्य । अत्र शोधनक, आर्यस्यासन-

मुपनय ।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) एह आसनम् । एत्थ उपविशतु अज्जो ।

[इदमारानम् । अत्रोपविशत्वार्यः ।]

(षाददत्त उपविशति)

शकारः—(सक्रोधम्) अगदंगि से इरिपभाषादभा, आगदेणि । अहो  
णाए धवहाले, अहो धम्मे दवहाले, ज एवाह इरिपभाषादकाह, भागणे दीगदि ।  
(सगदंम्) भोदु । नं धीअदु । [आगतोऽसि रे स्त्रीघातक, जागतोऽसि । अहो  
स्थाय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः, यदेतस्मी स्त्रीघातकयासनं दीयते  
भवतु । ननु दीयताम् ।]

अधिकरणिकः—आर्यं षाददत्त, अस्ति भवतोऽस्या आर्याया बुद्धिवा तह प्रसक्तिः  
प्रणय प्रीतिर्या ।

षाददत्त —कस्याः ।

अधिकरणिकः—अस्याः । (इति वसन्तसेनागातरं दशंयति)

षाददत्तः—(उत्पाप) आर्ये, अभिवाहये ।

बृहद्—जात, चिरं मे जीव (स्वगतम्) अजं शो षाददत्तो । सुनिश्चितं  
वपु ररिभए जोध्वणम् । (जात, चिरं मे जीव । अयं स षाददत्तः । सुनिश्चितं  
क्षानु दारिकया योवनम् ।]

अधिकरणिकः—आर्यं, गणिका तव मित्रम् ।

(षाददत्तो लज्जा नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए वा

षालितं अलिण गिगूहिटुम् ।

शअ मालिअ अत्यकालणा

दाणि गूहदि ण तं हि भट्टके ॥१७॥

[लज्जया भीक्षतया वा चारित्रमलीकं निगूहितुम् ।

स्वयं मारयित्वायकारणादिदानी गूहति न तद्धि भट्टकः ॥]

स्त्रीक हाथी, गाय, बरब तथा मनुष्यों में उनका बोलार अपने अनुकूल चरित्र का त्याग नहीं करता ॥१६॥

चादरत—न्यायाधिकारियों का कल्याण हो । हे अधिकारीयन, आप कुयन तो है ।

अधिकरगिक—(धवराहट से) आर्य का स्वागत है । भद्र शोभनत, आर्य के निचे कासन सावो ।

शौभनतं—(आसन लाकर) यह मानन है । आर्य इस पर बैठें ।

(चादरत बँलता है) .

शकार—(शोभनत) आ मया रे स्त्रीपातक आ मया । मयो ! कितना न्यायपुक्त, व्यवहार' (विचार-निर्णय legal procedure) है ! कितना धर्मपुक्त 'म्यवहार' है ! इस स्त्रीपातक को आसन दिया जा रहा है । (धर्म के साथ) मच्छा, बौरिसे ।

अधिकरगिक—आर्य चादरत, आपका इस आर्य की पुत्री के साथ गार्ध सम्भर्क, अनुपप मा स्नेह है क्या ?

चादरत—दिसकी ?

अधिकरगिक—इसकी । (बसन्तसेना की माता को दिखता है)

चादरत—(दठकर) आर्य, अभिवादन करया हूँ ।

मृदा—वस विरञ्जवीर । (अने आन) यह वह चादरत है । निरचम ही मेरी पुत्री ने अपना मौवन ठीक प्रकार से अर्पित किया है ।

अधिकरगिक—आर्य, बेरया तुम्हारी मित्र है ।

(चादरत तज्जा का अभिनय करता है)

शकार—

धन के निचे (बसन्तसेना की) स्वयं मारकर इस समय तू सज्जा अपना भीष्टा के कारण अपने बुरे चरित्र को छिगारे का मल करता है, किन्तु निरचम ही उसको मृदु (राजा पालक मा अधिकरगिक) नहीं छिगानेया ॥१७॥

भाजनं पार्श्वं न भवति हिं मरः मापेयु हस्त्रियु मौयु वुरपेयु.सारेयु तथा मरेयु  
माहृतिः बाह्यः सुतदृश संवया वाचासनुकूनं वृत्तं चरित्रं न विमहाति एवत्रि ।  
साहृतिननुमर्तित मुद्रः ईदृगो चाहृतिनं धीनं व्यमिषलीति भावः । दृष्टतितका  
वृत्तन् ॥१६॥

न्यायः न्यायाद् बननेतः, न्यायपुक्तः इति भावः । धर्मः धर्माद् बननेतः  
धर्मपुक्तः इति भावः । प्रगक्तिः याज्ञनुपपः । प्रगयः अनुपपः । प्रीतिः स्नेहः ।  
मुनिमिन्तं मुयु बनचित्तन् ।

सम्बन्धेन । अर्थकारनाय स्वयं बसन्तसेनां मारयित्वा इदानीं सज्जना भीष्टता  
भवेत् वा अनौकं दिव्य चारित्रं निगृह्युं शोभयितुं मरुसे इति धेयः किन्तु मृदु  
महूरकः राजा अधिकरगिको वा त्वं चारित्रं न दूयति हि । वंतानीयं वृत्तम् ॥१७॥

धेष्ठीकायस्थ—अञ्जवाद्यदत्त, भणार्ति । अल सञ्जाए । बवहारो बुधु एतो । [आर्यं चारुदत्त, भण अले लज्जया । व्यवहार खस्वेप ।]

चारुदत्त—(ससज्जम) भो अधिभृता मया कयमीदृश यत्कथ्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति । अथवा योयनमात्रापराध्याति, न चारिभ्यम् ।

अधिकरणिक—

व्यवहार सविघ्नोऽयं त्यज लज्जा हृदि स्थिताम् ।

ब्रूहि सत्यमल धैर्यं उमतल न गृह्यते ॥१८॥

अल लज्जया । व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

चारुदत्त—अधिकृत, केन सह मम व्यवहार ।

शकार—(साटोत्रम्) अले यए सह बवहान्ते । [अरे, मया सह व्यवहारः ।]

चारुदत्त—त्वया सह मम व्यवहारं बुधु सह ।

शकार—अले इशियआधारभा, त तादिशि सञ्जणराहभूराणिभ्र वरान्त-शोणिभ्र मालिभ, रायह कवडकावडिके भधिभ्र विगूरेति । [अरे स्त्रीघातक तां ताहशी रत्नशतभूषणा वसन्तसेना मारयित्वा, साप्रत कपटकापटिको भूत्वा, निगूहसि ।]

चारुदत्त—असद्वद सत्यमि ।

अधिकरणिक—आर्यं चारुदत्त, अतमनेन । ब्रूहि सत्यम् । भवि गणिका तव मित्रम् ।

चारुदत्त—एकमेव ।

अधिकरणिक—आर्यं, वसन्तसेना वव ।

चारुदत्त—गृहं गता ।

धेष्ठीकायस्थी—कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केन अनुगता । [कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केनानुगता ।]

चारुदत्त—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि ।

धेष्ठीकायस्थी—अञ्ज, कथेहि । [आय कयय ।]

चारुदत्त—गृहं गता । किमन्यद् ब्रवीमि ।

शकार—मम केसक पुष्करलण्डकजिष्णुज्जाण पवेसिभ्र मरथनिमित्तं बाहुपाशबलरकालेण मालिना । अए शंपद वदसि घत गवे ति । मदीय पुष्पकर-पडवजीर्णोदान प्रवप्रथार्यनिमित्तं बाहुपाशबलात्कारेण मारिता । अये, साप्रतं यदसि गृहं गतेति ।]

चारुदत्त—आ । असद्वदप्रतापिन् ।

अथ चारुदत्त इति । अयं व्यवहार सविघ्न विघ्नेन सहित अल हृदि स्थितां लज्जां त्यज । सत्यं ब्रूहि धैर्यमस्तं "वितम्बो मास्तु इत्यर्थं यदा धैर्यम् अलम्

श्रेष्ठीकामस्य—आर्यं चादत्त, कर्हो । सज्जा मत करो । यह तो 'व्यवहार' है ।

चादत्त—(नज्जापूर्वक) हे अधिकारी गण, मुझसे इस प्रकार कैसे कहा जा सकता है कि बेरया मेरो दिन है । अथवा यौवन अपराधी है चरित्र नहीं ।

अधिकारनिक—

यह व्यवहार विघ्नयुक्त है । हृदय में स्थित सज्जा को छोड़ दो, सब कर्हो, बिलम्ब मत करो (अथवा सत्य कहने के लिये पर्याप्त धैर्य धारण करो) । व्यवहार में कपट को स्वीकार नहीं किया जाता ॥१८॥

सज्जा न करो तुम से 'व्यवहार' पूछ रहा है ।

चादत्त—अधिकारनिक, इसके साथ मेरा 'व्यवहार' है ।

शकार—(गर्व के साथ) अरे, मेरे साथ 'व्यवहार' है ।

चादत्त—तेरे साथ मेरा व्यवहार दुसरा है ।

शकार—अरे स्त्रीघातक, उस ऐसी संकष्टों रत्नों के आभूषण वाली वसन्तसेना को मार कर इस समय कपट से धूर्त बनकर दिखावा है ।

चादत्त—तू असज्जत (बात कहने वाला) है ।

अधिकारनिक—आर्यं चादत्त, इसे (शकार को) रखने दो । सब बतलाओ ।

क्या गणित तुम्हारी भिन्न है ?

चादत्त—ऐसा ही है ।

अधिकारनिक—आर्यं, वसन्तसेना कहां है ?

चादत्त—घर को गई ।

श्रेष्ठीकामस्य—कैसे गई ? कब गई ? अथवा जाती हुई के साथ कौन गया ?

चादत्त—(अन्ने जाय) बना 'दुष्ट रूप से गई, यह कह दूँ ।

श्रेष्ठीकामस्य—आर्यं कहिये ।

चादत्त—घर को गई । और क्या कहूँ ?

शकार—मेरे पुण्यकरण्डक नामक पुराने उद्यान में से जाकर पन के लिये पुत्रपाय से बलपूर्वक (दबाकर) मार दी है । अरे अब कहता है 'घर को गई' ।

चादत्त—अरे असज्जत प्रलाप करने वाले

अस्तु सत्यकथनायेति शेषः—(काले) (?) अथ व्यवहारे कर्तव्यं न गुरुषु  
स्वीक्रियते ॥१८॥

कपटेन कापटिकः धूर्तः ।

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां

चापाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले ।

मिथ्यैतदाननामिदं भवतस्तथाहि

हेमन्तपद्ममिव निप्रभतामुपैति ॥१६॥

अधिकरणिकः—(जनान्तिकम्) । -

सुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।

ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) भायंवाहवतः सखसौ कथमिवमकार्यं करिष्यति । ('धोणा' (६।१६) इत्यादि पठति)

शकारः—किं पक्षपादेन व्यवहारे दोषादि । [किं पक्षपातेन व्यवहारो हस्यते]

अधिकरणिकः—अपेहि भ्रूलं ।

वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं यदसि न च ते जिह्वा निपतिता

मध्याह्नं वीक्षसेऽङ्कं न तव सहस्रां दृष्टिविचलिता ।

दीप्तान्नो पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो

चारिभ्याञ्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः ॥२१॥

भायंवाहवतः कथमकार्यं करिष्यति ।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशोषं

दत्तानि येन हि घनान्यनपेक्षितानि ।

विभ्या तवाभियोग इति शकारमाह चारुदत्तः—अभ्युक्षित इति । एतत् तव कथनं गमः । तथा हि बलाहकानां जलदाना सलिलैः जलैः न अभ्युक्षितः सितः अस्ति एवं, किन्तु क्षन्तराले एतदवचनमध्ये भृशम् अत्यन्तं चापस्य पक्षिविशेषस्य (नीतरुण्ड इति लोके प्रतिदस्य) अग्रपक्षः पक्षान्न तस्य सदृशं कृष्णवर्णं सद् इति भावः भवतः तव मकारस्य इदम् आगतं मुसम् हेमन्तस्य पद्मकमलम् इव निष्पद्यतां कान्तिहीनताम् उपैति प्राप्नोति । उपमातद्धारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६॥

सुलनमिति । चारुदत्तस्य दूषणं दोषसाधनम् अद्रिराजस्य पर्वतराजस्य शिवाल्लस्य सुलनम् इव समुद्रस्य च तारणं तीर्त्वा पारे गमनम् इव अनिलस्य पावकस्य ग्रहणम् इव च अक्षयमस्तीति भावः ॥२०॥

यह झूठ है, क्योंकि तू बादलों के जल से नहीं भीगा, किन्तु इस बात को कहते हुए (अन्तराले—कथन के बीच में) वित्कुल नीलकण्ठ के पक्ष के अप्र भाग के समान (काला-नाला) तेरा यह मुख हेमन्त ऋतु में कमल की भाँति कान्तिहीनता को प्राप्त कर रहा है ।

अधिकरणिक—(अलग से) चारुदत्त का दोष दिखलाना पर्वतराज हिमालय को तोलने के समान, सागर को तैर कर पार करने के समान तथा अग्नि को पकड़ने के समान (असम्भव) है ॥२०॥

(प्रकृत रूप में) मना यह आर्य चारुदत्त इस अकार्य को कैसे करेंगे ?

(‘घोषा’ ६/१६ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

शकार—क्या पक्षपात से व्यवहार का विचार किया जा रहा है ?

अधिकरणिक—हट, मूर्ख,

नीच (प्राकृत) होकर तू वेद का अर्थ कथन करता है तथापि तेरी जिह्वा नहीं विरी । मध्याह्न के समय तू सूर्य की ओर देखता है तथापि तेरी दृष्टि सहसा ही भ्रष्ट नहीं हुई । तू प्रज्वलित अग्नि में हाथ डाल रहा है तथापि तेरा हाथ जला नहीं । तू चारुदत्त को धरित्र से भ्रष्ट कर (बतला) रहा है तथापि पृथ्वी तेरे शरीर का हरण नहीं करती ॥२१॥

आर्य पापदत्त अकार्य कैसे करेंगे ?

जिस चारुदत्त ने (रत्नों का दान देते हुए) समुद्र को जल की प्रचुरता मान है शेष जिसने ऐसा कर दिया तथा जिसने (पाचकों के द्वारा) अप्रापित धन का शान

अधिकरणिक शकारं भर्त्सयति-वेदार्यान् इति । प्राकृतः पामरः त्वं शकारः वेदार्यान् वदसि तथापि ते तव जिह्वा च न निपतिता (भीषण्य हि वेदार्यकथने बिह्वलापातस्योक्तत्वात् मध्याह्ने अर्कं सूर्यं वीक्षते पश्यसि तथापि तव दृष्टिः संह्रमा तत्कालमेव न, विवक्षिता भ्रष्टा (मध्याह्ने सूर्यदर्शनेन दृष्टपक्षपातो जायते) । दोषे प्रज्वलिते अग्नी अन्तः अम्पन्तरे पाणि हस्तं क्षिपसि तथापि ते तव सः हस्तः च दग्धः नो भवति । त्वं च चारुदत्तं चारिभ्याम् चलयसि व्यावेयसि तथापि भूः पृथ्वी ते देहं न हरति । निदर्शनार्थं द्वापः विशेषोक्तिश्च । सुमधुरा वृत्तम् ॥२१॥

चारुदत्ते पापस्य सम्भावनापि नास्तीत्याह-कृत्वेति । येन चारुदत्तेन हि समुद्रम् उदकोच्छ्रयमात्रशेष उदकस्य उच्छ्रयः उन्नतिः आधिक्यं वा तन्मात्रमेव शेषः पत्र तादृशं कृत्वा दानार्थं रत्नानाम् उद्धरणात् जनमात्रावशेष सागरं कृत्वा इति भावः,

प ध्येयसा कपमिवैकनिधिर्महात्मा

पाप करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ॥२२॥

वृद्धा—हवास, जो तदाणि पासीरिद सुवण्णमण्डअ रति चोरेहि अवहिद  
ति तस्य कारणादो चदुरसमुद्सारभूद रमणायति देदि, तो बाणि भत्तरत्तवत्तरत  
कासणादो इम अकञ्ज करेदि ? हा जावे, एहि मे पुत्ति [हताश, यस्तदानीं  
न्यासीकृत सुवर्णभाण्ड राश्री चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतु समुद्सारभूता  
एत्नावलो ददाति, स इदानीमर्पकत्थयनस्य कारणादिदमन्ताय करोति ? हा  
जाते, एहि मे पुत्ति ।](इति रोदिति)

अधिकरणिक—आप चाहदत्त विमसो पद्व्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

चाहदत्त—मनु मम प्रत्यक्ष न गता । तन्न जाने कि पद्व्यां गता, उत  
प्रवहणेनेति ।

(प्रविशय सामथ )

वीरक —

पादप्रहारपरिभवविमाणणावद्गुरुअरेरस्स ।

अणुसोअन्तस्स इअ कथ पि रत्ती पभादा मे ॥२३॥

ता जाव अधिभरमण्डव उच्चत्पानि (प्रवेष्टकेन) बुह अज्जमिस्ताणम् ।

[पादप्रहारपरिभवविमाननावद्गुरुकवीरस्य ।

अनुशोचत इय कयमपि रानिः प्रभाता मे ।

तद्यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि सुखमार्यमिश्राणाम् ।]

अधिकरणिक—अये, नगररक्षाधिकृतो वीरक । वीरक, किमागमनप्रयो-  
जनम् ?

वीरक—हो, दन्धनभेअणसममे अज्जक अण्णेसन्तो, ओवारिद पवहण वच्चदि  
ति विभार करन्तो अण्णेसन्तो, अरे त्तु वि आलोइदे मए वि आलोइदइयो । त  
भणन्तो अजेव चन्दनमहत्तरएण पादेण ताडितो ह्मि । एव सुमिअ अज्जमिस्ता  
पमाणम् । [हि, दन्धनभेदनसञ्जमे आर्यकमन्वेपयन्, अपवारित प्रवहण  
व्रजतीति विचार कुर्वन्नन्वेपयन्, अरे, त्वयाप्यालोकितम्, मयाप्यालोकि-  
तव्यम् इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण, पादेन ताडितोऽस्मि । एतच्छ्रुत्वार्य-  
मिधाः प्रमाणम् ।]

किया, कल्याणों का (अद्वितीय) आधार वह महात्मा, धन के लिये वीरियों के द्वारा भी (अपवा कार्यों द्वारा भी) न किया जाने योग्य यह पाप कैसे करेगा ॥२२॥

बुद्धा—हताश जो (चारुदत्त) उस समय घरोहर रखे हुए सुवर्णभाण्ड को रात्रि में चोरो ने हर लिया, इसलिये उसके निमित्त चारों समुद्रों की सारभूत रत्ना-मली दे देता है, वह इस समय कसेवा जंसे (तुच्छ) धन के निमित्त यह कुकृत्य करता है ? हाय बरसे, आग्रो मेरी पुत्री । (रोती है)

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, क्या वह पैदल गई या गाड़ी से ?

चारुदत्त—मेरे सामने नहीं गई। अतः मैं नहीं जानता कि पैदल गई या गाड़ी से ।

वीरक—(चन्दनक के) पाद-प्रहार के तिरस्कार से होने वाली धुग्धता द्वारा उत्पन्न हो गया है, वैर-भाव जिसमे उस मेरी (वीरक की) शोष करते हुए ही रात्रि व्यतीत हुई (प्रभात रूप मे आई) ॥२३॥

अत न्यायालय में जाता हूँ (हाय से) भद्र पुरुषों (क्षापका) कल्याण हो ।

अधिकरणिक—अरे नगर-रक्षा मे नियुक्त वीरक है । वीरक तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ?

वीरक—अहो ! बन्धन तोड़ने से होने वाली थवराहृद के समय आर्यक को बँधते हुए 'ढकी हुई गाड़ी जा रही है ।' यह विचार करते हुए तथा निरीक्षण करते हुए तूने (चन्दनक) भी देख सी मुझे (वीरक) भी देख लेनी चाहिये' यह कहते हुए ही मुझे अधिक महान् (?) चन्दनक ने लातो से मारा है । यह सुनकर (माग्यगण आप) ही प्रमाण है ।

अधिकरणिक—भद्र, जानते हो कि वह किसकी गाड़ी थी ।

अनपेक्षितानि अघिभिः अयाचितानि (?) धनानि दत्तानि श्रेयसां कल्याणानाम् एकनिधिं मुह्याश्रयः सः महात्मा चारुदत्तः धनार्थम् अवैरिजुष्टं (अवीरजुष्टम् पाठान्तरम्) वैरिजनेनापि अतोवितं वापं कथं करिष्यामि । वसन्तसिखा वृक्षम् ॥२३॥

हता नामा यस्य सः (सम्बुद्धौ) अत्र क्रूर, निर्दयः इति भावः । पारैति । पादप्रहारेण चन्दनकस्य चरणप्रहारेण कृतः यः परिभवः तिरस्कारः तेन जातः या विमानता अवमानना शोभ- इति यावत् तथा बद्धं गुहकं महत् वैरं वैरभावः यस्य तस्य अनुशोवतः पश्चात्तार्थं मुवँतः मे मम वीरकस्य इयं रात्रिः कथमपि कष्टेन प्रभाता प्रभातं प्राप्ता व्यतीता इति भावः । २३॥

अत्र इति तिरस्कारेऽप्ययम बन्धनभेदेन यः सम्भ्रमः त्वरा तस्मिन् सति तरसमये



शोरकः—इमस्य अञ्जचारुदत्तस्य । वसन्ततेना आस्ता पुष्करण्डकजि-  
ष्णुज्जाण क्रीडितं, षीअदि ति पवहणवाहएण कहिदम् । [अस्यार्यचारुदत्तस्य ।  
वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकजीर्णोत्तान क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन  
कथितम् ।]

शकारः—पुणो वि शुट अञ्जेहि । [पुनरपि श्रुतमार्यैः ।]

अधिकरणिकः—

एष भो निर्मलज्योत्स्नो राहुणा प्रस्यते शशी ।

जल कूसावपातेन प्रसन्नं कतुपायते ॥२४॥

शोरक पचादिह भवतो म्याप इक्ष्याम । य एषोऽधिकरणशायं वसिष्ठति,  
तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानम्, हस्पतामरित तत्र काचिद्विपन्ना इती न  
वेति ।

शोरकः—अ अञ्जे आणवेदि (इति निष्प्रान्तः । प्रविश्य च) पयो इति  
हहि । विट् च मय इत्यिजाकलेवर सावदेहि विलुप्यन्तम् । यदायं आज्ञापयति ।  
गतोऽस्मि तत्र । हृष्टं च मया स्त्रीकलेवर श्वापदैर्विलुप्यमानम् ।]

भेष्टिकायस्थौ कथं तुए जाणिद इत्यिजाकलेवरं ति । [कथं त्वया ज्ञातं  
स्त्रीकलेवरमिति ।]

शोरकः—सावतेतेहि . केतहृत्पपाणिपारेहि उवत्तवित्तं मए । [सावरोपैः  
केराहस्तपाणिपादैरुपलक्षितं मया ।]

अधिकरणिकः—अहो पिण्वयम्यं लोकव्यवहारस्य ।

यथा मयेदं लिपुणं विचार्यते तथा तथा संकटमेव दृश्यते ।

अहो सुसन्ना व्यवहारीतयो मतिस्तु शीः पङ्कगतेव सीदति ॥२५॥

चारुदत्तः—(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।

एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेऽप्यनर्था बहुजीभवन्ति ॥२६॥

शोरकस्य वचनमाकर्ष्य अधिकरणिकः वचयति-एष इति । भो इति हेदे  
(काले) एषः अयं निर्मला ज्योत्स्ना चन्द्रिना यस्य स शशी चन्द्रः राहुणा प्रस्यते ।  
प्रसन्नं प्रसादयुक्तं, स्वच्छं जलं कूसावपातेन तटस्य पतनेन कतुपायते मलिनं  
जायते । निर्मलनरित्रेण शुक्लः चारुदत्तः अपवादेन दुष्यतीति भावः । अतिसयोक्तिर-  
सङ्कारः ॥२४॥

विपन्ना मृता । श्वापदैः हिंसकपशुभिः विलुप्यमानं विनाशमानम् ।  
केराहस्तः केरापाशः धिक् लोकव्यवहारस्य जनानां चरित्रस्य अगत्या लोभवृत्तस्य वंद्यं  
भेदरीत्यं विह ।

बोरक—इस कार्य चाहदत की । "इस पर बंठी बसन्तसेना गुणकरण्डक नामक पुगने उद्यान में ब्रीडा करने के लिये ले जाई जा रही है" यह गाड़ीवाद् ने कहा पा ।

शकार—आर्यजन, आपने फिर भी मुन लिया ।

अधिकरणिक—खेद ! निमंत चांदनी वाना यह चन्द्रमा राहु से ग्रसा जा रहा है । तट के गिरने मे स्वच्छ जल मलिन हो रहा है । (अर्थात् दुर्द्व से पवित्र चरित्र वाला चाहदत कलङ्कित हो रहा है) ॥२४॥

बोरक, तुम्हारे अभियोग पर पोंछे विचार करेंगे । जो यह व्यायान्य के द्वार पर घोड़ा खड़ा है, इस पर चढकर गुणकरण्डक नामक उद्यान में जाकर देखिये कि वही कोई मृतक स्त्री है या नहीं ।

बोरक—जो शायं आज्ञा करें । (चना गया, और प्रवेश करके) मैं बह्रा गया । वहाँ मैंने स्त्री का शरीर हिमक पशुओं द्वारा समाप्त किया जाता देखा ।

शेष्ठी शायत्य—तुमने कैसे जाना कि स्त्री का शरीर है ?

बोरक—यथे हूए केगपास, हाथ और पैरों से मैंने समझ लिया ।

अधिकरणिक—अहो, लोचबबहार की विपयता को विश्कार है ।

जैने-जैने इस पर भनी-भानि विचार किया जाता है, बँस-बँसे ही यह उद्यता हुआ दितलाई देता है । अहो, व्यवहार के नियम (The legal points or proofs) भनी-भानि सम्बद्ध या स्पष्ट हो (सुसन्ना) रहे हैं, किन्तु भेरी बुद्धि कीचड़ में गई हुई गी के समान फँस रही है ॥२५॥

चाहदत—(अने आप) जैमे विकाम की प्रारम्भिक अवस्था में पुष्य (भकरन्द) का पान करने के निचे भ्रमर एकत्रित होकर गिरते हैं, इसी प्रकार आपति के समय मनुष्य की भून (= छिद्र) होने ही अनेक अनिष्ट एकत्रित हो जाते हैं ॥२६॥

अधिकरणिकः लोचबबहारस्य वैपन्नेव प्रकटयति—यथेति । इदं चाहदत-इत्तं दया मया निपुणं सम्भक् विचायेते तथा तथा तंकरं सावाद्यं गहनं वा हरयते । यरो ! व्यवहारनीतयः व्यवहारस्य विवादस्य नीतयः नियमाः सुमन्ताः सम्भक् सम्भटाः स्रटाः प्रनीदन्ते इति भावः तु किन्तु मम मतिः पङ्कयता यो इव सोवति निमग्जतिः न किमपि निर्गंतुं शक्नोतीति भावः । उरमानद्धारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥२५॥

यथेति । मया एव प्रथमे विज्ञप्तो विकामस्य आरम्भे दुष्यं कुमुपं तस्य मकरन्दमिनि तावद् पशुं पानार्थं भ्रमरा समेत्य एकत्रीभूय पनन्ति एवम् अनेन प्रकारेणैव विपत्तिकाले मनुष्यस्य छिद्रेषु दोषस्थनेषु मत्सु अनर्था अनिष्टाणाः बहुलीभवन्ति एकत्र जायन्ते । उरजातिः वृत्तम् । ३६॥

अधिकरणिक—आयं चारदत्त सत्यमभिधीयताम् ।

चारदत्त—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरो मनुष्या  
रागान्ध परमिह हन्तुकामबुद्धि ।

किं यो यद्ब्रूति भृषैव जातिदोषा-  
त्तन्ग्राह्य भवति न तद्विचारणीयम् ॥२७॥

अपि च

योऽहं लता कुमुभितामपि पुष्पहेतो-  
रावृष्य नैव कुसुभावचय करोमि ।

सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे  
केषु प्रगृह्य रदती प्रमदा निहन्मि ॥२८॥

शब्दार्थ—हहो अधिकतलभभोडभा, किं दुग्हे पक्षवादेण चवहात पक्षप,  
प्रेण भग्न कि एते हृदासाचाबुवते भासण घालोभरि । [हहो अधिकरणभोजका,  
किं यूय पक्षपातेन व्यवहार पश्यत येनाद्याप्येप हताशचारदत्त आसने धार्यते ।]

अधिकरणिक—भद्र शोधनकं एव क्रियताम् ।

(शोधनकस्तथा करोति)

चारदत्त—विचार्यतां भो अधिकृता, विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्णं  
भ्रूमापुपविशति)

शब्दार्थ—(स्वगतम् । सहर्षं नतित्वा) ही, अनेण मए कटे पावे अण्णरा  
मस्तके निवदिडे । ता जहिं चालुदत्ताके उवविरादि तहिं हग्गे उवविरामि । (तथा  
कृत्वा) चालुवत्ता, पेश्ल पेश्ल मम् । ता भण भण मए मातिरे ति । [ही, अनेन  
मया कृत पापमन्यस्य मस्तके निपतिमम् । तद्यत्र चारुदत्त उपविशति तत्राह-  
मुपविशामि । चारदत्त पश्य पश्य माम् । तद्गुण भण मया मारितेति ।]

चारदत्त—भो अधिकृता, ('दुष्टात्मा'—६।२७ इत्यादि पूर्वोक्त पठति)  
सति श्वास स्वगतम्)

संश्रेय भो किमिदमद्य ममोपपातो  
ह्ये ब्राह्मणि द्विजकुल विमले प्रसूता ।

चारदत्तोऽधिकरणिकं प्रतिवदति—दुष्टात्मेति । इह अधिकरणे ससारे वा  
दुष्टात्मा दुष्टा आत्मा बुद्धि यस्य स परगुणेषु मत्सरो मत्सरोऽस्यास्तीति ईर्ष्याबु-  
रागेण भय परम् अयजन हन्तुकामा बुद्धि यस्य तादृश य मनुष्य जातिदोषात्

अधिकारिक—आर्य चारुदत्त, सत्य कहिये ।

चारुदत्त—इस (न्यायानय या जगत्) में दुष्टात्मा, दूसरो के गुणो के प्रति ईर्ष्या करने वाला, रस से अन्धा, दूसरे को मारने की कामना वाला मनुष्य स्वाभाविक दोष से मिय्या ही जो कुछ कहता है क्या वह स्वीकार योग्य होता है ? क्या वह विचारणीय नहीं होता ? ॥२७॥

ओर भी—

जो मैं पुण्ययुक्त खता को भी पुण्य लेने के लिये स्वीचकर पुण्यचयन नहीं करता, वह मैं (चारुदत्त) भ्रमर के पत्तों के समान कान्ति वाले लम्बे केशो को पकड़कर रोती हुई रमणी को कैसे मारता ? ॥२८॥

शकार—हे न्यायाधिकारीगण, क्या तुम पक्षपात से विवाद का विचार करते हो, जो अब भी इन नौब चारुदत्त को इस आसन पर बैठा रक्खा है ।

अधिकारिक—भद्र शोधनक, ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) कीजिए ।

(शोधनक बैसा ही-करता है)

चारुदत्त - विचार कीजिए, अधिकारीगण, विचार कीजिए ।

(आसन से उतरकर भूमि पर बैठता है)

शकार—(अपने आप, हर्षपूर्वक नाचकर) अहा ! इस (चारुदत्त को आसन से उतारने) से मेरे द्वारा किया गया पाप दूसरे के माथे पड़ गया । तब जहाँ चारुदत्त बैठा वहाँ मैं बैठता हूँ । (बैसा करके) चारुदत्त, मुझे देख, देख । तो कह दे कह दे कि मैंने मारी है ।

चारुदत्त—हे अधिकारीगण, ('दुष्टात्मा' ६ / २७ इत्यादि पूर्वोक्त पढ़ता है)

(सन्धी सांस लेकर अपने आप)–

हे मंत्रेय, यह क्या (हो रहा है) ? आज मेरा विनाश (उपस्थित हो गया है)

हाय ! ब्राह्मण, तुम पवित्र ब्राह्मणगण से उत्पन्न हुई हो (मग्न दमे प्रकार की मृत्यु

स्वभावदोषाद् भ्रूया मिथ्या एव यद् उदाति कि तद् ब्राह्म स्वामार्थं भवति ? नैव भवतीति भावः । किं न तद् विचारणीयम् ? तद् विचारणीयमेवेति भ्रूयः । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥२७॥

सोऽमिति । य अहं चारुदत्त कुमुमितां कुमुमिति संजातानि अस्याः तां

(सारकादित्वाद् इतत् प्रत्ययः) लताम् अपि पुष्पहेतोः पुष्पाणि ग्रहीतुं आहृष्य कुमुमतां अक्षयत्तं पुत्राचपत्तं न करोमि स अहं भ्रमरस्य पशयो इव रुचि कान्तिः पश्य तस्मिन् वृष्पवर्णं सुदीर्घं केशोः प्रगृह्य गृहीतव्यं रुदती प्रमदा रमणी कथं निहन्मि मारयामि । न कथमपि हन्तुं शक्नोमीति भावः । वसन्ततिपका वृत्तम् ॥२८॥

स्वमिय भाषां पुत्र च स्मृत्वा चारुदत्त सम्बोधयति— मंत्रेयेति । भो मंत्रेय,

किम् इदं भवति ? अद्य मम उपपातं विनाश उपस्थितः । हा इति खेदेऽव्ययम् । ब्राह्मणि, त्वं किमने पवित्रे ब्रह्मकुले ब्राह्मणपत्रे प्रयुक्ता जाताऽसि । "अतः तव

हा रोहसेन हि न पश्यसि मे विपत्तिं

मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥२६॥

प्रेषितश्च मया तद्गतान्वेषणाय भैश्रेयो वसन्तसेनासकाशं सकटिकानिमित्तं च तस्य प्रदत्तान्यसद्करणानि प्रत्यपैयितुम् । तत्कथं चिरमते ।

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विद्रूपकः)

विद्रूपकः—वेत्तिदोहि अञ्जचारदत्तेण वसन्तसेनासकाशम्, कर्हि अलंकर-  
णाद् गेहितुम् जघा 'अञ्जमित्तञ्च वसन्तसेनाए वच्छो रोहसेनो अलङ्कारेण  
अलंकरिञ्च जणशीतभास वेत्तिदो । इमस्त आहरणं दादव्यम्, ण उण गेहितुद्वयम् ।  
ता सगप्पेहि' ति । ता ज्ञाय वसन्तसेनासकाशं ञ्जेव वच्छामि । (परिक्रम्यायसोवय  
प । आवाशे) इध भावरेमित्तो । भो भाव रेमित्त, किणिमित्तं तुमं उच्चिग्गो उच्चिग्गो  
विम सवतोअत्ति (आगच्छं) किं गणात्ति—विअवअत्तो चारदत्तो अधिअरणमण्डपे  
सहाइयो' ति । ता ण हु अ-पेण ञ्जेव होदव्यम् (विचिन्त्य) ता वच्छा वसन्तसेना-  
सकाशं गमिणात्तुम् । अधिअरणमण्डपं धाव गमिणात्तुम् । (परिक्रम्यायसोवय प) इदं  
अधिअरणमण्डपम् । ता ज्ञाय गमिणात्ति । (प्रविश्य) गुरुं अधिअरणमोइआणम् । कर्हि  
भम विअवअत्तो । प्रेषितोऽग्यायचारदत्तेण वसन्तसेनासकाशम्, तत्रालङ्कार-  
णानि गृहीत्वा, मया—'दायंभीश्रेय, वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोलङ्का-  
रेणासद्गुण्य जननीसकाशं प्रेषितः । अस्या आभरणं दातव्यम्, न पुनर्गृहीत-  
व्यम् । तत्प्रमर्षय' इति । तद्यावद्वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि । मय भावरे-  
मित्तः । भो भावरेमित्त, किणिमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । किं भणसि—  
'प्रियययस्यचारदत्तोऽधिककरणमण्डप आहूतः' इति । तन्न एतत्त्वत्पेन कार्येण  
भवितव्यम् । तत्प्रचाद्वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि । अधिकरणमण्डपं तावद्  
गमिष्यामि । अवमधिकरणमण्डपः । तयावत्प्रविशाम । शुद्धमधिकरणभोजका-  
नाम् । कुत्र मम प्रियवमस्यः ।]

अधिकरणिवः—नन्वेव तिष्ठति ॥१॥

विद्रूपकः—अथस्त, सोत्थि वे । [अथस्य, स्वास्त ते ।]

चारदत्तः—भविष्यति ।

विद्रूपकः—अवि वधेनं दे ? [अपि होमं ते ?]

चारदत्तः—एतदपि भविष्यति ।

विद्रूपकः—भो वजस्त, किणिमित्तं उच्चिग्गो उच्चिग्गो विम सवतोअत्ति कुचो  
वा सहाइयो ? [भो अथस्य, किणिमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । कुतो  
याहूतः ?]

चारदत्तः—अथस्य,

तुम्हारे लिये अनुचित है)। हाय ! पुत्र रोहसेन, तू भी मेरी विपत्ति को नहीं जानता है। सदा बालमुलभ झोटा से (परव्यसनेन) आनन्दित होता है, किन्तु यह व्यर्थ ही है ॥२६॥

और मैंने उम (वसन्तसेना) का समाचार जानने के लिये तथा उम (रोहसेन) की (स्वर्ण की) गाड़ी (वनाने) के निमित्त (वसन्तसेना द्वारा) दिये गये अलङ्कारों को लौटाने के लिये वसन्तसेना के पाम मंत्रेय को भेजा है। किन्तु वह क्यों देर कर रहा है ?

(तब आभूषण लिये हुए विदूषक प्रविष्ट होता है)

विदूषक—मुझे आर्य चाण्डल के द्वारा आभूषणों को लेकर वहाँ (वसन्तसेना के घर) वसन्तसेना के पास भेजा गया है (और रह गया है—) 'आर्य मंत्रेय, वसन्तसेना ने वत्स रोहसेन को अपने आभूषणों में अतङ्कृत करके (वसकी) माता के पाम भेजा है। इस (वसन्तसेना) के आभूषण दे देने चाहियें, लेने नहीं चाहियें, अतः लौटा दो।' इसलिये अब मैं वसन्तसेना के पास जाता हूँ।—(चलकर और देखकर आकाश की ओर...) क्या भाव रेभिल है ? किसलिये तुम उड्डिम से दिखलाई दे रहे हो ? (सुनकर) क्या कहते हो ? प्रिय मित्र चाण्डल न्यायालय में बुलावा गया है।' तो कोई साधारण (झोटा) कार्य न होना चाहिए। (सोचकर) तब वसन्तसेना के पास पीछे जाऊँगा, पहले न्यायालय में जाऊँगा (चलकर और देखकर) यह न्यायालय है तो तब तक प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके न्यायाधिकारी वनों का करवाण हो। मेरा प्रिय मित्र वहाँ है ?

अधिकारिक—यह बैठा है।

विदूषक—मित्र, तुम्हारा कल्याण हो।

चाण्डल—होगा।

विदूषक—तुम्हारी कुशल तो है ?

चाण्डल—यह भी होगी।

विदूषक—हे मित्र, उड्डिम-उड्डिम से क्यों दिखलाई दे रहे हो और यहाँ क्यों बुलाये गये हो ?

चाण्डल—मित्र,

पत्सुरीटमो विनागस्तंनुचितः इति भावः—इति कालेमहोदयः ॥ हा ! रोहसेन, मे मम विपत्ति हि न परयमि, नित्यं सदा परव्यसनेन वेदनेन बालमुलभञ्जीवनेन (परं द्रुम् अज्ञातम् इति यावत् च तद् व्यसनं च तेन—इति वाते)। नन्दमि आनन्दमनुभवमि किन्तु मिथ्या व्यसंम् एव तत्। वसन्तविनसा वृत्तम् ॥२६॥

मया खलु नृशसेन परलोचमजानता ।  
स्त्री रतिर्वाविशेषेण शेषमेधोऽभिधास्यति ॥३०॥

विदूषक — किं किम् [किं निम् ।]

चावदत्त — (कर्णे) एयमेवम् ।

विदूषक — को एव्य भणति । [क एयं भणति ।]

चावदत्त — (सज्जया शवार दर्शयति) मन्वेय तपस्वी हेतुभूत कृतातो मा  
ष्याहरति ।

विदूषक — (जनान्तिकम्) एव्य कीस न भनीमदि वेह पदेति । [एव किमयं  
न भण्यते, गृह गतेति ।]

चावदत्त — उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

विदूषक - भो भो अज्जा, जेण बाध पुरट्ठावणविहारारामवेजलतडागकूबनूवेहि  
भलकिवा, णमरी टाजइणो, सो अणोसो अत्यस्तसवत्तकारणादो एरिस अकज्ज अणुचिह्म-  
दि ति ? (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीमुढा राअरशत्तत्तटाणमा जस्तुह्मत्तजा किन्दणवोत्त-  
मण्डआ बहुमुयणमण्डिवमर्षकडआ, भण भण मम अगदो, जो दण्णि मम पिअवभस्तो  
कुमुमिद माघवीत्तद पि आचिद्विअ कुमुमावचअ न करोदि, कवा वि आकट्टिदाए पत्त-  
यच्छेदो भोदि ति, सो कथ एरिस अकज्ज जहमलोअविद्वं करोदि । चिह्म रे कुट्टिणिपुत्ता  
चिह्म । जाव एदिशा तव हिअअकुट्टिलेण दण्डअट्ठेण मत्तअ दे सबत्तण्ड करोमि ।  
[भो भो आर्या, येन तावत्पुरस्यापनविहारारामदेवालयनटागकूपपसूपूरलङ्कृता  
नगयुंज्जयित्री, सोऽनीशोऽर्थकल्पवर्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति । अरे रे  
कुलटापुत्र राजशयात्सन्धानव, उच्छृङ्खलक, कृत्तजनदोषभण्ड, बहुगुणमण्डित-  
मर्कटक, भण भण ममाग्रत, य इदानी मम प्रियवपस्य कुसुमिता माघवीत्तता-  
मप्याकूप्य कुमुमावचय नं करोति कदाचिदानुपूतया पत्त्वयच्छेदो भवतीति, ए  
फयमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्ध करोति । तिष्ठ रे कुट्टिनीपुत्र, तिष्ठ । यावदेतेन  
तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तक ते शतरण्ड करोमि ।]

सद्वार्ताया तस्या वसन्तसेनाया वृत्तातस्य अन्वेषणाय । तस्य रोहसेनस्य  
भारतिकानिभित्त स्वर्णसदटिकानिर्माणार्थम् । विरयते विराम्य करोति । आकारो  
आकाराभिमुखम् इत्यर्थं, इदं च आकाशभाषितं नाम सवादभेदः । मयेति  
परलोचम् अज्ञानता परलोचानभिज्ञेन नृशसेन क्रूरेण मया चावदत्तेन लघु स्त्री

परन्तु न जानने वाले तथा क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा (कहिए-कि) बिना किसी भेद के (स्वयं) रति ही.....श्रेय (अर्थात् मार दी) यह (प्रकार) कहेगा ॥३०॥

विद्वेषरु—क्या-क्या ?

शादरत्त—(कान में) इस प्रकार, इस प्रकार ।

विद्वेषरु—कौन ऐसा कहता है ?

शादरत्त—(संकेत से प्रकार को दिखाता है) यह बेचारा निमित्तमान होने वाला, (वस्तुतः) पनपज ही मुझे (इस प्रकार) कह रहा है ।

विद्वेषरु—(धीरे से) यह क्यों नहीं कहा गया कि घर गई है ।

शादरत्त—कहा गया भी अवस्था (दार्द्रावस्था) के बोध से नहीं माना गया ।

विद्वेषरु—हे कार्दवनी, जिसने उपनयर-निर्माण, बौद्ध-विहार, सपत्न, मन्दिर, शालाग्र, रूप तथा यत्तस्तम्भों के द्वारा उज्जैन नगर को अमङ्कृत किया है, वह निर्धन होकर क्लेशा जैसे (दुन्द्य) घन के निमित्त इन प्रकार का अर्थ्य करेगा ? (श्रेयपूर्वक) मेरे कुलटा के पुत्र, राधा के साने, दम्भानरु, उच्छृङ्खल, जनता का अपराध करने वाले मान्य, बहुत से सुवर्ण से आभूषित बन्दर, मेरे समाने कही, कही । इस समय जो मेरा शिव मिन पुत्रपुच्छ माधनोलता को भी खींचकर या झुका कर पुष्पधन नहीं करता कि कभी (कहीं) झुकाने से इसके पत्ते न टूट जायें, वह इस प्रकार का, दोनों मौकों के निन्द्य, दुष्कार्य कैसे करता ? टहर रे कुलटा के पुत्र ठहर । अब तक तेरे हृदय के समान कुटिल इस काष्ठ-दन्ड से तेरे भस्कर के ही टुकड़े करता हूँ ।

सामान्यस्त्री वा अथवा अविशेषेण भेदाभावेन रतिः सासाद् रतिः एव -रतिरुभ्या ना-पीति भावः ... । शब्द 'हता' इति वाक्यशेषम् एषः शकारः अभिप्रास्यति क्वपिप्यति । बहू तु तद्वस्तुनरि न समर्थः इति भावः ॥३०॥

तपस्वी वराकः शोच्यो वा मनः कृत्रान्तस्य क्रूरकर्मणि हेतुपूर्वः । अथ तु निमित्तानां संवातः वस्तुतः कृत्रान्तिः एष कथयति इति भावः । अवस्थायाः दार्द्र्या-वस्थायाः बोधात् । गृह्यते स्वीडिपते ।

पूरस्थापनं पुरनिर्माणम्, उपनयरनिर्माणमिति वाक्यम् । विहारः बौद्धविहारः आश्रमः उपवनम् । रूपः यत्तस्तम्भः । अनौष्ठः ऐश्वर्यरहितः निर्धनः मन् 'इति भावः । उच्छृङ्खलकः स्वैरु । कृपाः जनानां दोषाः देन सः, कृत्रजनदोषः चासी भन्दरव । बहुभिः सुवर्णैः मण्डितः भूषितः मण्डकः वानरः (इमे च सम्बुद्धि-श्रेयोभाः) आहृष्यतया शोच्यमान् । कुटिलो जननी । हृदयवत् कुटिलेन वज्रेण ।



शकार — (सत्रीयम्) शुणन्तु शुणन्तु अञ्जमिन्सा । चातुदत्तकेण सह मम  
विवादे प्रवहाने वा । ता कोश एते कारुण्यदशोत्तमस्तथा मए शिने गटरुण्डे हरेरि ।  
मा दाय । ते दासोऽपुता दृष्टवद्भवा । [मृष्यन्तु मृष्यन्त्वार्यमिथा । चारुदत्तेन  
सह मम विवादो व्यवहारो वा । तत्किमर्थमेव वापदशीर्षमन्तको मम शिर  
शतक्षण्ड करोति । मा तावत । रे दास्या पुत्र दृष्टवद्भवा ।]

(विद्रूपको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति । शकार सत्रीयमुच्यते ताडयति ।  
विद्रूपकं प्रतीप ताडयति । अग्योऽग्य ताडयत । विद्रूपकस्य कथादेनादाभरणानि  
पतन्ति ।)

शकार — (नानि गृहीत्वा दृष्ट्वा सयात्प्रसन्नं) वेकलन्तु वेकलन्तु अञ्जा । एते  
शत्रु ताए तद्विशिणोए वेकला अलकाला । (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमया मत्पत्न्यवतारा  
कालपादो एगा मानिदा बाबादिदा अ । [पश्यन्तु पश्यन्त्वार्या । एते खलु  
तस्यास्तपस्विन्या अलङ्काराः । अस्त्यार्यवत्यवर्तस्य वारणादेया मारिता  
व्यापादिता च ।]

(अधिष्ठिता सर्वेऽधोमुखा स्थिता )

चारुदत्त — (जनान्तिकम्) ।

अयमेवविधे काले दृष्टो भूपणविस्तरः ।

अस्माकं भाग्यवैषम्यात्पतितं पातयिष्यति ॥३१॥

विद्रूपक — भो, कीस भूदत्त ए गिवेदीभदि । [भो, किमर्थं भूतार्यो न  
निवेद्यते ।]

चारुदत्त — धर्मस्य,

दुर्बल नृपतेश्चक्षुर्नेतस्य निरीक्षते ।

केवल वदतो दीन्यमश्लाघ्य मरण भवेत् ॥३२॥

अधिवारणिक — कष्टं भो कष्टम् ।

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पते ।

अपतिति । एक विधे काले अपराधनिषयस्य समये अस्माकं भाग्यवैषम्यात्  
भाग्यस्य वैपरीत्यात् पतितं दृष्टं च अयं भूपणविस्तरः अत्रङ्गारकसमूहं मा पातयिष्यति  
विपत्तौ पातयिष्यति । 'भाग्यवैषम्यात्पतितं' इति वाक्यतरुम् 'भाग्यवैषम्याद् भापतितं'  
इत्यर्थं ॥३१॥

भूतं युक्तं मृत्यो वा अर्थं भूतार्थं ।

दुर्बलत्विति । नृपते राज्ञे तत्प्रतिनिधौ, न्यायाधीशस्य वा क्षत्रे नेत्रं दुर्बलं

शकार—(शोथपूर्वक) मान्यवन, मुनिने मुनिने । चाखत के साथ मेरा विवाद या व्यवहार है । तब क्यों यह काकपद के समान मिर-भाये वाला मेरे सिर के सौ टुकड़े करता है । ऐसा नहीं, ठहर अरे दासी के पुत्र दुष्ट ब्राह्मण ।

(विदूषक काठ-दण्ड को उठाकर पूर्वोक्त पढ़ता है । शकार शोथपूर्वक उठकर मारता है । विदूषक उल्टा मारता है । एक दूसरे को मारते हैं । विदूषक की काँध से आभूषण गिरते हैं ।)

शकार—(उन्हें लेकर, देखकर घट के साथ) आये, देखिये देखिये, अवश्य ही ये उस बेकारी के अङ्कुर हैं । (चाखत को लप्य करके) इस कलत्र जैसे (तुच्छ) घन के निमित्त यह (बनान्दहेना) भारी गई है, नष्ट की गई है ।

(सब अधिकारी गोपा मुख करके बैठ जाते हैं)

चाखत—(धीरे से विदूषक के प्रति) ऐसे समय हमारे भ्रातृ के शोथ से पिरा हुआ तथा (अधिकारियों द्वारा) देखा गया यह आभूषणसमूह तुझे (विपत्ति में) पिरा देगा ॥३१॥

विदूषक—जी, क्यायें बात क्यों नहीं कह सी जाती ?

चाखत—मिन,

राजा (या उनके प्रतिनिधि ग्यानाश्रीम) की दृष्टि दुर्बल होती है । वह क्यायें बात को नहीं देखती, अतः क्यायें कहने बाने की केवल दीनता प्रकट होगी, निन्दनीय मृत्यु ही होगी ॥३२॥

अधिकारिक—कष्ट है अरे कष्ट—

मद्गत ग्रह है विन्द्य तिमिरे ऐसे दुर्बल वृहस्पति के समीप धूमकेतु के समान यह (अनङ्कारजनन रूपी) दुमरा ग्रह उपस्थित हुआ है । (त्रिभुज प्रकार मद्गत ग्रह का विरोध, नाँव स्थान में स्थिति अर्थात् क्षीनता और समीप ही धूमकेतु का उदय;

क्यायें इष्टमननयनम् । एतन् वस्तु तत्त्वं तस्यभूतनयनं न निरोधते पुरातैः, किन्तु बहिः प्रनागाति अन्तःपत्तौत्यर्थः । अतः बहनः भूनायं कथयतः मम बैल्यम् एव केवलं प्रकाशितं स्यात्, अगवाश्च कश्चिं मरषं न भवेत् ॥३३॥

अङ्गारवेति । अङ्गारकः मद्गतः विन्द्यो यस्य तस्य अक्षीणत्व नीचस्वातन्त्र्यवशात् दुर्बलवत् वृहस्पतेः । एतन्नामकग्रहस्य पारबे समीपे धूमकेतुः इव प्रचक्षुः, अनङ्कारजननरूपः अतः ग्रह-वत्स्विन उदयतः । यथा मद्गतग्रहस्य विरोधः

ग्रहोऽयमपर पार्श्वे घूमवेतुरिवोत्थित ॥३३॥

धेठो-कायस्थौ—(विनोक्त्य वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अबहिषा हाव भग्ना एद सुवभामण्डअ अवतोएतु, सो ज्जेव एसो, ण वेत्ति । [अवहिता तावदायेंद सुवर्णभाण्टमवलोकयतु तदेवेद न वेत्ति ।]

पृथा—(अवतोभव) सरिसो एतो ण उण सो । [सदृशमेतत्, न पुनस्तत् ।]

एकरर—आं बुद्धकुट्टनि, अबलोहि मन्तिव वामाए मूकितम् । [आ वृद्धकुट्टनि, अधिष्या मन्त्रित वाचा मूकितम् ।]

पृथा—हरास, अपेहि । [हताश, अपेहि ।]

धेठि-कायस्थौ—अप्यमत रुषेहि सो ज्जेव एसो ण वेत्ति । [अप्रमत्त कथय, तदेवैतन्न वेत्ति ।]

पृथा—अज्ज, सिन्धिकुसलराए ओबन्धेदि विट्ठिम् । ण उण सो । [आर्य शिल्पिकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम् । न पुनस्तत् ।]

अधिकरानिक — मग्गे अपि जानास्येताण्याभरणानि ?

पृथा—ण मणामि, ण ह्ण ण ह्ण मणानिवाणिसो । मह्ण वा करारि सिन्धिणा गड्ढो मधे । ननु मणामि, न खलु न खल्वनभिजात । अथवा कदापि शिल्पिना धटितो भवेत् ।]

अधिकरानिक — धश्य धेठिनु,

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नून

रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य ।

दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गं

सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥३४॥

धेठिकायस्थौ—अरमचाररत्तस्त केरकाइ एराइ । [आयचारदत्तोपा-  
न्येतानि ।]

घारदत्त — ण खलु न खलु ।

धेठिकायस्थौ—तर करत्त । [तरत्त कल्प ।]

गीपल्यागस्थिति, पार्श्वे घूमवेतोरुदमवच वृहस्पते पराभवाय कल्पन्ते तर्पण शरार-  
विरोध, दरिद्रता, अतङ्कारपातवच चारुदत्तस्य विनाशाय भविष्यन्ति इति भाव ।  
अप्रस्तुतप्रशंसा उपमा च ॥३३॥

मन्त्रित 'सहस्रमेतद्' इति मन्त्रितम् । मूकितं 'न पुनस्तद्' इति गोपायितम् ।

दृहस्पति के लिये अनिष्टकर होते हैं, इसी प्रकार शकार का विरोध, दखिता और यह अलङ्कारपतन चारुदत्त के लिए अनिष्टकर हैं) ॥३३॥

शेष्ठीकायस्थ—(देखकर, बसन्तसेना की माता को बक्ष्य करके) सावधान होकर आप इस सुवर्णपात्र को तो देखिये, यह वही है या नहीं ।

बृदा—(देखकर) उसके समान है यह, किन्तु वही नहीं ।

शकार—अरी बृह कुट्टनी, (तुम्हारी) आँसों ने कह दिया, वाणी चुप हो गई ।

बृदा—हताश, दूर हटो ।

शेष्ठी-कायस्थ — सावधानी से कहो, यह वही है या नहीं ?

बृदा—आर्य, शिल्पकार की कुशलता से यह (मेरी) दृष्टि को बाँध रहा है, किन्तु वह नहीं है ।

अधिकारणिक—भद्रे, क्या इन आभूषणों को पहचानती हो ?

बृदा—कहनी तो हैं कि नहीं, यह अपरिचित नहीं है । अथवा सम्भवतः शिल्पकार ने (वैसा ही) बना दिया हो ।

अधिकारणिक—संठ जी देखो—

निश्चय ही कृत्रिम आकार (बनावट) तथा आभूषणों में सौन्दर्य आदि गुणों में अन्य वस्तुएँ समान होती हैं क्योंकि शिल्पकार जन (किसी वस्तु को) देखकर अपनी रचना का अनुकरण करता है और (शिल्पकार के) हस्तकौशल के कारण ही (दो वस्तुओं में) सादृश्य देखा गया है ॥३४॥

शेष्ठीकायस्थ—ये (आभूषण) आर्य चारुदत्त के हैं !

चारुदत्त—नहीं, निश्चित रूप से नहीं ।

शेष्ठी-कायस्थ—तब किसके हैं ?

सदृशाग्नेतानि आभूषणानि न पुनस्ताम्येवेति बसन्तसेनामातुर्वचन निशम्य अधिकारणिकः समर्पयति—वस्तवन्तराणीति । कृत्रिमस्य रूपस्य भूषणगुणस्य च सदृशानि वस्तवन्तराणि भवन्ति नूनम् । शिल्पिवर्यं, हि दृष्ट्वा क्रियाम् अनुकरोति कृत-हस्ततया एव च सादृश्यं दृष्टम् । इत्यन्वयः ।

कृत्रिमस्य कार्येण निवृत्तस्य रचितस्य इति यावत् रूपस्य भूषणगुणस्य अलङ्काराणां सौन्दर्यदिः च सदृशानि वस्तवन्तराणि अन्यानि वस्तुनि भवन्ति नूनं निश्चयेन । हि यतः शिल्पिवर्यं शिल्पकारगणः दृष्ट्वा अन्यनिर्मितं वस्तु दृष्ट्वा क्रियां सस्य कृतिम् अनुकरोति शिल्पिवर्यस्य कृतहस्ततया हस्तकौशलेन एव च वस्तुनोः सादृश्यं दृष्टम् अस्माभिः दृश्यते । काव्यनिष्पन्नम् अलङ्कारः । बसन्तविलका कृतम् ॥३४॥

घारदत्तः—इहात्रभवत्या दुहितुः ।

श्लेष्मिकायस्थौ—कथ एदाइ ताए विओअं यदाइं । [विद्यमेतानि तस्या वियोगं गतानि ।]

घारदत्तः—एव गतानि । ओ इदम् ।

श्लेष्मिकायस्थौ—अञ्जचारदत्त, एत्वं सत्त्वं सत्त्वम् पेशस पेशस ।

सत्त्वेण सुहं वसु लब्धइ सत्त्वालावे ण होइ पावम् ।

सत्त्वं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सत्त्वं अलिएण गूहेहि ॥३५॥

[आर्यचारुदत्त, अत्र सत्य वक्तव्यम् । पश्य पश्य ।

सत्येन सुखं सत्त्वं लभ्यते सत्यालापे न भवति पातकम् ।

सत्यमिति द्वे अप्यक्षरे मा सत्यमलीकेन गूह्यम् ॥]

घारदत्तः—आमरणान्यामरणनीति । न जाने, किं वदामद्गृहादानीतानीति जाने ।

शर्कराः—उज्जाणं पवेत्तिअ पढम मात्तेति । कवड्ढावडिआए शंपरं निगू-  
हेसि । [उद्यान प्रवेश्य प्रथमं मारयसि । कपटकापटिकतया सांप्रतं निगूहसि ।]

अधिकरणिकः—आर्यंघारदत्त, सत्यमभिधीयताम् ।

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्निःशङ्कं कर्कशाः कशाः ।

तव गान्धे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः ॥३६॥

घारदत्तः—

अपापानां कृते जाते मयि पापं न विद्यते ।

यदि सभाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥३७॥

(स्वगतम्) न च वसन्तसेनाविरीहितस्य जीवितेन क्लृप्तम् । (प्रकारम्) भोः किं बहुना ।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।

स्त्रीरत्नं च विशेषेण शेषभेदोऽभिधास्यति ॥३८॥

सत्येनेति । सत्येन सत्यकथनेन वासु निश्चयेन सुखं लभ्यते । सत्यालापे सत्यकथने पातकं पापं न भवति । 'सत्यम्' इति द्वे अक्षरे वर्णौ नष्टे न भवति, इति व्यज्यते; न क्षरति क्षरभ्रमिति व्युत्पत्तिलभ्योऽयमर्थः । अतः सत्यम् अलीकेन असत्यकथनेन वा न गूह्य संवृणु । अत्र 'सत्यमासाप्यतांति निवृत्ति सत्यालापः । तत्र न भवति पातकम्' इति पृथ्वीघटः । वेतालीयं वृत्तम् ॥३५॥

चारदत्त—इस आदरणीयों की पुत्री के ।

शेष्टी-कायस्थ—ये उसके वियोग (पृथक्त्व) को कैसे प्राप्त हुए ?

चारदत्त—इस प्रकार प्राप्त हुए । हाँ यह—

शेष्टी-कायस्थ—आर्यं चारदत्त, यहाँ सब कहना चाहिये । देखो, देखो,

निश्चय ही सत्य से सुख प्राप्त होता है । सत्य कहने पर पाप नहीं होता । 'सत्य' में दो वर्ण (अक्षर) नष्ट न होने वाले (अक्षर) हैं । अतः सत्य को झूठ से न छिपाओ ॥३३॥

चारदत्त—दे आश्रयण (वे ही) आश्रयण हैं—यह मैं नहीं जानता, किन्तु हमारे घर से साये गये हैं, यह जानना है ।

शकार—पढ़ते तो उद्यान में ले जाकर उसे मार दिया अब कपट द्वारा धूर्तता से छिपाता है ।

अधिकारिक—आर्यं चारदत्त, सब बतवाइये—(मन्यथा)

इस समय तुम्हारे इस कोमल शरीर पर कठोर कोड़े, हमारे मनोरथों के साथ ही मिलने लगे ॥३६॥

चारदत्त—पाप-रहित जनों के कुल में उत्पन्न होने वाले मुझ में पाप नहीं है । यदि (तुम्हारे द्वारा) मुझ में पाप की झुका की जाती है तो मेरे पाप-रहित होने से भी क्या (लाभ) ? ॥३७॥

(अपने-आप) और वचनमेना से रहित मेरे जीवन से कुछ प्रयोजन नहीं । (कट रूप में) अरे, अधिक क्या ?

दोनों लोकों को न जानने वाले तथा क्रूर होने एक स्त्री और विशेष रूप से स्त्रीएल ही...शेष (अर्थात् 'मार ही') यह (शकार) कहेगा ॥३८॥ ^

कपटेन छनेन छनस्य वा कापटकिता धूर्तता .

इरामीमिति । इरामीं तुकुमारं स्त्रीमन् तत्र पात्रे शरीरे ककंशा कटोरः कशाः अरवताडन्यः अस्माक मनोरथः त्वद्रक्षणविषयकः बभितार्यः सह साकं निराशुं यथा स्वाद् तथा पतिष्यन्ति । तत्र शरीरे कशाः पतिष्यन्ति तत्प्रकाश-मेव चास्माकं मनोरथाः नरदन्तोति भावः । सहोक्तिः अलङ्कारः ॥३६॥

अपापानामिति । अपापानां पापरहितानां जनानां कुले जाते उत्पन्ने यदि चारदत्ते पापं न विद्यते । यदि पापं सम्प्राप्यते दुष्कामिः अङ्कुरते तर्हि अपानेन पापरहितेन मया किम् ? न कोऽपि लाभः इति भावः । यतो हि भवन्त एव निन्दे प्रमाणम् ॥३७॥

मयेति । स्त्री एव रत्नं । पूर्व (६-३०) व्याख्यातम् ॥३८॥

शकार—वावादिभ्य । अत्ते, तुमं पि भण मय वावादिदेति । [व्यापा-  
दिता । अरे, त्वममि भण, मया व्यापादितेति ।]

षादवत्—त्वयंबोत्तम ।

शकार.—शुणेच शुणेच षट्कारणा, एदेण भासिदा । एदेण ज्जेव शशाए दिण्णे ।  
एवशा इतिद्वचानुवत्तस्य शातीवे षण्डे घातीभदु । [शृणुत शृणुत भट्टारका,  
एतेन मारिता । एतेनेव सजयधिच्छन्न्- एतस्य ददिद्वचंरुदत्तस्य शारीरो दग्ढो  
घापताम् ।]

अधिकरणिक—शोधनक, प्रथाह राधिय । षो राजपुण्या. गृह्णतामयं  
षादवत् ।

(राजपुण्या शृणुति)

वृद्धा—पसीदन्तु पतोदन्तु अग्गमिस्सा । [जो दाव पोरेह भवहिदस्स—  
(२१५ पृष्ठे) इत्यादि पूर्वोक्त पठति] ता यदि वावादिदा मम दादिआ, वावादिदा ।  
जीवतु मे दीहाऊ । भण्य च । अरियपच्चरिपणो स्वायहारो । अह भस्सिणो । ॥  
शुच्छध एवम् । प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वायंमिथा. तद्यदि व्यापादिता मम दादिआ,  
व्यापादिता । जीवतु मे दीघागु । भन्वन्न । अधिप्रत्यधिनीय्यंवाहारः ।  
अहमपिनी । तन्मुञ्चतैनम् ।]

शकार.—अपेहि गभदाशि गच्छ । कि तव एदिणा । [अपेहि गभंदाशि,  
गच्छ । कि तवैतेन ।]

अधिकरणिक—आयं प्रथ्यताम् । हे राजपुण्या, निष्क्रामयतंनाम् ।

वृद्धा—हा जाद, हा पुत्तम । [हा जात ! हा पुत्तक ।] (इति वदी  
निष्क्रान्ता)

शकार—(स्वगतम्) कड षए एवशा अत्तणो- शतित्तम् । शपव गच्छामि ।  
[कृतं मयंतस्यात्मनः सहशम् । साप्रतं गच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

अधिकरणिक—आयंवाक्वत्त, निजंये त्व प्रमाणम्, शोपे तु राजा । तथापि  
शोधनक, विशाप्यतां राजा पातक ।

‘अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुखवात् ।

राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवेरक्षते. सह ॥३६॥

शोधनक—मं अज्जो आणवेदि । [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य । सारम्]  
अज्जा मरुहि तहि । राजा पातजो मयादि—जेण अत्यकत्तवरात्त कालणा रो  
वसन्तसेणा वावादिदा, ॥ ताद ज्जेव आहरणाद गसे अन्धिम दिग्धिम तादिम  
इरिसणममाणे षड्म सुसे अज्जेय ति । जो को वि भवरो एरित भवज्ज अणु-  
विद्वदि सो एदिणा तणिआरक्केण तातीअदि । यदायं (आज्ञापयति.)

शाकार—मार दी । अरे नू भी कह, कि “मैने मारी ।”

चाहरत्त—तूने हो कह दिया ।

शाकार—मुनिये, अधिकारीबण मुनिये । इसने मारी । इसने ही संशय दूर (नष्ट) कर दिया । अत इम दरिद्र चारदत्त के लिये शारीरिक दण्ड निर्धारित किया जाये ।

अधिकरणिक शोधनक, जैसा राजश्यालक ने कहा (बैसा किया जाये) । हे राजपुरुषो, इम चाम्दत्त को पकड़ लिया जाये ।

(राजपुरुष पकड़ने हे)

बुद्धा—आयं जन, कृपा कीजिये, कृपा कीजिये (‘य तावन् पोरे’ अपहृतस्य’ इत्यादि पूर्वोक्त पृ० २१५ पदतो हे) । तब यदि मेरा पुत्रो मारी गई, तो मारी गई । मेरा यह दीर्घायु (चारदत्त) जोवित रहे । इमके अनिर्गित वादी और प्रतिवादी का व्यवहार है । मैं वादिनी हूँ । अतः इसको छोड़ दो ।

शाकार—दूर हट गर्भदामो, जा, नरा इनसे क्या (प्रवेशक) ?

अधिकरणिक—आर्ये, जाइये । हे राजपुरुषो, इसे, निकालो ।

बुद्धा—हाय बत्स ! हाय पुत्र ! (गंती हुई निकल जानी है) ।

शाकार—(अपने आप) मैने इसके प्रति अपने अनुरूप (कार्य) कर दिया । इस समय जाता हूँ । (निकल जाता है) ।

अधिकरणिक—आर्य चारदत्त, निर्णय करने में हम प्रमाण (अधिकारी) हैं किन्तु शेष कार्य करने में राजा (प्रमाण है) । तथापि हे शोधनक, राजा पालक को यह सूचित किया जाये—

मनु ने बतलाया है कि यह ब्राह्मण पापी होकर भी बध के योग्य नहीं है, किन्तु क्षतिरहित सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से निकाल देना चाहिए ॥३६॥

शोधनक—जो धार्यं आज्ञा करे । (निकलकर तथा पुनः प्रवेश करके अधु-पूर्वक) आर्यगण में वहाँ गया । राजा पालक कहते हैं—जिसने कलेवा जैसे (तुच्छ)

सशयः अनेन मारिता न वेति सन्देहः । क्षिप्तः नाशितः, दूरोक्तः । आत्मनः सट्टशम् अनुरूपं, योग्यम्, स्वशक्तेः अनुरूपमिति भावः ।

अपमिति । अपं विप्र पातकी निर्णीतदोषः हि तथापि न षड्यः न वधाहंः यतः इत्यमेव मनुः अत्रवीद यथा ‘न जातु ब्राह्मण हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेवं बहिः कुर्वात् समप्रयनमशतम् ॥ तु किन्तु अशतं क्षतिरहितैः विभवंः सम्पद्भिः सह अस्मात् राष्ट्रात् निर्वाह्यः नि वारणीयः ॥३६॥

द्विग्विम्बः वाचविशेषः । (दोन इति भाषायाम्) यः शोषणावसरे तादृयते ।



गतोऽस्मि तत्र । राजा पालके भगति—मेनार्यकत्यवनस्य कारणाद्वसन्तसेना  
आर्या, व्यापादिता, त तान्येवाभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिम ताडयित्वा दक्षिण-  
शमशान नीत्वा शूले भङ्क्त इति । य नोऽप्यवर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति स  
एतेन सनिकारदण्डन शास्यते ।]

चारुदत्त—अहो अविमृश्यकारी राजा पालक । अपवा—  
ईदृश व्यवहारान्नो मन्त्रिभि परिपातितता ।  
स्याने सत्तु महोपाला गच्छन्मि कृपणा दशाम ॥४०॥

अपि च

ईदृश श्वेतकाकीये राज्ञ शासनदूपकं ।  
अभापना सहस्राणि हस्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

सखे भैत्रेय, गच्छ । मद्भवनादम्बामपरिचममन्त्रिवादयस्व । पुत्र च रोहसेन  
परिपालयस्व ।

विद्रूपक मृते छिन्ने कुर्वो पादवत्स पालनम् । [मूले छिन्ने कृत पादपस्य  
पालनम् ।]

चारुदत्त—मा संवम ।

नृणा लोकान्तरस्थाना देहप्रतिकृति सुत ।

मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥४२॥

विद्रूपक—भो चअस्स अह ते विअवअस्सो अविअ तुए विरहिवाइ  
पाणाए धारेमि ? [भो वयस्य, अह ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्रा-  
णाधारयामि ?]

चारुदत्त—रोहसेनमपि तावद्दर्शय ।

विद्रूपक—एवम जुञ्जदि । [एवम युज्यते ।]

अधिकरणिक—एत शोधनक, अपसायतामय बहु ।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधिकरणिक—क कोऽय भो । चाण्डालानां शीयतामादेरा ।

(इति चारुदत्त विमृज्य निष्क्रान्ता सर्वे रात्रपुण्या)

शोधनक—इदो आजच्छतु अञ्जो । [इत आगच्छत्वार्ये ।]

निकारेण तिरस्कारेण सहित सनिकार यो दण्ड तेन ।

ईहा इति । ईदृशे व्यवहार एव अग्नि तस्मिन् विवादविषाररूपाम्नी इति  
यावत् मन्त्रिभि परिपातितता महोपाला कृपणां कातरां शोचनीया वा दशां गच्छन्ति  
इति स्याने सत्तु युक्तम् एव ॥४०॥

इन के निमित्त वमन्तसेना को मार दिया, उसको—वै ही आभूषण गले में बाँधकर, द्विदोष पीटकर, दक्षिण भ्रमशान में ले जाकर—झूली पर चड़ा दो। जो कोई दूसरा ऐसा बुरा कार्य करेगा वह इस अपमान महिन वण्ड में शामिल होगा।

चाण्डल—अरे, राजा पालक बिना विचारें कार्य करने वाला है। अथवा—  
इस प्रकार की व्यवहाररूपी अग्नि में मन्त्रियों के द्वारा डाले गये भूमिपाल  
शांतिनीय दशा को प्राप्त होते हैं, यह युक्त ही है ॥४०॥

और भी—

'काक श्वेत है' इस प्रकार का विश्राम दिलाने वाले, राजा के शासन को  
दूषित करने वाले ऐसे (न्यायाधीशों) के द्वारा महलों निरपराध (व्यक्ति) मारे गये  
हैं तथा मारे जा रहे हैं ॥४१॥

मित्र दंश्रेय, जाओ। मेरे वचन (मेरी ओर) से माता को अन्तिम अभिवादन  
करो और मेरे पुत्र रोहसेन का पालन करना।

विदूषक—जह कट जाने पर वृक्ष का पालन कैसे ?

चाण्डल—नहीं, ऐसा नहीं।

परलोक में गये हुए जनों का पुत्र अपना प्रतिनिधि होता है। अतः तुम्हारा  
पुत्र पर जो स्नेह है, रोहसेन में लया दिया जाये ॥४२॥

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारा प्रिय मित्र होकर मैं, तुमसे विद्युक्त प्राणों को  
धारण कर सकूँगा ?

चाण्डल—तनिक, रोहसेन को भी दिलला (धिला) दो।

विदूषक—अच्छा, ठीक है।

अधिकारणिक—मद्र शोचनक, इन व्यक्ति (?) को हटा दो।

(शोचनक बंसा करता है)

अधिकारणिक—कौन ? अरे यहाँ कौन है ? चाण्डालों को भावेन दिया  
जाये।

(चाण्डल ने चेन्कर अब राजनुरूप निरूत जाते हैं)

शोचनक—आर्य इधर आइये।

ईदृशीरिति । ईदृशी श्वेतकाकः इव इति श्वेतकाकीर्षः 'समासाच्च तद्विषयात्'  
इति छान्दोग्यः, 'श्वेतः काकः' इत्येवं विपरीताप्येदंश्रिभिः "उत्पानकल्पैरित्यदर्थः" इति  
पृथ्वीवरः । रात्रः शासनदुष्कर्तृ न्यायाधिकारिभिः अपाधानां पापरहितानां सहस्राणि  
हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

नास्मि पश्चिमं पश्चाद्भवं यस्य तत्र तथा ।

न्यायमिति । लोकान्तरस्थाना परलोक गतानां नृणां मृतः पुत्रः देहप्रतिवृत्तिः  
आत्मनः शरीरस्य प्रतिनिधिः "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्युक्तेः । तत्र भैत्रेयस्य यदि  
चाण्डले यः स्नेहः सः वै निरचयेन रोहसेने मुन्यताम् ॥४२॥

चारदत्त — (सरस्वतम्) मंत्रेण शो क्तिमिदमद्य' (६/१६) इत्यादि पठति ।  
(आदाते) ।

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे  
 क्लृकचमिह क्षरीरे धोक्ष्य दातव्यमद्य ।  
 अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मण मां निहसि  
 पतसि नरकमध्ये पुत्रपोर्षं समेत । ४३॥

अथमागतोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्ता सर्वे)

इति ध्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः

भावि मरण निश्चित्य चारदत्त पालक नृपमुद्दिश्य शब्दासे कथयति विदेति ।  
 विष विषपान सलिल जले मञ्जनं तुला तुनारोहणम् अग्नि अग्निघ्राणम् इत्येव-  
 विधाभिः परोलाभिः प्रार्थिते परोक्षितुम् अभीष्टे मे मम विचारे ध्यवहारे सति अद्य  
 इह अस्मिन् मम क्षरीरे क्लृकच करपत्रम् ('जारा') धोक्ष्य विचार्यं दातव्यम् अथवा  
 यदि विचारनिरपेक्ष रिपुवचनात् शकारस्य वचनात् मा ब्राह्मण निहसि मारयसि  
 ततः पुत्रपोर्षं समेत सद्धिव नरकमध्ये पतसि पतिष्यसि । तथा चोक्तं मनुना

वारन्त--(अम्हापुत्रं) पं. ना 'अस्मिन्मह' ६, २६ इत्यादि पठता है।  
(आराग मे)

मेरे व्यवहार-विचार मे मित्र, जल, तृप्त तथा अग्नि (की दिव्य परीक्षा) अर्थात् है, अन्. आज इन मेरे अन्तर मे विचार करके ही 'आरा' देना चाहिये। किन्तु यदि अन् (आरा) के अन्त मे ही (हे राजन्) तू मुझ आराधन की मारता है तो पुत्र तथा पौत्रो के साथ तू नरक मे गिरेगा ॥४२॥

पहू मेँ आ गया है।

(सब निरत जाते हैं)

व्यवहार नामक नवम अङ्क समाप्त

अदन्तमात् इत्ययम् राजा; दण्डजांश्वैवाप्यदण्डयन् ।

अयगो महदाप्नोति नरकं चैव दण्डति ।

व्यवहारः--विवादः अथ हि इकारवाचिनयोः व्यवहारो उच्यते अङ्कः ।

व्यवहारस्वरूपं शीघ्रं विनाशरायात्--

पण्येन मनुजानां स्वार्थे विद्वत्पतिषु ।

वाक्यान्वाग्यद्वयव्ययान् व्यवहारो उच्यते ॥

एतन् व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः

## दशमोऽङ्कः

[[ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानस्फारदत्तः]]

उभौ—

तत्रिकेण कलत्रं कालत्रं णववह्वन्धनअणे णिउणा ।  
अचिसेण शीगद्धेअणशूलालोवेशु कुशलहा ॥१॥  
ओशस्य अज्जा; ओसस्य । एसे अज्जसानुदत्ते ।  
दिण्णकलवीलदामे गहिदे अह्हेहि वज्जपुलसेहि ।  
शिवे एव मन्दहेणे घोअ घोअ स्रअं जादि ॥२॥  
[तत्रिके न कलय कारण नववधवध्नयने निपुणो ।  
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ॥

अनसरतार्या अपसरत । एष आर्यंचारुदत्तः

दत्तकरवीरदामा गृहीत आवाभ्या बध्यपुरुषाभ्याम् ।  
दीप इय मन्दस्नेहः स्तोत्रं स्तोत्रं क्षयं याति ॥]

चारुदत्त —(सविषादम्)

नयनसलिलसिक्तं पांशुश्लक्ष्मीकृताङ्गं  
पितृयनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।  
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं  
वर्तिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥३॥

चाण्डालौ—ओशस्य अज्जा, ओशस्य ।

किं पेवत्तथ छिज्जन्तं शप्पुत्तिशं कालपलशुधात्ताहि ।  
शुअणशाउणाधिवाशं शज्जणपुत्तिशद्दुमं एदम् ॥४॥

अस्मिन्नङ्के—चारुदत्तस्य बध्यभूमिं इति नयनम्, पसन्ततेनाया-सजाप्रप्तिः, तथा चारुदत्तस्य मोक्षः, आर्यं इत्यस्य राज्यं तथा चारुदत्तस्य दृष्टिद्विष्टं च वर्ण्यन्ते । चारुदत्तं बध्यभूमिं नयन्तो चाण्डालौ चारुदत्तं प्रति बध्यत — तत्रिके इति । तत् ततः किम् ? इति कारणं बध्यस्य निमित्तं न बध्यत तर्क्य । नभौ नूतनौ यो बध्यबधो तयोः नयने प्रापणे निपुणौ तथा अचिरेण अविलम्बेन शीर्षच्छेदनानि शूलारोपाश्च तेषु कुशलौ आर्षा इव । गायत्रा वृत्तम् ।

वर्तिमिव । वक्ष्यते वक्ष्यते इति । वक्ष्यते इति । वक्ष्यते इति । वक्ष्यते इति । वक्ष्यते इति ।

## दशम अङ्क

(इसके पश्चात् दो चाण्डालों द्वारा अनुगत चावदत्त प्रवेश करता है)  
दोनों (चाण्डाल)

तव क्या (कारण है)? इस प्रकार बध के निमित्त कोन विचारो। हम दोनों (प्रतिदिन के) तवीन बध और बन्धन के लिये से जाने में निपुण हैं, अतिलम्ब सिद्ध काने और गूली पर चढ़ाने में कुशल हैं ॥१॥

हटो, आर्यजनी, हटो। यह आर्य चावदत्त—

जिसे कनिष्क की माला पहनाई गई है, जो बध के लिए नियुक्त हम दोनों जनों के द्वारा पकड़ा गया है, ऐसा यह चावदत्त स्वल्प तैल वाले दोपक के समान धीरे-धीरे निनाश को प्राप्त हो रहा है ॥२॥

चावदत्त—(दुःख के साथ)

यहाँ करुण शब्द करते हुए ये कौए-मनुजन् से भीगे हुए, घूलि से घूसरित शवपर्वों वाले, श्मशान के पुष्पो से ढके हुए तथा जाल बन्दन से लिप्त मेरे इस शरीर को बलि के समान खाने का विचार कर रहे हैं ॥३॥

दोनों चाण्डाल—हटो आर्यजनी, हटो।

साधुजन रूपी पक्षिगण के निवास स्थान, सत्पुरुषों के वृक्ष इस श्रेष्ठ पुरुष चावदत्त को कालरूपी कुठार की धाराओं से काटा जाता हम क्यों देखते हो?

शेषाणां वान्माता यस्य सः आवाभ्यां बध्वौ बधे निपुक्तौ पुरुषौ बध्यपुरुषौ ताभ्यां पूहीतः एष आर्यचावदत्तः (इति गणनान्वयः) मन्वस्नेहः क्षीणर्तलः दीप इव स्तोत्रं स्तोत्रम् अस्वराक्षयं विनाशं याति गच्छति । उपमालङ्कारः । आर्या इत्तम् ॥२॥

नयनेति । इह विरक्तं यथा स्वात् तथा रटन्तः शब्दं कुर्वन्तः चापसा काका नयनसहितेन अश्रुजलेन सिद्धं शंशुभिः घूलिभिः क्सीकृतानि घूसरीकृतानि भङ्गार्वा यस्य तत्पु पितृवनस्य श्मशानस्य गुमनोभिः पुष्पैः वेष्टितं तथा रक्तगन्धेन रक्तबन्दने-मनुत्सिप्तं मे मम चावदत्तस्य शरीरं बलिम् इव बलिरूपेण दत्तम् अन्नमिव परिभोक्तुं वर्कयन्ति कल्पयन्ति । उपमालङ्कारः । मान्तिनी वृत्तम् ॥२॥

किमिति । मुञ्जनाः एव शकुनाः पक्षिणः तेषाम् अविवासें वार्षस्थानम्, पुरुषाः एव द्रुमः पुरुषद्रुमः सज्जनानां पुरुषद्रुमं वृक्षवत् द्यायाकरं पुरुषम् एतं पुरतः स्थितं सन्पुरुषं कालः एवं परतः तस्य धाराभिः क्षिप्तमानं किं कथम् परमतः? रूपकालङ्कारः । आर्या इत्तम् ॥३॥

भागवत् से धातुवत्, भागवत् ।

[अपसरतामः, अपसरत ।

किं पश्यत छिद्यमानं सत्पुरुषं कातपरशुधारामिः ।

सुजनशकुनाधिवासं सज्जनपुरुषद्रुममेतम् ॥

भागवत् रे चारुदत्त, आगच्छ ।]

चारुदत्त.—पुरुषभाष्यानामधिन्याः सत्पु व्यापाराः, यदहमीदृशो हरामनु  
प्राप्त ।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः ।

पिष्टचूर्णविकीर्णञ्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥२॥

(अप्रतो निरूप्य) अहो, तारतम्यं नराणाम् । (सकृदणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मधुपेतमेतन्मस्यं क्षिगस्त्वित्युपजातवाप्याः ।

अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति यदन्ति पौराः ॥६॥

बाण्डालौ—ओशनथ अज्जा ओशनथ । किं वेकलथ ।

इन्द्रे प्यवाहिअन्ते गोप्पशवे संकमं च तालाणम् ।

शुपुलिशपाणविपत्तीं पत्तानि इमेण ददुव्वा ॥७॥

[अपसरतामः अपसरत । किं पश्यत ।

इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणम् ।

सुपुल्लप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे ण न द्रष्टव्याः ॥

एक.—हृद्दे आहीन्ता, वेकल वेकल ।

णजलीपझाणभूदे वज्जीअन्ते कदन्तअण्णाए ।

किं लुअदि अन्तलिवंसे आदु अणअमे पडदि वज्जे ॥८॥

[अरे आहीन्त, पश्य पश्य ।

नगरीप्रधानभूते वक्ष्यमाने कृतान्ताज्ञया ।

किं रोदित्यन्तरिक्षमथवानधो पतति वज्रम् ॥

द्वितीयः— असे गोहा..

सर्वेति । सावंगान्त्रेषु भगवताङ्गेषु विन्यस्तैः स्थापितैः रक्तचन्दनस्य हस्तकैः  
स्ताः एव हस्तकाः इति स्वार्थे कन् अथवा हस्ता इव हस्तकाः इति इवार्थे कन् हस्त-  
चिह्नैः इत्यर्थः । पिष्टचूर्णेन पिष्टचूर्णं इयामतण्डुलचूर्णमिति पृथ्वीधरः, । पिष्टं  
सामुसानो चूर्णं च ठिसानामिति परे साम्याम् अवकीर्णः व्याप्तः अहं चारुदत्तः पृथ्वः  
अहं पशूकृतः धनिपशुतुल्यः इत्यर्थः ॥२॥

बाधो रे; चादत्त बाधो ।

चादत्त—पुरुष के धार्यों का कार्य अचिन्तनीय है जिससे मैं ऐसी रक्षा का प्राप्त हो गया हूँ ।

समस्त अङ्गों पर लालचन्दन के हस्तचिह्नों (पापे वा छाप) के द्वारा तथा (बाध के) आटे और (तिलों के) चूर्ण से व्याप्त करके मुझ पुरुष को ही (नानि का) पशु बना दिया गया है ।

ये नगरवासी मेरे द्वारा प्राप्त इस अवस्था को देखकर, यह कहकर कि—  
'मरणशील मनुष्य को धिक्कार है' अध्रुयुक्त हो चके हैं और मेरी रक्षा करने में असमर्थ होते हुए 'सुम स्वर्गं प्राप्त करो' यह कहते हैं ॥६॥

विचर्जन के लिये ले जाया जाता इन्द्रध्वज; यो.का प्रभव, चारों का पतन और अष्ट पुरुष का प्राण-त्याग-इन चारों को नहीं देखना चाहिये ॥७॥

एक—अरे, आहीन्त, देखो देखो ।

द्वैव (अथवा) (कृतान्तसदृश राजा पालक) के आदेश से नगरी के प्रधान पुरुष (चादत्त) के वय भी लंबाई होने पर क्या अन्तरिक्ष रोका है अथवा मेघों के बिना ही वज्रपात हो रहा है ॥८॥

द्वितीय—अरे गोह,

एतन्मस्य भावः तारतम्यं परम्परा ।

अमी । इति अमी इमे हि वीराः पुरवासिनः बहुपैतं मया प्राप्तम् एतद् रूपं  
अहनं वा हृद्वा मर्यं मरणधर्माणं ननुष्यं . धिम् अस्तु इति उक्त्वा उपजात-वाप्याः  
अध्रुयुक्ताः सन्तः नां चादत्तं । परिस्मितुम् अगणनुबन्तः अस्तमर्षाः स्वर्गं समस्त इति  
स्थिति । उपजाते वृत्तम् ॥६॥

इन्द्र-इति. । प्रकाशमाणः विचर्जनाय नीयमानः इन्द्रः इन्द्रध्वजः, योः प्रभवः  
प्रहवर्तं, ताराणां संक्रमः पतनं, नुपुरुषस्य प्राणविपत्तिः मरणं च अत्वारः इमे न  
हृष्टम्याः न दर्शनोपाः । आर्या वृत्तम् ॥७॥

'हृष्टे' इति नीचपात्राणां सम्बोधनम् । 'आहीन्त' इति द्वितीयस्य चाण्डालस्य  
नाम । नागरीति । कृतान्तस्य विधेः कृतान्ततुल्यस्य पञ्चकस्य वा आगतयो आदेशेन  
नवर्षाः अश्विन्याः प्रधानभूते पुरुषे चादत्ते बध्यमाने सति किम् अन्तरिक्षं रोषिति  
करवा अत्रछे मेपरहिते नमसि मच्च' पतति । माया वृत्तम् ॥८॥

'गोह' इति प्रथमस्य चाण्डालस्य नाम ।



ण अ लुअदि अन्तनिबले णेअ अणभे पडदि वज्जे ।  
 महिलासमूहमेहे णिवडदि णअणम्बु धाराहि ॥६॥  
 यज्जम्मि णीअमाणे जणशश शध्वशश लोदमाणशश ।  
 णअणमलिरोहि शित्ते लच्छादो ण उण्णमइ लेणू ॥११॥

[अरे गोह,

न च रोदित्यन्तरिक्ष नैवानभ्रे पतति बज्रम् ।  
 महिलासमूहमेधान्निपतति नयनाम्बु धाराभि ॥

अपि च ।

वध्मे नोपमाने जनस्य सर्वस्य रदत ।  
 नयनसन्तिलं सिवनो रथ्यातो नोन्नमति रेणु ॥]

धारदत्त—(त्रिरुप्य सङ्करणम्)

एता पुनर्हंभ्यंगताः स्त्रियो मा वातायनाधेन विनिसृतास्याः ।

हा चारुदरोत्यभिभाषमाणा वाप्य प्रणालीभिरिवोरसृजन्ति ॥११॥

चाण्डालो—आमकं ले बालुदत्ता, आमकच । इमं घोपणदृढाणम् । बाहुपेथ  
 डिण्डिमम् । घोरोथ घोषणम् । [आगच्छ रे चारुदत्त, जागच्छ । इद घोपणा-  
 स्याणम् । आहत डिण्डिमम्, घोपयत घोपणाम् ।

उभौ—शुणाय अरुजा, शुणाय । एषो रातयवाहविणभदत्तरा परिवेषे  
 शाभ्रतदत्तरा पुत्रये अज्जचातुदतो णाम् । एदिवा वित्त अकज्जकात्तिणा गणित्रो  
 बराण्ठरोणा अरुदत्तमवत्तभा कानणादो शुण्णं पुष्ककलच्छअजिण्णुञ्जाण पवेशिअ  
 बाहुपाराबल्लकालेण मानिदे ति एषो शतोत्ते गहिदे, शअं अ पडिवग्नि । ततो  
 सग्णा पालएण अह्णे अण्णत्ता एव भात्तेदुम् । जवि अवले ईदिश उअमसोअविदुअं  
 अकरम कलेदि त वि लाआ पालए एव्व ज्जेव शाशदि [शृणुतायां शृणुत । एष  
 सार्यवाहविणयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम । एतेन  
 फिलाकार्यकारिणा गणिका वसन्तमेनार्यकल्पवर्तस्य नारणाच्छून्य पुष्पकरण-  
 कजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण भारितेति एष सलोप्त्रो, गृहीतः  
 स्वयं च प्रतिपन्नः । ततो राजा पालकेन वयमाज्ञप्ता एतं मारयितुम् । यद्यपर  
 ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति ।]

न चेति । न च अन्तरिक्षं रोदिति नैव अनभं मेघरहित (अनभं इति  
 पाठान्तरम्) बज्रं पतति । किन्तु महिलासमूहः एव मेघं तस्माद् नयनानाम्  
 आबुजतम् धाराभि पतति । रूपशालद्वार । वापा वृत्तम् ॥६॥

न तो आकाश ही रो रहा है, न मेघ के बिना वज्र ही गिर रहा है । महिला अमुदाम रूपी मेघ से नेत्र-वज्र धाराओं में गिर रहा है ॥६॥

और भी—

वर्ष्य (चारदत्त) को ले जाये जाते समय रोते हुए समस्त जनों के नेत्रजल से भीगी हुई धूलि गली से नहीं उठ रही है ॥१०॥

चारदत्त—(दिलकर, करुणा सहित)

और ये भवनों पर स्थित नारियाँ खिड़की के एक भाग से मुख निकाले हुए 'हाय चारदत्त' यह कहती हुई मानो परनालो से ही अभ्रजल बहा रही हैं ॥१॥

दोनों चाण्डाल—आ रे चारदत्त आ । यह पोषणा का स्वान है । बोल पीटो । पोषणा करो ।

दोनों—मुनो आर्यजन, सुनो ।- यह व्यापारी विनयदत्त का नाती (पौत्र) सागरदत्त का पुत्र आर्य चारदत्त है । इस अकार्य करने वाले ने वसन्तसेना नामक वेश्या को, कलंबा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त, धुष्यकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले आकर भुजपाश से बलपूर्वक मार दिया । यह चोरी के धन (लोभ) सहित पकड़ा गया और इमने स्वयं स्वीकार कर लिया । तब राजा पालक ने हमें इसको मारने की आज्ञा दी है । यदि कोई दूसरा दोनों लोको के विरुद्ध इस प्रकार का अकार्य करता है तो राजा पालक उसको भी इसी प्रकार दण्ड देंगे ।

वध्य इति । वध्ये चारदत्ते वध्यभूमि नीयमाने सति स्वतः रोदनं कुर्वत, सर्वस्य जनस्य नमनस्तर्लसः नेत्रजलैः सिक्तः रेणु, धूलिः रण्णातः प्रसोत्पाः न उन्नमति उति-  
प्लति । आर्या वृत्तम् ॥१०॥

एता इति । पुनः तथा एताः हृष्यगताः भवनेषु स्थिताः स्त्रियः वातायनस्य गदा-  
स्य अधेन एकभागेन विनिष्ठातानि निर्गतानि आस्थानि भुक्तानि यासां ताः तादृश्याः  
भूत्वा इति मानद् 'हा चारदत्त' इति अभिषायमाणा. कथयन्त्यः प्रणातोभिः इव जल-  
नालिकाभिः इव धाष्पम् अभ्रजलम् उद्गिरन्ति प्रवाहयन्ति । उत्प्रेक्षातद्धारः । इन्द्रवज्रा  
वृत्तम् ॥११॥

लोभ चौर्यं प्राप्तं वनम्, तेन सहितः ससोप्यः । प्रतिपन्नः स्वीकृतवान्

आरुहत्—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं मोनमुद्रासितं मे  
सदसि निविडचेत्यग्रहापोषं. पुरस्तात् ।  
मम भरणदशायां वर्तमानस्य पापं—

स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥१२॥

(उदीच्य कणोः पिपाय) हा प्रिये वसन्तसेने,

शशिविमलमयूतशुभ्रदन्ति सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि ।

तव वदनमवामृतं निपीप कल्पमवधो ह्ययशोविष्य पिबामि ॥१३॥

इति—ओशस्य अज्जा, ओशस्य ।

एशे गुणलक्षणमिहि शज्जणदुक्खाणं उत्तलणसेदू ।

अमुवण्णं मण्डणजं अवणीअदि अज्ज णमलीदो ॥१४॥

अणं च ।

शब्दे क्लृ होइ सोए सोओ शुह्राठिदाण तत्तिल्लो ।

विणियठिदाणं णलाणं पिअकासो दुक्खहो होदि ॥१५॥

[अपसरतायाः, अपसरत ।

एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः ।

असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽथ नगरीतः ।

अन्यच्च ।

सर्वः खलु भवति लोके लोक सुखसस्थितानां चिन्तायुक्तः ।

विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ।]

आरुहत्—(सर्वतोऽवसोषयं)

मतेति । मखानां वशानां शतं परिपूतं पवित्रीकृतं मे अम आरुहत्तस्य गोर्षं  
वृत्तं यत् पुरस्तान् पूर्वकाले सर्वासि सभायां निविडेषु जनसकुलेषु चन्द्रेषु अग्निधयन-  
रूपेषु मन्त्रात्मनाम् इति यावत् ब्रह्मपोषं. वेदपाठं. उद्भूतसितं प्रकाशितम् आसीदिति ।  
तद् गोत्र भरणदशायां वर्तमानस्य मम पापं. अस्तदृशमनुष्यं- अघोष्यजनैः नीचैरियवर्षैः  
घोषणायाम् अपराधघोषपरवले घुष्यते । विषमात्कृत्वारः । मात्तिनी वृत्तम् ॥१२॥

\* इ-वेज्य इति पाठान्तरम् । उद्भोज्य उद्भयं कृत्वा इति घुष्योपरः । शशोति ।  
शशिविमलमयूता. अरुहस्य निर्मलकरणाः इव शुद्धा. वन्ताः यस्या सा

बाहदत्त—(दुःख के साथ, अपने आप)

संकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा बंध पूर्वकाल की समाधियों में जनाकीर्ण यज्ञशास्त्रा की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था, वही मेरे मरणावस्था में विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों के द्वारा (अपराध) घोषणा स्वयं में घोषित किया जा रहा है ॥१२॥

.(ऊपर देखकर, कानों को बन्द करके) हाय प्रिये, बसन्तसेने ।

हे चन्द्रमा की निर्मल फिरवों के समान श्वेत दाँतों तथा सुन्दर मूँगे के सदृश भ्रष्टरोष्ठ वाली बसन्तसेने, तेरे मुँह से उत्पन्न अमृत का पान करके अब शाश्वत हुआ मैं अपकीर्ति रूपी विष क्यों पी रहा हूँ ॥१३॥

बोनों—हटो, आर्यजनो, हटो ।

गुण करी रत्नों का भण्डार (सागर), सज्जनों के दुःखों को तरने के लिए धेतु के समान, बिना सुवर्ण का आभूषण यह बाहदत्त आज (रज्जयिनी) नगरी से दूर किया जा रहा है ॥१४॥

बीर भी—

संसार में सभी जन सुखी मनुष्यों के ही शुभचिन्तक होते हैं । विपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों का हित करने वाला दुर्लभ ही है ॥१५॥

बाहदत्त—(सब और देखकर)—

(सम्बुद्धो), सुराक्षितः अतिमुन्दरः ५. विद्रुमः प्रवालः तत्तन्निभः तस्य सदृशः अधरोष्ठः पत्न्याः सा (सम्बुद्धी), तत्र बसन्तसेनायाः बदनम्बुं मुसाद् उत्पन्नम् अमृतं निरीय पीत्वा यथाः पराधीनः अहं अयथाः अपकीर्तिः एव विषं कर्म विनामि । उपमा, रूपकम्, विषमन्वातच्छारः । पुष्पिष्ठाया दृष्टम् ॥१३॥

एव इति । गुणा एव रत्नानि तेषां निधिः सागरः सज्जनवृत्तानाम् उत्तरपत्तेयुः सङ्घन्यासनम्, अमुवर्णं अमुवर्णंभटितं मण्डनम् आभूषणम् एषः बाहदत्तः अद्य नगरीतः अपनीयते दूरीक्रियते । रूपवान्दृष्टः । राया द्रवम् ॥१४॥

सर्वं इति । सोके संसारे सर्वः सोकः जनः सत्तु निश्चयेन सुखे सन्धितानां सम्भक् विद्यमानानां सुमपुत्रानां जनानामिति भावः चिन्तापुच्छः शुभचिन्तकः (चिन्ता-परः उपदुःखः इत्यर्थः इति पृष्ठांशः) भवति । विनिपत्तिनां विपत्तौ पतितानां नराणां प्रियकारी हितकर्ता दुर्लभः भवति । अपस्तुवप्रसंग मन्त्रद्वारा । पापा इत्यम् ॥१५॥

अमी हि वस्त्रान्तरिखद्ववत्रा प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्या ।

परोऽपि बन्धुः समसस्थितस्य मित्र न कश्चिद्विपमस्तितस्य ॥१६॥

चाण्डाली—ओगतथ क्विडम् । विवित्त ताजमगम् । ता आणेध एव विण्णवज्जचिण्हम् । [अपसारण कृतम् । विवित्तो राजमार्गं । तदानपतैनं दत्त-  
वध्यचिह्नम् ।]

(चारुदत्तो निःश्वस्य 'मंत्रेय भो किमिदमद्य' (६।२६) इत्यादि पठति)

(नेपथ्ये)

हा ताव, हा पिअवज्जसस । [हा तात, हा प्रियवयस्य ।]

चारुदत्त—(आकर्ष्यं सकलणम्) भो स्वजातिमहतर, इच्छाम्हं भवंतं सकाराप्रतिग्रहं क्तुंम् ।

चाण्डाली—किं अहूण हत्यादो पडिण्ह क्लेशि । [किमस्माकं हस्तात्प्रति-  
ग्रहं करोषि ।]

चारुदत्त—ज्ञान्त चापम् । नापरीक्ष्यकारी बुराचार पालक इव चाण्डाल ।  
सापरत्तोकार्यं पुत्रमुख द्रष्टुमध्ययंये ।

चाण्डाली—एव कलीअत्तु [एव क्रियताम् ।]

(नेपथ्ये)

हा ताव, हा आत्तुक् । [हा तात, हा पित ।]

(चारुदत्त श्रुत्वा सवरुणम् भो स्वजातिमहतर' इत्यादि पठति)

चाण्डाली—अले पज्जला, सथ अन्तल देध । एरो अरजघालुदत्ते पुत्तमुहं  
पेक्कत्तु । (नेपथ्याभिमुखम्) अरज इदो इदो । दाअच्छे ले दालजा, आअच्छे । [हे  
पीरा क्षणमन्तरं दत्त । एष आर्यचारुदत्तः पुत्रमुखं पश्यतु । आर्यं, इत इत ।  
आगच्छ रे दारक, आगच्छ ।]

(ततः प्रविशति दारकनादानं विदूषकः)

विदूषक—बुवरदु बुवरदु भद्दुमुहो । पिता वे मारिदु जीअदि । [त्वरतो  
चरतो भद्रमुख । पिता ते मारयितुं नीयते ।]

दारक—हा ताव, हा आत्तुक् । [हा तात, हा पित ।]

विदूषक—हा पिअवज्जसस क्विह मए तुम येक्खरुण्णे । [हा प्रियवयस्य, कुदं  
मया त्वं द्रष्टव्यम् ।]

अमी हीति । अमी हि मे मम चारुदत्तस्य वयस्यो मुहद वस्त्रान्तेन  
वसनाञ्चलेन निखद्वम् आच्छादितं वषत्रं मुखं यं तादृशा सन्तः दूरतरं प्रयान्ति ।  
समसस्थितस्य समापस्थाया सुखापस्थायांनिर्वादात् यावत् स्थितस्य जनस्य परं अन्य-  
अपि बन्धु सम्बन्धी भवति, किन्तु विषमावस्थायां आपत्तिवृत्ते इति यावत्

ये मेरे मित्र नम्य के आंचन ने मुख डके हुए दूर जा रहे हैं। (सब है) मुख की अवस्था में अन्य जन भी (सगे) सम्बन्धी हो जाते हैं; किन्तु आपत्ति में पड़े हुए मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता।

दोनों चाण्डाल—(भौंठ को) हटा दिया गया। राजमार्ग जन-शून्य (विविक्त) है। अतः दिया गया है यद्य का चिह्न जिसको, ऐसे इग (चाण्डल) को लाओ। (चारुदत्त दीर्घ श्वास लेकर 'यत्रैव भी किमिदमञ्च (६-२६)' इत्यादि पढ़ता है।)

(नेपथ्य में)

हा तात ! हा प्रिय मित्र !

चाण्डल—(सुनकर, कण्ठामहित) हे अपनी जाति के महतो (प्रधान), मैं आपसे (कुछ) दान लेना चाहता हूँ।

दोनों चाण्डाल—क्या हमारे हाथ से दान लेते हो ?

चाण्डल—पाप शान्त हो। पालक के समान चाण्डाल (भी) बिना परीक्षा के (कार्य) करने वाला तथा बुरा व्यवहार करने वाला नहीं है। अतः मैं परलोक के लिये पुत्र का मुख देखने की प्रार्थना करता हूँ।

दोनों चाण्डाल—ऐसा कर लीजिये।

(नेपथ्य में)

हाम तात ! हाम प्रिय मित्र !

(चारुदत्त सुनकर करणपूर्वक 'भी. स्वजातिमहतर' पृ० ३६२ इत्यादि पढ़ता है)

दोनों चाण्डाल—अरे नगरवासियों क्षण भर के लिये अवकाश दो। यह कार्य चारुदत्त पुत्र का मुख देखले। आर्य, इतर इधर (नेपथ्य की ओर) आ रे, जानक, आ जा।

(तब बालक को लेकर विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—शीघ्रता करो, भद्रगुण, शीघ्रता करो। तुम्हारे पिता रथ के लिये से जाये जा रहे हैं।

हारक—हाम तात, हाम पिता।

विदूषक—हाम प्रिय मित्र, अब मैं तुम्हें कहीं देखूंगा ?

स्मितस्य जनस्य न कश्चिद् अपि मित्रं भवति । अर्थान्तरन्यासोऽप्यङ्कारः । उपजातिः  
इत्तम् ॥१५५॥

विविक्तः विजनः । स्वजात्यां महतरः प्रतिग्रहं दानं पुरस्कारं पक्षपातम् अनुग्रहं  
श्च । अभ्यर्त्तये प्रार्थये । परलोकार्थं परलोके शुभगत्यर्थम् । उक्तं मनुना—

पुन्याम्नो नरकावस्मात्प्रप्यते पितरं मुत ।

तस्माद् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ मनु० ६-१२८.

आवुक पितः ।

धारयतः—(पुत्रं मित्रं च वीक्ष्य) हा पुत्र, हा मित्रेय (संकरणम्) मोः  
कर्मम् ।

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।

अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ॥१७॥

किं पुत्राय प्रयच्छामि । (आत्मानमवलोक्य । यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आ, इदं तावदोत्त  
मं च ।

अमोक्तिकमसीवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।

देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते ॥१८॥

(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

वाण्यतः—आजम्बु से चातुर्वर्त्ता, आजम्बु । [आगच्छ रे चारुदत्त,  
आगच्छ ।]

द्वितीयः—अते, अज्जचातुर्वर्त्त जितुवर्त्तणेण जामण आसवसि, अते वेरस ।

अभ्युदये अवशाणे तद्दे अ लत्तिदिव अहदमग्गा ।

उद्दामे व्व किञ्चोली णिजदी क्खु पडिच्छिद्धुं जादि ॥१९॥

अर्थः च ।

शुक्ला विवदेशे के किं विणमिअ मत्यए ण काअग्गम् ।

साहुगहिदे, वि वन्दे ण वन्दणीए जणपदसस ॥२०॥

विरमिति । परलोके चिरं खलु पिपासितः भविष्यामि कुत ? यतो हि  
इदं पुत्रेण दास्यमानं निवापस्मं पितृवर्णस्य उदकमेव भोजनम् अस्माकं अत्यल्पम्  
भविष्यति । पुत्रस्य वासत्वात् तेन दीयमानो जलाञ्जलिः अर्पयन्तः स्यादिति  
भावः ॥१७॥

अमोक्तिकमिति । इदं यज्ञोपवीतम् अमोक्तिकं नास्ति मोक्तिकं मुक्ता यस्मिन्  
तस्यांभूतम् असौवर्णं न सुवर्णनिमित्तं ब्राह्मणानां विभूषणम् आभूषणम् अस्ति; येन  
यज्ञोपवीतेन श्रेयसानां पितृणां च भागं देववति पितृपिण्डादिकं वा प्रदीयते ॥१८॥

निःशपदेन 'आयं' इत्यादि विशेषणरहितेन ।

अभ्युदय इति । अभ्युदये सम्पन्नावस्थायाम् अवसाने सम्पदां समाप्तौ तद्वैज  
रान्निवृत्तम् अहोरात्रम् अहत अप्रतिहत आयं यस्याः सा अप्रतिहतमना निवृत्तिं  
भाग्यं उद्दामा उद्गतं कामं बन्धनं यस्याः सा बन्धनरहिता निशोरी योवनं प्राप्ता वातेष  
(बालाशवा इव इति कालेपहोदयः) खलु प्रत्येवितुं पुरप स्वोदितुं याति गच्छति ।  
उपमासङ्कारः । गाथा वृत्तम् ॥१९॥

चाध्वरत—(पुत्र और पित्र को देखकर) हाय पुत्र, हाय मैत्रेय (करुणापूर्वक) अरे कष्ट है ।

मैं परलोक में विरजाल तक प्यासा हो रहूँगा, क्योंकि यह (पुत्र के द्वारा दिया गया) पितृतपस्य का अलक्षणी भोजन हमारे लिये अत्यन्त मोड़ा होगा ॥१७॥

मैं पत्र को क्या दूँ ? (अपने आप को देखकर । यज्ञोपवीत को देखकर) अष्ट्या, यह तो मेरे पाम है ।

यह बिना मोती का तथा सुवर्ण से न बना हुआ, ब्राह्मणों का मासूपण है, जिससे देवता और पितरों का भोग दिया जाता है ॥१८॥

(यज्ञोपवीत देता है)

चाध्वरत—आधो रे चारुदत्त, आधो ।

द्वितीय—अरे, आर्य चारुदत्त को ('आर्य' आदि) उपपद-रहित नाम से पुकारते हो । अरे, देखो—

सम्पन्नावस्था में और सम्पत्ति के समाप्त होने पर तथा रात में और दिन में यह अत्रिहस्त-शक्ति वाली नियति बन्धन-रहित (स्वच्छन्द) स्वर्गों के तपान पुरुष को सोचने के लिये आती है ॥१९॥

और भी—

इसके (सम्पत्ति-कीर्ति आदि) अङ्ग सूख गये हैं अतः (इसे) अस्तक झुकाने से क्या (प्रयोजन) ? (ऐसा नहीं, क्योंकि) क्या राहु द्वारा अस्त चन्द्रमा भी जनपदवातियों के लिये बन्दीय नहीं होता ? [पाठ्य-तत्पर में पूर्वपाद का अनुवाद यह है—इस चारुदत्त

शुष्का इति । अल्प चारुदत्तस्य प्रदेयाः अङ्गानि साधनानि वा अपि शुष्काः शुष्कतां गतानि, अतः विनमितं अस्तकं विनमितमस्तकं तेषु किं कर्तव्यं किं प्रयोजनमिति न । कुतः इत्याह- राहुषा । शूहीतः अपि प्रस्तः अपि चन्द्रः जनपदस्य तत्र स्थितस्य जनस्य न बन्दीयः ? अपि तु बन्दीयः एव । अत्र पूर्वपादस्य—'शुष्का अपि प्रदेया अङ्गानि ! किं विनमितमस्तकेन—अवनतगिरसा किं कर्तव्यम् । अल्प स्वर्गदत्तस्य सज्जया नतनिरमोर्षि न कुन्नेत्यर्थः"—इति पृथ्वोषरः । 'शुष्का अप्यदेया अस्त किं विनमितमस्तकं न कर्तव्यम्' इति पाठान्तरम्—'अल्प चारुदत्तस्य अप्यदेयाः





के शोभनतामादि क्या सूख गये ? क्या इसके प्रति मस्तक नत नहीं करना चाहिए ?.....] ॥२०॥

दारक—अरे चाण्डालो, मेरे पिता को कहीं ने जाते हो ?

चाण्डाल—बस,

श्ले में कनेर की माला, कन्हे पर शून तथा हृदय में शोक धारण किये हुए मैं बाज यज्ञ में वलि (अभिमन्त्रण) के लिये पशुवध म्यल (अभिमन्त्रणा स्यल) पर (ले जाये जाते) द्याग के समान (अधिकरण के) वध स्थान पर जा रहा हूँ ॥२१॥

चाण्डाल—बालक,

चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भौं हम चाण्डाल नहीं है । जो सज्जन को अपमानित (पीड़ित) करने हैं वे पापी हैं और वे चाण्डाल हैं ॥२२॥

दारक—तो मेरे पिता को क्यों मारते हो ?

चाण्डाल—दीर्घायु, इसमें राजाज्ञा दीर्घा है, हम नहीं ।

दारक—मुझे मार दो । पिताजी को छोड़ दी ।

चाण्डाल—दीर्घायु, इस प्रकार कहते हुए तुम बहुत समय जीओ ।

चाण्डाल—(अधुपुक्त पुत्र को गले लगाकर)

यह वह स्नेह का सर्वस्व है जो घनिक और दरिद्र दोनों के लिए समान है । यह हृदय का सुखकर लेप है जो चन्दन का तथा बगीर (खर) का नहीं (बना) ॥२३॥

अहम् अद्य आचरे यज्ञे आलम्ब्यम् अभिमन्त्रयितुं हन्तुं वा शामित्रं शमितरि यज्ञे भवं शामित्रं अभिमन्त्रयस्थानं पशुघातस्थानं वा अजः इव आघानम् अधिकरणवञ्चस्थानम् अनुग्रयामि अनुगच्छामि । आलम्ब्य इवान्वरेजः इति पृथ्वीधरानुमतः पाठः । आलम्ब्यो- अभिमन्त्रितः मारितः इत्येके । यज्ञे अभिमन्त्रितः अजः यथा शामित्रं वचंति तथेति भावः । उपमानद्वारः याथा वृत्तम् ॥२१॥

न लक्षितः । चाण्डालकुले जातूषाः पूर्वं जाताः सम्बन्धमानोऽपि वयं न सन्तु चाण्डालाः कर्मणा न चाण्डालाः इति भावः । ये जनाः शकारप्रवृत्तयः इति म्यग्यते साधुं सत्युत्पन्म अभिमवन्ति तिरस्कुर्वन्ति ते पापाः पापिनः ते च चाण्डालाः । विशेषो- क्तितद्वारः । याथा वृत्तम् ॥२२॥

राजनियोगः राज्ञः नियोगः आदेशः ।

स्वपुत्रं कण्ठे गृहीत्वा चाण्डालः कथयति—इदमिति । इदं पुत्रातिङ्गनं तद् प्रमिदं स्नेहस्य वान्मत्स्यस्य सर्वस्वं तत्त्वम् । इदं च आङ्ग्यं घनिकः दरिद्रः च तयोः द्वयोरपि तमं तुल्यमेव अवाच्यं चन्दनस्येदं चान्दनं न चान्दनम् अवाच्यम् अनौगीरम् उगीर- संरेदम् ओगीरं, न ओगीरम् अनौगीरं च हृदयस्य धर्मनेत्रनम् अनुङ्गः सुवकरः इति भावः तेषः भस्ति । रूपकाजद्वारः ॥२३॥

['वसेन विभ्रत्—' (१०/२१) इत्यादि पुन. पठति । अनसौक्य स्वगतम् । 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवस्त्राः (१०/१६) इत्यादि पुन. पठति)

विदूषकः—भो भद्रमुखा, मुञ्चत पित्रवअत्त चासुवत्तम् । म वारायेय ।

[भो भद्रमुखाः, मुञ्चत प्रियवयस्यं चाशुदत्तम् । मा व्यापादयत ।]

चाण्डालः—शान्तं पापम् (दृष्ट्वा स्वगतम्) अछावपच्छामि ।

(परोक्षपिसमसंस्तिप्तस्य—' (१०/१६) इत्यादि पठति । प्रकाशम् । 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०/११) इत्यादि पुन. पठति)

चाण्डालः—भोगस्य भ्रजा, भोगस्य ।

किं पेक्षस्य शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्टजीवाशम् ।

कूपे खण्डितपाश कञ्चनकलशं ज्विअ ड्ढ्वन्तम् ॥२४॥

[अपसरतार्या, अपसरत ।

किं पश्यत सत्पुल्पमयशोवशेण प्रनष्टजीवाशम् ।

कूपे खण्डितपाश कञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ॥]

(पौरुदत्त सङ्गणम् 'कश्चिद्विभक्तमपूक्त—' (१०/१३) इत्यादि पठति)

अपर—अस्ते, पुणोवि घोसेहि । [अरे, पुनरपि घोषय ।]

(चाण्डालस्तथा करोति)

चाण्डालः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां

यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ।

एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे

श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हृतेति ॥२५॥

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

स्थावरकः—(घोषणामाकर्ष्य सर्वैकत्वम्) कथं अपाये चाहुहसे वादारीमिहि हृष्ये विभ्रतेण शामिना बन्धिदे । भोदु आस्कन्वामि । शुभाथ भ्रजा; शुभाथ । इत्यि वाणि मए पावेण पवहणपडिदत्तेण पुष्कलसङ्गप्रविष्णुञ्जापं वरान्तमेवा भोदा । तदो मम शामिना मं च कामेतिति क्वुअ वाहुपाशादसस्कासेव अलिहा, च उण एदिण अजेण । कथम् । इन्दुसहाए न को वि शुगादि । ता कि कस्सेमि । अलाभमं पाडेमि । (विचिन्त्य) अह एषं कस्सेमि, तदा अज्जवासुरत्ते ॥ वादारी-

किमिति । खण्डित. विभ्रः पाशः एज्जु यस्य तयापूर्य कूपे मज्जन्तं कञ्चनस्य सुवर्णस्य कलशम् इव अपोशोबरोणं अनेन वसन्तुतेना हवेति अपकीर्तनिमित्तोव

['अस्तेन विभ्रत' (१०/२१) इत्यादि फिर पढ़ता है । - (दिखकर अपने आप)  
'अग्नी हि वस्त्रात्मनिरुद्धवस्त्राः' (१०/१६) इत्यादि फिर पढ़ता है ।]

विबूषक—हे भद्रमुखो, मेरे प्रिय पित्र चाण्डल को छोड़ दो । मुझे मार दो ।  
चाण्डल—पाप शान्त हो । (दिखकर अपने आप) बाज जान रहा हूँ ।

['अमसंस्मित'— (१०/१६) इत्यादि पढ़ता है । (प्रकट रूप में) 'एताः पुनर्हर्म्यगताः  
स्त्रियो माम्' (१०/११) इत्यादि फिर पढ़ता है ।]

चाण्डाल—हटो, बायेंदनी, हटो ।

रस्ती टूटने पर रूप में डूबते हुए सुवर्णपट के समान अचकीर्ण के कारण  
विश्वके जीवन की आशा नष्ट हो गई है ऐसे इस सत्पुरुष को क्या देखते हो ॥२४॥

[चाण्डल कदनापूर्वक 'अग्निविमलमपूष' (१०/१३) इत्यादि पढ़ता ॥]

भूतरा—भरे, फिर घोषणा करो ।

(चाण्डाल बैठा करता है)

चाण्डल—

मैं विरसित (व्यसन) के कारण हीन एवं महित (अनायाँ) दया को प्राप्त हो  
पया हूँ । जिस दगा का यह जीवन को समाप्ति फल है । और यह घोषणा मन को  
पीड़ित करती है जो मुझे यह मूतना पढ़ता है—'मैने यह (वसन्तसेना) मारी है ॥२५॥

(तब प्रासाद पर स्थित, बंधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है)

स्वावरक—(घोषणा को सुनकर, विकलता के साथ) क्या ! पापरहित  
चाण्डल मारा जा रहा है । मुझे स्वामी ने बेटी से बांध दिया है । अच्छा । चित्तादा  
हूँ । मुनिने आर्यजन, मुनिने । ऐसा है कि मुझ पापी के द्वारा प्रवहण-परिवर्तन के  
कारण वसन्तसेना मुष्करगडक नामक पुराने उद्यान में ले जाई गई । तब मेरे स्वामी  
(शकार) ने—'तुम मुझे नहीं चाहती हो' यह कहकर भूत्रराय से वसपूर्वक इसे मार  
दिया, इस आर्य (चाण्डल) ने नहीं । क्या, दूर होने के कारण कोई भी नहीं मुनता  
है । वो क्या करे ?

अनष्टा बीजाशा जीवनस्य आशा यत्प तं सत्पुंसं सज्जनं हि पश्येय ? उपमानकृत् ।  
याया वृत्तम् ॥२४॥

प्राप्त इति । अहं चाण्डलः, व्यसने आपत्त्या शरिदोषेण वा हेतुना 'असन्नकृताम्  
इति पाठान्तरम् । आपत्तिजनितानाम् इत्यर्थः कृतां हीनानाम् अनायाँ रहितां रसां प्राप्तः,  
यत्र दशादानम् इदं जीवितस्य जीवनस्य अवसानं समाप्तिः मरणम् इति भावः अत्र  
कर्म जातम् । एषा च घोषणा मे मन मन्तः स्वयमिति पीडयति यत् मया इदं शीतम्यम्  
'अग्नी वसन्तसेना मया चाण्डलेन हता मारिणा' इति । प्रहृषिणी वृत्तम् ॥२५॥

अदि । भोतु । इमादो पाशादवालागपदोलिकावो एदिणा जिष्णववशेन अत्तागअं  
 णिखिलवामि । वल हगो जवनदे, न उअ एरो कुत्तुत्तविहमाण वाशपादधे अग्गचालु-  
 वत्ते । एथ जइ विवज्जामि सट्ठे मए पललोए । (इत्यारंभान पातयित्वा) हो 'हो ।  
 ण उदलदग्धि । मगो मे दण्डनिअत्ते, ता चाण्डालघोरा शमण्णेशामि (दृष्ट्वोपमृष्य)  
 हहो चाण्डाला, अन्तल अतलम् । [वयमपापश्चारदत्तो व्यापाद्यते । अह निगडेन  
 स्वामिना दद । भवतु । आब्रन्दामि शृणुतार्या, शृणुत । अस्नीदानो मया पापेन  
 प्रवहणमपरिवर्तेन पुष्यकर इवजीर्णोद्यान वसन्नमेना नीता । ततो मम स्वामिना  
 मा न कामयम इनि वृत्वा बाहुपाणवलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेनार्येण ।  
 कथम् । विदूरतया न कोपि शृणोति । तत्त्वि करोमि । आत्मान पातयामि ।  
 यद्येवं करोमि, तदायं चाण्डित्तो न व्यापाद्यते । भवतु । अस्या प्रासादवालाग्रप्रती-  
 लिकात् एतेन जीर्णगवाक्षणात्मान निक्षिपामि । वरमहमुपरत, न पुनरेय कुल-  
 पुत्रविहगाना वामपादप आयचास्वत्त । एव यदि विपद्ये लब्धो मया परलोक ।  
 आश्चर्यम् । नोपरताऽस्मि । भन्नो मे दण्डनिगड । तच्चचाण्डालघोष समन्वि-  
 प्यामि । हहो चाण्डाला अन्तरमन्तरम् ।

चाण्डाली —अले के अन्तल मग्गेदि । [अरे, कोऽन्तरं याचते ।]

(नेट 'शुणाध्' (३२८ पृष्ठे) इति पूर्वोक्त पठति)

चारदत्त—अवे,

कोऽयमेवविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।

अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेध इवोदित ॥२६॥

सो, धुत पवङ्क ।

न भीतो भरणदस्मि केवल दूषित यथा ।

विशुद्धस्य हि मे मृदु पत्रजम्बदमा भवेत् ॥२७॥

अन्वपथ ।

तेऽस्मि कृतवरेण क्षुष्टेणात्यल्पदृष्टिना ।

शरेणैव विधावतेन दूषितेनापि दूषित ॥२८॥

चाण्डाली—यावत्तअ, अदि शच्च भणाशि । [स्थावरक, अपि सत्यं  
 भणासि ।]

चेट —शच्चम । हगो वि मा करह वि कथइशशि ति पाशादवालागपदो  
 लिकाए दण्डनिअलेण वं चअ णिखिलत्ते । [सत्यम् अहमपि मा वस्यापि कप-  
 यिष्यसीति प्रासादवालाग्रप्रतोलिकाया दण्डनिगडेन बद्धवा निक्षिप्त ।]

वैजलभ्येन सह इति सर्वैरुत्तम्य विवततापूर्वकम् । उपरत मृत । कुलप्राग

बपने आप हो गिराता हूँ (सोचकर) यदि ऐसा करता हूँ तो श्रायं चाहदत्त नहीं मारे जाते । अच्छा । इस प्रामाद के नवीन अग्रभाग से टूटी जिह्वकी द्वारा अपने आपको गिराता हूँ । मैं मरा (मर जाऊँ) अच्छा, किन्तु कुलपुत्र रूपी पत्नियों का निवास वृत्र श्रायं चाहदत्त नहीं । यदि मैं इस प्रकार मरता हूँ तो मैंने स्वयं वा लिया । (अपने आपको गिराकर) आनर्चन । मैं मरा नहीं । मेरा बेटी-बण्डा (?) टूट गया । अब चाण्डाल की घोषणा (कं स्यात्) को खोजता हूँ (देखकर पास जाकर) अरे, चाण्डालो, अबकास दो अबकास ।

दोनों चाण्डाल—अरे कौन अबकास माँगता है ?

(बेट 'शृगुतापार्श्वः' यह पूर्वोक्त पदता है)

आनर्चन—अहो,

वर्षा के न होने से सूखते हुए धान्य पर द्रौय नामक येष के समान इस प्रकार के (आपत्ति) समय में भेरे काल के पाश में स्थित होने पर यह कौन भा गया है ? ॥१६॥ अरे आपने मुना ।

मैं मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ, किन्तु (इसलिये कि) मेरी कीर्ति कलङ्कित हुई है । दोष रहित (पवित्र) होकर मेरी मृत्यु होती तो बहु पुत्र के जन्म के समान होती ॥२७॥

और भी—

द्विजके साथ बँद नहीं किया था ऐसे नीच, मन्द बुद्धि वाले स्वयं दोषयुक्त उस शकार ने विप्रयुक्त बाप के समान मुझे दूषित कर दिया है ॥२८॥

दोनों चाम्बाल—स्वावरक, क्या सत्य कहते हो ?

बेट—सच । "तुम क्रिमी ने कहोने नहीं" इसलिये मुझे भी प्रसाद के मपीन रूपमाग में डण्डा-बेड़ी में बाँधकर डाल दिया ।

एव विहृताः पक्षिणः । आनाद्यन्तरीतः प्रामादप्रागाद् इत्यर्थः—(पृथ्वी०)

कौश्लपिति । अनाकृष्टपा दृष्टेः अभावेन ह्ये नष्टप्राने सत्ये धान्ये द्रौणमेघः सत्सृष्टिकटः मेघविक्षेप, इव एवक्षिपे कस्ते आपत्तिजनये सयि चाहदत्ते कालपरागस्थिते आनपाके स्थिते गति अयं कः उदितः आविर्भूतः । उपमातद्कारः ॥२६॥

न भीत इति । अहं मरणान् मृत्योः न भीतः अस्मि केवलं यथाः कीर्तिः दूषितं कर्तङ्कित इति विभेभिः । हि तथा हि विमुदस्य दोषरहितस्य पवित्रस्य वा मे मय मृत्युः मन इते पुत्रजन्मममः पुत्रजन्मममः सुखकरः भवेत् । उपमातद्कारः ॥२७॥

तेनेति । अमृतमरेष न इतं वरं यस्य तादृशेन क्षुद्रेण नीचेन अल्पबुद्धिना अत्या मन्दा बुद्धिः यस्य तथाभूतेन स्वयं दूषितेन दोषयुक्तेन तेन शकारेण विप्राज्ञेन विप्रयुक्तेन शरेण बाणेन इव दूषितः अस्मि । उपमातद्कारः ॥२८॥

(प्रविष्टय)

शकारः—(सहस्रंम्)

मयेण तिनखामितकेण भर्त्तं शाकेन सूपेण शमच्छकेण

भुक्तं मए अत्तणभश्श गेहे शालिश्शकूलेण गुलोदणेण ॥२६॥

(कर्म दएवा) भिष्णकंशालिश्शणाए चाण्डालवाआए शतशंजोए । अथा अएशो उक्खालिरे वएशदिग्धिभरएदे पट्टहणं अ भुणोअदि, तथा सएकेमि, वलिद्वत्तासुदत्ताके वएशट्टाणं णीमादि ति । ता वेणिल्लसाम् । शत्तुविणारो णाम् मम् महन्ते हसएकएण पलिररो होदि । शूवं अ मए, जे वि किल शत्तुं चाणदअन्त पेक्खदि तएा अण्णरिा जम्मन्तते अविस्सतोणे ण होदि । मए वत्तु वितागण्ठिगएवपदिट्टेण विअ णोइएण कि वि अन्ततं मगमाणेण उप्पाडिदे ताह वलिद्वत्तासुदत्ताह विणारो । शंपवं अत्तणकेलिकाए पारादबालगपदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पत्तवकमं पेक्खामि (तया कृत्वा इष्टवा च) ही ही, एवाह वलिद्वत्तासुदत्ताह वएश णीअमाणह एवइदे णणसामह अ वेत्तं अन्हातिरो पक्खे वत्तमणुग्गे वएश णीअदि त वेत्ते केरिरो मवे ? (निरीड्य) कएम् । एशो शो णवदलहके विअ भण्णिदे वरिल्लणं दिरां णीअदि । अथ किणिमित्तं मम केलिकाए पारादबालगपदोलिकाए हामोवे घोषणा णिवडिदा, णिवसतिवा अ (विलोस्य) कएम् प्रादलको वेहे वि, णत्थि इह । मा णाम तेव इदो महुअ मन्तमेहे कडे अविस्सदि त जाव णं अण्णेसामि ।

[मांसेन तिक्ताभलेन भवतं शानेन सूपेन समत्स्यकेन ।

भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडोदनेन ॥]

भिन्नकांस्यवत्खड्गखणायाश्चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगः । यथा चंय उद्गीतो वध्यट्टिडिमशब्दः पट्टहानां च भ्रूयते, तथा सर्कमामि, दरिद्रचारुदत्तकी वध्यस्यानं नीयत इति । तत्रैलिष्ये । शत्रुविनाशो नाम मम महान्दुःखस्य परितोषो भवति । श्रुतं च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति, तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति । मया खलु विपप्रन्निगमंप्रविष्टे-नेव कीटकैः किमप्यन्तरं भृगयमाणेनोत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः । सांप्रतमात्मीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायामधिहृष्टाभनः पराक्रमं पश्यामि । ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्यैतावाञ्जनसंमदः, यस्यां विलायामस्मादृशः प्रवरो वरमानुषो वध्यं नीयते तस्यां विलायां कीटमो भवेत् । कथम् । एष स नववतीवर्द, इव भण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते अथ किनिमित्तं भदीयायाः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता, निवारिता च ? कथम्, स्यावरकश्चेटोऽपि नास्तीह ? मा नाम तेनेतो गर्त्वा भन्तभेदः कृतो भविष्यति । तद्यावदेनमन्विष्यामि (इत्यथर्वीर्षवंप्रति)

(प्रवेश करके)

शकार—(हर्षपूर्वक)

मैंने अपने घर तीते-खट्टे मांस, जाक, मछनी सहित (दास या रसा), गालि भात तथा गुड़ मिश्रित खावल (भात) के साथ भोजन किया है ॥२६॥

(वान देकर) दूटे हुए कर्मों के (पाप के) समान खलू-खलू शब्द वाली चाखडाल की बागी की आवाज और यह बध्य के ढोल का उच्च (उद्गीत) शब्द तथा नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि दरिद्र चाखदत्त बध्यस्थान पर ले जाया जा रहा है। तो देखूंगा। शत्रु का विनाश मेरे हृदय का महान् आनन्द (सन्तुष्टि) है। और, मैंने सुना भी है कि जो भी कोई शत्रु को मारे-जाते हुए देखता है, उसको दूसरे जन्म में नेत्र रोग नहीं होता। विष-ग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट हुए कीट के समान कुछ अथकाथ (छिद्र) खोजते हुए मैंने उस दरिद्र चाखदत्त का विनाश उपन्यस्त कर दिया है। इस समय अपने प्रासाद के नवीन अग्रभाग में खरकर अपने पराक्रम को देखता हूँ। (देखा करके और देखकर) यही इस चाखदत्त को बध स्थान की ओर ले जाते समय इतनी अधिक लोगों की भीड़ है। जिस समय हमारे जैसा मुख्य श्रेष्ठ मनुष्य बध स्थान को ले जाया जाये उस समय कौन (भीड़) होगी। (देखकर) यह वह नये बँस के समान आभूषित करके दक्षिण दिशा को ले जाया जा रहा है। किन्तु किस लिये मेरे प्रासाद के नवीन अग्रभाग के समीप घोपपा हुई और रोक दी गई। (देखकर) क्यों! यहाँ स्थावरक बँस भी नहीं है। ऐसा न हो कि उसने यहाँ से आकर रहस्य को खोज दिया हो। तो जब तक खोजता हूँ। (उतर कर पास जाता है)।

सात्त्विकेति । मया शकारेण भात्मनः गेहे तिलं च तद् अन्नं चेति तिलान्नं  
 तैव सात्त्विकं शाकेन सप्ततल्पकेन मत्स्यसहितेन क्षुपेन शास्त्रीयकुरेण शाल्युत्पन्नेन अन्नेन  
 इति काले महोदयः, शालेर्धन्तेन इति पृथ्वीधरः शुद्धोदनेन गुह्यमिश्रितेन ओदनेन सह  
 क्वत्तं भोजनं कृतम् ॥२६॥

शिलकास्त्वित् सङ्गसपायाः खम खम इति शब्दापमानायाः स्वरसंयोगः  
 स्वराणां सम्बन्धः । विषग्रन्थे गर्भे अन्तरे प्रविष्टेन कीटनेन इव अन्तरम् अवनसां छिद्रं  
 मानं वा । 'हो' इति विस्मयेऽप्ययम् । जनानां सपर्यः एकधीमवनं (भीड़' इति  
 भाषायाम्) । खरः मुख्यः ।



चेट — (दृष्ट्वा) भट्टासका एते आगते । [भट्टारका एष स आगत ।]

घण्टाली—

ओषालघ देघ मग्ग दाल ढवकघ होघ तुण्हीआ ।

अविणअतिमस्रविशाणे दट्टवद्धजे इदो एदि ॥३०॥

[अपसरत दत्त मामं द्वार पिघत्त भवत तूण्णीनाः

अविनयतीक्षणविपाणो दुष्टवलीददं इत्त एत्ति ॥]

शकार — अत्ते अत्ते अन्तत्ते अन्तत्ते वेघ । (उपसृत्य) पुरतका पायसका चेडा एहि । गच्छन्ह । [अरे अरे, अन्तरमन्तरं दत्त । पुत्रक स्थावरक चेटक, एहि गच्छाम ।]

चेट — ही ही अणज्ज, वसन्तसेणिअ मानिअ अ पस्सितुट्टे सि । शंपर पणइजणरूपपावध अणज्जआमुदत्त मासग्गु ववशिखेणि । [ही ही अनार्द, वसन्तसेना मारयित्वा न परितुण्णोऽसि । साप्रत प्रणयिजनकल्पपादपमार्यंचारुदत्त मारयितुं व्यवसितोऽसि ।]

शकार — न । ह । सअणकुम्भशरिणे हग्गे इत्थिअ वावावेणि । [ न हि रत्नकुम्भसहस्रोऽह स्थिय व्यापादयामि । ]

सर्वे — अहो, तुए मारिवा न अणज्जवारुत्तेण । [अहो त्वया मारता नापंचारदत्तेन ।]

शकार — के एथ मयाव । [ क एव भणति । ]

सर्वे — (चेटमुद्दिश्य) एतो साह । [ नन्वप साधु । ]

शकार — (अपवाय सभमम्) अविह माधिके, अविह माधिके कथ पावतके चेडे शुद्धु न मए जग्गे । एते पणु मम अणज्जइजा शपली (विविन्द्य) एव दाव कन्नाइजाम् । (प्रकाशम्) अलीअ भट्टासका (हहो, एते चेडे मुवण्णचोरिआए मए गहिंवे परिटडे मारिंवे वद्धे अ । ता क्खिदवेत्ते एते अ भणादि ॥ शच्चम (अपवा-रितकेन चेटस्य षटक प्रयच्छति । स्वैरकम्) पुरतका स्थावसका चेडा, एव गेपिहअ अणया भणाहि । [हन्त कथ स्थावरकश्चेट सुष्ठु न मया सयः । एषं सतु ममाकायस्य साक्षी । एव तावत्करिष्यामि । अलीकं भट्टारका । अहो, एष चेट मुवण्णचोरिसया मया गृहीतस्ताडितो मारितो वदश्च । तत्कृतवैर एष यद्गणति किं सत्यम् ? पुत्रक स्थावरक चेट, एतद्गृहीत्वान्यथा भण ।]

चेट — (गृहीत्वा) वेरवद वेरवद भट्टासका । हहो, मुवण्णेण न पत्तोमेदि [पश्यत पश्यत भट्टारका । अहो मुवण्णेण मा प्रतोभयति ।]

चेट—(देखकर) मातक, यह वह भाता है ।

दोनों शाण्डाल—

हट जाओ, मार्ग दे दो, द्वार बन्द कर लो, चुप हो जाओ । अविनय रूपी तीक्ष्ण सीनों वाला दुष्ट बंल (शकार) इधर आ रहा है ॥३०॥

शकार—अरे अरे, अबकाश दो अबकाश (समीप आकर) पुत्र स्वावरक; चेट आओ चले ।

चेट—अहो ! अनार्य नसन्तसेना को मारकर ही मनुष्य नहीं हुआ । इस समय प्रार्थी जनों के कल्प वृक्ष आर्य चारुवत्त को मरवाने के लिये उद्यत है ।

शकार—रत्न बलन के समान मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ ।

सब—हाँ ! तुमने मारी है । आर्य चारुवत्त ने नहीं ।

शकार—ऐसा कौन कहता है ?

सब—(चेट की ओर संकेत करके) जो; यह सज्जन ।

शकार—(अलग से भयपूर्वक) लेद, स्वावरक चेट को मैंने भली-भाँति क्यों नहीं बाँधा । यही मेरे अकार्य का साक्षी है । (सोचकर) तो ऐसा कल्लेगा । (प्रकट रूप, में) अधिकारीगण, यह झूठ है । अहो, यह चेट स्वर्ण की खोरी करने के कारण मेरे द्वारा पकड़ा गया, पीटा गया, मारा गया और बाँध लिया गया । तो मैं करके जो यह कहता है क्या यह सत्य है ? (अलग से चेट को कड़ा देता हुआ धीमे स्वर से) पुनरु, स्वावरक, चेट, यह लेकर अन्य प्रकार से कह दे ।

चेट—(निकर) देखिये, मातक, देखिये । अहो ! मुझे सुवर्ण से लुभा रहा है ।

---

अपसरतेति । अपसरत दूरं गच्छन्, मार्गं बन्तं, द्वारं पिपत्त आवृतं कुवत्तुरणीकाः मीनयुक्ताः भवन्तः । अविनय एव तीक्ष्णो विषाद्यः शृङ्गं यस्य तारयाः दुष्टबलीवर्धः दुष्टवृषभरूपः शकार इत्यर्थः इतः मत्र एति आगच्छति । जाप्यं वृत्तम् ॥३०॥

प्रणयिजनानां प्रायिजनानां कल्पपादव कल्पवृषभम् । ध्यवसितः उद्यतः । स्वरेण एव स्वरेणम् मन्दस्वरेण, यथा—'परचात्र स्वैरं गज इति किल व्याहृतं मर्यादायां' (वेणीवहाट ३-६) ।

शकार—(बटुकमाच्छिद्य) एते मे सुवर्णके, जश कालणादो मए ददं । (सत्रोपम्) हहो चाण्डाला, मए ऋषु एते सुवर्णमण्डाले णिउरो सुवर्णं चोतभन्ते मालिदे विरिठदे । ता जदि ण पत्तिभाअद्य ता विरिठ दाय वेवत्तद्य । [एतत्तत्सुवर्णकम्, यस्य कारणान्मया बद्ध । हहो चाण्डाला, मया रत्नवेद्य सुवर्णभाण्डारे नियुक्त सुवर्णं चोरयन्मारितस्ताडित । तद्यदि न प्रत्यायध्वं तदा वृष्टं तावत्प्रयत ।]

चाण्डाली—(दृष्ट्वा) शोहण भणारि । वितत्ते घडे किं ण प्पलनदि ? [शोभनं भणति । वितत्तश्चेत् : किं न प्रलपति ? ]

चेट—होमादिके ईरितो दासभावे ज शक्य कपि ण पत्तिभाअदि (सकरुणम्) भग्जचानुदत्त, एतिके मे विहवे । [हन्त, ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यायति । आद्यं चारदत्त, एतावन्मे विभवः ।] (इति पादयो पतति)

चाण्डाली—(सकरुणम्)

उत्तिष्ठ भो पतितसाधुजनानुवम्पि-

न्निम्भारणोपगतबान्धव धर्मशील ।

यत्नं कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय

देव न सवदति किं न श्रुतं त्ययाद्य ॥३१॥

चाण्डाली—बटुके, विद्विष एव चेह णिबलालेहि । [बटुकं, ताडयित्वैतं चेदं निष्कासय ।]

शकार—णिबकम से (इति निष्कामयति) अले चाण्डाला, कि विसम्भेद्य । मालेद्य एदम् । [निष्काम रे । अरे अरे चाण्डाला, किं विसम्भेद्यम् । मारयतीत्यम् ।]

चाण्डाली—जदि तुयलमि ता शक्य णेयेय मालेहि । [यदि त्वरयसे तदा स्वयमेव मारय ।]

रोहतेन—अले, चाण्डाला, न मारेद्य । मुञ्चद्य आबुकम् । [अरे चाण्डाला, मा मारयत । मुञ्चत पितरम् ।]

शकार.—शपुत्तं णेयेय एवं मालेद्य । [सपुत्रमेवैतं मारयत ।]

चाण्डाली—सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाष्यते । तद्गच्छ पुत्र, मातुः समीपम् ।

रोहतेन—क भए गदेण कारध्वम् । [किं मया गतं न कर्तव्यम् ।]

चाण्डाली—

मात्रम वस गन्तव्यं गृहीत्वाचैव मातरम्

शकार—(कड़ा खीनकर) यह वह स्वपं है जिसके कारण मैंने इसे बाँधा था (क्रोध सहित) अरे, चाण्डालो मैंने इसे सुवर्ण-भाण्डार में नियुक्त किया था। सुवर्ण चुराते हुए इसे मारा पीटा। तो यदि (तुम दोनों) विश्वास नहीं करते तब (इसकी) पीठ को देख लो।

दोनों चाण्डाल—(देखकर) आप ठीक कहते हैं। उत्पीड़ित किया गया चेट क्या (झूठ) नहीं कहेगा ?

चेट—खेद, दासता ऐसी (बुरी) है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती। (करुणा सहित) आर्य चारुदत्त, इतना ही मेरा सामर्थ्य है। (धरनों में गिरता है)

चारुदत्त—(करुणा सहित) हे आपत्तिग्रस्त थोष्ट जनो पर कृपा करने वाले, अकारण आये हुए बन्धु, धार्मिक जन, उठो। मेरी भुक्ति के लिये तुमने महान् प्रयास किया है किन्तु भाग्य अनुकूल नहीं है। तुमने आज क्या नहीं किया है ॥३१॥

दोनों चाण्डाल—स्वामी, इस चेट को पीटकर निकाल दो।

शकार—निकल रे। (निकासता है) अरे चाण्डालो, क्यों बिलम्ब करते हो ? इसको मारो।

दोनों चाण्डाल - यदि शीघ्रता करते हो तो स्वपं ही मार दो।

रोहसेन—अरे चाण्डालो, मुझे मार दो। पिता जी को छोड़ दो।

शकार—इसको पुत्र सहित ही मार दो।

चारुदत्त—इस मूर्ख के लिये सब कुछ सम्भव है अतः हे पुत्र, माता के समीप जाओ।

रोहसेन—मुझे जाकर क्या करना है ?

चारुदत्त—वत्स, आज ही माता को लेकर आश्रम में चले जाना चाहिए।

हन्त इति खेदे विस्मये चाव्ययम् । दासभावः दासता प्रत्यापत्ति विश्वासपति ।  
विभवः सामर्थ्यम् ।

चारुदत्त पादयोः पतितं स्यात्वरकचेष्टं प्रति कथयति—उत्तिष्ठेति । सो पतितम् आरुद्रस्तं सायुजनम् अभुक्म्पते इति पतिनसायुजनानुक्रमी तत् तन्मुढो, निष्कारणम् उपगतः निष्कारणोपगतः, सः चासौ बाध्यवत् तत्सन्मुढो, धर्मशील, उत्तिष्ठ त्वया स्यात्वरकेण मम चारुदत्तस्य भोजनपाप-मुक्त्यर्थं मुमहान् यत्नः कृतः अरि इवं न संवदति भाम्यं अनुकूलं नास्ति । त्वया अद्य किं न कृतम्—यथासक्ति सर्वदेवं कृतमिति भावः । परिकरानष्टारः । । असन्ततिलता वृत्तम्-॥३१॥

संवदति अनुकूलं भवति ।

आश्रममिति-वत्स अद्य एव मातरं गृहीत्वा आश्रमं तत्रोत्तं गन्तव्यम् । पुत्र मा

मा पुत्र पितृदोषेण त्वमप्येव गमिष्यसि ॥३२॥

तद्वयस्य, गृहोत्थेन वज्र ।

विदूयक—भो वज्रस्य, एव तुए जाणिदम्, तुए विना अह पाणाई धारेमि ति ? [भो वयस्य, एव त्वया ज्ञातम्, त्वया विनाह प्राणान्धारया-मीति ?]

चारुदत्ता—वयस्य स्वाद्योनजीवितस्य न युज्यते तत्र प्राणपरित्याग ।

विदूयक—(स्वगतम्) जुष्टं जेदम् । तथा पि न सक्कुणोमि विअवअस्स-विरहिबो पाणाइ धारेनुं ति । ता बग्गुणोए दारअ समण्णिअ पाणपरिच्छाएण अत्ताणो विअवअस्स अशुणमित्तम् । (प्रकाशम्) भो वज्रस्य, पराणेमि एव लट्टम् । [युवतं नेदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहित, प्राणान्घर्तुमिति । तद्ब्राह्मण्यै दारकं समर्थं प्राणपरित्यागेनात्मन प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो वयस्य, परानयाम्येत लघु ।] (इति सकण्ठग्रह पादयो पतति)

(दारकोऽपि हृदयतति)

शकार—अने, ण भणामि रापुत्ताक् चालुदत्ताक् दावादेध ति । [अरे ननु भणामि सपुत्रकं चारदत्त व्यापादयतेति ।]

(चारुदत्तो भय नाटयति)

चाण्डाली—गहि अग्गहाण ईदिशो ताआण्णरी, जथा रापुत्त चालुदत्तां दावादेध ति । ता निक्कम ले दात्ता, निक्कम । (इति निष्कामयत) इम तद्वज्र घोरा-णट्ठाणम् । तादेध डिण्डिमम् । [न ह्यस्माकमीदृशी राजाशक्तिः यया सपुत्र चारुदत्त व्यापादयतेति । तन्निष्काम रे दारक, निष्काम । इदं तृतीय घोषणा-स्थानम् । ताडयत डिण्डिमम् ।] (पुनर्घोषयत)

शकार—(स्वगतम्) क्व एशे व पसिआअन्ति पीत्ता । (प्रनाशम्) हहो चालुदत्ता बट्टका, ण पसिआअदि एशे पीत्तजणे । ता अरण्णकेत्तिक्काए जीहाए भणाहि मए धराण्णतोणा मासिदेत्ति । [कथमते न प्रत्ययन्ते पीरा । अरे चारुदत्त बट्टक, न प्रत्ययत एण पीरजन । तदात्मीयमा जिह्वया भण मया वचन्तयेना मारितेति ।]

(चारुदत्तस्तूप्णीभास्ते)

शकार—अले चाण्डालसपोहे, ण भणादि चालुदत्तायडुके ता भणवेध इमिणा अज्जतवशासण्डेण शङ्खणेण तात्तिअ तात्तिअ । [अरे चाण्डालमनुष्य न भणति चारुदत्तवट्टक । तद्व्यथयतानेन जर्जरवशासण्डेन शङ्खलेन ताडयित्वा ताडयित्वा ।]

चाण्डाल—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्त भणाहि । [भोश्चारुदत्त, भणा ।

चारुदत्ता—(सकरषम्)

ह पुत्र, नहीं तो पिता के (मेरे) अपराध से तुम भी दसी प्रकार चले जाओगे ॥३२॥

अतः मित्र, इमको लेकर जाओ ।

विद्वयक—हे मित्र, तुमने यह समझ लिया है कि मैं तुम्हारे बिना प्राण धारण करूँगा ?

चारुदत्त—मित्र, तुम्हारा जीवन स्वाधीन है अतः तुम्हें प्राण-त्याग करना उचित नहीं ।

विद्वयक—(अपने आप) निश्चय ही यह ठीक नहीं है । तथापि प्रिय मित्र से विमुक्त होकर मैं प्राण धारण करने में समर्थ नहीं । अतः ब्राह्मणी को यह बासक सौंकर प्राण-व्रित्याग कर अपने प्रिय मित्र का अनुसरण करूँगा । (प्रकट रूप से) हे मित्र, मैं इसे शीघ्र ही लौटा ले जाता हूँ ।

(गले मिलकर पंरो पर गिर जाता है)

(शानक भी रोता हुआ गिर जाता है)

शकार—अरे कहता तो है कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो :

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है)

शोनों चाण्डाल—हमें ऐसी राजाना नहीं है कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो । अतः निकल जा हे बालक, निकल जा (दोनो निकालते हैं) यह तीसरा धोपणा स्पष्ट है । डोल पीटो । (फिर धोपणा करते हैं)

शकार—(अपने आप) क्यों ! ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । (प्रकट रूप से) अरे, चारुदत्त बटुक, ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । अतः अपनी जिह्वा से कहो कि 'मैंने वसन्तसेना मार दी है ।'

(चारुदत्त चुप रहता है)

शकार—अरे गौह नामक चाण्डाल, चारुदत्त बटुक तो नहीं कहता है । अतः नीचे बांस के टुकड़े के इस वादन दण्ड (झल्लतेन) से पीट-पीटकर इससे कहलाओ ।

चाण्डाल—(प्रहार के लिए उद्यत होकर) हे चारुदत्त कहो ।

चारुदत्त—(करणः सहित)

एतद् न स्मात् यत् पितृबोधेण पितुः (मम) अपराधेन त्वम् अपि रोहसेनः अपि एवम् महम् इव गमिष्यासि मृत्युं यास्यसि ॥३२॥

स्वाधीन स्ववयं जीवितं यस्य तथाभूतस्य प्राणव्रित्यागः न युज्यते, आत्महरया हि नोचिन्तेति भावः । परानयामि निवर्तयामि । तद्यु शीघ्रम् ।

प्राप्येतदव्यसनमहार्णवप्रपातं

न प्रासो न च मनसोऽस्ति मे विपादः ।

एको मा दहति जनापवादवह्नि-

वक्तव्य यदिह मया हता प्रियेति ॥३३॥

(शकार पुनस्तथैव)

चावदत्त — भो भो शौरा । ('भया खलु नृसशेन' (६।३०, ३८) इत्यादि पुन पठति)

शकार — यावादिहा । [व्यापादिता ।]

चावदत्त — एवमस्तु ।

प्रथमवाण्डाल — अले, तव अस्त वज्रपालिआ । [अरे, तवान्न वध्य-पालिका ।]

द्वितीयवाण्डाल — अले, तव । [अरे तव ।]

प्रथम — अले, लेशलअ कलेम्ह । (इति बहुविध लेखक कृत्वा) अले, जदि शमकेलिका वज्रपालिआ, ता चिट्ठु बाव मुहुत्तअम् । [अरे लेख कुर्मः । अरे, यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावग्मुहूर्तअम् ।]

द्वितीय — किणिमित्तम् । [किणिमित्तम् ।]

प्रथम — अले, भणितो म्हि पिटुणा शय्य वपुस्सतेण, जघा—पुत्त वीरअ, जइ सुह वज्रपालिआ होदि, मा महसा वावादअणि वच्चाम् । [अरे, भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता, यथा—पुत्त वीरक, यदि तव वध्यपालिका भवति, मा सहसा व्यापादमसि वध्यम् ।]

द्वितीय — अले, किणिमित्तम् । [अरे, किणिमित्तम् ।]

प्रथम — कदापि कोवि शाहू अत्थ बइअ वज्र मोअवेदि । कदापि सण्णो पुत्ते भोरि, तेण वद्धावेण शय्यवज्रताण मोवत्ते होदि । कदापि हत्थी वण्य सण्णेदि, तेण संभमेण वज्जे मुक्के होदि । कदापि साअपलिवत्ते होदि, तेण शय्यवज्रताण मोरत्ते होदि । [कदापि कोऽपि साधुरथं दत्त्वा वध्य मोचयति । कदापि राज पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्याना मोक्षो भवति । कदापि हस्ती बन्ध लण्डयति, तेन स्रग्भ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति । कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्याना मोक्षो भवति ।]

शकार — कि कि साअपलिवत्ते होदि । [कि कि राजपरिवर्तो भवति ।]

वाण्डाल — अले, वज्रपालिआए लेखलअ कलेम्ह । [अरे, वध्यपालिकाया लेख कुर्म ।]

इस विपत्ति के महासमुद्र में गिरकर मेरे मन में भय नहीं बीर न विपाद ही है । केवल इस लोकापवाद की अग्नि ही मुझे जलाती है जो यहाँ मुझे कहता है कि "मैंने वसन्तसेना को मारा है" ॥२३॥

(शकार फिर वैसे ही कहता है)

चारदत्त—हे नगरवासियो, (मया खलु नृशसेन ६. ३०. ३८ इत्यादि फिर कृता है ।)

शकार—मार दो ।

चारदत्त—ऐसा ही हो ।

प्रथम चाण्डाल—अरे तेरी वध करने की बारी है ।

द्वितीय चाण्डाल—अरे तेरी ।

प्रथम—अरे गणना करते हैं (बहुत प्रकार की गणना करके) अरे यदि मेरी वध करने की बारी है तो थोड़ी देर ठहरो ।

द्वितीय—किम लिए ?

प्रथम—अरे स्वर्ग आते हुए मेरे पिता ने मुझ से कहा था कि हे खीर पुत्र, यदि तेरी वध की बारी हो तो वध्य को सहमा न मारना ।

द्वितीय—अरे, किस लिए ?

प्रथम—कभी कोई सज्जन धन देकर वध्य को छुड़ा लेता है । कभी राजा के पुत्र होता है, उस (कुल) वृद्धि के महोत्सव के कारण सब वध्यजनों को मुक्त कर दिया जाता है, कभी हाथी वग्यन को छोड़ देता है उस धबराहट से वध्यजन मुक्त हो जाता है । कभी राज-परिवर्तन ही जाता है, उसने सब वध्यजनों की मुक्ति हो जाती है ।

शकार—क्या-क्या ? राज्य बदलता है ?

— चाण्डाल—अजी, वध करने की बारी की गणना (हिसाब) कर रहे हैं ।

शङ्खसेन पट्टवादनदण्डेन । प्रहारं प्रहाराम्पुं उद्यम्य उद्यतो भूत्वा । चाण्डालेन भीषितः चारुदत्तः कथयति—प्राप्येति । एतद् व्यसनम् आपतिः एव महापुंखः महा-समुद्रः सप्त प्रपातं पतन प्राप्य मे नम चारुदत्तस्य मनसः न प्राप्तः भयं न च विपादः अस्ति । एकः केवलं मया चारुदत्तेन लोभात् प्रिया वसन्तसेना हतेति यत् इह अत्र बलप्यम् इति जनापवादः लोकापवादः एव यद्विः अग्निः मां दहति सन्तापयति । रूपकालङ्कारः । प्रहापिभी वृत्तम् ॥३३॥

वध्यपातिका वधपर्यायः (पृथ्वी०) । तेषां गणनाम् । बीर एव बीरकः उत्सामुद्रा । बीरक इति चाण्डालनाम—इति पृथ्वीघटः ।

वृद्धेः कुनवृद्धेः अभ्युदयस्य वा महोत्सवः तेन निमित्तेन । वध्यं उद्ययति वध्यम् आच्छिद्य प्रयतति (पृथ्वी०) ।



शकार—ऊते, शिघ्रं मातेष चातुदत्ताकम् । [अरे, शीघ्रं मारयत चारुदत्तम् ।] (इत्युक्त्वा चेटं वृहीर्त्वीकान्ते रिषत् )

वाग्दालः—अञ्जघालुदत्त, साअणिओओ ह्यु अवलज्जदि, ण ह्यु अम्हे घाग्दाला । ता शुमतोहि ज शुमतिदय्य । [आर्यचारदत्त, राजनियोगः सत्वपरा-  
ध्यति, न खलु वयं चाण्डाला , तत्स्मर यत् स्मर्तव्यम् ।]

चारदत्त —

प्रभवति यदि घर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य

प्रवत्तपुरुषवावयंभग्न्यदोषात्कथञ्चित् ।

मुरपतिभवनस्या यत्र तत्र त्र्यिता वा

व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥३४॥

मोः, वद तावन्मया गतप्यम् ।

वाग्दालः—(अयतो दर्शयित्वा) अले एहं दोरादि इरिखणमशाणम्, जं पेरिल्लम  
दग्गा इति पाणाइ मुञ्चन्ति । पेरल पेरल ।

अहं कलेवल पडिवृत्तं कट्टन्ति दीहगोमाभा ।

अहं पि शूललग्गं वेश विअ अट्टहाशश ॥३५॥

[अरे एतद्दृश्यते दक्षिणश्मशानं यत्रेश्य वध्या इति प्राणान्मुञ्चन्ति ।

पश्य पश्य ।

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीघंगोमामवः ।

अर्धमपि शूललग्गं वेश इवाट्टहासस्य ॥

चारदत्तः—हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्य. (इति सावेगमुपविशति)

शकारः—ण बाह गमिरशम् । चातुदत्ताकं वावादअन्तं दाव पेरलामि ।

(परिक्रम्य हृष्ट्वा) कथं उच्यते । [न तावद्गमिष्यामि । चारुदत्ताकं व्यापाद्यमातं  
तावत्पश्यामि । कथमुपविष्टः ।]

वाग्दालः—चारदत्ता किं भीदेशि । [चारदत्त, किं भीतोऽसि ।

चारदत्तः—(सहस्रोत्थाय) मूर्ख । (‘न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं वराः’

, ०।२७ इत्यादि पुनः पठति)

वाग्दालः—अञ्जघालुदत्त, गजणइते पडिवरान्ता चन्दासुरजा यि विपत्तिं  
सहन्ति । किं जण जणा मलणभोलुआ भाण्वा वा । मोए कोवि उट्टिठरो पडि, कोयि  
पडिठोवि उट्टेदि ।

उदुन्तपदन्ताह वशणपाडिआ शवश उण अत्थि ।

एवाइ हिअए कदुअ सघासेहि अत्ताणअम् ॥३६॥

शकार—अरे चारदत्त को शीघ्र मार दो ।

(यह कटकर चेट को लेकर एकान्त में ठहर जाना है)

चाण्डाल—आर्थे चारदत्त, राजा अपराधी है हम दोनों चाण्डाल नहीं । तो स्मरण कर लो जिसे स्मरण करना हो ।

चारदत्त—आज शक्तिशाली पुरुष (न्यायाधीश या शकार) के बचनो से अपने भाग्य-दोष के कारण कलङ्कित हुए मेरा धर्म यदि कुछ भी प्रभाव रखता है तो इन्द्र के भवन (स्वर्ग) में स्थित अथवा जहाँ कहीं (जीवित हो) विद्यमान वह बसन्तसेना ही अपने स्वभाव से मेरे कलङ्क को दूर करे ॥३४॥

अरे, अब मुझे कहीं जाना है ?

चाण्डाल—(आगे दिखलानाकर) अरे यह दक्षिण भ्रमशान दिखलाई दे रहा है जिसे देखकर बह्य पुरन्त प्राणों को छोड़ देते हैं । देखो देखो ।

उन्नत शरीर वाले शृगाल शूल से लटकते हुए (प्रतिवृत्त) आधे शरीर को झोच रहे हैं । शूल पर स्थित (शेष) आधा भाग भी (काल के) विकट हास का रूप-सा प्रतीत होता है ॥३५॥

चारदत्त—हाय, मन्दभाग्य वाला मैं भर गया । (आवेग के साथ बैठ जाता है) ।

शकार—अभी नहीं आऊँगा । जब तक चारदत्त को मारे जाते हुए देखता हूँ । (द्रुमकर देखकर) क्या वह बैठ गया ?

चाण्डाल—चारदत्त, क्या डर गये हो ?

चारदत्त—(सहसा उठकर) मूर्ख (न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं मयाः ॥१७ इत्यादि फिर पढ़ता है)

चाण्डाल—आर्थे चारदत्त, गगन तल में दास करने वाले चन्द्रमा और सूर्य भी विपत्ति को प्राप्त होते हैं, फिर मनुष्य अथवा (कहिय) मृत्यु से डरने वाले मानव

या बसन्तसेनैव भाग्याददूषितस्य मे कलङ्कं दूरीकरोतु इत्याह चारदत्तः—  
 प्रभवतीति । अथ प्रबलपुरुषस्य न्यायाधीशस्य शकारस्य वा वाक्यैः बचने भाग्यदोषान्  
 दूषितस्य अपि मे मम चारदत्तस्य धर्मः पुण्य यदि कश्चित्त्वं प्रभवति सपत्नींस्ति तदा  
 मुरपतेः भवन्तस्य स्वर्गं स्थिता एव तत्र स्थिता यत्र जीवन्ती एव यत्र स्वधित् वत्तमाने  
 वा या बसन्तसेनैव स्वैस्वभावेन व्यात्मनः स्वरूपेण परित्रेण वा मम कलङ्कं स्पृपतमनु  
 दूरीकरोतु । मालिनी वृत्तम् ॥३४॥

अर्धमिति । दीर्घाः उन्नताः विशालाः वा गोमायवः शृगालाः प्रतिवृत्तं शूलाद्  
 लम्बितम् । अर्धं क्लेवर शरीरं कर्षन्ति । शूले लग्नं स्थितम् अर्धम् अपि अट्टहासस्य  
 कल्पस्य विकटहासस्य वेश इव स्वरूपमिव विलते दति शेषः । आर्षा वृत्तम् ॥३५॥

सावेगम् आवेगेन सहितम् ।

उत्तिष्ठद् इति । उत्तिष्ठन् चामो पतन् चेति तस्य अथवा पूर्वम् उत्तिष्ठतः  
 पश्चात् पततः च शकस्य मृगशरीरस्य पुनः बसन्तस्य बसन्त इव पातिरा

(द्वितीयवाक्यात् प्रति) एवं अउठं घोषणद्वयम् । सा उग्योराह [आर्यचारुदत्त गगनतले प्रतिवसन्तो चन्द्रमूर्यावपि विपत्ति लभन्ते । किं पुनर्जना मरणभीष्टका मानवा वा । लोके कोऽप्युत्थित पतति, कोऽपि पतितोऽभ्युत्तिष्ठते ।

उत्तिष्ठत्पततो दसनपातिका शवस्य पुनरस्ति ।

एतानि हृदये कृत्वा संघारयात्मानम् ॥

एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम् । तदुद्धोपयाव ।]

(पुनस्तथंघोषोपयत

'चारुदत्त—हा प्रिये वसन्तसेने । (अशिविमलमयूख' १० १३ इत्यादि पुन पठति) (ततः प्रविशति ससध्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

भिक्षु—हीमाणहे, अद्वानपतिशश-सं रामशशाशिम धान्तरोणिभ्र नभन्ते मणुगहिवह्नि पम्बजभाए । उवाशिके, कहिं तुम णइशसम् । [आश्चर्यम् । अस्थान-परिश्रान्ता समाशवास्य वसन्तसेनिका नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रजयया । उपासिके कुत्र त्वा नेष्यामि ।

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स ण्जेव गेहम् । तस्स दसणेभ्मि मिमत्ताञ्छणस्त विम कुमुदिणि भाणवेहि मम् । [आर्यं चारुदत्तस्यैव गेहम् । तस्य दर्शनेन मृग-लाञ्छनस्यैव कुमुदिनीमानन्दय माम् ।]

भिक्षु—(स्वगतम्) करलेण मग्गेण पविशामि । (विचिन्त्य) साममग्गेण ण्जेव पविशामि । उवाशिके, एहि । इम लाअममम् (आकर्ण्य) किं नु म्हु एते साममग्गे महन्ते कसअले शुणीअदि ? [कतरेण मार्गेण प्रविशामि । राजमार्गेणैव प्रविशामि । उपासिके, एहि । अयं राजमार्गः । किं नु खल्वेयं राजमार्गे महान्करायलं श्रूयते ?]

वसन्तसेना—(अप्रतो निरूप्य) कध पुरदो महानपसमूहो ? अज्ज जाणाहिं वाव किं णेर ति । विसममरवकन्ता विअ वमुन्धरा एअवासोण्णदा उज्जइणो बट्टदि । [कथं पुरतो महाञ्जनसमूह ? आर्य, जानीहिं तार्वात्कन्विदमिति । विषममर-व्रान्तैव वमुन्धरा एकवासोन्नतोऽज्जयिनी वर्तते ।

चारुदत्त—इम अ पविद्धम घोषणद्वयम् । सा तालेय विण्डिमम् । उग्यो-रोय घोषणम् । (तया कृत्वा) भो चारुदत्त, पडिवालेहि । मा माम्हाहि । लडुं ण्जेव मासीमसि । [इदं च पश्चिम घोषणास्थानम् । तत्तादृश्यत विण्डिमम् । उद्-घोषयत घोषणाम् । भोश्चारुदत्त, प्रतिपालय । मा भे । शीघ्रमेव मार्यसे ।]

चारुदत्त—मनवरयो देवता ।

भिक्षु—(धृत्वा ससध्रमम्) उवाशिके, तुम किल चारुदत्तेण मारितासि ति चारुदत्तो मारितुं णोअदि । [उपासिके, त्वं किल चारुदत्तेन मारितासौति चारुदत्तो मारयितुं नीयते ।]

(मल्ल) तो क्या ? लोक में कोई उठकर गिरता है, कोई गिरकर भी उठता है ।

उठकर गिरते हुए मृत शरीर को भी वस्त्र के समान ही पतन क्रिया होती है । यह हरय में विचार कर अपने आपको स्थिर करो ॥३३॥

(फिर वैसे ही मोपणा करते हैं)

चारदत्त—हाय प्रिये, वसन्तसेना, (शक्तिविमलमयूख १०।१३ इत्यादि फिर पढ़ता है)।

(एक घबराहट के साथ वसन्तसेना प्रवेश करती है और भिक्षु भी)

भिक्षु—आश्चर्य है ! अनुचित स्थान में परिध्यान (मूर्च्छित) हुई वसन्तसेना को आवस्त (स्वस्थ) करके ले जाया गया मैं सन्यास द्वारा अनुग्रहीत (कृतकृत्य) हुआ हूँ । उपासिके तुम्हें कहाँ ले चलूँ ?

वसन्तसेना—आर्य चारदत्त के ही घर । उनके दर्शन से, चन्द्रमा के दर्शन- से तुमुदिनी के समान, मुझको आनन्दित करें ।

भिक्षु—(अपने आप) कित्त मार्ग से प्रवेश-करूँ ? (सोचकर) राजमार्ग से ही प्रवेश करूँ । उपासिके, मामो यह राजमार्ग है । (सुनकर) क्या ! राजमार्ग पर बड़ा कीताहल मुमार्ई दे रहा है ?

वसन्तसेना—(आगे देखकर) क्यों सामने बड़ा जन-समुदाय है । आर्य पदा तो मनाओ कि यह क्या है ? विषमभार से आक्रान्त पृथ्वी के समान उज्जयिनी नगरी एक स्थान पर उमड़ी जा रही है ।

शाण्डाल—और यह पाँचवाँ शोषणा स्थल है, अजः बोल पीटो, शोषणा शोषित करो । (बैसा करके) हे चारदत्त, प्रतीक्षा करो । (उदित हो जाओ) करो मठ । शीघ्र ही मारे जा रहे हों ।

चारदत्त—भगवती देवताओं !

भिक्षु—(सुनकर घबराहट से) उपासिके, तुम्हें चारदत्त ने मार दिया, इस सिधे चारदत्त को मारने के लिये ले जाया जा रहा है ।

पवनशिला अस्ति यथा जार्णवस्त्रं व्यज्यते तथैव शरीरमपि इति भावः, एतानि हृदये इत्या आत्मानं संघात्रय स्थिरं कुरु ॥३६॥

प्रवज्यया प्रवज्यते इति प्रवज्या तया, संन्यासेन अनुग्रहीतः अस्मि कृतापः इतोऽस्मि । मृगत्य साञ्छनं निह्नं यस्मिन् सः तस्य चन्द्रस्य । एकगते एकस्थाने वन्या । प्रतिपालय प्रतीक्षां कुरु प्रहारं सोद्गुणवती भवेति भावः ।

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) हृद्धी हृद्धी, ऋध मम मन्दभाइणीए विदे अञ्ज-  
घालुदत्तो याषादीअदि ? भो तुरिद तुरिद आदेसेहि मग्गम् । [हा धिक हा धिक, कयं  
मम मन्दभागिन्याः कृत आयचारदत्तो व्यापायते । भो त्वग्नि त्वरित्तमादिश  
भागम् ।]

मिश्रः—तुषत्तु तुषत्तु बुद्धोपासिका अञ्जघालुदत्त जीभन्त शमरया-  
शिशुम् । अञ्ज, अन्तल अन्तल देष । ,स्वरता त्वरता बुद्धोपासिकायेचारदत्तं  
जीवन्त समाश्वासयितुम् । आर्या. अन्तरमन्तर दत्त ।]

वसन्तसेना—अन्तर अन्तरम् । [अन्तरमन्तरम्]

चाण्डाल — अञ्ज घालुदत्त, समिणिओओ भवत्तज्जदि । ता शुभसेहि जं  
शुभलित्दर्शम् । [आर्यंचारदत्त, स्वामिनियोगोऽपराधयति । तत्स्मर यत्स्मरत्तंभ्यम् ।]

धारदत्त — विबहूना । (प्रभवति—' १०। ४ इत्यादि श्लोक पठति) ।

चाण्डाल —(सङ्घमाहृष्य) अञ्जघालुदत्त, उत्ताने ऋविभ्र समं विदु ।  
एककल्पहातेण मालिअ तुम शग्ग पेण्ह । [आर्यंचारदत्त, उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ ।  
एकप्रहारेण मारयित्वा त्या स्वर्गं नयामः ।]

(पारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

चाण्डाल. —(एतुं) भीहते सङ्घपत्तन हस्ताक्षिणयद्) ही, ऋधम् ।

आञ्जट्टिदे शलोञ्ज मृद्धीए मुट्टिणा गहीदे वि ।

घलणीए कीश पडिदे दालुपके अशणिसाणिहे खग्गे ॥३७॥

जया एवं संयुक्तम्, तथा तस्मैमि न शिवञ्जदि अञ्जघालुदत्तो ति । अमयदि शान्त-  
धारिणि पशोद पशोद । अवि शाम चालुदत्तरा भोरत्ते भवे, ततो अणगहोदं तुण  
चाण्डालउत्त भवे । [ही ! कथम् ।

आकूटः शरोप मुट्टिना गृहीतोऽग्नि ।

धारण्या किमर्थं पतितो दारणकोऽश्विनिसनिभः सङ्घः ॥

ययैतत्संवृतम्, तथा तर्क्यामि न विपद्यत भार्यंचारदत्त इति । अगवति सह्यवा-  
सिनि, प्रसीद प्रसीद । अपि नाम चारदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वमा  
चाण्डालकुलं भवेत् ।]

अपर—अघाञ्जसं अणचिदुग्ग्ह । 'यथाज्ञप्तमनुत्तिष्ठावः ।]

प्रथम—भोदु । एव्व वसेग्ग्ह । [भवतु । एवं कुवं ]

(इत्थुमी चारदत्त शूले समारोपयितुमिच्छत)

(पारुदत्तः 'प्रभवति' १०।३४ इत्यादि पुन पठति)

मिश्रसंस्तोना च—(एट्वा) अञ्ज, मा वाव मा हव । अञ्जा एसा अहं  
मन्दभाइणी, आप कारणावो एतो याषादीअदि । [आर्या. मा तावन्मा तावत् ।  
आर्या., एपाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेव व्यापायते ।]

वसन्तसेना—(घबराहट के साथ) हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार ! मुझ मन्दभागिनी के लिये चारुदत्त को क्यों मार जा रहा है ? भरे, शीघ्रातिशीघ्र मार्ग बतलाओ ।

मिथु—जीवित रहते आर्य चारुदत्त को आशवासन देने के लिये बुद्ध की उपासिका शीघ्रता करें, शीघ्रता करें । आर्यजनो, स्थान (दो), स्थान (दो) ।

वसन्तसेना—आर्य (दो) मार्ग (दो) ।

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त (इसमें) स्वामी का आदेश ही अपराधी है । अतः शीघ्र कुछ स्मरण करना हो, स्मरण कर शीघ्र ।

चाण्डाल—अधिक क्या ('प्रभवति' १० । ३४ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

चारुदत्त—(तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त, ऊपर की होकर सीधे लड़ो, एक प्रहार से मारकर तुम को स्वयं में पहुंचाते हैं ।

(चारुदत्त वैसे ही लड़ा होता है)

चाण्डाल—(प्रहार करना चाहता है । हाथ से तलवार गिरने का अभिप्राय करता हुआ) मोह ! यह कैसे ?

रोपपूर्वक (स्थान से) लीची गई, मूठ पर मुट्ठी से पकड़ी गई वज्र के समान मर्कट यह तलवार क्यों गिर गई ? ॥३७॥

क्योंकि ऐसा हुआ है उससे मैं अनुमान करता हूँ कि आर्य चारुदत्त नहीं मारा जाता । सह्य (पर्वत) पर वास करने वाली देवी (दुर्गा), प्रसन्न हो पाओ, प्रसन्न हो जाओ । यदि चारुदत्त की मुक्ति हो जाये तो तुम्हारे द्वारा यह चाण्डाल कुन अनर्णीत हो जाये ।

ब्रह्मरा—हम दोनों (राजा की) आज्ञा के अनुसार कार्य करें ।

प्रथम—मच्छा, ऐसा ही करें ।

(दोनों चारुदत्त की शूरी पर चढाना चाहते हैं)

मिथु और वसन्तसेना—(देखकर) आर्यजनी, ऐसा न कीजिए, न कीजिए । आर्यगण यह मैं मन्दभागिनी हूँ जिसके कारण ये मारे जा रहे हैं ।

आकृष्ट इति । सरोयं रोपपूर्वकम् आकृष्टः कोणात् निष्कासित, मुष्टो सह्यस्य मुष्टी (सरो) मुष्टिना स्वहस्तमुष्टिना गृहीत अपि अस्ति सन्निभः वज्रसदृशः चारुदत्तः भयङ्करः सह्यः किमर्थं किन्निमित्तं धरण्यां भ्रूमी पतितः ? उद्बोधितः इत्यम् (पृष्ठी०) ॥३७॥

सह्ये एतन्नामके पर्वते बसन्तीति सह्यवासिनी, तत्रस्था दुर्गादेवी, तस्य चाण्डालस्य भुक्तदेवता, तस्याः सम्बोधनम् ।

घण्टास—(दृष्टवा)

का उण तृतिद एषा अशपडन्तेण चिउलभालेण ।

मा मत्ति वाहलन्ती उटिठदहत्या इदो एदि ॥३८॥

[का पुनस्त्वरितमेवासपतता चिकुरभारेण ।

मा मेति व्याहरन्मुत्थितहस्वेत एति ॥]

वसन्तसेना—अज्जचासुदत्त किं वेदम् । [आर्यचारुदत्त, किं न्विदम् ।]

(इत्युरसि पतति)

मिशु —अज्जचासुदत्त किं वेदम् । [ आर्यचारुदत्त, किं न्विदम् । ]

(इति पादयो पतति)

घण्टास—(समयमुपसृत्य) कथम वसन्तसेना । न श्लु अग्नेहि शाहू न वावादिरे । [कथम वसन्तसेना । ननु खल्वस्माभि साधुर्न व्यापादित ।]

मिशु (उत्पाय) असे जीवदि चासुदत्त । [अर जीवति धारदत्त ।]

घण्टास—जीवदि वसन्तसेना । [जीवति वर्षशतम् ।]

वसन्तसेना—(सहपम्) पच्चुग्गोत्रिदम्हि । [प्रत्युज्जीवितास्मि ।]

घण्टास—सा जाय एव वुत्त राइण्णो ज-णवाडगवरा भिवेदेम्ह

[तथावदेतदवृत्त' रासो यज्ञवाटगतस्य निवेदयाव ।]

(इति निष्क्रामत)

राजार—(वसन्तसेना दृष्टवा रावासम्) हीमादिके केण गभदासी जीवादिरे ? अरस्ताइ मे पाणाइ । मोदु पलाइरासम् । [आश्चर्यम् । केन गभदासी जीवर्न प्रापिता । उत्क्रान्ता मे प्राणा । भवतु पनायिष्ये] (इति पलायते)

घण्टास— (उपसृत्य) असे न अग्हाण ईदिसो लामणसी केण सा वावादिता, मा मालेघ सि । ता सट्टिमहासज्ज उजेव अण्णेशम्ह । [अरे, नन्वस्मा कमीदृशी राजाजप्ति—येन सा व्यापादिता, त मारयतेति । तद्वाष्ट्रियशाल-भैवान्विष्याव ।]

(इति निष्क्रान्तौ)

वावरा—(सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।

अनावृष्टिहृते सस्ये द्रौणवृष्टिरिवागता ॥३९॥

(अथलोके च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिव किमित्यम् ।

का पुनरिति । अस्यो स्त्र-घयो पतता चिकुरभारेण वेराप-तापेन उपलब्धितं अरिभ्राह्मणं वरियव हस्त, मस्या सा 'वा सा इति व्याहरन्ती कथयती एषा का

शागडाल—(दिलकर) कंधों पर बिखरे हुए केसकलाप से मुक्त हाथ उठाये हुए "नहीं, नहीं" यह कहती हुई यह कौन धीमता से इधर आ रही है ॥३॥

वसन्तसेना—आयं चारदत्त, यह क्या ? (वृक्ष-स्थल पर गिर जाती है)

मिन्तु—आयं चारदत्त यह क्या ? (चरणों पर मिरता है)

शागडाल—(भयपूर्वक पास जाकर) क्या ? वसन्तसेना ! ठीक है, हमने सत्पुरष को नहीं मारा ।

मिन्तु—(उठकर) अरे; चारदत्त जीवित है ।

शागडाल—सौ त्रयं तक जीवित रहे ।

वसन्तसेना—(हर्य के साथ) मैं पुनः जीवित हो गई हूँ ।

शागडाल—जब तक यह समाचार यज्ञशाला में स्थित राजा से निवेदन करते हैं ।

(दोनों जाते हैं)

राजार—(वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य, किंसने इस जग्मदासी को जीवन प्राप्त कर दिया ? मेरे प्राण निकल रहे हैं ! अच्छा, भाग जाऊँ ।

(भाग जाता है)

शागडाल—(समीप जाकर) अरे, हमें ऐसी राजा की आज्ञा है कि जिसने वसन्तसेना को मारा है, उसको मार दो । अतः राजा के आदेश को ही सौजते हैं ।

(बंते जाते हैं)

चारदत्त—(आश्चर्य से)

(मेरे वक्ष के लिये) घस्त्र उठ जाने पर तथा मेरे मृत्यु के मुख में बत्ते जाने पर यह कौन (नारी), अनावृष्टि से नष्टप्राय होती पर द्रोण (नामक मेघ) की वर्षा के समान, आ गई है ॥३॥

(उर देखकर)

क्या यह दूनरी वसन्तसेना है ? क्या वही स्वर्णलोक के इस प्रकार (दिह धारण करते) आ गई ?

स्वारातम् इतः एति आगच्छति ? शया दृष्टम् ॥३॥

उरसि वसन्तसेना, चारदत्तः इति पाठान्तरम् प्रामुख्यजीवितान् स्मि चारदत्तस्य जीवनेनाह पुनर्जीवितार्थम् । यज्ञशालास्य यज्ञशालायां स्थितस्य ।

केयमिति । शस्त्रे सङ्ग्रहणं अम्युद्यते मय वक्षार्यम् उद्गते मयि चारदत्ते च मृत्योः दक्षिणते मुक्षणते सति अनावृष्ट्या वृष्टेः अभावेन हृते नष्टप्राये सम्ये द्रोणस्य मेघविधेयस्य वृष्टिः वर्षणमेव इयं आ आगतः । उरमात्रद्वारः ॥३॥

वसन्तसेना— । किम् इयं पुरो दृश्यमाना द्वितीया वसन्तसेना ? किम् सा एव त्रिः स्वर्णलोकाद् इत्यं एवं रूपेण समागता ?



भ्रान्तं मनः पश्यति वा मर्मेनां वसन्तसेना न मृताय सैव ॥३०॥

मपवा

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।

तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता ॥४॥

वसन्तसेना—(सासमुत्पाय पादयोनिपरय) अन्जघालुदत्त, सा ज्ञेय अहं पावा, जाए कारणावो इअं सुए वसरिस्सो मवस्था पाविदा । [आर्यचारुदत्त, संदीर्घ पावा, यस्याः कारणादियं त्वायाऽसदुच्यवस्था प्राप्ता ।]

( नेपथ्ये )

अश्चरिअं अश्चरिअम् । ओवडि वसन्तसेना । आश्चर्यं माश्चर्यम् । जीवति वसन्तसेना ।] (इति सर्वे पठन्ति)

वादस्त—(आकण्यं सहस्रोत्पाय स्पर्शसुखमभिनीय निभीलिताश्च एव हर्ष-पद्मदाशरम्) प्रिये, वसन्तसेना स्वम् ।

वसन्तसेना—सा ज्ञेवाहं मन्दभाजा । [सैवाहं मन्दभाग्या ।]

अश्चर्याः—(निरूप्य सहर्षम्) कथं वसन्तसेनैव । (सानन्दम्)

कुतो बाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरी ।

मयि मृत्युवर्षां प्राप्ते विद्येव समुपामता ॥४२॥

प्रिये वसन्तसेने,

त्वदर्धमेतद्विनिपात्यमानं देहं स्वयैव प्रतिमोचिर्ते मे ।

अहो प्रभायः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को माम् पुनर्धिरेत ॥४३॥

अपि च । प्रिये, वयम् ।

एतत् तदेव वरवस्त्रमियं च माला

कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।

अपवा मम भ्रान्तं भ्रान्तिपुर्वतं मनः एनां वसन्तसेनां पश्यति न तु वस्तुतोऽपि विद्यते इति पादः । अथवा वसन्तसेना न मृता सा एव येयम् ? सन्देहात्सङ्कारः । उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

किं निति । किं नु इति कित्थे मम चास्त्वस्य जीवत्यु जीवितं तस्य काम्यया इन्द्रया पुनः प्राप्ता आगता । किमुत तस्याः वसन्तसेनायाः रूपानुरूपेण रूपस्य अनुरूपेण सादृश्येन उपलक्षिता इयम् अन्या काचिद् आगता । सन्देहात्सङ्कारः ॥४१॥

असदृशी अनुचिता ।

'वसन्तसेनैव समागता' इत्यवधार्यं पारदत्तः सानन्दं वक्ष्यति कुत इति । अपि पारदत्ते मृत्युवर्षां प्राप्ते सति बाष्पाम्बुधाराभिः अश्रुवलयधाराभिः पयोधरी

अपवा मेरा भ्रान्तिमुक्त मन इस (स्त्री) को वसन्तसेना देव (समझ) रहा ॥ ?  
या वसन्तसेना मरी नहीं है, यह वही है ? ॥४०॥

अपवा—मुझे जीवित रखने की इच्छा से यह फिर स्वयं से आ गई है या  
उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूप वाली यह कोई अन्य (स्त्री) आई है ॥४१॥

वसन्तसेना—(अधुसहित उठकर, चरणों में गिरकर) भार्य वादरत्न मैं वही  
पानिनी हूँ, जिसके कारण तुमने यह अनुचित दया प्राप्त की है ।

(निपण्य में)

भारवर्ष है, भारवर्ष ! वसन्तसेना जीवित है । (यह सब पड़ते हैं) .

वादरत्न—(गुनकर, सहसा उठकर, स्वयं-मुख का अभिनय करके नेत्र मूँदे  
हूर ही इयं तं तद्दृग् अक्षरों में) प्रिये, तुम वसन्तसेना हो ।

वसन्तसेना—मैं वही मन्दभाषिणी हूँ ।

वादरत्न—(देखकर, हृयंपूर्वक) क्या वसन्तसेना ही हो ? (आनन्दपूर्वक) मेरे  
नृत्य के वग में होने पर अधु-जव की घाटनों से स्तनों की सींचती हुई (संजीवनी)  
विद्या के समान तुम कहां से आ गई हो ? ॥४२॥

प्रिय वसन्तसेने,

तुम्हारे कारण मष्ट किया जाया हुआ यह मेरा शरीर तुम्हारे द्वारा ही मुक्त  
कर दिया गया । अहो ! प्रियमित्र का महान् प्रभाव ! अग्यया मरु हुण भी कोई  
छिन्न जीवित हो सकता है ? ॥४३॥

और भी प्रिये, देखो—

प्रिया के आगमन से वही लाल बल्लू दूल्हे के वस्त्र (के समान) और यह

स्तनो स्तपयन्ती सिञ्चन्ती विद्या सम्जीवनी विद्या इव कुतः समापता । पथ्यावस्त्र  
वृत्तम् । उपमासङ्घाट ॥४२॥

त्ववर्षमिति । त्ववर्षं तव कारणात् विनिपात्यमानं विनात्यमानं मे मन हेतुं  
घटितं त्वया वसन्तसेनया एव प्रतिनोषितम् । अहो भारवर्षेभ्ययम् । प्रियतङ्गमस्य  
प्रियवसत्य सङ्गमस्य प्रभावः प्रियसङ्गमस्य हि महान् प्रभावः इत्यर्थः । अग्यया धृतः  
अपि कः नाम कः जनः पुनः प्रियेत प्राणैः इति शेषः, प्राणधारणं कुर्यादिति धावः । अत्र  
रैह्यन्दः तनुं सके प्रयुक्तः 'कायो देहः क्लीबंपुंसोः' इत्यमरः । अर्पितारण्यासोऽस्तङ्घाट ।  
उपमातिः वृत्तम् ॥४३॥

प्रियागमनेन कथञ्चित्त्वानि अपि विवाहचिह्नानि बाणानि इत्याह—रत्नमिति ।  
कान्तामनेन हि तद् एव रत्नं वरवस्त्रम् इयं च माता वरस्य यथा (तथा) रिभाति ।  
दर्श च एते कथ्यपटहृष्यनयः विवाहवदभ्यनिभिः समानाः आताः—इत्यन्वयः ।

कान्तायाः प्रियायाः आगमेन हि निविचतं तद् एव कथञ्चित्त्वं रत्नं रत्न-  
वर्षं वरवस्त्रं वरस्य वस्त्रम् इव इयं च मते धारिता माता करवीर्युष्ममाता वास्य

एते च वक्ष्यपटहृष्यनयस्तथैव

जाता विवाहपटहृष्यनिभिः समानाः ॥४४॥

दसन्तसेना—अद्विद्विल्लणवाए किं जेबं वयसिबं अज्जेण । [अतिदक्षिणतया किं निन्द व्यवसितमार्येण ।]

वाचस्तः—प्रिये, त्वं किल मया हतेति—

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रूणा प्रभेविष्णुना ।

नरके पतता तेन मन्नागस्मि निपातितः ॥४५॥

दसन्तसेना—(कणौ पित्राय) सन्त पावम् । तेण ग्निं दाअसालेण वावाविदा ।

[शातं पापम् । तेनास्मि राजस्यालेन व्यापादिता ।]

वाचस्तः—मिभुं दृष्ट्वा अपमवि कः ।

दसन्तसेना—तेण अणज्जेण वावाविदा । एदिणा अज्जेण जीवाविदग्निं

[तेनात्यार्येण व्यापादिता । एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि ।]

वाचस्त —कस्त्वमकारणवन्धुः ।

मिभुः— क पच्छमिज्जाणादि मं अज्जे । अहं शे अज्जरा वमज्जरावाह—

विल्लए शवाहणे नाम । जुविअलेहि महिबे । एराए ववासिकए अज्जरा केतके ति अलकालपणणिरकीबे ग्निं । तेण अ जुदणिअयेवेण शकशमणकेरांजुत्ते ग्निं । एरावि अज्जा वधहणविपरज्जासोण पुष्पकरण्डकजिष्णुज्जाणं मदा । तेण अ अणज्जेण च मं यद्दु मग्घेसि ति बाहुपासवसकालेण मारिता मए विट्ठा । [न प्रत्यभिजानाति मामार्यः । अहं अ आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तकः संवाहको नाम द्यूतकरेण हीत एतयोपासिकयार्येस्यारतीय इत्यलङ्कारपणनिष्क्रीतोऽस्मि । तेन च द्यूतनिर्वदेन शान्तयश्रमणकः संवृतोऽस्मि । एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यसेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यार्तं गता । तेन चानार्येण न मां बंधु मन्यसे इति बाहुपासबलात्कारेण मारिता मया दृष्ट ।]

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता

तदनु जयति भेत्ता पण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः ।

यदा भरस्य मासा इव विमाति शोभते । तथैव च एते वक्ष्यपटहृष्यो वाचविशेषानां ध्वनयः विवाहपटहृष्यनिभिः विवाहवाद्यानां ध्वनिभिः समानाः जाताः । उपमा पर्यायत्वाल-  
ञ्चासी । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४४॥

अतिरक्षितया अशुवारज्या । व्यवसितं दृत्तम् ।

(रघु) माना वर-माता के समान घोषायमान है तथा वही प्रकार वध के वाघों की ध्वनियां विवाह के बाघों की ध्वनियों के समान हो गई हैं ।

वसन्तसेना—अत्यन्त उदारता के कारण अर्घ्य ने क्या कर डाला ?

चारदत्त—शिये, (इस अभियोग में कि) मैंने तुम्हें मार दिया है—

पहले से ही बैर बांध लेने वाले, सामर्थ्यशाली, नरक में गिरने वाले मेरे शत्रु उस प्रकार ने मुझे विपत्ति में गिरा दिया है ॥४२॥

वसन्तसेना—(दोनों कान बन्द करके) पाप शान्त हो : उस राग्यश्वासक के द्वारा मैं मारो गई हूँ ।

चारदत्त—(भिष्णु को देखकर) और यह कौन हैं ?

वसन्तसेना—उस अनार्य (घकार) ने मार डाली, इस अर्घ्य ने मुझे (द्वि) जीवन प्राप्त कराया ।

चारदत्त—तुम अकारण बन्धु कौन हो ?

भिष्णु—अर्घ्य मुझे नहीं पहचानते ? मैं वह आपके चरण दवाने की विन्ता करने वाला संवाहक हूँ, जो जुआरियों के द्वारा पकड़ा गया और इस बुद्धोपासिका के द्वारा 'बापका आत्मीय हूँ' यह जानकर आमूषण रीति मूल्य से खरीदा गया हूँ, और उस दूत के दुःसानुभव से मैं जोड़झाड़ हो गया । यह आर्षा (वसन्तसेना) भी गाड़ी बदलने में पुष्पकरभद्रक नामक पुराने उद्यान में बनी गई और दहाँ उम दुष्ट (घकार) के द्वारा 'वह मुझे नहीं चाहती' यह कहकर भुजपाय से अतपूर्वक (दबाकर) मार डाली गई, मैंने देखा ।

(नेत्रग्य से कोलाहल)

दस यज्ञ के विनाशक शिव (दुपध्वज) की जय हो । इसके परचाय (शत्रुओं के) विनाशक क्रौञ्च (नामक दैत्य) के शत्रु कातिकेय की जय हो ।

पूर्वेति । पूर्वम् अनुबन्धं हृदये धारितं वैरं येन तेन प्रसन्नचित्तुना सामर्थ्य-  
शालिना मरणे पतता भिष्मपादोवायोमभात् नरकं मच्छता शत्रुणा तेन सत्तारेण मनात्  
भिष्णु, शियेण वा विपत्तितः विपत्ती पातितः मरणात्तन्नाशं वा प्रापितः अस्ति ॥४२॥

— चरणयोः संवाहस्य मर्दनस्य विनारकः । आर्षस्य चारुदत्तस्य आत्मीयः स्वजनः  
इति इत्या । दत्तद्वार एव यज्ञः मूल्यं तेन निष्क्रीतः । शत्रून् दूतः निर्दोः शक्तिः  
वैरिनिकेच्छानिश्रुतिः (पृथ्वी०) शत्रुनिर्दोः तेन ।

अपतीति । दशयज्ञस्य हन्ता विनाशकः कृष्णकेतुः शिवः अयति सर्वोत्कर्षं  
करोति । शत्रु उदनन्तरं भेत्ता शत्रुणां नाशकः क्रौञ्चस्य एतन्नामकस्य दैत्यस्य शत्रुः

तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं  
विनिहितपरर्वरी चार्यको गा विद्यालाम् ॥४९॥

(प्रविश्य सहसा)

शविसक —

हत्वा त कुनूपमहं हि पालकं भो-  
स्तद्राज्ये द्रुतमभिविच्य चार्यकं तम् ।  
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूता

भोक्ष्येऽह व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥४७॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समारवास्य पुनः प्रकर्षात् ।  
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बसारेरिव शत्रुराज्यम् ॥४८॥

(अप्रतो निरुप्य) सख्यु । अत्र तेन शवितव्यम्, यत्रायं अनपरसमवायः । अपि नामाप्र-  
मारम्भ क्षितिपतेरायंकरयार्थं चारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात् । (स्वरिततत्पुनःपुनः)  
भययात जातम् । (दृष्ट्वा सहयम्) अपि भ्रियते चारुदत्तः सह दसन्तसेमया । संभ्रुर्जाः  
सख्यस्तत्त्वामिणो जगोरथाः ।

दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा-

दुस्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।

नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे

ज्योत्स्नादर्थं शशिनमिवोपरारामूरुतम् ॥४९॥

पगनुजः कातिकेय जयति । तदनु तदश्च विनिहत. बरर्वरी प्रधानगनुः येन तपाभूतः  
आयंक. शुचः इवेतः कैलासः एव केतु पताका यस्या ता विशालां विस्तीर्णा हत्वा  
निक्षिप्तां गां पृथिवी जयति आत्मसात् करोति । रूपकालङ्कारः । मानिनी दृष्टम् ॥४९॥.

आपद्ग्रस्तं चारुदत्तं मोचयितुम् उद्यतः शविसकः सहसा प्रविश्य कथयति—  
हृत्वेति । श्रीः अहं शविसकः हि तं कुनूप दुष्टनृपतिं पावक हत्वा तस्य राज्यं तद्  
आयंकं द्रुतं सटिति अभिविच्य च तस्य आयंकस्व शेषभूतां पुष्पदामायमानां (पृष्ठी०)  
'प्रसादान्निर्जनमाल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्वः आसां शिरसि निधाय अहं  
शविसका व्यसनगतं विपत्तिग्रस्तं चारुदत्तं च भोक्ष्ये मोचयित्यामि । प्रहृषिणी  
दृष्टम् ॥४७॥

हृत्वेति । आयंकेष हि बलं श्रेयं मन्त्रिजयस्य तैः हीनं मन्त्रहीनमिति पाठान्त-

और तदनन्तर प्रधान (वर) शत्रु (पालक) को मारने वाला आर्यक श्वेत कंलास (वंत) है पताका जिसकी ऐसी सम्स्त विजाल पृथ्वी को जीतता है ॥४३॥

(सहसा प्रवेश करके)

शौचलक—हे मनुष्यो, उस दुष्ट राजा पालक को मार कर, उसके राज्य पर तुल्य ही उस आर्यक का अभियेक करके मैं (शौचलक) उस (आर्यक) को आत्मा को (निर्गत्य की) पुण्यमाता के सगान शिर पर धारण करके विपत्ति-ग्रस्त चारुदत्त को मुक्त करता हूँ ॥७॥

सेना तथा मन्त्रियों से रहित उस शत्रु (पालक) को मार कर फिर अपने अधिक प्रभाव से नगरवासियों को सान्त्वनी देकर, बल नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र के राज्य के समान, पृथ्वी के आधिपत्य से युक्त समस्त शत्रु के राज्य को प्राप्त कर लिया ॥४५॥

(भागे देखकर) अच्छा, उन्हें (चारुदत्त को) यहाँ होना चाहिये, जहाँ यह लोगों की भीड़ है । और भूमिपति आर्यक को यह राज्य प्राप्ति (आरम्भ) आर्य चारुदत्त के (बीबन की रक्षा) से सफल हो सकता है । (भूमिपति वेग से सनीप जाकर) विचारहीन बनो, हट जाओ । (देखकर, हृष्यपूर्वक) अच्छा चारुदत्त वसन्तसेना सहित जीवित है । निश्चय ही हमारे स्वामी (आर्यक) के मनोरथ पूर्ण हो गये ।

हे मनुष्यो, सौभाग्य से गुणों (उदारता आदि तथा नौका पक्ष में रक्षियों) के आह्वय सुन्दर स्वभाव वाली (पक्ष में सुघटित) नौका के समान प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा अपार विपत्ति (व्यसन) छामर से नबाधे गये चारुदत्त की ग्रहण से युक्त तथा चन्द्रिका से युक्त चन्द्रमा के समान, मैं बहूत समय में देख रहा हूँ ॥४६॥

रम्, त्रिषु शत्रुं त पालकं हत्वा पुनः प्रकृष्यात् प्रभावोत्कर्षात् पौरात् नगरवासिना  
समाशवास्य बतारेः बलस्य दैत्यविकेपस्य अटेः शत्रोः इन्द्रस्य इति भावः । राज्यमिदं  
सन्नपुं वसुधाधिराऽयं वसुधायाः अधिराज्यं यस्मिन् तद् शत्रोः पालकस्य राज्यं प्राप्तम् ।  
उपमातच्छारः । इन्द्रवत्या वृत्तम् ॥४५॥

शत्रुपक्षानां जनपदस्थानां मनुष्याणां समवायः समूहः । आरम्भः राज्य-प्राप्तिः ।  
अपवात्त अंतरत । आत्माः असमीक्ष्यकारिणः विचारहीनाः इति भावः ।

व्यसनात् युक्तस्य चारुदत्तस्य दर्शनं मम सौभाग्यादेवेत्याह—दिष्ट्येति । भोः  
दिष्ट्या सौभाग्याद् गुणयुतया गुणैः शौचल्यैर्दिभिः प्रुतया आह्वय्या नौकापक्षे गुणैः  
रज्जुभिः धृतया भुरालक्षया शोभनस्वभावयुक्तया पक्षे शोभनया भावा इव प्रियतमया  
प्रियया वसन्तसेनया अपारात् व्यसनं विपत्तिः एव महार्थैः महासमुद्रः तस्मात् उत्तीर्णम्  
उत्पन्नं चारुदत्तम् उपरामात् ग्रहणात् युक्तं ज्योत्सनाया चन्द्रिकया अग्र्यं सम्पन्नं शक्तिम्  
इव विराज निरीक्षे पश्यामि । रूपक श्लेषः उपमा चानुद्धारः । प्रहृष्यो वृत्तम् ॥४६॥

तद्वृत्तमहापातकं कथमिदं नमुपसर्पामि । अथवा सर्वत्राजोव शोषते । (प्रचारानुपचृत्य  
ब्रह्माञ्जलि ) भायं चारुवत् ।

चारुवत् — ननु को भवान् ।

शक्तिवत् —

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम् ।

सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥१०॥

चारुवत् — तवे, मंभवम् । त्वयासौ प्रणयः कृतः । (इति कण्ठे गुह्यार्तिः)

शक्तिवत् — अन्वयः ।

आयंकेणार्थवृत्तेन कुतः मानं च रक्षताः ।

पशुवद्यज्ञवाटस्यो दुरात्मा पालको हतः ॥११॥

चारुवत् — किम् ।

शक्तिवत् —

त्वद्यानृष्य समाहृत्य गतस्त्वा शरणं पुरा ।

पशुवद्विनत यज्ञो हतस्तेनाद्यः पालकः ॥१२॥

चारुवत् — शक्तिवत्, योऽसौ पालकेन घोषावानीय निष्कारणं कृतागारे ब्रह्म  
भायं कृतमा त्वया मोक्षितः ।

शक्तिवत् — अथाह तत्रभवाम् ।

चारुवत् — प्रियं न प्रियम् ।

शक्तिवत् — प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदायकेणोत्तमिन्त्या विपातटे कृताव्या  
रागवन्तिसृष्टम् । तत्प्रतिमान्यनां प्रथमं सुहृत्प्रणयः । (परिवृत्य) अरे रे, अनीयतामय  
पापी शक्तिवराटः ।

(निपद्ये)

अथाज्ञानमिति शक्तिवत् ।

शक्तिवत् — भायं, मन्वयभायंको राजा विहापयति — इह मया पुष्पगुणो-

कृतं महापातकं सुवर्णभाण्डापहरणरूपं येन क्ष । अथैकं हि महापातकेऽहं  
गम्यते ।

येति । येन ॥ चारुवत्स्य भवनं गृहं भित्त्वा न्यासस्य निरोपरूपेण घृतस्य  
सुवर्णभाण्डस्य अपहरणं कृतम्, कृतं महापापं येन चारुवत् सः अहं शक्तिवत् त्वाम्  
चारुवत्तम् एव शरणं गतं शरणं प्राप्तोऽस्मि ॥१०॥

प्रणयः — अनुग्रहः ।

आयंकेनेति आयंश्रुतिनं चायुषीसेन आयकेन कुतः मानं गौरवं च रक्षता

तो महान् पात्र करने वाला मैं इनके समीप कैसे जाऊँ ? अथवा सरतटा सब बरहू शोभायमान होती है (एकट रूप में, समीप जाकर, हाथ जोड़े हुए) आर्य शारदत्त ।

शारदत्त—अच्छा, आप कौन हैं ?

शविलक—जिसने आपके घर (की दीवार) को तोड़कर (जैस लगाकर) धरोहर को चोरी की थी । वही महाराणी मैं आपकी ही शरण में आया हूँ ॥१०॥

शारदत्त—निन्द, ऐसा न कहो । तुमने तो यह अनुग्रह किया । ३

शविलक—और भी—

दत्तन शील वाले आर्यक ने कुल और गौरव की रक्षा करते हुए, पत-स्वान्न में-स्थित पशु के समान, दुष्ट पालक को मार दिया ॥११॥

शारदत्त—क्या ?

शविलक—जो आर्यक तुम्हारे गाड़ी में बैठकर पहले तुम्हारी शरण में गया था, उसने आज विलुप्त दत्त में पशु के समान, पालक को मार दिया ॥१२॥

शारदत्त—शविलक, जो यह (राजा) पालक के द्वारा शोय में लाकर बिना कारण ही काठमार में बाँधा गया था, तथा तुम्हारे द्वारा मुक्त किया गया था, वही बसिक नामक का व्यक्ति ?

शविलक—जैसा आदरणीय आप कह रहे हैं ।

शारदत्त—हमारे लिये प्रिय (समाचार) है, प्रिय ।

शविलक—उज्जयिनी में (सिंहासन पर) प्रतिष्ठित होते ही तुम्हारे मन आर्यक ने बेमा नदी के तट पर कुशवती का राज्य (आपको) दिया है । मित्र की प्रथम स्नेह शर्पणा को स्वीकार कीजिये (अथवा स्वीकार कर सम्मानित कीजिये) । (धून कर) मरे रे, इस पानी धूर्त राजस्थानक-शकार को लाइने ।

(निन्द्य में)

जैसी शविलक आज्ञा करें ।

शविलक—आर्य, निन्द्य ही राजा आर्यक सूचित करते हैं कि देने यह राज्य

शरदत्तः पतस्वान्नं तत्र स्थितः सः पशुः उत्तुल्यः कुतायाः पालकः हतः मारितः ।  
उनासङ्कारः ॥१२॥

शविलक । सः आर्यकः त्वद्वयान् तत्र प्रवह्यं समाकृत्य पुरा पूर्वं त्वां शारदत्त  
एष वक्तः । तेन आर्यकेण अद्य वितते प्रभृते देहे पशुवत् पालकः हतः मारितः ॥१२॥

उज्जयिनीं प्रतिष्ठितमात्रेण सिंहासने स्थितमात्रेण । अतिवृष्टं दत्तम् । प्रति-  
पालना सम्मान्यता, स्वीकारेण आश्रितं वा । प्रथमः शर्पणा । यज्ज्वातो यद्विन्द-  
येति-यद्विन्दतः मयूरस्यैकादेराहृतिगमत्वान् समासः ।



पाजित राग्यम् । तदुपयुग्यताम् ।

चादवत् — अस्मद्गुणोपाजित राग्यम् ।

(नेपथ्ये)

धरे रे राष्ट्रियदयालक, एह्ये हि, स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(सतः प्रविराति पुष्यं रधिष्ठित. परधाद्वाहबद्ध. शकार.)

शकार — होमादिके ।

एध्वं दूलमदिकुन्ते उद्दामे विअ गद्दे ।

भायीदे क्खु ह्ये बद्धे हुडे अणो ङ्व दुक्कले ॥२३॥

(विशोऽवलोक्य) रामन्तवो उचद्विणे एगो सरिटअवन्धे । ता कं वाण भशरण शरणं  
ब्रजामि । (विनिय्य) घोडु । त उजेव अणुववण्णशरणवत्सलं गच्छामि । (इत्युपमृत्यु)  
अण्णचासुवत्त, पत्तिताभाहि, पत्तिताभाहि । [आश्चर्यम् ।

एवं दूरमतिक्रान्त उद्दाम इव गर्दभः ।

आनीतः सत्यहं बद्ध. कुन्कुरोऽन्य इव दुष्करः ॥

एमन्तत उपस्यत एष राष्ट्रियबन्धः । तत्किमिदानीमशरणः शरणं ब्रजामि ।  
भवतु । तमेवाभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि । आर्यचारुदत्त, परित्रादस्व  
परित्रायस्व ।] (इति पादयोः पतति)

भरमचासुवत्तं, मुञ्च मुञ्च । वाबादेह एवम् । [आर्यचारुदत्त मुञ्च मुञ्च  
व्यापादयामैतम् ।

शकारः—(चारुदत्त प्रति) भो भशरणशरणे पत्तिताभाहि । [भो भशरणं  
शरण, परित्रायस्व ।]

चादवत्तः—(सानुकम्भम्) अहह, अभयमभव्य शरणागतस्य ।

शवितकः—(सावेगम्) अ. अपनीयताम्य चादवत्तपारंबात् । (चारुदत्तं प्राठ)  
क्खुण्णत्ता किमस्य वापस्यानुष्ठीयतामिति ।

चादवत्तः—किमहं यद्भवामि तत्किमप्यतेः।

पुष्पाकं भवतः चारुदत्तस्य गुणैः उपाजितं प्राप्तम् । उपयुग्यताम् उपयोगः  
क्रियताम् । अविनयः दुष्प्रवहार्ः । बाहुबद्धः बाह्वो बद्ध बाहुबद्धः । बद्धो बाहु यस्य,  
बद्धबाहुः इति प्रयोगः धरोयान् ।

एवमिदं । उद्दामः उन्मुक्तवन्धनः गर्दभः इव एवम् अनेन प्रकारेण दूरं  
अतिक्रान्तः पलायितः अहं क्षतु अन्यः दुष्करः दुष्टः दुष्टेह इत्यर्थः (काले) कुक्कुर

शुद्धारे गुणों से प्राप्त किया है। तो इसका उपयोग कीजिये।

चादरत—हमारे गुणों से उपाजित किया गया राज्य है ?

(नेपथ्य में)

अरे रे राजश्यालक, आओ आओ। अपने सुव्यवहार का फल भोगो। (तब मनुष्यों द्वारा शासित पीछे की ओर हाथ बँधा हुआ शकार प्रविष्ट होता है)।

शकार—आश्चर्य है।

बन्धन खुले हुए यही के समान इस प्रकार दूर भागे हुए मुदाको किसी दुष्ट कुत्ते के समान बाँधा गया है तथा यहाँ लाया गया है ॥१३॥

(दिशाओं को देखकर) चारों ओर से राजश्यालक का (मिरा) बन्धन ही गया है। तो अब आप्रपहीन में किड़की भरप में जाऊँ (सोचकर) अच्छा, उसी शरणागत-वत्सल (चादरत) के समीप जाता हूँ। (समीप जाकर) आर्य चादरत, रक्षा करो, रक्षा करो। (चरणों में गिरता है)।

(नेपथ्य में)

आर्य चादरत, छोड़ दो। हम (बोनों) इसको मार देंगे।

शकार—(चादरत से) हे अगणों को मरण देने वाले, रक्षा करो !

चादरत—(दया के साथ) अहह ! शरणागत का अभय ही, अभय !

शकितक—(आवेश के साथ) आः, इसे चादरत के पास से हटा लीजिये।

(चादरत से) बतलाइये इस पापी का क्या किया जाये ?

क्या इस (एकार) को अच्छी तरह बाँधकर (मनुष्य) खींचे, मपवा इसे कुत्ते साथे। क्या इसे गूली पर चढ़ाया जाये, या इसे आरे से काटा जाये ॥१४॥

चादरत—नम जो मैं नहीं वही किया जाना है।

वि बद्धः सत्र च आनीतः ॥१३॥

राष्ट्रियस्य राजश्यालस्य शकारस्य ममेति भावः बाधः बन्धनम्, 'मिरोद्धा पुश्यदम्' इति कालेमहोदयः, बन्वादेवः इति केचित्। समन्ततः परितः उपस्थितः महं समन्ततः बद्धः इति भावः। अम्मुपपन्नगरणानां शरणागतानां वत्सलः स्नेहशीलः।

व्यापाश्याम मारयाम। न मयम् अभयम्। अनुष्ठीयतां क्लिपताम्।

आकर्षन्तिवति। एनं शकारं सुबद्ध्वा सम्यक् बद्ध्वा ('सुबद्ध' इति पाठान्तरम्) आकर्षन्तु जनाः इति शेषः अथवा अयं स्वभिः कुक्कुरैः साधताम्। एषः गृते वा तिष्ठताम् वा अथवा ककनेन करपनेन पाटपत्राम्। अत्र- 'सुबद्ध्वा', 'तिष्ठताम्' इति च प्रयोगौ चिन्त्यौ ॥१४॥

सङ्घर्षं जीयम्।

शवितकः—कोऽत्र सन्देहः ।

शकारः—भ्रष्टासमा चासुदत्त, दत्तगागदे ङिह । ता पतिताआहि पतिता-  
आहि । अ हृए सतिश त वसेहि । पुणो न ईदिया वसिषयम् । [भट्टारकं चारुदत्त,  
शरणागतोऽस्मि । तत्परिन्नायस्व परिन्नायस्व । यत्तव यहश्च तत्कुर । पुनर्नेहर्ग  
करिष्यामि ।]

(नेपथ्य)

वीरः यावादेध । किनिमित्त पादको जोवावीअदि । [वीरः, ध्यापादयत ।  
किनिमित्त पादको जोघ्यते ।]

(वसन्तसेना मध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि भिषक्ति)

शकारः—ममदासोघोए, परोड परोड । न उण मालहराम् । ता  
पतिताआहि । [शर्मदासीपुत्रि, प्रसोद प्रसोद । न पुनर्मारियिष्यामि । तत्परि-  
न्नायस्व ।]

शवितकः—अरे दे, मपमयत्त । आयेचारुदत्त, आत्ताप्यताम्—किमस्य पाप-  
स्यामुप्यीयताम् ।

आपदत्तः—किमह यदुबबोमि तत्किमये ।

शवितकः—कोऽत्र सन्देहः ।

आरुदत्तः—सायम् ।

शवितकः—सत्यम् ।

आरुदत्तः—यद्येवं शीघ्रमयम् ।

शवितकः—कि हृन्मताम् ।

आरुदत्तः—नहि नहि । मुच्यताम् ।

शवितकः—किमर्थम् ।

आरुदत्तः—

शत्रुं हृतापराधः शरणागुपेस्य पादयोः पतितः ।

शत्रेण न हन्तव्यः ।

शवितकः—एषम् । तहि शभिः सायताम् ।

आरुदत्तः—महि ।

उपकारहृतस्तु कृतव्यः ॥२३॥

शवितकः—अहो, आरुचयम् । कि करोमि । अदवार्थः ।

आरुदत्तः—तन्मुच्यताम् ।

शवितकः—मुक्तो भवतु ।

शकारः—होमादिके । पञ्चपुरजोविदे ङिह । [आरुचयम् । प्रत्युज्जीवितोऽस्मि ।]

(शक्ति पुरयः सह निव्रान्तः.)

शबिलरु—इसमें क्या सन्देह है ?

शाकार—स्वामी चारदत्त, मैं शरण में आया हूँ । बत रसा करो, रसा करो । जो तुम्हारे योग्य है वही करो । फिर ऐसा नहीं करूँगा

(निपथ्य मैं,

नगरवासियो, मार दो । यह पापी किस लिये जीवित रक्खा जा रहा है ? (बल्लभसेना बध्यमाता को चारदत्त के गले से उतार कर धकार के ऊपर फेंकती है)

शाकार—समंदासी की पुत्री, प्रसन्न हो । फिर नहीं मारूँगा । अतः रसा करो ।

शबिलरु—अरे, हटाओ । आर्य चारदत्त आज्ञा दीजिये कि इस पापी का क्या किया जाये ?

चारदत्त—क्या जो मैं कहूँ वही किया जायेगा :

शबिलरु—इसमें क्या सन्देह है ?

चारदत्त—सबनुच ।

शबिलरु—सबनुच ।

चारदत्त—यदि ऐसा है तो उसे मीघ—

शबिलरु—क्या मार दिया जाये ?

चारदत्त—नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाये ।

शबिलरु—किस लिये ?

चारदत्त—यदि अपराध करने वाला शत्रु शरण में आकर शरणों में गिर गया तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये ।

शबिलरु—यदि ऐसा है तो क्या कुत्तों द्वारा खाया जाये ?

चारदत्त—नहीं ।

.....किन्तु उसे सपकार से मरा हुआ कर देना चाहिये ॥१५॥

शबिलरु—अहो, आश्चर्य है ! क्या कहें ? आर्य बतलाइये ।

चारदत्त—ओ छोड़ दिया जाये ।

शबिलरु—मुक्त हो जाये ।

शाकार—(आश्चर्य) फिर से बीधित हो गया हूँ । (मनुष्यों के साथ निरुक्त जाता है)

शत्रुरिति । कृतः अराधः देन तादृकः शत्रुः यदि शरणम् उपेत्य आगत्य पारयोः पन्थि तद्धि सः शस्त्रेण न हन्तव्यः मारणीयः तु किन्तु उपकारेण अनुग्रहेण हतः कर्तव्यः तथा चोक्तं रामायणे—

बद्धान्शत्रुनिवृत्तं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।

न हन्त्यादानुस्यार्थमपि शत्रुं पतंतप ॥ कुट्ट-१८ ॥१५॥

(नेपथ्ये बलकल )

(पुनर्नेपथ्ये)

एसा अञ्जचासुवत्तरस षट्शुभा अञ्जभा धुम्भा पवे दत्तणाञ्चले विलग्नन्तं दारमं  
भाविस्तवन्तो चाप्फभरिबणअणेहि अणेहि णिषारिञ्जमाणा पञ्जलिवे पावए पवित्तिदि  
[एपायंचारुदत्तस्य वधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलग्नन्तं दारकमाक्षिपन्ती  
वाप्फभरितनयनैर्जनैर्नियार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति ।]

रत्तिल्लह—(आकर्ष्यं नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) क्व चरन्तक । अन्वत्तक,  
किमेतद् ।

अन्वत्तकः—(प्रविश्य) किं ण वेरलदि अञ्जो । महाराजम्पासाह इविस्सिणेण  
महत्तो अणत्तमहो षट्ठिदि । ('एसा' इत्यादि पुनः पठति) कधिद अ मए तोए, तथा—  
'अञ्जे, मा साहस करेहि । जोवदि अञ्जचारुदत्तो' ति । परन्तु बुद्धवावुड्ढाए णो  
सुणेदि, को इत्तिआएदि । [किं न पश्यत्यायं । महाराजप्रासादं दक्षिणेन  
महाञ्जनसमदो वर्तते । कथितं च मया तस्वै, यथा-'आर्यो, मा साहसं कुरुष्व ।  
जीवत्यायंचारुदत्त.' इति । परन्तु दुःरात्म्यापृततया कः शृणोति, कः प्रत्ययते !]

चारुदत्त—(सोद्वेगम्) हा मिथे, जीवत्यपि मयि किमेतद् व्यवसितम् ।  
(ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निश्वास्य च)

न महोत्तलस्थितिसहानि भवञ्चरितानि चारुचरिते यदपि ।

अचितं तथापि परलोकमुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥५६॥

(इति मोहमुपगतः)

भाविस्तक—अहो प्रमादः ।

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चरन्तः ।

हा धिक्प्रयत्नवर्षत्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥५७॥

दत्तन्तसेना—समस्तसिद्धु अञ्जो । तत्त गदुअ अं वावेहु अञ्जाम् ।

अण्णादा अघोरराणेण अणत्तो सभाषीअदि । [समाश्रयसित्वायः । तत्र गत्वा  
जीवयत्यायाम् । अन्ययाघोरत्वेनानर्थः संभाव्यते ।]

वाप्यः अश्रुभिः भरितानि मयनानि येषां ते जनैः । दक्षिणेन इति एतद्-  
प्रत्ययान्तम् । तद्योगे च 'एनपा द्वितीया' २।३।३१॥ इत्यनेन महाराजप्रासादमित्यत्र  
द्वितीया भवति । महासजस्य आयेकस्य प्रासादम् ।

दुःखे व्यापृता तत्परा दुःखव्यापृता तस्याः भावः तत्ता तथा । प्रत्ययते  
विश्वसिति । व्यवसितं निश्चितम् ।

जीवितं मा परित्यज्य स्वलोकगमनं न मुक्तमित्याह चारुदत्त—न महोत्त ।  
हे चापचरिते साधुचरिते धृते, यदपि भवत्याः चरितानि सदाचारणानि महोत्तले

(निपथ्य में कौनाहल)  
(फिर निपथ्य में)

यह आर्य चारदत्त की पत्नी आर्या धृता चरण में जोर बन्ध के अर्चित में निपटे हुए बालक को हृद्यती हुई आँसू भरे नेत्रों वाले मनुष्यों के द्वारा रोकी जाती हुई भी क्षण में प्रवेश कर रही है।

शक्तिरु—मुनकर, (निपथ्य की ओर देखकर) क्या चन्दनक है? चन्दनक, यह क्या?

चन्दनक—(प्रवेश करके) क्या आप नहीं देखते हैं कि महाराज के प्रासाद के शक्ति की ओर मनुष्यों की बड़ी भीड़ हो रही है (एषा इत्यादि फिर पढ़ता है) और मैं उससे कहा "आपें साहस कम करो। आर्य चारदत्त जीवित हैं"। किन्तु दुःख में भीन होने के कारण कौन मुनता है? कौन विश्वास करता है?

शक्तिरु—(बड़े गपूर्वक) हाय प्रिये, मेरे जीवित रहते ही यह क्या निश्चय कर लिया? (उपर देखकर और लम्बी साँस लेकर)

हे श्रेष्ठ चरित्र बानी, यद्यपि तुम्हारे अच्छाईय इन भूमि पर रहने योग्य नहीं हैं तथापि हे पतिव्रते, पति को छोड़कर तुम्हें (अनेके ही) परलोक का मुक्त भोगना संभव नहीं ॥१६॥

(मूर्च्छा को प्राप्त होना है)

शक्तिरु—यहो! असावधानी!

यहाँ (धृता के सनीन) भीमता ने जाना है किन्तु यहाँ आर्य चारदत्त मूर्च्छा को प्राप्त हो गये हैं। हाय! बिकार! सब और से प्रयत्न की निष्फलता ही दिखलाई देती है ॥१७॥

चन्दनसेना—आर्य आगस्त्य हो (अर्धं धारण करे) बहाँ जाकर आर्या (धृता) को जीवित करें। नहीं तो बड़ी बड़ा वे अनर्थ की सम्भावना है।

मूर्च्छे, सिपित्तहानि स्थातुं योग्यानि न रुन्ति स्वर्लोकयोग्यानि समीपि भावः  
कथं हि हे पतिव्रते, कति चारदत्त मा विहाय पतिव्रतं तव धृतायाः परलोकमुत्रं  
स्वर्गदुःखं न उच्यते पतिव्रतायास्तव एकाकिन्त्याः स्वर्गमुक्तीपभोगोर्ध्वं भोचिनः इति  
भावः। काम्यनिज्ञम् अनभ्युक्तः। प्रमिताशरा कृतम् ॥१६॥

त्वरयेति। तत्र धृतायाः सन्धिं त्वरया सर्वथं यमनम् आवगच्छन्। अत्र च  
आर्यः चारदत्तः मोहम् मूर्च्छाम् आपतः हा धिक् सर्वतोमुखं प्रदलवर्कत्वं प्रयत्नाना  
रिष्ठमता दृश्यते। यदि धृतायाः चारदत्तस्य च जीवितरक्षा न स्यात् तर्हि सर्वप्रयागं  
प्रयत्नाः निष्फलाः इति भावः ॥१७॥

अतर्पः सम्भाष्यते धृता मृता स्यादिति सम्भावने। अतिवचनम् उक्तम्।

घारदत्त—(विवाहस्य सहसापाय ष) हा प्रिये, बवासि । देहि मे प्रति-  
यघनम् ।

सर्दभक्त—इरो इवो अज्जो । [इत इत आयं ।

(इति सर्वं परिहामन्ति)

(तत प्रतिशति यथानिदिष्टा पूना वेताचतमावर्षन्विदपवेनानुपम्यमानो रोहतेषो  
रदन्वित ष)

पूता—(सारम्) जाव मुञ्चेहि मम् । मा विग्न करोहि । सोआमि मम्मन्तस्त  
अमङ्गलारूपमावो । [जात, मुञ्च माम् । मा विघ्नं कुरुष्व । विभेम्यापुत-  
स्यामङ्गलसावर्णनात् ।] (इत्युत्थानान्चतमावर्ष्य पावकारिमुत्त परिहामन्ति)

रोहतेषु—आव अज्जए, पडिवासेहि मम् । तुए विना न सारदुपौमि सारद  
घारेदुम् । [मातरायं, प्रतिपालय माम् । त्वया विना न रोमनौमि बीवित  
धत्तुम् ।] (इति स्वर्णितमुपसृत्वा पुनरन्वेषणं वृत्तिरिति)

विदूषक—ओहोए हाव बग्घुपीए मिण्णत्तयेण सिदाधिरोहणं पाव उदोहं  
रोहिण रिस्तोमे । [भवत्स्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्न्त्वेन पितृाधिरोहणं पापमुदाह-  
रन्ति श्रुयेयं ।]

पूता—एव पावावरण । न उच्च अज्जउत्तस्य अमङ्गलारूपमम् । [एवं  
पापावरणम् । न पुनरायं पुनस्यामङ्गलानिर्णनम् ।]

सर्विचक—(पुरोऽवतोऽप) आसन्नदुतवहोर्मा । तत्त्वयता त्वयतांम ।

(वारदत्तस्वरित परिहामन्ति)

पूरो—एणिए, अवलम्ब वारमम्, जाव अह समोहितं करोमि । [रदनिरं,  
अवलम्बस्य वारवम् । यावदहं समोहितं करोमि ।]

वेटी—(सवरूपम्) अह वि जयोपदेसिणि ग्हि मट्टिणीए । [अहमपि यथो-  
पदेशिन्यस्मि भट्टिस्या ।]

पूता—(विदूषकमवलोक्य) अज्जो हाव अवलम्बेदु । [आयंस्तावदवलम्ब-  
ताम् ।]

विदूषक—(साधेयम्) समोहितसिदिए पवत्तेण बग्घुपी अणोरो वारवो ।  
ओही सोहीए अहे भेण्णो होमि । [समोहितसिदध्ने प्रवृत्तं ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यं ।  
श्रुतो भयत्या अहमग्रणीर्भवामि ।]

पूता—कव पव्वाविट्टिग्हि बुवेहि (आलम्भानिर्गुण) जाव, तुम इवेव पग्ग-  
बदुविहि अत्तेण तिलोदंभरायाअ । अदिक्कन्ते कि मचोरहेहि । (तनिस्वात्तम्) न  
अणु अणुदत्तो तुम् पग्गबदुमिअसदि । [अयं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम् । जातं,  
स्वैर्यैः पर्यवेत्थापयारमानमस्माकं तिलोदकदानाय । अतिमान्ते कि मनोरदं ।  
न शास्त्रान्मुक्तत्वा पर्यवस्थापयिष्यति ।]

बाबरत —(बाबरत होकर गौर सहसा उठकर) हाय प्रिये, कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो ।

बन्धनक—इधर इधर भायं ।

(सब घुमते हैं)

(तब मयानिदिष्ट भूता, वस्त्राञ्चल को खींचता हुआ एव विद्रूपक से अनुसरण किया गया रोक्षेण और रत्निका प्रवेश करते हैं)

भूता—(अधु संह्रिय) पुत्र, मृत्यु छोड़ दो । विघ्न न करो । अर्घ्यपुत्र के (मरण रूप) अमञ्जल को मृनने से करती हूँ (उठकर, बाँधल सौधकर अग्नि की शेर चलती है ।)

रोहतेन—आर्ये भाता, मेरी प्रतीक्षा करो । मैं तुम्हारे बिना जीवन धारण नहीं कर सकता ।

विद्रूपक—आप जैसी शाह्यणी के पति से वृषष् चित्तारोहण कौ, नृपिण्य पाप बननाते हैं ।

भूता—पापाचरण अच्छा है, किन्तु आर्यपुत्र के अमञ्जल का मुनना नहीं ।

शबिलरु—(आगे देखकर) आर्यो (भूता) अग्नि के समीप हैं । अतः शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये ।

(बाबरत शीघ्रता से चलता है )

भूता—रत्निका, बालक को पकड़ लो । अब तक मैं अभीष्ट (कार्य) करती हूँ ।

सेटी—(करणापूर्वक) मैं भी स्वामिनी के कथन के अनुसार ही करने वाली हूँ । (अर्थात् मैं भी अग्नि में प्रवेश करती हूँ । )

भूता—(विद्रूपक को देखकर) आर्ये तनिक पकड़ लीजिये ।

विद्रूपक—(आवेगपूर्वक) अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए (व्यक्ति) को शाह्यण भागे करना चाहिये । अतः मैं आपका वशनी होता हूँ ।

भूता—भया ! दीनों ने अस्वीकार कर दिया । (बालक को घने तगाकर) बालक, हमें तिल-मिश्रित धन (तित्ताञ्जलि देने के लिये) तुम ही अपनी रक्षा करो । समय बीत जाने पर धनोत्पत्ति से क्या लाभ ? (निश्वासापूर्वक) अन्तिम शर ही आर्यपुत्र (बाबरत) को तुम्हारी देख-भाल नहीं करेगा ।

बत पुत्र, बतस (सन्मुद्धा) । अमञ्जलस्य मरणरूपस्य आकर्षणात् स्वणात् प्रतिपास्य प्रतीक्षस्व अथवा अम धामनं क्रुह । पापं पापञ्जकम् । तथा चोक्तम्—  
 'वृषक् विंति समादह्य न विप्रा गन्तुमर्हति । अन्यासाभेत् भारीया स्त्रोचर्मोऽयं पुः-  
 र्पुः । आसन्नाः क्रुवपहः अग्निः यस्याः सा । उपदेशमनतिक्रम्य इति यथोपदेशम्  
 तद् अस्याः अस्तीति यथोपदेशिनी, उपदेशानुसृत्यं कार्यं कुर्वाणा इति, भावः प्रत्यादिष्टा  
 मन्वासाता, निषिद्धा वा



चाववत्.—(आरुष्यं सहस्रोपसृत्य) अहमव पर्ययस्थापयामि बालिशम् ।  
(इति मालकः ब्राह्म्यामुत्पाप्य वससाविङ्गति)

धृता—(विलोक्य) अम्महे । उज्जउत्तसस उजेव सरसजोओ (पुननिपुणं निरूप्य  
सहर्षम्) दिट्टिआ अजउत्तो उजेव एत्तो । पिअ मे पिअम् । [आश्चर्यम् । आयंपुत्र-  
स्यैव स्वरसंयोगः । दिष्टधार्यपुत्र एवैवः । प्रिय मे प्रियम् ।

मालकः—(विलोक्य सहर्षम्) अम्मो । मावुको सं वरिस्तजदि । (धृतां प्रति)  
अजए, वड्वचीअसि । मावुको उजे थ पउजवट्टावेदि । [आश्चर्यम् । पिता मां परि-  
ष्वजति । आयं, वधंस । तात एव मां पर्यवस्थापयति । (इति प्रत्याविङ्गति)  
चाववत्—(धृता प्रति)

हा प्रेयसि, प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत् ।

अम्मोजिनोलोचनमुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति ॥१८॥

धृता—अजउत्त, अओ उजेव सस अचेतनेति उच्चोअदि । [आयंपुत्र, अतएव  
सोऽचेननेति उच्यते ।

विदूषकः—(हृद्वा सहर्षम्) ही हो भो, एदेहि उजेव अच्छोहि पिअवअस्तो  
वेवलीअदि । अहो ! सवीए बहामो, बओ जसणप्पयेअव्वयत्ताएण उजेव पिअसमागमं  
पाविवा (चारुदसं प्रति) छेडु जेवु पिअवअस्तो । [आश्चर्यं भोः, एताभ्यामैवा-  
क्षिभ्यां प्रियवयस्यः प्रेरयते । अहो सत्या. प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसाये-  
नैव प्रियसमागमं प्रापिता । जयतु प्रियवयस्यः ।]

चाववत्.—एहि मैत्रेय । (इत्याविङ्गति)

चेटी—अहो संविधानअम् । अज्ज, वदामि । [अहो संविधानकम् । आयं,  
वन्दे । (इति चान्दमस्य पाठयो. पतति)

चाववत्.—(पृष्ठे करं दत्त्वा) रदनिके, उत्तिष्ठ । (इत्युत्थापयति)

धृता—(वयन्तसेनां हृद्वा) दिट्टिआ कुसलियो बहिगिआ । [दिष्ट्या  
कुशलिनी भांगिनी ।]

वयन्तसेना—अहुणा कुसलिनी संवुत्तमिह । [अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि ।]  
(इत्यन्योन्यमाविङ्गतिः)

शबिसकः—दिष्ट्या जीवितमुद्दुर्गं आयं ।

चाववत्.—युष्मत्प्रसादेन ।

शबिसकः—आयं वयन्तसेने, परितुष्टो राजा भवती वपुशब्देनानु-  
पृच्छति ।

चारुत्त—(सुनकर; सहसा समीप जाकर) मैं ही बालक की देख-भास करूँगा।

(बालक को हाथों से उठाकर छाती से लगाता है)।

धृता—(देखकर) आश्चर्य ! आर्यपुत्र का सा स्वरसंयोग है। (फिर भतीज भाँति देखकर हर्षपूर्वक) भाग्य से आर्यपुत्र ही हैं। मेरे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक है।

बालक—(बिलकर, हर्ष के साथ) आश्चर्य, पिता जी मुझे बले लगा रहे हैं। (धृता से) आर्य, बट रही हो (भीभाग्यशालिनी हो), पिता जी ही मेरी देख-भास कर रहे हैं। (प्रत्यातिङ्गन करता है)

चारुत्त—(धृता से) हे प्रियतम पति के विद्यमान (जीवित) रहते ही तुमने यह क्या कठोर (अग्निप्रवेश का) निरचय कर लिया था? क्या सूर्य के अस्त को प्राप्त हुए बिना कमनिनी कभी नेत्र मूँदती है? ॥१८॥

धृता—आर्यपुत्र इसलिये यह अचेतन कही जाती है।

विदूषक—(देखकर, हर्षपूर्वक) अरे, आश्चर्य है। इन्हीं आँसों से प्रिय मित्र बँता जा रहा है। अहो ! सती का प्रभाव, जिससे कि अग्नि में प्रवेश के निरचय से ही प्रिय मित्रन को प्राप्त हो गई। (चारुत्त से) प्रियमित्र की जय हो, जय हो।

चारुत्त—शाओ मंत्रेय, (आतिङ्गन करता है)।

बेटा—अहो ! (आश्चर्यजनक) संयोग ! आर्य प्रणाम करती हैं। (चारुत्त के धरनों पर गिरती है)

चारुत्त—(पीठ पर हाथ रखकर) रदनिका उठो। (उठाता है)

धृता—(बसन्तसेना को देखकर) भाग्य से बहन कुशलपूर्वक है।

बसन्तसेना—अब सकुशल ही गई है। (परस्पर भित्ती हैं)

शबिलक—भाग्य से आर्य का मित्रवर्ग जीवित है।

चारुत्त—तुम्हारी कृपा से।

शबिलक—आर्य बसन्तसेना, प्रसन्न हुए राजा आपको बधू दण्ड-से अनुपहीत करने हैं।

पर्यवस्थापय ऋजु शालिनां बालकम् दिष्ट्या भाग्येन ।

'कथं त्वया कठोरो व्यवसायः स्वीकृतः' इत्याह चारुत्तः धृता प्रति-हेति । हा प्रेषति प्रियतमे, प्रेषति स्वप्रियजनने मयि विद्यमाने कः अयं कठोरः निन्दुरः व्यवसायः अग्निप्रवेशनिरचयः आसीत् । किम् ? भानो सूर्ये अस्तं यपिते अस्त न प्राप्ते सति अग्नीजितो कमनिनी सौचनमुद्रणं पुण्यसङ्कोचं करोति । सूर्ये अस्तं पन्नान् पूर्वं कमनिनी न सङ्कोचं प्राप्नोत्येव । दृष्टान्वातच्छ्राः । इन्द्रवज्रा इत्तन् ॥१८॥

अचेतनेति—उच्यते, चुम्बयते इति पाठान्तरम् । उच्यते अग्नी प्रवेशस्य व्यवसायः निरचयः तेन ।

वसन्तसेना—अञ्ज कदापिह् । [आस्यं, कृतार्थास्मि ] ।

शबिलक—(वसन्तसेनामवगुण्ठय चारुदा प्रति) आर्य किमस्य विज्ञो क्रियताम् ?

चारुदत्त—विज्ञो, किं तव बहुमतम् ?

शिशु—इम ईदित्त जनिच्चत्तण पेसित्तज दिज्जणत्तसे मे परवज्जाए बहुमाने सद्दत्ते । [इदमोहशमनित्यत्व पक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रवज्याया बहुमान संवृत्त । ]

चारुदत्त—सखे दुदोऽस्य निश्चय सत्पुत्रिव्या सबविहारेण कुलपतिरयं क्रियताम् ।

शबिलक—यथाहार्यं ।

शिशु—विज णो विअम् । [ प्रिय न प्रियम् । ]

वसन्तसेना—सपद् जीवाविद्विह् । [साप्रत जीवापितास्मि । ]

शबिलक—स्पावरकस्य किं द्विमताम् ।

चारुदत्त—सुवृत्त, अदासो भवतु । ते चाण्डालाः सर्वं चाण्डालानाम् क्रि-  
पत्तवो भवन्तु । अन्दवक पृथ्वीदण्डपात्तवो भवन्तु । तस्व र ष्टीवरत्नस्य  
यथैव क्रिया पूर्वमासीत्, वर्तमाने तथैवास्मास्तु ।

शबिलक—एव यथाहाय परमेन मुञ्च मुञ्च । व्यापदामि ।

चारुदत्त—अभय शरणागतस्य (शत्रु कृतापराध (१०।१४) इत्यादि पठति)

शबिलक—तदुभ्यता विं ते भूय प्रिय करोमि ।

चारुदत्त—अत परमपि प्रियमस्ति ।

सख्या चारित्र्यशुद्धिचरणनिपतिन शत्रुरूप्येव श्रुतः

प्रोत्सातारातिमूल प्रियसुहृदचलामार्यक शास्ति राजा ।

प्राप्ता भूय प्रियेय प्रियसुहृदि भवान्सङ्गतो मे वपस्यो

सभ्य किं चातिरिक्त यदपरमघृणा प्राययेद्भू भवन्तम् ॥१५॥

सविद्याननं विद्यानम् आयोजन या । जीवितः सुहृद्वर्गं यस्य तदाभूत् ।  
बहुमतम् अभोषितम् ।

सयमेव प्रिय जातमत परमपि किं प्रिय इत्यादित्वाह चारुदत्त—सग्रेति ।  
चारित्र्यस्य शुद्धि पवित्रता निर्दोषता या सख्या प्राप्ता वसन्तसेनावधापवादकलङ्क  
परिहृत इत्यर्थः । एष शत्रु शब्दार अपि चरणयो निपतित मुक्त य । प्रोत्सातम्  
उपनिषत्प शरानिपूर्व येन स मम प्रियसुहृद् प्रियमिहम् आयंक्त राजा तन् भवता

वसन्तसेना—आगे, कृतार्थ हो गई ।

शशिलक—(वसन्तसेना का अवगुण्डन करके चारदत्त से) आय, इस भिक्षुक का क्या किया जाये ?

चारदत्त—भिक्षुक तुम्हें क्या अभीष्ट है ?

भिक्षु—इस प्रकार की संसार की अनित्यता को देखकर मेरा सव्यास हों दुगना आदरभाव हो गया है ।

चारदत्त—मित्र, इसका निश्चय दृढ़ है । बट्टः पृथ्वी के क्षमस्त बौद्ध मठों का कुलपति इसे बना दिया जाये ।

शशिलक—जैसा आर्य कहें ।

भिक्षु—हमारे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक ।

वसन्तसेना—इस समय मुझे जीविध कर दिया गया है ।

शशिलक—स्वावरक का क्या क्रिया जन्म चाहिये ?

चारदत्त—अच्छे आचरण वाला यह अब दास नहीं रहना चाहिये । वे चाण्डाल एवं चाण्डालों के स्वामी बन जायें । अन्दक पृथ्वी का बण्डनायक (ग्यापाम्भस या पुंतिंस का अग्रज) हो जाये । उस राजदयालक का जैसे पहले काम था, इस समय वैसा ही इसका रहे ।

शशिलक—जैसे आर्य ने कहा वैसा ही (होगा) किन्तु इसे खोद दो, खोड़ दो । इसे मारता हूँ ।

चारदत्त—शरणागत के लिये अभय है । (शत्रुः कृतापराधः १०।१४ इत्यादि पढ़ता है )

शशिलक—तो बतलाइये कि आपका और क्या प्रिय करूँ ?

चारदत्त—इससे अधिक भी क्या प्रिय है ।

शरित की निर्दोषता प्राप्त कर ती, शरणों पर पड़े हुए शत्रु (शकार) को भी मुक्त कर दिया । शत्रुओं को उन्मूलित करके मेरा प्रिय मित्र आर्यक राजा हो गया तथा पृथ्वी का शासन करने लगा । यह प्रिया वसन्तसेना फिर मिल गई । प्रिय मित्र आर्यक से मिले हुए आप मेरे मित्र ही गये । इससे अधिक और क्या ज्ञान्त करता है, जिसकी मैं अब आपसे प्रार्थना करूँ ।

पृथिवी शान्ति । इयं प्रिया वसन्तसेना भ्रूयः पुनः प्राप्ता । प्रियसुहृदि प्रियमित्रे आर्यके सङ्गतः भवान् शशिलकः मे मन व्यस्यः मित्रं जानः इति शेषः । किं च अनिरिक्तम् एभ्यः अधिकम् तर्भ्यं प्राप्तमीयमस्ति, अधुना अहं चारदत्तः यद् अपरम् वन्द्यं भवन्तं शशिलकं प्रार्थये । यद् प्रायणीयं तत्त्वमेव प्राप्तं न किमपि तस्यनव-मिष्येन इति भावः । समुच्चयानुष्टुप्ः काव्यनिष्कृतम् । लघ्वरा वृत्तम् ॥२६॥

कांश्चित्पुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्ति  
 कांश्चित्पातविधौ-करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्योकुसान् ।  
 अन्योन्य प्रतिपक्षसंहतिमिमा लोकस्थिति बोधय-  
 न्नेष क्रोडति रूपयन्तघटिकान्यायप्रसक्तौ विधिः ॥६०॥

तथापोदमस्तु (परतवामम्)

क्षोरिष्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसपन्नसस्या  
 पर्जन्यः कासवर्षी सकलजनमनोनन्दिनी यान्तु वाताः ।  
 भोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः, सन्तु सन्तः ।  
 भीमन्तः पान्तु पृथ्वी प्रशमितरिपवो घर्भनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥  
 (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)  
 संहार्ये नाम दशमोऽङ्कः

वित्तरेव जनानां जीवनेन व्रीडा करोतीत्याह आरुहस्तः-कांश्चिदिति । कांश्चित्  
 शनान् पुच्छयति पुच्छान् रिक्तान् करोति 'वत्करोति' इति शिच् । कांश्चिन् प्रपूरयति  
 वा पूर्णान् करोति । कांश्चिद् उन्नतिम् अभ्युदयं भवति । कांश्चिन् पातविधौ  
 मग्नमंगि करोति च प्रेरयति । कांश्चित् पुनः आकुसान् ध्वाकुसान् भवति करोति-  
 द्दयर्थः । इमाम् अन्योन्य प्रतिपक्षाणां रिचसतापूर्णताप्रभृतीनां विरोधिनां संहतिः  
 रंवाय यत्र तादृशी लोकस्थिति लोकावस्था बोधयन् रूपयन्तस्य जलोदरणयन्त्रस्य  
 घटिकानां दुद्रुपटानां नः न्यायः पठतिः एकस्याः रिक्तता, अन्यस्याः जलपूरण  
 कस्याश्चिद् उन्नतिः कस्याश्चिन्न पतनम् तस्मिन् (न्याये) प्रसक्तः तत्परः एव विधिः  
 षीडति निश्चिन्नाल्लुप्यः । तादृशविभीडितं वृत्तम् ॥६०॥

परतस्य भटस्य वाचयम् वागीवैवमम् । (टि०)

किन्हीं को रिक्त (रुन्ध) करता है, किन्हीं को पूर्ण करता है। किन्हीं को उप्रति की ओर ले जाता है तथा किन्हीं का पतन करता है और किन्हीं को तो व्याकुलता में ही डाल देता है। इस प्रकार परस्पर विरोधियों (रिक्तता-पूर्णता आदि) की समष्टि से युक्त इस संसार की अवस्था का बोध कराता हुआ, कूपयन्त्र (रहट) की घटिकाओं की पद्धति का अनुकरण करने वाला वह भाग्य क्रोड़ा करता है ॥६०॥

फिर भी यह होवे—

(भरतवाक्य)

गीर्ण (प्रचुर) दूध वाली हों, पृथ्वी-सब प्रकार के धान्य से पूर्ण हो। मेघ समय पर बरसने वाला हो, समस्त जनों के मन को आनन्दित करने वाली वायु जले। प्राणेश्वरी निरन्तर सुखी रहे। पूज्य ब्राह्मण लोग उत्सुक शील वाले हों, समृद्धिशासी, शत्रुओं का नाश करने वाले तथा धर्मनिष्ठ राजा पृथ्वी का पालन करें ॥६१॥

(सब विकसल जाते हैं)

उपसंहार नामक दशम अङ्क समाप्त

शीरिष्य इति । शिवः शीरिष्यः दुग्धवत्यः सन्तु । वसुमती पृथ्वी सर्व-सम्पन्नस्य सर्वाणि च तानि सम्पन्नाति च तस्यानि यस्यां तादृशी भवतु । पञ्चम्य मेघः कालपर्यो काले यथासमयं वर्षतीति तथा भवतु । सकलजनानां मनसि नन्दयतीति तेषामृताः दाता पवनः बान्तु वहन्तु । जन्ममार्गः देहधारिणः सततं भोक्तुम् । अग्निमत्ताः पूजिताः ब्राह्मणाः सन्तः साधुजीवाः सन्तु । भीमन्तः समृद्धिशासिनः प्रशमिताः नागिताः रिपवः शत्रवः यैः तादृशाः धर्मो निष्ठा योगा जादृशाश्च भूयाः भूमिपालाः पृथ्वीं पान्तु पालयन्तु । परिसंख्यासङ्कारः । सख्यय वृत्तम् ॥६१॥

संहारः उपसंहारः, उपसंहाराख्योऽयं दशमोऽङ्कः ।

इति दशमोऽङ्कः

समाप्तचार्य ग्रन्थः

परिशिष्ट १

मृच्छकटिकश्लोकानां वर्णानुक्रमणिका

	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
असेन विभ्रत्नरबीरमाना	१०	२१	अग्देहि चङ्ग अहि	१	२८
आवाहाया मूर्धंजेध्वेता	८	२१	अय हि पातवी विप्रो	६	३६
अङ्गात्कविच्छदरथ	६	३३	अय न सुरतज्ज्वाल	४	११
अत्य तद वेगि शुवण्णअ	८	४०	अय तव शरीरस्य	४	७
अट्ट कलेवल पडिभुत्त	१०	३५	अयमेवविद्ये बाले	६	३१
अद्याप्यस्य तथैव वेश०	८	५	अय पट सूत्रदरिद्रता	२	१०
अनया हि तामासन्न	३	१५	अये शस्त्र मया प्राप्त	६	२४
अद्यभाले पलाभती	१	३६	अल चतु शालमिम प्रवेश्य	३	७
अद्यस्य दृष्टिदरिव	१	४६	अबशोद्य बालअज्जण	२	१८
अन्य मनुष्य हृदयेन	३	१६	अवनतशिरस प्रयाग	८	१५
अन्यस्यामपि जाती मा	८	४३	अर्धतिपुयां द्विजसार्थवाहो	१	६
अन्यासु भित्तिषु मया	३	१४	अयहरद्द बोवि सुरभ	६	११
अपण्डितास्ते पुरुषा मत्	४	१२	अविज्ञातावसक्तेन	१	५४
अपतितनपि तावत्सेष	८	४२	अशरणशरणप्रमोद-	८	४
अपद्या श्रीरेषा प्रहरण०	५	१२	अशी शुतिष्वे वलिदे	१	३०
अपश्यतोऽद्य ता बान्धा	७	६	असौ हि दत्त्वा तिमिराव-	१	६
अपापाना कुले जाते	६	३७	अस्मत्समक्ष हि वसन्तसेना	८	३०
अप्येय नाम परिभूत	८	२६	अशच्छेष बीसत्त्वा	६	६
अप्रीतिर्भवतु विमुच्यता	८	४१	आश्रद्धिदे शलोग	१०	३६
अण्णुदये अवगाणे	१०	१६	आकर्षन्तु शुबध्वैग	१०	५३
अभजं तुह देउ हरो	६	२७	आत्मभाग्यसतद्रव्य	३	२७
अभ्युधितोऽसि तस्मिन्०	६	१६	आयंकेणायंवृत्तेन	१०	५०
अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेत	१०	६	आलाने गृह्यते हृस्तो	१	५०
अमी हि वरत्रान्तनिष्ठ-	१०	१६	आलोनविषादा मे	१	३६
अमी हि वृक्षा फलपुष्प-	८	७	आलोचित गृहगिराण्डिमि०	५	१
अमूहि भित्वा जलदान्तराभि	५	४४	आथय वत्स गन्तव्य	१०	३२
अभीतिवमघोवर्ण	१०	१८	आह्निऊग सरोत	२	२०

	अङ्कः	श्लोकः		अङ्कः	श्लोकः
इन्द्रं मम वेत्स्यति त्रि	८	३०	एवं दूनमदिककते	१०	५३
इदं बृहं भिन्नमदत्तदग्ने	६	२	एसापापकमुभिका	१	२३
इदं तन्नेहमवंत्वं	१०	२३	एशानि वाशू धितधिम-	१	४९
इदानीं सुदुनरेजस्मिन्	८	१६	एशे गुपनत्रचगिहो	१०	१५
इष्टे पवाहिश्रुते	१०	७	एशे पशानि चनगेशु	८	१८
इयं हि निशा नरमावतन्त्रि	३	८	एशे म्हि तुलितदतुनिदे	८	४५
इयं रङ्गभवेन कतानां	१	४२	एय ते प्रषयो विप्र	१	४५
इह सर्वस्वरुनिनः	४	१०	एय भो निर्मनज्योन्मो०	८	२५
ईदो व्यवहारानो	८	४०	एया फुल्लकृश्वनोप-	५	३५
ईदोः संवत्सरोपैः	८	४३	एयाधि वसतो वर्षात्कु-	१	४०
उवागेषु महानु ज	६	७	एमो असोऽनुच्छो	४	३१
उक्तमिदस्य हृदयानुगुणा	३	३	एहो ह्येति तिलनिना	५	२३
उत्तमिना मच्छमि	१	१६	ऐरानजोरेति चनेर	५	३३
उत्पिठ भोः पतितमाधु	१०	३१	ओमानय देष मयं	१०	३०
उत्तरति हि शशाङ्क-	१	३७	ओहारिजो पवहणो	६	१३
उद्यन्तु नाम मेधाः	४	३३	कः धदास्पति धृताय	३	२५
उत्तमति नमति वषति	५	२६	" "	३	३५
उत्तरितमनिपतितेष्टको	३	२२	कश्वायुषा गोच्छद	१	५१
उत्तरेण सामवेदं मणित०	१	५	कतापदे गिन्नापमण	२	५
उत्तरायनिषोपेयं	६	१६	कर्करममबाहुः सिंह०	७	५
उत्तराद्युनरायुनन	५	६	कस्तृमो रिपत्रो	६	६
उत्तु मां वहति	१	१२	कस्तु तुहं तनुमज्जो	२	१६
एताः पुनर्हन्त्यगताः	१०	११	कृति कहि सुसहिज	२	५
एता निषिकरज्यप्रद०	५	५	कृतिवन्तुच्छरति प्रतुच्छति	१०	६०
एताभिर्विष्टिनामिः	३	३०	का उग तुनिदंशा	३०	३५
एता हृदन्ति व हृदन्ति	४	१५	कानि नोवमिदं बध्नु	३	११
एतेन नापति मितियु	३	१६	कामं प्रदोयतिमिरेष	१	३३
एते हि विदुस्तुनबद्धकजा०	५	२१	कि अच्छ्य बीसदा	६	३
एतेः निष्पन्नमातवर्कनिर्म०	५	४६	कि यात्यस्य पुरः शनैः	७	३
एतेरादंठनातवत्रमतिने०	५	२०	कि याधि धावधि पतामणि	१	१५
एतेरेव मदा गजेन्द्र-	५	१८	कि यामि मातकदलीव	१	२०
एय मए विग्नविदा	६	२३	कि ये शक्रे वातिपुत्ते	८	३५
एय दोषकचिद्वं	८	३८	कि कुतेनोपदिष्टेन	३	२६
एतेहि वे दगान्दृग्वन	३	२०	" "	१	७



	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
किं ते ह्यहं पूवरतिप्रसक्ता	५	२६	अन दोषमुदाहरन्ति	६	४
किं त्वं वटीतटनिवे०	१	२७	ह्यार्यं श्रीधरसतप्तो०	४	१८
किं त्वं पदमंभं पदानि	१	२८	क्षीयामु प्रतिमुक्तशब्ध०	८	११
किं त्वं भयेन परिवर्तित-	१	१७	जड वज्रसि पादात्	२	३
किं नु नाम भवेत्कार्यं-	८	३६	जदिन्द्रेणे मन्मदशाविशाल	३	२२
किं नु स्वर्गात्पुन प्राप्ता	१०	४०	जघा जघा वज्रसि अग्भ-	५	१०
किं देवस्य छिज्जत	१०	४	जयति वृषभवेतुर्दक्ष	१०	४६
किं देवस्य वापुनिश	१०	२४	जसघर निर्वज्ररत्न	५	२८
किं भीमस्ये जमदग्न्युत्तं	१	२६	जाणन्तो वि ह जादि	६	२१
कुतो वाप्यान्बुधाराभि	१०	४१	जाणामि पाण्डव	६	१५
कृत्वा शरीरपरिणाहसुत्त-	३	६	जाणामि न कीनश	२	६
कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रम	६	२२	जादी तुज्ज विमुद्धा	६	२३
हृत्वेन मनुजपतेमंहद्वयसोकं	७	८	जूदेण त कद मे	२	१७
केयमभ्युद्यते क्षत्रे	१०	३८	जे अस्तबल जाणिजा	२	१४
केशवगानपयाम	५	३	जे चुम्बट अम्बिरमाहु-	८	१६
कीं त गुणारविन्द	६	१३	जेण भिह यम्भदाणे	८	२५
कौश्यमेवविद्ये काले	१०	२६	जातोन्विटान्स्वधुन-	४	१६
कीरिण्य सन्तु गावो	१०	६०	जातो हि किं न रसु	६	६
क्षेमेण व्रज बान्धवान्	७	७	जाणज्जाणतवहमुषण-	१	२५
क्षणं गठी क्षणजूलके	६	२	जयतीपयामभूदे	१०	८
क्षत्त, चरित निरुष्ट, जात	८	३२	ज अ सुअदि अत लिक्खे	१०	६
गता नाश तारा उप०	५	२५	जवबधणमक्का-	२	१
गजेणि शैलशिखरेषु	५	१३	जहमज्जग्दे शूले	८	१०
गजे वा दयं वा शत्र	५	३१	ज ह अन्हे चाडाला	१०	२२
गुणप्रवाल दिनमप्रशात्	४	३२	जिष्वक्वत्त भूतरपेशिषण्ण	१	५२
गुणुप यत्त पुरुषेण कार्यं	४	२३	जहादेह ज्ञातितजलेहि	६	१
गुणज्येव हि कर्तव्य	४	२२	तकिं ण कलअ कातण	१०	१
घोणोन्नतं मुत्तमपाङ्ग०	६	६६	त तस्य एवरत्तम	३	५
अन्दनचन्द्रशीलाद्यो	६	२६	तपसा मनसा वाग्भि	१	१६
आणकनेन जघा कीदा	८	३५	तपोरिदं सत्तुत्तोत्तवा-	१	७
आमुदत्तविजाणाम	८	४४	तेरजजनताहायविचन्त्यता	१	३१
अन्तासक्तनिमममन्दि-	६	१५	छानीषु तार विटपेषु	५	५२
पिर सन्तु भविष्यामि	१०	१७	सुत्तनं चाद्रिराजस्य	६	२०
अग्नं वायमुपशिषन्ति	६	३	तेनारम्भहृत्तवेरेण	१०	२८

अङ्कः श्लोकः

अङ्कः श्लोकः

त्ववति तिम तं जयश्रीः  
 मेडा हृतसर्वस्वः  
 त्वत्स्नेहबद्धद्वयो हि  
 त्वदपमं तद्विनिपात्य-  
 त्वद्वारं यः समारह्य  
 त्वरसा सर्वानं तप  
 दस्ता निगाया बचनीद-  
 वाशिम्योदकवाहिनी  
 वाशिष्य शौचानि  
 वाशिष्यास्तुर्यस्य  
 वाशिष्यादिप्रवनेति  
 वाशिष्यामरपाद्वा  
 वाशिष्येनामिभूतेन  
 दिग्गन्तवीचदाने  
 विष्टया भो अमन-  
 र्थानानां कल्पवृक्षाः  
 दुर्वनं नृपतेरवज्ञः  
 दुर्वनोमि विनष्टोऽसि  
 बुष्ट्याना परमुजमः लघी  
 र्णाः को नृ जलावसेक-  
 दो ज्वेव पूअनीना  
 द्रव्यं तर्ह्यं द्रुतेनैव  
 ह्यमिदमत्रैव शोके  
 द्विदेवप्रतिरवकोनेत्रो०  
 वर्णविशुद्धस्य नरस्य  
 कल्पानि तेषां खनु  
 वीराभिरार्यजनचित्त०  
 विदस्तु खनु वाशिष्यं  
 न खनु मन विद्यादः  
 न गन्धर्वि पद्यभवं  
 न पर्वतायै नविनी  
 न भीतो नरपादस्मि  
 न महोत्तलत्विष्टिमहावि  
 नपनपनितसिद्धं

६ १८  
 २ ६  
 ४ ६  
 १० ४६  
 १० ५१  
 १० ५६  
 ४ १  
 ८ ३८  
 १ ८  
 १ ३६  
 १ १४  
 १ ११  
 ४ ५  
 १० २  
 १० ४६  
 १ ४८  
 ६ ३९  
 २ १३  
 ६ २७  
 ३ १२  
 ६ १४  
 २ ८  
 ४ २५  
 १ ३  
 ५ ४०  
 ५ ४६  
 ५ ४५  
 ३ १६  
 ४ २०  
 २ ७  
 ४ १७  
 १० २७  
 १० ५६  
 १० ३

नरपतिपुरयापां  
 नि.स्वासोऽय न शङ्कितः  
 निवासश्चिन्तायाः  
 निष्पन्दीकृतपद्मपङ्क०  
 नृपा लोकान्तरस्थाना  
 नृपतिपुरयश्चिद्धितप्रचारं  
 नो मुष्णाम्यवलां  
 पञ्चविकलरथ पञ्ची  
 पट्टकस्त्रिभुजाः पिबन्ति  
 पंचरजना जेन नासिदा  
 पट्ट्याकोशं चास्करं  
 परशुहलनिताः परान्मुष्टाः  
 परिजनकयासकः  
 परिक्रातस्य मे रामा  
 प्रेदेद्वुवन्विद्वन्प्रद्विगुणित  
 नर्दनवपलवेयः स्पृम०  
 पश्यति मा वयसिभो  
 पापु को नीलकण्ठस्य  
 पादपहारपरिमव  
 पादेनेकेन गगने  
 पूर्वं मानादवजाय  
 पूर्वानुवचनेरेण  
 प्रभवति यदि धर्मो  
 प्रविरः दुहृमिति  
 प्रनरसि प्रवविरता  
 प्राप्तोऽहं अमनःपुतां  
 प्राप्येत्तद्वधमनमहापर्व-  
 प्रियमुद्वहमकारणं  
 उताका पाण्डुरोष्णीप०  
 बहुकुमुदविचित्रिदा  
 वातां स्त्रियं च नवरस्य  
 भय कस्तं जन्मदृष्टो  
 शर्वदु मोटीमानं न च  
 शम्भानि मे यदि तदा

७ ३  
 ३ १८  
 १ १५  
 ५ २४  
 ६ ४२  
 ३ १०  
 ४ ६  
 ५ ४१  
 ५ १४  
 ८ २  
 ३ १३  
 ४ २८  
 ४ ३  
 ६ ८  
 १ १  
 ५ १७  
 ८ २४  
 १ २  
 ६ २३  
 २ ११  
 ८ १७  
 १० ४४  
 १० ३४  
 १ ५६  
 १ २४  
 १० २५  
 १० ३३  
 ४ २७  
 ३ १६  
 ८ ८  
 ६ १०  
 ६ ४  
 ६ २

	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
भीदाप्रकल्पदाण	६	१९	मया मे जनितः काम	१	१५
भीमस्यानुकरिभ्यामि	६	१७	यस्यापस्वित्तस्य सा बान्वा	५	९
भुजग इव वती गिरिः	३	२१	यासां बति सपदि	१	९
भ्रह्मेणोप्यर्जयिष्यामि	३	२६	येन ते भवन् भित्वा	१०	५०
भो मेघं गच्छीरतर	५	४७	योऽस्माभिश्चिन्तितो	१	३६
भ्रशेण तिरस्तायिलनेण	१०	२९	योऽहं लता बुभुमिता	९	२०
भ्रक्षयश्परिपूत गोत्रमु-	१०	१२	रक्त च नाम मधुर च	३	५
भ्रंदनमपि गुणविशेषयन्तं	४	४	रक्त तदेव वरवस्त्रमिय	१०	४५
मम भ्रमणममय	१	२१	रघ्यानुसारी विषम	८	२७
मया किल नृगसेन	९	३८	राजमार्गो हि सून्योऽय	१	५८
मया खलु नृगसेन	९	३०	रुद्रस्वर वागति वायसो	१६	१०
मवाप्ता महती बुद्धि	४	२२	रे रे वीरम किं वि	६	८
मयि किनिहितहृष्टि	९	१२	सज्जाए भीलुवाए वा	९	१७
महावाताध्मातंमंहिष०	५	२२	म्रघ्या चारित्रशुद्धि	१०	५९
मा दाव जह वि एतो	५	२९	नामशकुले मय पितर	९	६
मा दुग्धोत्ति परित्तवी	१	४३	तामेहि अ सामवल्सह	१	२६
माजार्त्तं ब्रमणे मृग०	३	२०	सिम्पतीव तपोऽङ्गानि	१	३४
मूढे निरन्तरमयोदरया	५	१५	सेतप्रभावदहिमम	२	२
मेघा वपेन्तु गर्जेन्तु	५	१६	वंश बाए शतछिह	५	११
मैत्रो जलार्द्रमहिवोदर-	५	२	वज्राभिय जीप्रमाणे	१०	१०
मैत्रेय सोः किमिद०	६	५९	वज्रिञ्च इव भाग्य	७	१
म समालम्ब्य विश्वास	३	२९	वपंशतमस्तु दुदिन०	५	४८
" "	५	७	वर्षादकमुदियरता	१	३८
धः वशिष्यवरित्तवतिः	४	२	वैद्यन्ततेना किमिय	१०	१९
धः स्तान्तं दिवसान्त-	२	१२	वस्तवस्तारणि सहस्रानि	९	३४
धलेन सेवितम्य पुत्र	८	३३	ज्वादावपेण तत्ता चोवस	८	५६
धया मयैद त्रिपुणं	९	२७	थाप्या स्नाति विचक्षणो०	१	३२
धर्मव बुध्य प्रथमे	९	२६	विचलइ नेउरनुजल	२	१९
धदा तु भाग्यवपनीडिषाणा	१	५३	विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्र	५	५१
धदि कृष्णसि मालि	५	४४	विद्युदधिज्वंसतीव	५	२७
धदि गर्जति वारिधसौ०	५	३२	विधिर्नयोपनीतस्त्य	७	६
धदि तापिस्तृताते	३	२५	विधयंतेयनचपेष्टी शीला	८	६
धददहस्याहेतोर्मृषा	५	३०	विधवानुवता धार्या	३	२८



## टिप्पणी

### प्रथम अङ्क

[इस अङ्क का नाम 'अलख्यार-व्यास' है। यस्तन्तसेना ने माना-जाना बढाने के लिये चारदत्त के घर में अपने आभूषणों को रख दिया—(=व्यास) यह इस अङ्क की प्रमुख घटना है। आरम्भ में नागदी पाठ के पश्चात् प्रस्तावना आरम्भ होती है। प्रस्तावना में सूत्रधार तथा उसकी पत्नी नटी का बंधोपकथन है। नटी के कहने से सूत्रधार किसी साहाय्य को निमन्त्रित करने के लिये निकलता है, सभी मंत्रिय (विद्वेषक) दिखाई देता है। इस अङ्क के चार दृश्य कहे जा सकते हैं—प्रथम दृश्य में मंत्रिय चारदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध का दिया हुआ उत्तरीय धारण लेकर आता है। चारदत्त मंत्रिय का स्वागत करके उसे देखने को बसि देने के लिये जाने को कहता है। मंत्रिय जानाकानी करता है और चारदत्त दरिद्रता के दुःप्रभाव को स्मरण करता है। द्वितीय दृश्य में शकार, चिट, चेट, वसन्तसेना का पीछा करते हैं और वसन्तसेना चारदत्त के घर के समीप आ जाती है। तृतीय दृश्य में चारदत्त जब समाप्त करके विद्वेषक को बसि देने के लिये भेजता है। रदनिका और मंत्रिय बाहर आते हैं। इसी समय वसन्तसेना चारदत्त के घर में प्रविष्ट होती है। शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ कर उसको पकड़ लेता है और मंत्रिय शकार का विवाद होता है। चतुर्थ दृश्य में रदनिका और मंत्रिय के मीटने पर चारदत्त वसन्तसेना को पहचानता है। दोनों का प्रारम्भिक वार्तालाप होता है। वसन्तसेना व्यासरूप में अपने आभूषण चारदत्त के घर रखकर पसी जाती है।]

(पृष्ठ २) १: पर्यङ्क—इत्यादि नागदी के दो श्लोक हैं। शम्भी: शून्येरायः समाधिः यः पातुं यह प्रधान वाक्य है। अन्य पंजी विभक्ति के पद 'सम्भु' के विशेषण हैं। पर्यङ्क का अभिप्राय है—योगाभ्यास का विशेष प्रकार का व्यासन; जिसे पचासन या कीरासन (नामे) कहते हैं। पन्थि-गौठ, पालवी लगाने के लिये एक पग पर मोड़कर दूसरा पग रखना; जैसे टूट करने के लिये (मुख्य अंगण) दोहरे सर्प का आसनेय—सपेटना (Coiling round); उससे जबड़े हुए हैं जानु जिसके (बहुब्रीहि लगाने)। अपना पन्थि बांधने में दोहरे हुए सर्प के लिपटने के कारण जकड़ गये हैं जानु जिसके ऐसे अम्भु की (समाधि)। अन्तः प्राणावरोध—प्रणायाम के समय प्राणवानु का शरीर के भीतर रोकना। इससे इन्द्रियो का बाह्यविषयक ज्ञान निवृत्त हो गया है तथा वे संयत हो गई हैं। चर्य—संयत, बसीहत। इन्द्रिय—इन्द्रस्य आरामनः लिङ्गम् (इन्द्र मर्त्या भारतमा का अनुवाग कराने वाला चित्त), इन्द्र+पच् (इच्) आरामनि० जिसने

रूपजन के द्वारा अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन किया है। इन दर्शनों के समस्त शक्ति का आधार एक गया है। यहाँ नत्त्वदृष्ट्या-भ्रमकृष्टि के द्वारा, यह परमनः का स्वरूप है तथा ध्यानगतकरुणम् एक पना है करुण अर्थात् इन्द्रिय-ध्याधार विम कर्म में, यह परमनः का किया विकल्प है। आत्मानम्—विशुद्ध चैतन्य या ब्रह्मचैतन्य, बन्धुः आत्मस्वरूप का दर्शन—एता शब्दु स्वरूपेऽवन्मानम् (योगसुत्र १:०)। सुन्दरम्-नियन्त्रण में वृत्तिप्रतिष्ठा एकानता अर्थात् मल्लोत्तमा, उममे प्रज्ञ में लगी हुई सनाधि (सुन्दे ईशमधटिती यो नमः, तेन ब्रह्मणि लम्) —यद् अर्थ अतिशय सगत प्रतीत होता है। सनाधिः यः पानु का भवार्थ है—ममाधिनिष्ठः मित्रः व पानु।

यहाँ पर समाधिनिष्ठ शिव का साङ्गोसाङ्ग वर्णन किया गया है। यम-नियम-पानन-श्रमापान-प्रसाहार-धारणा-कानन-सनाधि—ये योग के आठ शब्द हैं। आपन से लेकर सनाधि पर्यन्त समस्त शब्दों का क्रमः वर्णन इस पद में किया गया है। 'पनदुः' इत्यादि में 'सिधसुधनासतनम्' का स्वरूप है, सन्तः०' इत्यादि में प्राणायाम तथा शक्ति-निरोधस्वरूप प्रसाहार का वर्णन है; 'आत्मनि०' इत्यादि में 'देगवन्ध-रितल्ल धारणा' [योग० २/१] इन धारणा का स्वरूप है तथा 'युन्देगपधटि' पर में उन प्रत्यक्षतानता ध्यानम् [योग० २-२] पर ध्यान का रूप प्रकट होता है और 'विदुनम्' यह पर 'अर्थनाप्रतिमान' सनाधि का धोतक है ॥१॥

२. पाठ० यहाँ पर 'गौरी' शब्द के प्रयोग से पार्वती की पूजा का शौर्य अभिप्रेत होता है जो श्यामान्धुव मह्य नीचे कण्ठ पर विदुलता के मह्य है। इन श्लोक में कथाबन्धु का बीज व्यक्त होगा है; यथा—'शिव के कण्ठ में गौरी की पूजा' में चारदंत और वसन्तमेना का प्रेम प्रकट होगा है। गौरीमान्धुव का वर्णन गौरीमान्धुव शिव में वसन्तमेना के अभिचरण का सूचक है। श्वेत तथा श्याम के योग्य वर्णन से एक ओर संसार के शक्राशक्तिवृत्त पूर्वतापुनं स्वरुह अर्थात् कालुष्य तथा दुःखी और वसन्तमेना का पवित्र प्रेम अभिप्रेत होगा है। इन प्रकार अत्यन्त रूप में कथावीर्य को प्रस्तुत करने वाली यह पत्रावली नामक गान्दी है। (देविदे ३० व्याकर) ॥२॥

गान्दी—देव या राजा आदि को प्रदत्त करने के लिये नाटक के लार्ड में मूर्ति या आर्गावचन के रूप में मञ्जुल किया जाता है वही 'गान्दी' कहलाती है। (देविदे ३० व्याकर)। गन्धरति इति गन्धः/गन्ध + अच्; गन्ध एव गान्दः (स्वायंज्) गन्ध + ई (स्वी०) = गान्दी। गान्दीगठ मूत्रधार करता है। 'मूत्रधारः पठेन्गान्दीं सन्तस्वरमाश्रितः।' यह आठ पदों की गान्दी है। व्याख्याकारों ने 'पद' की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। वही सुवन और निष्ठल को पद माना गया है; वही श्लोक के एक चरण को ही पद कहा गया है। यहाँ दोनों पदों के चार चार चरण-मिचर-हुन आठ पद होते हैं।

मूत्रधार—रज्जुमन्त्र वा व्यवस्थापक। यहाँ 'मूत्र' शब्द का प्रयोग नाट्योप-करण भवता अभिव्यक्ति-विशेषण के अर्थ में लाया गया है। जिसके हाथ में समस्त नाट्यो-

पकरण होते हैं अथवा जो रङ्गमञ्च की व्यवस्था करता है, वह मुख्य नट अर्थात् क्षमिनेताओं का निदेशक सूत्रधार कहलाता है। (विशेष देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका)।

विमर्शकारिणा—विघ्न करने वाली, विमर्श +  $\sqrt{\text{क}} +$  गिति।

पृ० ४ आर्यमिथ्यान्—आर्य—खेच्छजन, कुल शील दया दान धर्म सत्य हताशता। अद्भोह इति येष्वेतत्तानामानि सप्रबक्षते। कर्तव्यमाचरन् काममपतव्यमाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृत। 'मिथ' शब्द विद्वां पुरयो के लिये आदरसूचक उपाधि है।

मृच्छकटिक—मृच्छकटिक या मृच्छकटिका (मृद + कटिका) का अर्थ है—मिट्टी की गाड़ी। मृच्छकटिकम् अस्त्यरिमन्निति मृच्छकट + ठन् (इक)। अथवा 'मृद' शकटिका यस्मिन्' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होकर 'मृच्छकटिक' शब्द निष्पन्न होता है। यच्छ अद्भुत के वर्णित मिट्टी की गाड़ी इस प्रकरण की कथावस्तु के पिकात में एक विशेष मोड़ दे देती है। अतः इसकी प्रधानता के कारण इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिक रक्खा गया है। प्रकरण—रूपक के दस प्रकार होते हैं। उनमें से एक 'प्रकरण' नामक है। मृच्छकटिक एक प्रकरण है। (देखिये स० व्याख्या तथा भूमिका)। प्रयोगसुम्—अभिनय करने के लिये। व्यवसिता—उद्यत है।

३. द्विरवेन्द्र०। यहाँ से प्ररोचना आरम्भ होती है। कवि तथा काव्य की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों की काव्य की ओर आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है (देखिये स० व्याख्या)। चकोरनेत्र—चकोर के नेत्र रत्ननील होते हैं। चकोर सहस्र नेत्रों से शूद्रक की घोरता प्रकट होती है। विग्रह—शरीर। द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण द्विज बने जाते हैं। यहाँ द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये किया गया है। अनाद्यतस्य—अनाद्य—अथाह, सत्य—बल, अथाह बल वाला।

४ आग्नेय०। वंशिकीम्—वेश से सम्बन्ध रखने वाली, वेश + ठन्। 'वेश' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं—जैसे १ वेश्याओं का वासस्थान अर्थात् वेश्यालय २ अग्निवेश कृत नामशास्त्र ३ नेपथ्य। यहाँ वेश (नेपथ्य) सम्बन्धी बला अर्थात् नाट्यकला यह अर्थ ही अधिक सगत प्रतीत होता है। शर्व—सिव। व्यपगततिमिरे—बला गया है (अज्ञान का) अन्धकार जिनका, ऐसे चक्षु। परमसमुदयेन—आयधिक उन्नति करने वाले से, 'अश्वमेघ' का विशेषण है। इससे अश्वमेघ यज्ञ का महत्त्व प्रकट होता है। "अये अश्वमेघ इति नाम विश्वविज्जयिना क्षत्रियाणामूर्जस्वतः सर्व-सत्परिभावी महानुत्कर्षनिबन्धः।" (उत्तर० अद्भु ४) तथा 'यथाश्वमेघ क्रतुराट्—सर्वपापानोदन' (मनु० ११ २६?)। इष्ट्वा—यज्ञ करने,  $\sqrt{\text{यज}} +$  क्त्वा। शूद्रक—राजा शूद्रक, मृच्छकटिक का रचयिता (देखिये भूमिका)। अग्नि प्रविष्ट—अग्नि में प्रविष्ट हुआ अथवा परलोभ को धला गया। यहाँ कवि का स्वयं ही अपनी आयु की समाप्ति तथा मृत्यु का वर्णन करना असङ्गत-सा प्रतीत होता है। इस असङ्गति निवारण के लिये कई समाधान किये जाते हैं—(१) बिन्दी के मतानुसार ज्योतिषशास्त्र के द्वारा

भविष्यत् काल की बात जानकर यहाँ ऐसा वर्णन किया गया है, प्रविष्टः' इसमें (आमासी) सूत्रधार वचन की दृष्टि से भूतार्थक 'न' प्रत्यय है। शरभङ्ग मुनि के समान पञ्चविध की अग्नि में शूद्रक ने प्रवेश किया था ऐसी प्रसिद्धि है। (२) किसी कवि ने शूद्रक के नाम से यह प्रकरण लिखा और शूद्रक के पुत्र को भेंट कर दिया, अतः शूद्रक की मृत्यु का वर्णन किया जा सका। (३) यह श्लोक बाद में जोड़ा गया (प्रसिद्ध) है। (४) 'अग्नि प्रविष्ट' का तात्त्विक अर्थ सेना चाहिये अर्थात् शूद्रक मृत्युपर्यन्त अग्निहीन बना रहा।

५. समर०। समरव्यसनी—युद्ध-यैत्री। समरस्य व्यसनं समरव्यसनं तदस्या-स्तीति समरव्यसनी (समरव्यसन + इन्) अथवा समरस्य व्यसनी इति (पठ्योत्तमासः)। ककुद्—श्रेष्ठ या प्रधान 'ककुद् नृपाणाम्' (रघु० ३, ७१)। तपोधन.—तप ही है धन जिसका (बहुव्रीहि)—तपस्वी। परवारण०; पर-गन्, धारण-हाथी; शत्रु के हाथियों या उल्टुट्ट हाथियों (पराः उल्टुट्टाः धारणाः परवारणाः) के साथ बाहुयुद्ध का इच्छुक। अथवा शत्रुओं को रोकने वाले (धारण) बाहुयुद्ध का इच्छुक। ईमसे शूद्रक की शारीरिक शक्ति नूचित होती है। किल—निरपय ही, प्रसिद्ध है।

प्र० ६. संकृतौ—उस (शूद्रक) की रचना में। यहाँ स्पष्टतया मृच्छकटिक की शूद्रक की कृति बतलाया गया है।

६. अवन्तिपुर्याम्०—प्राचीन काल में 'अवन्ति' नामक एक जनपद (प्रदेश) था, जिसकी राजधानी 'अवन्तिपुरी' (अवन्तीनां जनपदानां पुरी) अर्थात् उज्जयिनी थी। मरुत्व माहित्य में इसके वैभव का अनेकशः वर्णन किया गया है। द्विजसार्प-बाहू—ब्राह्मण व्यापारी। सार्प—व्यापारियों का समूह, काफला; सार्प बहुतीति सार्पबाहू; कारुणे लेकर व्यापार करने वाला। अधिकतर व्यापारकारों ने यह अर्थ किया है। किन्तु एम० आर० काले का कथन है कि मृच्छकटिक के अनुगीतन से चारदत्त के व्यापारी होने का कोई संकेत नहीं मिलता, अतः अजसतयः का अर्थ है—ब्राह्मणश्रेष्ठ, ब्राह्मण जाति का अगुआ a leader of the Brahman community और 'सार्पबाहू' शब्द के इन भावार्थ के लिये प्रमाण है—मल्लिनाथ का—'कुह मामन्व कृतायंसार्पबाहूम्' (रघु० टीका मञ्जुव श्लोक ३) यह प्रयोग। अथवा—सार्पबाहू विनपदत का नावी होने के कारण चारदत्त को भी सार्पबाहू कह दिया गया है। 'सार्पबाहू' उनकी पारिवारिक उपाधि रही होगी ॥६॥

७. तयोरिदम्। तयो—उन दोनों (आश्रम तथा वसन्तसेना) का, इसका 'नयप्रचार' आदि के माय-अन्वय है। तयो. नयप्रचारम् (आदि) इदं सर्वं चकार—यह भूतार्थ है। ससुरोत्तवाधयः—गन्तुत्तवाधयः आश्रय यस्य त नयप्रचारम् (बहुव्रीहि)। वाने के अनुसार यह 'नयप्रचार' का विशेषण है। वस्तुतः तो इसका मुनङ्गन अर्थ तथा अन्वय विचारणीय ही है। नयप्रचार—नीति के व्यवहार को। स्वहृदयुद्धतां—न्याय की दोषपूर्णता को, जो चाण्डल पर चलाये गये मिथ्याभियोग



मे प्रकट हुई । इन्हें—विवाद अथवा विवाद-निर्णय सम्बन्धी विचार । भवित  
भ्यता—होनाहार को, विधिविधान को, जिसका अर्थ १० ६० में मिलता है ।

सङ्गीतशास्त्र—(यही) रङ्गशास्त्र । कुसोलवा—नट, अभिनय करने वाले  
(actors) । आं सातम्—अपनी दारिद्रता का स्मरण करने कहा गया है ।

= शून्यम्० । शून्य—सूनना । अपुत्रस्य—नाभित पुत्र यस्य स अपुत्र उच्य  
(बहुव्रीहिः) । चिरशून्यम्—दीर्घ काल तक सूना । दिशः शून्या—दिशाएँ सूनी हैं । ॥

सङ्गीतकम्—सङ्गीतमेव सङ्गीतकम् । पुष्करबीजम्—बमल के बीज, वे सूर्य  
के साथ से सहज में ही मूल जाते हैं । छटसटायेते—छटसट करती है, अर्थात् शब्द  
के अनुकरण 'छटत्' शब्द से डाप् प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'छटछटा' शब्द बनना  
है, छटछटा + थ (व्यय्) 'लोहितदिडाज्ज्य व्यय् (३/१/१३), आत्मनेपद प्रथम पुरुष  
द्वि० में छटसटायेत रूप होता है । इस प्रसंग में भास के चारुदत्त नाटक में कौमल-  
कान्त पदावली का प्रयोग किया गया है—'पुष्करपत्रपतितजलबिन्दू इव चञ्चलायेते  
अत्र मेऽक्षिणी ।' कार्य—स्त्री से सम्भाषणादि कार्य, 'कार्यैस्तश्चोत्तमाशीना कार्यो  
भाषाभ्यतिक्रमः'—यह नाट्य-नियम है ।

प्रयोग—अभिनय का कार्य (The part he had to play—M R Kale)  
अथवा प्रयोगवाच्य—नाट्य प्रयोग के नियम के अनुसार (दे० स० व्याख्या) ।

पृष्ठ ६ : अविब—खेद है । यह आश्चर्य तथा खेद के भाव को प्रकट करने  
वाला अभ्यय है । सविधानकम्—आयोजन, भास ने केवल 'सविधा' शब्द का प्रयोग  
किया है । रथ्या—गती । परिवर्तन—आजने के लिये धुमाना । कृष्णसारा—चिह्न-  
कवरी । विरोधक—तिलक । दिनघण्टेन—घृताति स्निग्ध पदार्थों की गन्ध से ।  
प्राणाधिकम्—जितनी जीव न सहन कर सके उससे अधिक, प्राणस्थय—यह पाठान्तर  
है, इसका अर्थ है—जीवन को अतिशान्त करने । प्राणात्ययं बाधते वां धुमुक्षा—मूल  
के मारे प्राण निकल रहे हैं । वर्णकम्—रंग और गन्ध मिश्रित प्रलेपन । धुमनस—  
पुष्प (स्त्रीलिङ्ग) । आर्वे—पत्नी के लिये सम्बोधन, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा  
गया है—'बाष्पो नटीमूत्रधराकार्यनाम्ना परस्परम् । शम्भस्य—बुलाकर, पुकार कर ।  
परमार्थम्—बान्धविक बात । नेपथ्य—(१) नटी के वेप रचना का स्थान, (२) 'नेपथ्यं  
स्याज्जवनिका ।' (३) वेप । यहाँ प्रथम अर्थ है ।

नियोग—आज्ञा । अनुष्ठीयताम्—पालन किया जाये, अनु + √स्था (कर्मणि)  
सीट् प्र० पु० एक० । अग्नितथ्यम्—छाने योग्य वस्तु √अग् + तथ्य । गुडोदन—गुड  
से मिश्रित भात । ओदन—भात । सङ्कुल—चावल । रसायनम्—सरस, रसयुक्त ।  
धारासन्ताम्—आगीर्वाण देखें, आ + √शसु (इच्छार्थक) आश्रयि सीट् प्र० पु० बहु० ।

पृष्ठ १० : 'स्वगत' और 'प्रकाश'—ये वस्तु को प्रकट करने के दङ्ग हैं । जो  
[ ब्रह्म सुनाने योग्य नहीं होती उसे मन ही मन कहा जाता है और वह 'स्वगतम्' या  
'आत्मगतम्' कहलाती है, किन्तु जो सबको सुनाने के लिये प्रकट रूप में कही जाती  
है उसे 'प्रकाशम्' कहते हैं । चरुदत्तसम्बुक्त इव—इसने अनेक अर्थ किये गये हैं, जैसे

(१) वरम्भ—वेदों में काम जाने वाला लकड़ी का लट्ठा, लम्बुक—उष्ण पर बंधा हुआ मिट्टी का थूका (स्थूण)। उसे कुछ बारि से जल निकालने के लिए ऊपर उठा कर नीचे गिराया जाता है। (पृथ्वी०)। (२) कुछ व्याख्याकारों के अनुसार हाट या मिष्ट के वापार-हेतु वो 'दूना' तैयार किया जाता है वही 'वरम्भलम्बुक' कहलाता है, उसे पहले बनाया जाता है और फिर गिरा दिया जाता, (३) एम. बी. काले का मत है कि लट्ठता हुआ धाम का ढेर (वरम्भ-नृगसंघ) ही वरम्भलम्बुक कहलाता है जो तैयार करने के द्वारा उड़ाकर नीचे गिरा दिया जाता है। 'वरम्भ' शब्द का बाद भी इस अर्थ में कौटिल्य में प्रयोग देखा जाता है।

लक्षित्ति—यहाँ वर्णक विनष्टि आदि का कवि ने पुनः वर्णन किया है। इसके द्वारा कवि वर्ण वस्तु को जोर सकेत करता है, यथा—'वर्णक विनष्टि' चाखत को नुचने के लिये किये गये शकार के प्रयोगों का सूचक है, 'सुमनसो गुम्भरि' वध्म-भाता को जोर सकेत करता है तथा 'पञ्चवर्णं' अन्तिम पाँच सुखद घटनों को सूचित करता है—(१) चाखत के चरित्र की परिवर्तता की पुनः स्थापना, (२) चाखत का शकार को जलपदान, (३) वर्णक को उग्र-प्रति, (४) चाखत और वदन्तवना का पुनर्निर्जन, (५) शक्ति से मित्रता। कि नामधेयः—कि नाम का (वदन्त)। अतिरूपवति—विषये सुन्दर या विद्वान् पति मित्रता है अर्थात् अनुकूल पति को दिवाने वाचा। इहोक्तिकः—इस शोक का, 'इहोक्ते भवः' इहोक्त-+ इत् (इत्), पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'इहोक्तिकः' प्रयोग होता चाहिये, क्योंकि अनुसन्धितवर्णों के अक्षरों से उदयपद वृद्धि होती है। पारलौकिकः—परलोक में होने वाचा। मत्त—मात, अन्। अर्णवृद्ध अथवा अर्णवृद्ध दोनों नाम मिलते हैं सुपण्डु—मह 'स्वा' तथा 'केचकवाप' दोनों का विनियोग है, 'त्वा' के साथ पुष्पों की माना (वध्मत्रक) से पुष्ट—मह अर्थ होता है। अर्धे वधू 'के सुवासित केवपय में मान छाड़ी जाती है, इसी प्रकार सुवासित पुष्पनादि से पुष्ट अर्णवृद्ध को राजा के द्वारा खीरा वाता हुआ न कब देखूँगा, मह भाव है।

पुष्ट १२। अर्णवृ—प्रयोग। आह्वयेनो०—अन्-धारणा के अन्त जो अह-मोह होता है उसके निम्न ऐसे आह्वान को निमित्त करना है, जो सुनधार की पारि-वारिक मरवा के अनुकूल हो। सुमृदापानु०—इसके प्रकट होता है कि वृद्धि-मापी उद्योगियों नदरों में आह्वय सम्मल से और साधारण लोगों के निमित्त पर उनका माना कतिन वा अथवा 'न' आदि के यहाँ वे अपना पसन्द न करते थे। अर्णवोः—अर्ण नदरों, जाने से जाने वाचा; अर्ण + नी + विद् + अणितुनध्वोः—मह मोहन के निम्न निमित्त कले की एक शिष्ट रीति है।

आह्वयः—अन् काटने में तथा हुआ। सम्मलम्—अहृष्ट, बड़िया (Rich & delicious काले); 'सम्मल' शब्द का अर्थ प्रस्तुत (तैयार) भी किया जाता है। विस्तरत्तम्—प्रतिद्वन्द्वी-एहितं; कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'शितवत्'; इस अहृष्ट शब्द का अर्थ है—'विनाश' अर्णवृत्तियों को दिया जाने वाचा अर्णवृत्त

तण्डुलपूर्ण पात्र । यह सम्भव है कि मंत्रेय की सुबाने के लिये सूत्रधार ने ईतनी उल्लेख किया हो । किन्तु यह अर्थ कोश के अनुकूल नहीं अतः 'त्रि.सप्तन' शब्द ही उचित है । भाव यह है कि इसमें तुम्हारा दूसरा प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है इसलिये समस्त दक्षिणा आदि तुम्हें ही मिलेगी अथवा तुमने हमारे यहाँ भोजन किया इसका किसी को पता न चलेगा (मि०, एम आर. कासे स० टीका तथा नोट्स) ।

अत्यादिष्ट—गना कर दिया गया निःसन्धः—आग्रह, दुराग्रह । अनुरोधम्—अनुरोध के लिये, अपना अनुसरण करवाने के लिये—अनुरोधोऽनुवर्तनम्—अमरकोश ।

आमुखम्—जहाँ सूत्रधार नटी या विद्वपक आदि के साथ वार्तालाप करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करता हुआ अपने कार्य की पूर्वा करता है, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं (स० व्याख्या) । यहाँ सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर इतिषय संकेत करता है, उन संकेतों का यथास्थान उल्लेख किया गया है ।

ग्रामुल भारती वृत्ति का भेद (अङ्ग) है । नट (सूत्रधार) का वह वाक्-शपाट (केवल पयन, जिसमें अभिनय प्रायः नहीं होता), जो अधिकांश संस्कृत भाषा में होता है, 'भारती वृत्ति कहलाता है । इसके चार अङ्ग होते हैं—(१) प्ररोचना, (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आमुख या प्रस्तावना । प्ररोचना का ऊपर (पृष्ठ ४) उल्लेख किया जा चुका है ।

प्रस्तावना भी पाँच प्रकार की होती हैं—(१) उद्घात्यक, (२) कपोदघात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक, (५) अवलगित । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—उद्घात्यक कपोदघातः प्रयोगातिशयस्तथा । प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ (, ३३) । यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है (संक्षेप देखिये स० व्याख्या); क्योंकि निमग्नता के लिये किसी ब्राह्मण को खोजते हुए सूत्रधार ने 'एष ब्राह्मणस्य गिर मंत्रेय इत एवागच्छति' इत वाक्य से मंत्रेय का प्रवेश सूचित किया है । इस प्रकार सूत्रधार स्वयं ही अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् निमग्नपार्थ ब्राह्मणान्धेयन का अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् मंत्रेय के प्रवेश की सूचना देता है ।

कपोदघात नामक प्रस्तावना में तो सूत्रधार के वाक्य का उच्चारण करते हुए अथवा उसके वाक्यार्थ को लेकर किसी पात्र का प्रवेश हुआ करता है । सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादापार्यस्य वा । भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कपोदघातः स उच्यते । देखिये साहित्यदर्पण १, २१ तथा उदाहरण) ।

पृ० १४. समोहितव्यानि—चाहे जायें । तुल्यसि—जाँच करती है, तोलती है; तुला + णिच् + लट्, म० पु० एक० । तुल्यसि यह भी पाठ है, हल्का करती है—यह अर्थ है । उद्गार०—उद्गार=डकार; डकारों में जिनकी सुगन्ध प्रकट होती है ऐसे (गोदक) । अशितः,—जिसने भोजन कर लिया है । अशितम्—अशनम्, अशितम् अस्यास्तीति अशितः अहं अदिम्य. अच्' पा० ३।२।१०८॥ चतु शालकम् आमने दामने बनी हुई चार शालाओं में पिर हुआ भजन, चतस शालाः समाहृताः यस्मिन्

तेषु चतुःशतकम् तदेषु चतुःशतकम् (स्वार्थं क.) । मल्लकः—व्यञ्जनपात्र, (चित्रकार-पत्र मे) रङ्ग पात्र; जिस प्रकार चित्रकार चित्रफलक पर ब्रुन्द गिरने के भय से तुलिका को रंग में छुआता सा है इसी प्रकार चित्रपक अगुलियों से चम-चम कर व्यञ्जन-पात्रों को छोड़ देता था । चस्वर—चौक, प्राङ्गण, चौराहा । वृषभ—बैस; यहाँ पर उस वृषभ को ओर संकेत है जो किसी पर्व पर स्वच्छन्द विचरण के लिये छोड़ दिया जाता है और निर्दोष रूप से चरकर अत्यन्त पुष्ट हो जाता है, चित्रपक ने अपने शाकाहीन निर्दोष जीवन की उसके साथ समानता दिखाई है । रोमन्ध्यायमानः—जुगाली करता हुआ, रोमन्ध्या - जुगाली, रोमन्ध्या वर्तयात् रोमन्ध्यायते 'कर्मणो रोमन्ध्यायतोभ्यां वतिचरोः पा० ३।१।१३।' इति वयङ् रोमन्ध्या + वयङ् + शानच् । गृहपारावतः—धरेलू या गानलू कबूतर । आवातमिभिसम्—बहोरे के लिये । गृह-देवतानाम्—विशेष प्रकार के देवता, जिन्हें गृह-रक्षा करने जाता सपना जाता था और अन्न भादि की बलि दी जाती थी । यथानिदिष्ट—जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया है अर्थात् बलि का अन्न लिये हुए ।

६. पाता०—बलि.—बलिर्वैश्वदेव यज्ञ के अनन्तर गृह द्वार पर जो बलि का अन्न रक्खा जाता है, उसकी प्रचुरता की ओर संकेत है ।

पु० १५ । विष्ट०—जो हुए हैं तुलाइकुर जिनमें (बहुवीहि); दरिद्रता के कारण देसभाल के हेतु कोई सेवक नहीं था मरवा वारिद्र्य-जन्मि अकर्मव्यता से स्वच्छता की ओर ध्यान नहीं दिया था । बीजाञ्जलिः—बीजानाम् अञ्जलि; अञ्जलि भरे बीज । यहाँ 'बीज' शब्द साधारण अन्न को ध्वनित करता है । कौट०—कौटों के मुख से लाई हुई (बीजाञ्जलि); इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—(१) कौटों लगे (पुगे) अन्न की अञ्जलि अथवा (२) इतनी स्वल्प बीजाञ्जलि कि कौट ही उसे खा सकते हैं चिड़िया आदि नहीं । इससे प्रकारान्तर से दरिद्रता का ही रूपन किया गया है; इस प्रकार प्रतीपमान दरिद्रता का भङ्गान्तर से रूपन होने के कारण यहाँ पर्याय-यौक्ति अलंकार है । 'पर्यायौक्तं यदा भङ्गघा सम्बन्धेनाभिधीयते ।' ॥६॥

चित्रपक—नायक का मित्र, उसके व्यक्तिगत जीवन का सहचर एक दिगोद-प्रिय ब्राह्मण, जो जीवनभर प्री होता है (लज्ज के लिये देखिये सं० व्याख्या)

सर्वकालनित्रम्—सब समय अर्थात् सम्पत्ति तथा आपत्ति में नित्र ।

१०. सुप्तं हि० । घनाश्वकारेषु—गहन अश्वकार ये (कर्मधारय) अथवा घना अश्वकार है—जिनमें ऐसे स्थानों में ('स्थानेषु' का अध्याहार करके) सुप्तम्—सुप्त से, सुप्त के परचात् अथवा सुप्तमनुभूय (सुप्त का अनुभव करके); 'स्यन्तोरे कर्मण्यधिकरणे च' इस वाक्य के अनुसार कर्म में पञ्चमी । मृतः स जीवति—मृतक के अथवा जीवित अर्थात्-मरता है, मस्तुतः यह मृतक ही है, किसी प्रकार प्राण धारण करता है ॥१०॥

११. वारिद्र्यपातु—दरिद्रता की मृत्यु में; यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग चिन्तनीय है, कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'वारिद्र्यमाचित्य' इस प्रकार माचित्य पद का अध्याहार करके 'स्यन्तोरे' इत्यादि से कर्म में पञ्चमी है । अन्न रोचते—मुझे

पतन-द हे, पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'भृह' रोचते' प्रयोग होता है। वाद्विष्म-मनन्तकं दुःखम्—दरिद्रता अनन्त दुःख है; यहाँ पर दरिद्रता को दुःखदायक न कहकर साक्षात् दुःखरूप ही कहा गया है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उक्त अर्थ के साथ उत्तरार्ध वाच्य का अर्थ हेतुरूप में अन्वित होता है, अतः वाच्यतिङ्ग अनङ्कार है ॥११॥

पृ० १८ अतः सतत्तेन सताप मत करो, यदि दुःखसन्तो में घन नष्ट किया जाता तो पश्चात्ताप ठीक था। आपने जो उदारतापूर्वक प्रियजनो को प्रदान किया है। सुरजन०—यह माना जाता है कि वृष्णपक्ष में देवगण अमृतमय चन्द्रकलाओं का ब्रह्मणः मान कर लेते हैं—'त च सोम षपुर्देवा पयसिषामनुपूर्वघः' (रघु० मत्स्य० २.७३)। प्रतिपञ्चन्द्र—शुक्लपक्ष की प्रथम तिथि का चन्द्रमा, नवचन्द्र से अभिप्राय है जिसकी अनुपम पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक मानते हैं। अर्थान् प्रति—प्रति (कर्मशब्दनीय) के योग में द्वितीया हुई है। वैयम् - सन्ताप (Misery)

१२. एतत्तु०—मुझे तो यह अतिथियों के द्वारा की गई अवहेलना ही सतप्त करती है, क्योंकि 'सभावितस्य चाकीर्तिमंरणादतिरिष्यत' (भगवद्गीता २.३४)। समुष्ण०—गूँस गई है घने मदपक्ति जिसकी ऐसी (गज-बपोल) को (बहुरीहि)। कशात्यये-क'लस्य अत्यये अवसाने, मद पिरने का समय व्यतीत हो जाने पर ॥१२॥

वास्या पुत्रा—दासी के पुत्र, नीच; इसका गाली के रूप में प्रयोग किया गया है। अर्थकल्पवर्ता—घनरूपी कलेवा; जैसे कल्पवर्त (= कलेवा या प्रातराश) बहुत हल्का साठ होता है, इसी प्रकार से घन भी तुच्छ है। अथवा जैसे कलेवे का स्पर्शवातिक या क्षणिक सहारा होता है इसी प्रकार से घन भी क्षणस्वामी है। कल्प प्रातःकालः वर्तते अनेन इति कल्पवर्तः प्रातराशः, यह शब्द 'तुच्छ' या 'महत्त्वहीन' अर्थ में लाक्षणिक है। आगे भी इसका प्रायः इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है; 'ननु कल्पवर्तमेतत्' (२.१२-१३) इत्यादि। धरटा—पीता तटइयाँ, भिरंड, बरं। साधन्ते- (१) घन-पक्ष में भोगे जाते हैं (२) गोपालदारक पक्ष में काटे जाते हैं।

१३. सत्यं न० । सत्यम्—सचमुच । भाग्यक्रमेण—भाग्यपरिवर्तन से। सौहृदात्—मित्रता से, शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृद्—'हृदय' के स्थान में 'हृद्' हो जाता है। सुहृदो-भावः—सौहृदम् । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सौहृद' (गुहृद + अण्) होना चाहिये; क्योंकि यहाँ उभयपददृष्टि (हृदभगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७.३.१६) होगी तथापि संस्कृत साहित्य में 'सौहृद्' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है; कालिदास (सखी जनस्ते निमुतादंगौहृदः; विक्रम० १.६) तथा मकभूति (सौहृदाङ्-पृथगाधयामिमाम्; उत्तर० १.४५) ने भी इसको प्रयोग किया है। सिद्धिनीभवन्ति—शिथिल + च्चि + भवन्ति ॥१३॥

पृ० २०; १४. दरिद्रिष्णात् । हियम्—सन्धा को। प्रधरयते—घट्ट हो जाता है; सत्त्वात् प्रधरयते—यह पाठान्तर है। निस्तेजा. तेज-शून्य। निर्वैद—ऋशय (Despondency) स्थानि। मुद्वेषा—विवेक से अर्थात् सदसद्विवेक से (बुद्धि-बन्ते दुरे की पहचान)। अहो—आश्चर्य अर्थ में अव्यय। निघनता—निघनता

निर्वाणायक 'नि' उपसर्ग भी है। आस्पदम् = स्थान। यहाँ कारपमाला अनङ्कार है। यहाँ पूर्व कथित क्त्वात् क्रमशः अपने से जाने वाली का कारण होती है वहाँ 'कारपमाना' नामक अनङ्कार होता है—'यद्योत्तर चेत् पूर्वस्याप्यस्य हेतुता तदा कारपमाना स्यात्' काव्यप्रकाश। १४ ॥

१५. निवात०। परपरिभ्रम्—अत्यधिक तिरस्कार, परस्वामी परिभ्रमचेति' (कर्मधारय) अथवा दूसरो के द्वारा किया गया तिरस्कार 'परेषा परिभ्रवः' इति (पठो समास)। अपरम्—अन्य, बहुत अधिक 'नारित पर मरमात्'। मित्रापाम्—मित्रों की मित्रों द्वारा की गई (कठोर पठो)। क्लत्रान्—स्त्री से (नपु० लिङ्ग) यहाँ दखिला का 'विन्ता का निवाम' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है। मतः उल्लेख अनङ्कार है। 'शोकानि' में रूपक है। अग्नि रूप कारण के होने पर भी दाहस्य कार्य नहीं होता, इस रूपन में विशेषोक्ति है ॥ १५ ॥

स्मृत्वा अलम्—याद मत करो; पविष्येषापेक 'अलम्' शब्द के योग में √स्मृ + क्त्वा; अनं सन्तो प्रतिषेधोः प्राचा क्त्वा पा० ३. ४. ४८। अमुप्ये—चौराहे पर, चत्वारः पन्थाः समाहूताः यत्र तत्; चौराहे पर बलि देने की एक पुरानी प्रथा थी। मातृभ्यः—माताओं को, माग्यन्ते पूज्यन्ते इति मातरः। ये विशेष प्रकार की देवियाँ हैं जो मतभेद से 'ब्राह्मी' आदि साठ या अठ मानी जाती हैं। किन्हीं के अनुसार ये ६० हैं। मत्ः—अचिन्तेयु—कार्य का उचित पुरस्कार न मिलने पर मनुष्य के हृदय में इस प्रकार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुआ करती है। को गुण—क्या लाभ ?

प० २२ नित्यः अमं चिदि—यह नित्य कम (चिदि, पु -), धार्मिक दृश्य (चिदि) तीन प्रकार के हैं—(१) निःश—गन्धोपासना आदि, जितके करने से कोई पुण्य नहीं मिलता, किन्तु न करने पर दोष नगता है, 'नित्यान्मकरणं प्रत्यवायमाघनानि सन्ध्यावन्दनादीनि' (बैदा उपासना), (२) नैमित्तिक—जो किसी निमित्त से किये जाते हैं जैसे 'आलेष्टि' इत्यादि, नैमित्तिकानि पुत्रवन्नाद्यनुबन्धीनि आलेष्ट्यादीनि' (बैदान्त-उपासना), (३) काम्य—जो स्वर्ग इत्यादि के साधन माने जाते हैं जैसे 'ज्योतिष्टोम' इत्यादि, काम्यानि स्वर्गादीष्ट्याघनानि ज्योतिष्टोमादीनि (बैदान्तउपासना)।

१६. तपसा०, शमिना—समपुच्छो का, शम = मन मय, मनोनिग्रह; शमः एवानस्तीति शमिनः शमः इति ॥ १६ ॥

प्रदोषवेत्ता—रात्रि का प्रथम प्रहर। विट—नाटक में एक व्याक्त जो कि घूर्ण, किसी कथा में कुण्ठ, वेग-रचना में चतुर, वाक्कुण्ठ, विनोदप्रिय होता है तथा शीघ्रों में बहुत पसन्द किया जाता है। यह वेग और नागरिकों के पारस्परिक सन्देश भी पहुँचाता है, (देतिये म० व्याख्या)। चेटः—मेवक, शृङ्गार में सहायक। नायक या प्रतिनायक के शृङ्गार में महायक विट और चेट होने हैं जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा है—शृङ्गारोप्य महायक विटचेटविद्वेषाद्याः स्तुः। भक्ता नर्ममु निजुपाः कृत्स्नवद्ममानमन्त्रजाः श्रुताः ॥ ३, ४० ॥ यहाँ पर विट और चेट (प्रतिनायक) शकार के विनोद महत्तर है।

१। किम्० । परिवर्तितसौकुमार्या—बदल रूपा है या त्याग दिया है सुकुमात्ता को जिसने ऐसी । विशव—स्पष्ट या स्वच्छ, इसी से बुजल या दश अर्थ भी होता है । उद्दिग्ण०—यह एक सन्देहास्पद समास है । कुछ व्याख्याकारों ने इसकी क्रियाविशेषण के रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत पाठ वी रखते हुए वह व्याख्या उचित नहीं कही जा सकती । अतः इसे वसन्तसेना का विशेषण ही मानना पड़ता है, और इसका विग्रह है—उद्दिग्णचञ्चलकटाक्षरूपेण विसृष्टा दृष्टि यथा सा (पृथ्वी०) । उद्दिग्ण अतएव चञ्चलश्च असौ कटाक्षश्च (कर्मधारय) तत्र विसृष्टा दृष्टि यथा सा अथवा उद्दिग्णचञ्चल च यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणम्) कटाक्षेण विसृष्टा दृष्टि यथा सा । M R काले ने अनुसार सर्वश्रेष्ठ विग्रह यह है—उद्दिग्णा चासी चञ्चला च कटाक्षविसृष्टा च दृष्टि यथा अर्थात् जिसकी दृष्टि व्याकुल, चञ्चल तथा कटाक्षपात करने वाली है ॥ १७ ॥

पृ० २४ शकार — लक्षण ग्रन्थों के अनुसार राजा वा साता रखती स्त्री का भ्राता जो दुःबुलोपम मूस तथा अभिमानी होता है वही शकार कहलाता है । वह शकारी (श्राकृत) मोमता है जिसका कि 'श वणं (शकार) वी महलता होती है इसी से वह शकार महलाता है जैसा कि कहा गया है—'शकारप्रायभापित्वाच्छाकारी राष्ट्रीय स्मृत ।' इस नाटक का शकार, जो सम्मानक है, विशेष महत्त्वपूर्ण है यह प्रतिपाद्यक भी है (देखिए स० व्याख्या तथा भूमिका) ।

१८ किं यासि—शकार की भाषा पुनर्जाति तथा व्यथ प्रलाप आदि दोषों से भरी है । उसकी भाषा वा ऐसी ही विशेषताएँ यतलाई गई हैं (देखिए स० व्याख्या तथा भूमिका) । वानु—बाता, बाला स्याद् वानु—अमरकोष ॥ १८ ॥

१९ उद्ग्राहिता०—चेट वी भाषा में अद्भुत उपमाएँ हैं, किन्तु इसका सवाद विट के समान कविताग्रयण एक विवेकपूर्ण नहीं है । चेट का लक्षण इस प्रकार किया गया है—बलहृदियो बहुबन्धो विरूपो गन्धसेवक मान्यागान्यविशेषज्ञश्चेटोऽस्यैवविद्य स्मृत । अवदन्ति—(उत्तावली के कारण) उद्धलता सा (ठोकर छाता-सा) जाता है । अवदन्ति यह पाठान्तर है स्वामी चासी भट्टारकश्च, 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग राजा के लिये होता है 'भट्टारको नृपे नाट्यवाचा देवे तपोधने' मेदिनीकोष । यहाँ पर भट्टारक शब्द के प्रयोग से शकार का विशेष प्रभाव प्रकट होता है । कुबकुट० इत्यादि हीनोपमा है, जो चेट की परिस्थिति के गर्ववा अनुकूल है । कुबकुटवाचकः मूढ पाठान्तर है जो शकार के लिये उपयुक्त है ॥ १९ ॥

२० किं यासि० बालकदसो—छोटी बेली । वसन्तसेना साल रक्षामी वस्त्र (रक्षाशुक) धारण किये थी और कौपती सी जा रही थी । वह वानु से सहज प्रकम्पित लाल पुष्पों वाली बन्दती सी प्रतीत होती थी । वसन्त—अचल । रक्षोत्पल-प्रकर—लाल कमलों का समूह, वसन्तसेना साल कमलों की माला पहने थी अथवा जेजपास में लाल पुष्प यूँसे हुए थी । उन पुष्पों की बगियाँ 'एक एक कर ऐमे गिरने लगी जैसा टीकी श' 'मनसिल' को काटने पर कलियों जैसा स्पष्ट दिखाते हैं । मन सिल

गूहा—मनसिल की कन्दरा (श्वान) 'मनशिला' शब्द स्त्रीनिष्ठ है, अतः मन.शिला-गूहा' होना चाहिये । इसके सिधे व्याख्याकारों ने कई समाधान दिये हैं, जिनमें यही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि 'मनशिला' (स्त्री०) के समान 'मनशिल' (पुं०) शब्द भी है—महाभागते मनशिलशब्दोऽपि दृश्यते इति तथा प्रयुक्त्वा (पृथ्वीघर) ॥ २० ॥

पृ०-२६ । २१: मम०—यहाँ पर शकार का वचन होने के कारण 'मदनम-नङ्गम्' अदि में पुनरुक्ति है, भयभोता, मे 'भय' शब्द निरयंक है, रामणस्येव कुन्ती में हृवोपमा है यहाँ काल-भेद का ध्यान नहीं रक्खा गया ॥२१॥

२२. कि ल्यम्० विरोपयन्ति—अनिरुमण करती हुई, बटकर होती हुई । पल्लोन्मत्स्य भयेन अभिमूता (तत्पुरुष) । प्रयित्सुत—तेज चलता हुआ, दौड़ता हुआ । निरुम्यां—'रोक लूँ । न रुम्याम्—न रोक लूँ ? यहाँ काकु है, जिससे विपरीत अर्थ प्रकट होता है 'न रुम्याम् इति न' अर्थात् रोक ही लूंगा । त्वन्निग्रहे०—इसके दो अर्थ हैं—(१) तुझे पकड़ने में मुझे कोई प्रयास नहीं करना अर्थात् मैं अनायास ही तुझे पकड़ सकता हूँ, (२) तुझे बलात् रोकने का मेरा प्रयत्न नहीं है ॥२२॥

भाव—आदरसूचक सम्बोधन है, जिसका नाटक में सेनापति आदि के सिधे प्रयोग किया जाता है—सेनापतिरमात्वरथ श्यालो भावेति भाष्यते ।'

२३. एया मायक० । भागक—शियाद्धित तिङ्के (पृथ्वीघर) । नागकमोषिद्व-धन का अपहरण करने वाला, चोर; उनकी कामरुसिका; कशा—कोड़ा; कशा के समान काम को प्रेरित (उद्दीप्त) करने वाली । निर्मास—(निर् + नास) यहाँ पर 'निर्' अल्पता का बोधक है, नोधी नाक वाली । कुलनाशिका—वेश्यासक्त पुरुषों के कुल को नष्ट करने वाली । वेश्याधू वेश्याङ्गना इत्यादि शब्द समानार्थक हैं, यह शकार की उक्ति है अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता । वेश—वेश्यालय, 'वेशो वेश्या-जनाथयः'—अमरकोष, अथवा अण अलङ्कार । दि धारण करना । इशानामानि०—यदि देवों के आठ, दस या बारह नामों का पाठ किया जाता है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे गणेश की स्तुति में १२ नामों का पाठ किया जाता है; किन्तु यह वसन्त-सेना दस नामों के रखने से भी प्रसन्न नहीं हो रही है—यह भाव है (एम० आर० काले) ॥२३॥

पृ० २= । २४ प्रसरसि० प्रवर्तित—ज्या ही वसन्तसेना त्वरित गति से चलती थी उसके कपोलों में कुण्डलों के अग्रभाग का घर्षण होता था, इसी हेतु उसकी विट-नक्षत्रपिन-बीजा में उपमा दी गई है; यहाँ कुण्डल ही विट के समान हैं ॥२४॥

२५ अमरु०; द्रोपदी०—इहाँ पूर्वार्ध-उत्तरार्ध दोनों भागों में इतिहास विरह सम्बन्ध दिखाताये गये हैं, राम का द्रोपदी से काल-भेद है । इसी प्रकार विम्बावसुं नामक मन्धर्वराज का महाभारत में उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु सुमद्रा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; शकार का वचन होने से ही यह असम्बद्धता है ॥२५॥

२६. रमय० । रमय—रामण करो । मत्स्यमांसकम्—मत्स्यो भास, यहाँ बेट ने अपने निम्न स्तर के अनुकूल ही यह बात कही है; उमकी दृष्टि में यह जीवन का



परम सुख ३ । श्वान —सस्थानक के कुत्ते जो मास मछली से तृप्त रहते थे, अतएव वे मृतक पशु आदि को नहीं खाते थे । इस बचन से शकार के मन में मास-मछली आदि की प्रचुरता प्रकट होती है ॥२६॥

२७ कि त्वम् कटी०—कटि प्रदेश में वाधिं गये तथा तारा०—धमकदार मोती अथवा (तारे, तारो जैसे मोतियों) से विचित्र और सुन्दर, ये दोनों रचनाबलापम् के विशेषण हैं । निर्मथित०—तिरस्कृत किया है चूर्णित मनसित वो जिसने ऐसे मुख से उपलक्षित । बुद्ध व्याख्याकारों के अनुसार जिस (मुख) पर चूर्णित मनसित लगाया गया है (निर्मथिता अवलिप्ता चूर्णमन शिता यत्र) यह अर्थ है ॥२७॥

पृ० २० । २८ अरमाभि० । धण्डम्—भयङ्कर रूप से, तीव्र गति से (त्रिया-विशेषण) । अभिसायमाणा—पीछा की जाती हुई । सवन्तम्—वृत्त (मूलग्रन्थ) सहित अपात् धंय आदि के आश्रय सहित भरे हृदय का हस्तो हुई ॥२८॥

फलक - वसन्तमेना का सेवक परमृतिरा तथा भाषविका—वसन्तमेना की सेविकाएँ । वसन्तमेना के नाम क अनुरूप ही य सुन्दर सजाये चुनी गई हैं । परिष्कट—सोया गया ।

पृ० ३२. विलष विलप०—परमृतिरा' (१—जोयल, २—ग्व सेविका का नाम) इत्यादि शब्दों क श्लिष्ट अर्थ के आधार पर शकार ने षक्रीक्ति द्वारा उत्तर दिया है ।

२० कि जमदग्निपुत्र, —जमदग्नि का पुत्र परमुराम । केशहस्ते (विशपाश में) गृहीत्वा—यहाँ केशहस्ते में सप्तमी के लिये द्रष्टव्य है । (आष्टे ६७ अ) दुशासनस्य०—जिस प्रकार दुशासन ने द्रौपदी को खींचा था, उसी प्रकार केश पकड़कर धीपता हूँ—यह भाव है ॥२९॥

३० अति० । वलितम्, —सुन्दर, वलित त्रिपु सुन्दरम्—विश्वकोप । इत्यर्थे—काटता हूँ । मुमूर्षुं—मरने को, जिसकी मृत्यु निश्चय होती है, भाव यह है कि जिसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है वह भावने से भी कैसे जीवित रह सकती है ? शङ्कं मारिष्यतीति —मुमूर्षति → √मृ + सन्, मुमूर्ष + उ ॥३०॥

अनुनय—नम्रता, अनुकूल व्यवहार । तर्क्ये—सम्भावना (अपेक्षा) की जाती है । शान्तम्—किसी के ध्यान वा निषेध करने के लिये या किसी आनाहुत अनिष्ट के निवारण की कामना प्रकट करने के लिये 'शान्तं (शान्त पापम्)—इत्यादि का प्रयोग किया जाता है । वृत्तम् असञ्चुरणं—वामूपचो से बस करो, यहाँ वृत्तम् (=अलम्) के योग में अलञ्चुरणं में तृतीया विभक्ति है । कामयितव्य—√कम् + णिच् + तव्य ।

पृ ३४. माम् अन्तरेण—मेरे विषय में, मेरे प्रति (अन्तरेण के योग में द्वितीया) । मुस्निग्धा—अनुरक्त । भाव यह है कि यद्यपि यह वेश्या बाहर से मेरे प्रति पूना प्रकट करती है तथापि मुझमें अनुरक्त है । शपे - पादाभ्याम्—यहाँ 'शीर्षं' के स्थान पर 'शीर्षेण' पाठ युक्त है, 'भावस्य शीर्षेण आत्मीयाभ्या पादाभ्या च शपे' यह

अर्थ होगा। कुछ व्याख्याकार 'स्पृष्ट्वा' का अध्याहार करके—भावस्य शीर्षम् अन्वीयाभ्या पादाभ्या 'स्पृष्ट्वा' यह अर्थ करते हैं। शकार वित्त को आदरणीय समझता है, अतः यह भाव उचित नहीं प्रतीत होता तथापि शकार का बचन होने से ग्राह्य हो सकता है। पृष्ठानुपृष्ठिकाया—पीछे पीछे; पृष्ठानुपृष्ठमस्थस्या क्रियायामिति पृष्ठानुपृष्ठिका तथा; पृष्ठानुपृष्ठ + ठन् (इक) ; आहिण्डमान—धूमता हुआ, आ√हिण्ड + धानन् । वेश० - वेण्यात्तय मे यास के वित्त, अर्थात् वेश्या को तो स्व का समान रूप से स्वागत करना चाहिये ।

३१. तरुण०—युवकजन हैं आश्रय जिसका ऐसा, वेशवासः—वेश्या का जीवन । विणाय—विशेष रूप में विचारो । धनहार्यम्—धन से ग्राह्य । षण्यभूत—विक्रय वस्तु के समान, ऐसे स्थलों पर 'भूत' शब्द 'समान' अर्थ को प्रकट करता है; षण्यं भूतं षण्यभूतं, सुप्पुपेति नमासः (काले) । सुप्रिय अश्रिय को समान रूप से सेवन करो—इस कथन में 'धनहार्यम्' इत्यादि हेतु दिखलाया गया है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग बनझार है ॥३१॥

३२. वाप्याम्०—भाव यह है कि तुम गज का समान रूप से सेवन करो । कुन्ताम्—फूली हुई, √फुन + क्त । नाम्यति = नामयति—झुकाता है, 'नाम' (नमना) गन्ध कण्डवादिगण में है, अतः 'नाम करोति' इस अर्थ-में नाम + यक् → अकार लोप होकर 'नाम्यति' रूप होता है। यहाँ पर 'सर्वं भज' इस कथन में 'विश्यासि' यह कथन हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है तथा 'त्वं वापीव लतेव, नीरिव, मे मालीपमा है ॥३२॥

पुणः खलु०—इसमें वसन्तसेना का गुणों के प्रति अनुपग प्रकट होता है। चारदत्त नाटक में भी ऐसा ही कहा गया है—कुलपुत्रजनस्य शीलपरितोपोपजीविनी पिंगिका खल्वहम् । पम्भदासी—जन्म से दासी, यह पाली के रूप में प्रयोग किया गया है। कामदेवायत्न०—यह उज्ज्विनी का एक प्रसिद्ध उद्यान था, जेसमें कामदेव का मन्दिर रहा होगा। संस्कृत साहित्य के अनेक नाटको तथा कृतानियों में पुत्रक-पुत्रवर्तियों द्वारा कामदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। परिहृतंभ्यम्—छोड़ना है। उदाहरति—कहना है, उद् + आ√ह प्र० पु० एक० । चारदत्तम् अनुरक्ता—अथवा चारदत्त श्चुरक्त—(द्वितीया अथवा सप्तमी) यह शब्द प्रयोग है, 'चारदत्तस्य अनुरक्ता' यह शकार का प्रयोग उचित नहीं। काणेनीमात—काणेनी शब्द का अर्थ है—रखेल, रूढ़ अविवाहित स्त्री जो किसी पुरुष के साथ विवाहित स्त्री के समान रहती हो। एष स्त्री का पुत्र—काणेनीमातकः या काणेनीमाता, यहाँ बटुबोहिके अन्त में विक्षय में 'क' प्रत्यय होता है। शकार की माता काणेनी थी, अतः उसको 'काणेनी-मातः' गन्ध में सम्बोधित किया गया है। कही-कही 'काणेनीमातः' शठ भी है, शकार की अविवाहित बहन भी राजा पाण्डव के यहाँ विवाहिता के समान रहती थी (रमेव थी) ।

पु० ३६. अपराधयता—अपराध करते हुए अप√राध + भृत् तु० वि० एक० ।

३३ आलोच०, देखने में सीधे अथवा प्रकाश में दूर तक देखने वाली, (आलोक = देखता, प्रकाश) । विच्छिन्ना—रखी हुई, शक्तिहीन हुई ॥३४॥

३४ लिम्पतीच०—यह इतने बारीक प्रकाश में (१०--२१७ तथा ५६८) दो बार अलङ्कारों के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है, यहाँ समर और अनुप्रास की समृद्धि है तथा उपमा एवं उत्प्रेक्षा की भी । यह श्लोक चारदत्त नाटक (१-१६) में भी इसी रूप में है ॥३५॥

उपलक्षयमि—उपलक्षण बना रहे हो अर्थात् जिसके सहारे दूज रहे हो । भूयणशब्दम्—उपलभयमि—इस प्रकार से अन्वय है ।

जनान्तिकम्—नाटक में नियतप्रत्यय उक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) जनान्तिक, (२) अपवारित । जब एक पात्र अपने हाथ की तीन अङ्गुलियाँ उठाकर तथा अनामिका अङ्गुलि को बन्द किया हुए (निपनाकार रेल) अन्य लोगों को बचाकर किसी एक पात्र से कुछ कहता है तो वह जनान्तिक कहलाता है और जब मुस फेरकर दूसरे से गुप्त बात बही जाती है तब वह सबाद अपवारित कहलाता है (विशेष देखिये स० ध्यास्या तथा भूमिवा) ।

पृ० ३८ । २५ कामम्—(अव्यय) चाहे, यद्यपि, पर्याप्त, जहाँ यह 'यद्यपि' के अर्थ को प्रकट करता है, वहाँ इसके बाद 'तु' शब्द का प्रयोग होता है । प्रदोष—रात्रि का प्रथम पहर । सोधामनी—विद्युत्, सुदाग्न् अपरय स्त्री । सन्धिमोना—के स्थान पर 'सविनीना' (भलो-भाति छिपी हुई) पाठ अधिक सगत प्रतीत होता है ॥३८॥

भूत यत्नतलेने—माला तथा भूयण उतारने के लिये 'भूयणिय्यति' शब्द द्वारा जो संकेत किया गया था, उसी को इस कथन द्वारा पुष्ट किया जा रहा है । परामुश्य—छुकर । सधोनेन—स्पर्श के द्वारा, स्पर्शनद्वय के अनुभव द्वारा, द्वार के बिचाडो के मिलने से (The Joining of the panes of the door—पाले); संबोधन से (हिन्दी-अनुवाद) ।

१६ शरिद्रघात० । शफारीभवन्ति—विरत हो जाती है । सस्वम्—बस, मानसिक बल, वीर्यानिशय । यह श्लोक कुछ पाठ-भेद से चारदत्त नाटक में है ॥३६॥

३७ सङ्गम् । अल्पच्छद—अल्प वस्त्र धारण, अल्प छद वस्त्र धारण । प्रकामम्—बहुत बड़ा ॥३७॥

पृ० ४० । ३८ शरिद्रय० । विपन्न—गुप्त हो गया है; बेह—शरीर जिसका ऐसे । हे शरिद्रय, तुझे मेरे जैसा कोई मित्र नहीं मिलेगा—यह चिन्ता है ॥३८॥

सर्वसक्यम—विलस—सज्जित, आश्चर्ययुक्त; विसदस्य भाव संतस्य तेन सहितं यथा स्यात्तथा । वलि देने के लिये जाने में आनाकानी करने से चारदत्त अत्यन्त दुःखी हुआ था, अतः मैत्रेय सज्जित हुआ । अभ्युपपत्ति—अनुपह, पतागत । निर्वाप्य—धुआकर । पिण्डीभूतेन—इबट्टे हुए ने ।

पृ० ४२ । ३९ अण्णकारे० । परामुष्टा—छुई गई, पक्की हुई । पाग०—यहाँ

ज्ञान भेद है, चतुर्थं शताब्दी ई० पू० में होने वाले चाणक्य का द्रौपदी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह हतोपमां है जो शकार का बचन होने से क्षम्य है ॥३६॥

४०. एया० । वयसः—आयु के, यौवनावस्था के । कुलपुत्रम् अनुसरति इति अनु√मृ+णिनि (स्त्री) । कुसुमं आदया—(तृतीयातत्पुरुषः) वेपु । यह श्लोक पारदस नाटक में कुछ पाठ-भेद से है ॥४०॥

४१. एया० । वानु—हे वाले । अधिषण्डम्—भयङ्कर रूप से, जोर से (क्रिया-विशेषण) । यहाँ शकार की उक्ति होने से पुनर्क्ति है । चारु० में पाठभेद है ॥४१॥

व्यसितम्—करना आरम्भ किया है, वि + अष√सो+ क्त । स्वरसयोगः—स्वरों का संयोग, स्वर का सम्बन्ध, आवाज । दधिशर—दही की मलाई ।

पृ० ४४, ४२. इयम्० । रङ्गप्रवेशेन—रङ्गमाला में प्रवेश करने से । कला—सङ्गीत आदि कलायें अथवा कामशास्त्रोक्त ६४ कलायें । चाद० में यह श्लोक पाठ-भेद से है ॥४२॥

पशुं—जहाँ बलि का पशु बाँधा जाता है वह खूटा (यूप) पशुबन्ध कहलाता है । √बन्ध् + षञ् (अ) । फुरफुरायते—फुर-फुर कर रहा है, काँप रहा है, (दक्षिणे पृ० ६ सटखटायेते) । महंशम्—योग्य । द्रिद्वतया—निर्घनता से (करणे तृतीया) । भाग०—भाग एक भागधेयं—भाग्य, उसके समान टेडे यहाँ मैत्रेय अपनी भाग्य-हीनता को जोर संकेत कर रहा है । हुष्यस्य—दोषयुक्त, विगडे हुए, दीमरु आदि से क्षाये हुए मूले वाँस के समान ।

पृ० ४६. महाबाहोण—बाह्यपाद्यम, कुछ (बाह्यपाद्य आदि) शब्दों से पहले 'नद्' शब्द जोड़ने से निन्दा अर्थ प्रकट होता है जैसा कि कहा गया है—“शब्दे संले तथा मासि वंचे ज्योतिषके द्विजे । यात्रायाम् पथि निद्रायाम् महच्छब्दो न शीयते ।” यहाँ पर यह शब्द शिष्टदिनोद मे प्रयुक्त हुआ है किन्तु इसका भाव कुप्य नहीं है क्योंकि इसके बाद विट ने मैत्रेय के प्रति आदर प्रकट किया है । उपमर्दं—अपमान ।

४३. मा० । दुर्गं इति परिभव. मा (कर्तव्यः) इसमें दो हेतु दिये गये हैं—(१) क्योंकि कृपान्न (२. यमराज, २. भाग्य) के सामने कोई द्रिद्र नहीं है और (२) चरित्रहीन शनी भी निन्दनीय श्रेणी है । इस प्रकार यहाँ काम्यलिङ्ग अतङ्कार है । नाम—प्रमिद्ध अर्थ या संभावना अर्थ में अव्यय है ॥४३॥

४४. सकामा कामासक्ता, पीछा करने के औचित्य को प्रकट करने के लिये यह विशेषण दिया गया है । स्वाधीन्योवना—इससे वैश्यात्व प्रकट होता है । शीत-बन्धना—चरित्र की हानि ॥४४॥

अनुनयसंबन्धं—विनती का सर्वस्व अर्थात् सबसे बड़ी मनीसी जो हाथ जोड़-कर परी में पड़ना है ।

पृष्ठ ४८. उपातव्य—उपात्तम् दिया, बुरा-भला कहा । अनु + √नी = मनाना, विनती करना, स्टे हुए ना क्रुद्ध-सुद्ध को राजी कर.। इत्यादि । समयत.—शानं से ।

पृष्ठ ४२ एथ० । प्रणय — जनुग्रह, मृच्छरटिक में 'प्रणय' शब्द का इस अर्थ में अनेक प्रयोग किया गया है जैसे अनङ्कृतोऽस्मि स्वयमहप्रणयेन भवता (अङ्क ७ पृ० ) । येन — जिससे, जिस कारण से अथवा क्योंकि येन प्रणयेन' ऐसा भी अर्थ दिया जा सकता है ॥४५॥

सामुपम्—अमूयापूर्वक, अमूया—गुणों को सहन न करना, गुणों में दोष दिखलाना—'गुणेषु दोषाविवरणममूया । अक्षितव्यम्—खाना खाने को,  $\sqrt{\text{अण्} + \text{तव्य}}$  । अथवा 'आङ्गिरद्रव्यम् यत् वाठ है, जिसका अर्थ है—दैनिक वस्तु या भाज का खाना भी नहीं है ।

४६ सो० । प्रणयं — प्राथनाओं से, याचनाओं से अथवा प्राथना के अनुरूप दान से । कृतोद्भव—दुबल किया गया, निधन किया गया । इन विशेषणों से चारदत्त की उदारता तथा दानशीलता प्रकट होती है । विभवं—घन के कारण, घन के गर्भ से । न विमानित—अपमानित नहीं किया, इससे चारदत्त की अगुण्यता प्रकट होती है, 'अनुद्धता सत्पुरपा समृद्धिभिः (नीतिशतक ७०, 'रासे' द्वारा उद्धृत) । निरायकानेषु—प्रीप्सवात्त म । हृद—सरोवर । नृणाम्—नृ' शब्द का पठो बट्ट० । तुष्णा—(१) अभिलाषा (२) हृद पक्ष में—प्यपात्ता । सुखवान्—(१) दरिद्र हो गया (२) मूल गया । चारदत्त म यह श्लोक पाठ भेद ॥ है ॥४६॥

पृ० ५०. ४७ श्लो० । विक्रान्त—पराक्रमयुक्त । इस पद में अनेक इतिहास विरह एक असंग्रह बातें बही गई हैं, यथा श्वेतनेतु न तो पाण्डव ही हैं न कोई पौंड्रा ही । शकार का बचन होने का कारण ही यह असंगति है ॥४७॥

४८ शोनामाम् । कल्पवृक्ष—अभिलाषा पूर्ण करने वाला वृक्ष, वत्स्य वृक्ष इति (अन्यजनकभाव सम्बन्ध म पठो), पठो तत्पुरप अथवा 'कल्पफलक' कल्पपूरणों का वृक्षः शाकपायिवादिः—यही उत्तरपद (फलक या पूरण) का लोप हो जाता है । पाँच देववृक्षों में कल्पवृक्ष भी एक है । वे पाँच देववृक्ष हैं—

पञ्चैने देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । मन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् । आदर्शः—दृष्टान्त, नमूना । 'आदर्श' शब्द दर्पण के अर्थ में प्रसिद्ध है—आदर्शते स्वभद्र, जिसमें अपना यथार्थ रूप देखा जाता है आ  $\sqrt{\text{हृच्} + \text{पञ्}} । इसी अर्थ के विकसित होने से आदर्श शब्द 'नमूने' के अर्थ में आ गया है । सुचरित-निश्चय—उत्तम चरित्र की बसोटी । जिस प्रकार बसोटी से सुवर्ण की परख होती है उसी प्रकार चारदत्त से उत्तम चरित्र का मापदण्ड निर्धारित किया जाता है । शोल०—वेना—पाण्डव का तट, मर्यादा, शीलरूपी मर्यादा का (वे पापन में) सागर (स० व्याख्या) । दक्षिण०—सरल तथा उदार स्वभाव वाला, अथवा दक्षिण एक उदारस्वभाव वाला, दक्षिणश्वासी उदारस्वरश्च, सरल—स्वभाव, 'सत्त्व द्रव्ये गुणो पिते व्यसायस्वभावयोः' : स—जीवति—अमृतवगुणों से युक्त होने के कारण वही है । उच्छ्वसन्ति—पाँच लेने हैं । यहाँ एक ही चारदत्त का अनेक रूपों में$

उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलङ्कार है । शीलवेला' इत्यादि में स्पष्ट है, उच्छ्वसनीय में द्विगोत्रेणा ॥४८॥

४९. अग्यस्य० । तुष (सकार) को पाकर वह (वसन्तवेना) इसी प्रकार बहस्य हो गई है जैसे अग्ने की दृष्टि इत्यादि चुप्त हो जाती है—यह भाव है । आतुर—रोनी, योगकुल । पृष्टि—शारीरिक बल । मूर्त्तस्य०—जैसे नाचमन व्यक्ति की विचारशक्ति (बुद्धि) । सिद्धि—कार्यों में सफलता । व्यसनिनः—घत आदि व्यसनो में भासक्त की, व्यसनमस्य अस्तीति व्यसनी व्यसन + इन्, युत इत्यादि दुर्गणों की व्यसन कहा जाता है । परमा विद्या—उत्कृष्ट विद्या या धार्मिकीय ज्ञान, व्यसनासक्त व्यक्ति की प्राप्त की हुई उतम विद्या नष्ट हो जाती है, क्यों ? इसके लिये विशेषण है स्वल्पस्मृतेः क्योंकि समझी स्मृति अल्प होती है या क्षीण हो जाती है । अथवा परम-विद्या=परा विद्या या ब्रह्मविद्या, जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—द्वे विधौ वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । अथ परं यथा तदक्षरमविगम्यते' । व्यसनी बनों के लिये ब्रह्मविद्या सहज ही होती है । अरि०—शत्रु जन के प्रति प्रीति नहीं देखी जाती । इसी प्रकार वह भी नहीं दिखाई दे रही है । यहाँ कवि ने अनूर्त्त उपमाओं की सुन्दर योजना की है ॥४९॥

पृ० ४९, ५० आलाने० । आलानं—हाथों को बाँधने का सम्भा या शृङ्खला । ब्याप्तु-संगम में, के द्वारा । हृष्ये पृह्यते—भाव यह है कि किसी नारी के हृदय को आक्रामित करके ही उसे बन में किया जाता है, बलपूर्वक नहीं, हृष्ये शब्द में सप्तमी विभक्ति का यही भाव है कि नारी के हृदय को पकड़ कर या बस में करके ही उसको बनना बनाया जाता है । यद्विहं०—यदि तुम उसके हृदय को आक्रामित नहीं कर सकते तो जाओ । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है, आलान आदि में हस्ती आदि के ग्रहण के समान 'हृदय में' स्त्री ग्रहण की जाती है—इस प्रकार की उपमा में तात्पर्य प्रकट हो रहा है, ॥५०॥

भावः अभावम्—भावः—आदरणीय, विट । अभाव—न भाव (यत्ता, हाता) अनुपस्थिति या अहस्यता को प्राप्त हुआ अर्थात्-दृष्टि से अज्ञान हो गया, यहाँ एक का अपकार है । कारुण्य०—कीए के पक्ष्य के समान छिर तथा माये शला । विपुत्र का छिर और माया अनेक स्थलों पर लँबा नीचा रूहा होया और वह कारुण्य के समान रूहा होगा, अतः इस शब्द का प्रयोग किया गया है । कृतान्तेन—साम्य के द्वारा ।

पृ० ५४. समुवर्णा—सुन्दर वर्ण (रंग) सहित । वसन्—प्रदशन । सुवर्णा—सुवर्णार की स्त्री नटी । यहाँ नाटक की निर्वोशिका. अथ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि संस्कृत नाटकों में स्त्री-सुवर्णार का उल्लेख नहीं मिलता । अनुनीय-माना—मानाई जाती हुई । अविचरण—न्यायालय । अविद्योय । सपु—शोभ । निपातयतः—अचित करते हुए, लौटाते हुए—'निपातितं वंशुदो दाने न्यास.पुं-मेमी च' हेमचन्द्र ।

५१ ब्रूमाम्बो—सर्वात्मक (बनकालुका) यह पाठान्तर है । सीमा या—नष्ट होने पर । पूति—विकृति—नाश । शकार का भाव यह है कि उपर्युक्त अस्तु उक्त अवस्थाओं में अधिक समय बीत जाने पर भी नहीं बिगड़ती (नष्ट नहीं होती) इस प्रकार वसन्तसेना की क्षति न करने के कारण उत्पन्न होने वाला वैरभाव नष्ट न होगा, साजा बना रहेगा । यहाँ अपस्तुत ब्रूमाम्ब इत्यादि में पूतिगन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है तथा उससे प्रस्तुत वसन्तसेना को क्षति न करने से उत्पन्न वैरभाव के नष्ट न होने की प्रतीति होती है, अतः अपस्तुतप्रशसा अलङ्कार है ॥२१॥

सकपट—भालकी से घेरे पल या समर्थन करते हुए । प्रासाद०—इस समस्त पद का अनेक प्रकार का विग्रह एवं अर्थ किया गया है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ क्या है यह निश्चय करना कठिन है । (१) ब्रासाप्र—बास नूतनम् अप्रम अप्रभागे दस्या, सा कपोतपालिका अर्थात् नबीन है अप्रभाय जिसका ऐसी महल की अटारी । (२) ब्रासाप्र शब्द का कोश प्रसिद्ध अर्थ है 'मत्त वारण' (मत्तवासे हाथी की आकृति से बिक्रित खज्जा) । कपोत-पालिका का अर्थ है—बहुतर पालने वा स्थान, यहाँ शकार ने संभवतः ऊपर की अटारी को कपोतपालिका कहा है । अन्यथा—अन्य प्रकार से । कपित्थगुलिक—कैय का बोल फल । मडमडायिप्यामि—मड मड शब्द सहित चूरा-चूरा कर दूंगा । 'मडमडायिप्यामि' शब्द की बनावट के विषये देखिये ऊपर छटा-छटायेते (पृ० ४१३) ।

पृ० ५६ ५२. निर्वस्कुलम्—वस्कुल रहित, कोश से बाहर अर्थात् नगा तलवार । मूलक—मूली, वैशि—इस शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने छिल्का (रब, Rind) दिया है, वस्तुतः इसका अर्थ मांसपेशियाँ (Muscles) प्रतीत होता है, अर्थात् (यहाँ) मूली के छिलके के भीतर का भाग । उसके रस की तलवार । यही 'निर्वस्कुलम्' और 'शोश-मुत्त' दोनों शब्दों का विरोध दूर करने के लिये यह रूपना की जाती है कि शकार ने कथे पर रखने से पहले मग्न तलवार को शोश में रख लिया । बुक्यमान  $\sqrt{\text{बुक्क}}$  (भोक्ना) + शानम् (कर्मणि) ॥२२॥

रदनिका लस्यह सयतमुखी—'रदनिका' उस सेविका का नाम है तथा 'रदनिका' शब्द का अर्थ है दाँत रखने वाली (रदन + ठन्), इस प्रकार भाव यह है कि धरे मुख में दाँत हैं जो बन्द रहते हैं जिससे मेरा मुख नियन्त्रण में रहता है अतः मैं किसी अवस्था में भी नहीं बहूँगी । मास्ताभिसाथी—वायु वा इन्द्रिय, सुती वायु में प्रकुम्भित होने वाला, भाव यह है कि ऐसे स्वभाव वाला होने के कारण वह वस्त्र ओढ़े बिना ही सो गया, किन्तु फिर रात्रि में प्रथम प्रहर में नींद का अनुभव करने लगा । अनुशासीनम्—सदासीनता रहित, पुण्यो से सुवर्णित दुर्गाले के द्वारा प्रतीत होता है कि चारदत्त का यौवन उस्मात्पूर्ण है, वह अब भी विसासप्रिय है । अपवारितकेन—चारदत्त के दृष्टिगत से हटकर । प्राकृजोति—(अपने आपको) डबती है, क्योंकि चारदत्त के प्रति माहानुराग होने के कारण उससे दुर्गाले की ओढ़ने में आनन्द का

अनुभव करता है। 'अपवागितकेन' शब्द के प्रयोग से यही प्रतीत होता है कि वह दुगाले को स्वयं बोद्धकर देखती है। तबाम्यन्तरस्य-सुम्हारे अन्तपुर के, भाव यह है कि मैं बेगम हूँ, जतः मुझे आपके अन्तपुर में प्रवेश का अधिकार नहीं है, (मेरा ऐसा भाव कहीं कि आपके प्रेम को प्राप्त करके वधु के स्थान में जा सकूँ—यह ध्वनित होता है)। यहाँ 'अभ्यन्तर' शब्द का अर्थ केवल 'घर के भीतर' नहीं है, इसीलिये पञ्चम बद्ध के अन्त में जो चारदत्त ने वसन्तसेना से कहा है—'एहि अभ्यन्तरमेव प्रविशानः' (पृष्ठ २२२) उससे कोई विरोध नहीं है, वहाँ 'अभ्यन्तरम्' का अर्थ है—घर के भीतर।

पृ० २५, २२. भावसंग्रहः । भाव्यं—वैभव, पूर्वनिर्दिष्ट गुणानुभव कर्म—भाव्यं इमे गुणानुभव-अभरकोन । धीरिता—धीरा सजाता अस्याः ताम्; धीरा + इत्च् । इतान्—विनि, दैव । यहाँ चारदत्त अपनी भाव्यहीनता तथा वैभवनाश के कारण बेगम का अनुभव करता है तथा सोचता है कि ऐसे समय सेवक भी मेरी आज्ञा नहीं मानते । यहाँ अप्रस्तुत मित्रादि के वर्णन से प्रस्तुत रचनिका की प्रतीति होती है, अतः अस्तुतप्रगमा अलङ्कार है ॥२२॥

२४. अविज्ञाता—न जानी हुई । अंबससौम—अपने शरीर से छुए हुए अथवा बनवाने में छुए हुए (देखिये सं० व्याख्या) । भ्रुविता—भ्रूयित हो गई; एक प्राचीन भाषणा है कि कोई नारी पर पुरुष के बन्ध आदि के उपभोग से भी अपवित्र हो जाती है, उन्नी और यहाँ संकेत है । भ्रुविता—क्योंकि वसन्तसेना चारदत्त से प्रेम करती है उसके लिये वह परपुरुष ही नहीं है । अतः वह उसके अपने आपकी अलङ्कृत सा समझती है । धारिता—वसन्तसेना सीने, गुणवत्तम धारण कर रही थी, वह डिलीया के चन्द्रमा (चन्द्रसेना) के समान प्रतीत होती थी; श्वेत मूष्ण दुगाले से, भाव्यादित होकर वह शरद के निय से भाव्यादित बद्धकता के समान अभिहित होने लगी । यहाँ अपना की घरा दर्शनीय है ॥२४॥

न-पुस्तम्—परमारी को-देखना उचित नहीं; यहाँ कवि ने भारतीय पुरुष का आदर्श दिखलाया है; मिलाइये 'अनिर्घर्षनीय परकपत्रम्' शाकुन्तलम् अङ्क २ ।

२६. पया—इस कथन से यह प्रकट होता है कि चारदत्त भी वसन्तसेना की प्रति पाद अनुराग रखता था परन्तु अपनी निर्धनता के कारण उसे प्रकट नहीं करत था । कुपुष्प—निन्दित व्यक्ति; कुत्सित-पुरुषः; कुपुष्पः—क्योंकि वह साहस नहीं रखता, अतः वह कुत्सित है । इसलिये यहाँ इय शब्द का आशय है—कपुष्प (कायर, या निस्तेज) । चारदत्त में यह क्लोक कुल पाठ भेद से है ॥२६॥

पृ० ६०. अलङ्कृतान्तिम्—भाव यह है कि 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग के वसन्तसेना की अङ्कार के प्रति विरक्ति या मूया प्रकट होती है तथा चारदत्त के प्रति अनुराग व्यक्त होता है; इसकी वसन्तसेना अपना सोभाग्य समझती है । वैवती-प-स्वत—देवता के समान पुरा का देवता की पूजा, देवतीनस्यानस्य-योभ्या—देवता के



समान पूजा के योग्य । तस्यां वेताषाम्—उस समय जब कि उसे रोहतेन को भीतर से जाने के लिये कहा गया था ।

१६ प्रविस० । प्रतीकमाना कठोर शब्दों से प्रेरित की गई । भाष्यवृत्तां वशां (i) भाष्य से प्राप्त हुई चेरयावस्या को, मिलाइये 'मन्दभाषिनी' एवम् तवाभ्यन्तरस्य' (पृष्ठ ६) । (ii) M R काले के अनुसार यह अर्थ सगत नहीं, अपितु इसका भाव है कि वह (चरान्तसेना) चाहदत्त की दुर्बल कृत दरिद्रावस्था को देखकर नहीं आती, क्योंकि वह समझती है कि चाहदत्त मेरा उचित महत्कार न कर सकेगा । इस प्रकार 'भाष्यवृत्ता' वा सम्बन्ध चाहदत्त से है । Ryder का मत भी यही है । किन्तु पूर्वोपर सगति से प्रथम अर्थ उचित प्रतीत होता है । आगे विद्वग्जन प्रमाण है । पृष्ठ ७०—इत्यादि उत्तरार्ध का अन्वय तथा अर्थ सन्देहास्पद है । काले के अनुसार इसका उचित अर्थ है—She does not speak boldly on being acquainted with men although he (पुरुष) Speaks much कुछो के अनुसार पुरुषपरिचयेन का 'बहु भाषते' के साथ अन्वय है और यह अर्थ है—यद्यपि पुरुषों से परिचय होने के कारण वह बहुत बातें करती है तथापि वह प्रयत्नता से नहीं बोलती है । M R काले ने अनेक युक्तियों द्वारा इस अर्थ को अयुक्त बतलाया है (मोटस पृ० ३८) । हमारा अभिमत अर्थ संस्कृत व्याख्या तथा अनुवाद में दिया गया है ॥५६॥

अभिमानात्—अज्ञात के कारण । अनुचितप्रतिक्रिया०—(i) बिना सूचित पत्र-द्वार से प्रवेश करना आदि अनुचित कार्य करने से, (ii) वैश्या होकर ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने से । इनमें प्रथम अर्थ अधिक सवत प्रतीत होता है । पृष्ठीघट को भी यही अभिमत है । सुप्त—सुप्तपूर्वक (क्रियाविशेषण) 'प्रणम्य' अथवा 'समागतौ' के साथ अन्वय है । कस्म—एक प्रकार का उत्तम धान । केदार—क्षेत्र या बगारी । करम—ऊँट का बच्चा । जानु—घुटना । इससे प्रकट होता है कि मंत्रों का लिए ऊँचा नीचा तथा मड़ा या, वह ऊँट के घुम्ने जैसा लगता था । प्रणम्य—स्नेह या शिष्टताप्रदर्शन (औपचारिकता—Formalities), यह प्रेम स्थिर रहे—ऐसी मूढ़ व्यञ्जना है (अथ प्रणम्य स्नेह तिष्ठतु स्थिरी भवत्विति श्रुतामिसन्धि—काले) । 'प्रणय इत्यनेन ॥पौन-प्रार्थना कदापिता इति पृष्ठीघट' ।

पृ० ६२ उपन्यास—औपचारिकता को रहने दो—'यह प्रस्ताव । ईदृशेन—इस प्रकार से; स्वेच्छा से आई हुई, सहवास की सामग्री आदि के बिना ही, काले का कथन है कि यहाँ 'सह' का अर्थाहार करके 'ईदृशेन (चरान्तसेन) सह' 'With him who is poor'; i e without the means of enjoyment or of repressing obligation—यह अर्थ है । किन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, पृष्ठीघट का अर्थ भी प्रथम अर्थ का ही समर्थन करता है, तथा चाहदत्त नाटक के कवच (अदक्षिणं सन्तु प्रथमदर्शने महच्छायतया इह वस्तुम्) का 'यहच्छायतया' शब्द भी इसी बात को प्रकट करता है । पुष्पेपु०—पुरुषों के विश्वास पर चरोहर रखी जाती है, चंदे की शक्ति को देखकर नहीं—यह भाव है । स्वस्ति—अर्पण० समझता है कि

वसन्तसेना पुरस्कार रूप में अनन्दार दे रही है, इसीलिए आभोवाँद देता है। 'प्रतिरोधक काले' के 'निर्यातियथ्ये' से अन्वय है, यदि 'अधिरण०' का 'एवोऽस्याः०' से भी अन्वय किया जाये तो अर्थ होगा—हम इस न्यास से थोड़े समय में ही मुक्त हो पायेंगे, 'विपत्तो ह्यासः विन्यासः'। घसुत्पथे उपनीत—भोराहे पर रवसा हुआ। राजभाष्यं—ऐसी प्रदीपिका जो राजभारण पर विश्वसनीय हों अर्थात् वहाँ वायु आदि से न बुझ जायें अथवा विशेष प्रकार की प्रदीपिकाएँ, जिन्हें सड़को पर लेकर घसना आवश्यक हो।

पृ० ६४. नि स्नेहा—(१) तैलरहित, (२) प्रेमरहित। यह कथन चारदत्त के प्रति गिज्ञात्मक सकेत करता है जिससे कि वह वसन्तसेना के अनुराग में मर्कट बनने लगे।

पृ० ६७. उरपति०। कामिनी—सुन्दर युवति; कामोऽस्याः मस्तीति। मृतवते—समाप्त हो गया है जब जिससे, ऐसी पट्टू जिससे जब नहीं रहा तथा जो फटी नहीं है; उसमें चन्द्रमा की घोर किरणें दूध की धारा के समान गिरती हैं ॥६४॥

पृ० ७८. राज०—बहुचरना—छला जाना, उगी। बहुदोषा—बहुत से दोष हैं जिनमें (बहुदोषी) 'दोष' का अर्थ है—दुरादर्य, आपत्तिर्षा या भोर आदि के किन्ने गये राजव।

### द्वितीय अङ्क

[ 'घूतकर सवाहक' नाम का यह दूधरा अङ्क है। 'संवाहक' का काम करने वाला कोई चारदत्त का सेबक घूतकर हो गया, वह दश मुवर्ण हार गया तथा जुबारियों के मुखिया द्वारा रोक लिया गया तब वसन्तसेना ने उसे श्रेणमुक्त कराया—यह कथा अर्थ है। इसमें चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और उसकी सेविका मदनिका का महाद है। मदनिका वसन्तसेना से उसकी उद्विग्नता का कारण पूछती है और वसन्तसेना चारदत्त के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है। द्वितीय दृश्य में घूत में दूध हुआ संवाहक किसी देवालय में शरण लेता है। वहाँ घूतकर और सभिक उसे पकड़ लेते हैं और उससे रूपया माँगते हैं तथा उसे मारते हैं। इसी समय दर्दुरकभाता है और उसके सकेत से भागकर संवाहक वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। तृतीय दृश्य में वसन्तसेना ॥ सवाहक का परिचय होता है। वह चारदत्त का भूय रह चुका है वह जानकर वसन्तसेना उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करती है और घूतकर द्वारा सभिक के वहाँ जाने पर उन्हें अपना हस्ताभरण देकर संवाहक को श्रेणमुक्त करा देती है। वह बौद्धमिथु होने का परिचय करके चला जाता है। चतुर्थ दृश्य में कर्णपूरक नाम का वसन्तसेना का सेबक परिव्राजक वैश्यापरी सवाहक को वसन्तसेना के मुष्टभोडक नामक हाथी के उपद्रव से बचाता है। चारदत्त उसे पुरस्कार के रूप में एक शायरक देता है। कर्णपूरक उसे वसन्तसेना की दिसलाता है। ]

पृ० ६६ सन्देश—सदेश के प्रयोजन से (हेतु में वृत्तीय विभक्ति है हेतौ २/१/२१) । किमप्यासिखन्ती—कुछ चित्रित करती हुई अर्थात् हृदय में कुछ सोचती हुई । उत्कण्ठा—मिशन की अभिलाषा करते हुए किसी का चिन्तन करना । 'मन्त्रयसि के स्थान पर 'मन्त्रयसे' पाठ भी मिलता है । स्नेह वृच्छति—स्नेह पूछता है, अर्थात् स्नेह का भाव पूछने की प्रेरणा देता है । पुरोभागिता—'पुरोभाग' शब्द का मूल अर्थ है—आगे होना, अगुआ होना (forwardness), इसी से विकसित होकर इस शब्द का अर्थ हो जाता है—'दोष देखना' । पुरोभाग अस्यास्तीति पुरोभागी—दोषों को देखने वाला, 'दोषकहक पुरोभागी'—जमरकोश । पुरोभागिन भाव पुरोभागिता—दोषदर्शिता । प्रायः व्याख्याकारों ने यही अर्थ लिया है किन्तु यहाँ इस शब्द का मूल अर्थ भी सङ्गत प्रतीत होता है, मैं स्नेह के कारण पूछ रही हूँ यही (अगुआ) बनने के भाव से नहीं—यह अभिप्राय है ।

२० १८ धृयहृदयत्वेन—हृदय के सूना होने के कारण । परहृदय०—  
(i) दूसरे के मानसिक भाव को जानने में कुशल, (ii) दूसरे के हृदय को बच में करने में कुशल । मदनिका—(i) चेटो का नाम, (ii) मदनमस्यास्तीति मदनिका कामयुक्ता, जैसे काम (मदन) दूसरों के हृदय को बच में करने में चतुर है, इसी प्रकार मदनिका भी, यह भाव है

काम—'तच्छजनस्य' यह एक वाक्य है । अनुगृहीत—कामवन की आपने अनुगृहीत किया है । भाव यह है कि आप जो काम से प्रभावित हुई हैं यह कामवन पर आपके श्रेया ही है । क खलु नाम अथ अत्रभवत्या अनुगृहीतो महोरसवे तदग-  
जन् । यह पाठान्तर है जो अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है । सिध्यते—सेवितुम् इष्यते, कितनी सेवा करना अभीष्ट है । रन्तुम्—रमण करने के लिये/रम् + तुम् । कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ से लेकर 'भर्तृचारिकया काम्यते' तक का पाठ प्रसिप्त है, क्योंकि कोई रमणी अपनी अभिलाषा को ऐसे स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं करती । कस्तुतः यहाँ सहायतमेना अपनी सेविका (= सखी) से बच की बात कह रही है । अतः इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता । उपाश्च०—बड़ा हुआ है स्नेह जिसका उत्तको । न राजा०—भाव यह है कि आप जैसी रूपवती तरुणी के योग्य ये ही व्यक्ति है, दूरे आप चाहती नहीं, फिर आप किसे चाहती हैं । उदासीना + इव—  
भनजान सी, याद यह है कि क्या तुम्हें पता नहीं कि कामदेवायतनोद्योग में उक्त व्यक्ति ने मेरे हृदय का जीत लिया था ? —शरणागतता—शरण में आई हुई, शरणम् आगता (द्वितीया तत्पुरुष) । अभ्युपपन्ना—स्वीकार की गई अनुगृहीता ।

पृ० ७० श्रेष्ठि—श्रेष्ठ वनादि अस्ति—दति श्रेष्ठी श्रेष्ठ + इत्—  
श्रेष्ठिन् सेठ = वचनीया—निदनीया, देव्याभो का स्वभाव यह है कि वे धन के कारण ही किसी व्यक्ति से प्रेम करती हैं, अतः जो गणिका निधन व्यक्ति में अनुरक्त है, वह प्रणवनीय (अवचनीया) है, क्योंकि उसका प्रेम धन के कारण नहीं अपितु गुणों के कारण है । अतएव ता—इसीलिये वे मधु का निर्माण करने वाली हैं मधु का आनन्द

लेने वाली नहीं; इसी प्रकार जो गणिका धन के लिये किसी में अनुरक्त होती है, वे दूतों के आनन्द के लिये ही अपना शृङ्गार करती हैं, जीवन का आनन्द वे नहीं पोंगी। पृथ्वीवरः अनुसार मधुकर्म्य = मत्ताः (सं० व्याख्या), इसीलिये वे विचार-ग्रन्थ कहलाती हैं। ब्रह्मसंन के मतानुसार 'मधुकरि' शब्द के दो अर्थ हैं—(i) 'मधु बनाने वाली-धमरी, (ii) वाचक। मनीषितः—मनोवाञ्छित, मनसः ईषितः मनीषितः ('ब्रह्म' भाग को पररूप अर्थात् ई हो जाता है)। सहसामिशाप्यभाषः०— यदि मैं सहस्र भ्रमिचरण करूँगी तो प्रेम के प्रतिदान रूप से उपहार देने में अक्षम होने के कारण वे दोबारा भ्रमसे मिलना पसन्द न करे, इसलिये पहले मैं यह विश्वास दिला देना चाहती हूँ कि आपके वरिष्ठ होने पर भी मेरा आप में अनुराग है, मुझे धन या उपहार की आवश्यकता नहीं है अतएव—विश्वास उत्पन्न करने के लिये हूँ।

नेपथ्ये—संवाहक के प्रवेश को सूचित करने के लिये नेपथ्य में, इस प्रकार कहा गया है। यहाँ एक ऐसा दृश्य आरम्भ होता है जिसमें दूत का अत्यन्त विचित्र वर्णन उपलब्ध होता है, जो भास के 'आर्द्रता' में उपलब्ध नहीं होता। भट्टारक—दूतकरों के सभिक के प्रति सम्बोधन है। दशाना सुवर्णाना समाहारः बरासुवर्णम्-उत्स्य, सुवर्ण-एक सोने का सिक्का, जो प्रायः ६० रत्ती या १० मासे के बराबर होता था। उसकी कीम समय-समय पर बदलती रही है। सुवर्णस्य—यहाँ हेतु के अर्थ में सम्बन्धसामान्य में पड़ी है। उद्धा—बाँधा गया, रोक गया।

पु० ७२. अपटीक्षेपेण—बिना पर्दा बिराये या बिना पर्दा हटाये। प्रायेण सभिकालेप के परचाम् ही मञ्च पर धान का आगमन होता है किन्तु नाट्यशास्त्र का विग्रह है कि किसी आतंजन या राजा का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही होना चाहिये—'पटीक्षेपो न वक्ष्ये आतंरजप्रवेशने'। इसीलिये यहाँ बरताये हुए संवाहक का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही दिसलाया गया है। हीणामहे—यह श्लोक अथवा विस्मय अर्थ में अर्थ है। दूतकरभाषः—दूतकरता, जुमारी होगा।

१. नक्षत्रघन०—जैसे तत्काल बन्धन से खुली हुई गधी (गर्दभी) का प्रहार कठोर होता है, इसी प्रकार गर्दभी नामक दूतकीड़ा की कीड़ी का प्रहार कठोर है—यह श्लोक है। तावितोऽस्मि—पीटा गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि वह अपनी सम्पत्ति का एक भाग हार गया। अङ्गराजः—अङ्गना राजा कर्णः तेन मुक्तया। शक्त्या—(१) शक्ति नामक अस्त्र से, (२) शक्ति नाम की दूतकीड़ा की कीड़ी से। पटोत्कच इव—कर्ण ने शक्ति नामक अस्त्र से पटोत्कच मारा था, यह महाभारत की कथा है। तावितोऽस्मि—मार दिया गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि उसने समस्त सम्पत्ति हारा दी थी ॥१॥

२. सैलक०—दूत का विवरण या हिसाब। सभिक—जुबा कराने वाला, धमा + इक (इन्), सभिक अपने घर में या किसी दूतघृह में दूतकीड़ा का प्रदण्ड करता है और वह जज्जार्जिगे का प्रविष्टा होता है। अग्निपराध. मन्त्रप्रति याज्ञवल्क्य

स्मृति तथा मितानुसार आदि में सभिक तथा छत के नियम आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है ॥२॥

विपरीताभ्याम्—उलटे पंरो से, भाव यह है कि मन्दिर की ओर पीठ करके इस प्रकार मन्दिर में प्रविष्ट हो जाऊँ कि सभिक ओर घूतकर मन्दिर से जाते हुए व्यक्तिके पद-चिह्नों को न देखें और यहाँ मुझे न पकड़ सकें। इससे प्रकट होता है कि सवाहक भी दूसरो को छलने में निपुण है। देवीभविष्यामि—देव हो जाऊँगा, भदेवः देव. सम्पत्मानो भविष्यामि—इति देवीभविष्यामि, देव + भ्वि + भविष्यामि 'हृध्वस्तिपयोमे सपत्कर्तारि भ्विः' इस सूत्रानुसार अभूततद्भाव में 'भ्वि' प्रत्यय करके 'अस्य भ्यो' सूत्र से अकार को ईकार होकर रूप बनता है, अथवा 'देवी' और 'भविष्यामि'—ये दो शब्द हैं। यह भी सवाहक को दूसरी बात है कि प्रतिभाषण्य मन्दिर में यदि वह प्रतिमा के स्थान पर बैठ जायेगा तो किसी को उसके पहाँ होने की भाशका ही न होगी।

१. धा । सभिकं ध्वंयित्वा—सभिक के अतिरिक्त, इससे प्रकट होता है कि सभिक का घूतकरो पर कितना अधिकार था।

पृ० ७४, ४. कुत्र० । विप्रसम्मक—अग्ने वाले। कुल यथाः—किसी के देव को न देखने के कारण भुन और कीर्ति दोनों को क्लुपित करता हुआ ॥४॥

पशुपी—नाभ अथवा पदपक्ति, मित्रे कश्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवा-धमस्य पदवी (वेणी० ६)। घूर्त—दूसरो को घोसा देने में चतुर। सताप्य—सवेत करके, दोनों परस्पर ग्रह सकेन करते हैं कि सवाहक यहाँ है। सैल-प्रतिमा—पाषाण-मूर्ति, शिवायाः इयं शैली, शैली चाती प्रातमा च शतप्रतिमा। घूतेच्छाया विकारस्य सवरण—गोपनम् जुषा घेतते हुए उन दोनों को देखकर सवाहक के मन में भी जुभा घेतने की इच्छा होने का स्वाभाविक भाव। उस इच्छा से अनेक प्रकार के मनोविकार उसके हृदय में आ रहे थे, किन्तु वह प्रतिमा रूप में छिपा बैठा था, अतः उन भावों को दबा रहा था।

पृ० ७६, ५. कत्ता—पति या कीर्ती, अन्य मतानुसार एक विशेष प्रकार का घूत। इक्का—घुट का नगाडा 'ढक् ढक्' शब्द करने वाला—उक् इति कायति ढक् + √के + अ ॥५॥

६. जानामि० । संनिभम्—सदृश अर्थात् अत्यन्त कष्टदायक। कोकिलः कोकिल इव मधुरः, यद्वा 'कोकिल' शब्द से सलणा केरु 'कोयल का स्वर' अर्थ लिया जाता है ॥६॥

मम पाठे (?)—मेरा वाँव है—उस समय इस अर्थ में प्रचलित प्रयोग है, शब्द-प्रयोग का निमित्त विचारणीय है। पतति—धूमता है, चक्कर ला रहा है। अथवा—मेरा सिर झुकता है, तुम्हारे चरणों में गिरता है। घूतकरमण्डल्या—जुआरियों की मण्डली ने, इससे प्रकट होता है कि जुआरियों की मण्डली का अत्यन्त कठोर चामन था, इतीतिमे आगे कहा गया है—अमङ्गलमयसम्बन्ध—ऐसा नियम है जिसका

उत्पन्न नहीं किया जा सकता। 'समवाः शपवाचारकालसिद्धान्तसंविद—अमरकोश।  
 १५५—वायदा, भाव यह है कि यदि इस समय नहीं दे सकते तो वायदा करो कब  
 देने।

पृ० ७८ साम्प्रतं गमिव्यामि—संवाहक यह भी एक बात खेतता है, वह आगे  
 स्पष्ट की छूट अधिक से स्वीकार करता है और उभे आगे की छुटकर मं। वे दोनों  
 इस बात को समझ नहीं पाते और यही समझते हैं कि दोनों से एक आगे भाग की  
 छुटि के लिये ही प्रायश्चा की गई है। भट्टारका—स्वामिबनो, यहाँ सामान्य जनो के  
 लिये सम्बोधन है।

निपुण—बतुर, तुम्हारे कपट को समझने वाला। म धूर्तयामि—धूर्तता का  
 कार्य नहीं करता है अथवा तुम धूर्त नहीं करता है अर्थात् तेरी धूर्तता को जानता  
 हूँ। भा भी दूसरों की नहीं बतलाता हूँ। 'धूर्त करोति आचष्टे वा' इस अर्थ में तरुकरोति  
 एतावच्छे' इस में 'निच्' होकर 'धूर्तयामि' क्रिया गण्य बनता है। M. R. काहे का  
 प्रश्न है कि यहाँ 'धूर्त्ये' पाठ उचित है (Read धूर्त्ये, pass. 1st Sing of धूर्तय्)  
 जिसका अर्थ है—मैं तुम से छुटा नहीं जाऊँगा।

पृ० ८०. आकाश—आकाश में अर्थात् 'आकाशभाषित' भाषक गणधोक्ति  
 के द्वारा। जब कोई पात्र किसी अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उसकी बात  
 सुनता-जा है तथा 'क्यों भाई क्या कहा?' इत्यादि कहकर उसे उत्तर देता है, तो यह  
 गणधोक्ति आकाशभाषित कही जाती है। 'आकाशोक्तिः, स्वयं प्रथमप्रत्युत्तरमपाठ-  
 क्य'। बतल—हो गया हूँ। अतिहासन—बिना सिंहासन का; 'वास्ति सिंहासनम्  
 बस्तिम् इति' (बहुब्रीहि), भाव यह है कि छूट या धूतकर तो एक राजा के समान है,  
 केवल वह सिंहासन नहीं रखता है।

म अपयति—नहीं गिनता, भ्रमझु नहीं करता या कुछ नहीं समझता (१)  
 राजा को अपने सामर्थ्य के कारण किसी से अपमान की आशङ्का नहीं करता (२)  
 छूट भागपमान को कुछ नहीं समझता। अर्थजातम्—(१) राजा कर ग्रहण करता  
 है और शासन में व्यय करता है। (२) छूट में पराजित व्यक्ति से धन लिया जाता  
 है और जीतने वाले को दिया जाता है। निकामम्—अत्यन्त। मापदर्या—धन प्राप्ति  
 को देखने वाला ॥७॥

८. इष्यम्—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) मैंने छूट द्वारा ही द्रव्य भादि  
 प्राप्त किया और इसी से गण्य कर दिया। (२) छूट द्वारा द्रव्य भादि प्राप्त किया  
 था संकटा है और इसी से गण्य हो जाता है। यहाँ प्राप्ति और विनाश दो विरूप  
 वस्तुओं का एक छूट के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है, मतः विपमालद्वार है—  
 'विरूपयोः संघटना या च तद्विषयं मतम्' ॥८॥

९. त्रेता—इस श्लोक में नतमथा गया है कि छूट से सर्वस्व भाष कीने  
 हो गया? यहाँ त्रेता, चावर, नदित और कट इन चार जुप के प्रसिद्ध शब्दों का  
 प्रयोग किया गया है। व्याख्याकारों के अनुष्ठान में चार प्रकार के दाँव हैं; उतरी

भारत में इनके ये नाम प्रचलित हैं—(१) नदित=मनका (एक, पाँच, नौ, तेरह), (२) पावर=दूआ (दो, छ, दस, चौदह), (३) त्रेता=तीया (तीन, सात, प्यारह, पन्द्रह), (४) कट=पूरा (चार, आठ, बारह, सोलह)। अन्य व्याख्याकार इन चारों को जुए के भिन्न-भिन्न ढाँच नहीं मानते। प्रथम मत के अनुसार चार बार उसके विरुद्ध दाव आया—‘तीया’ ने उसका सर्वस्व हर लिया। ‘दूआ’ ने उसे ऐसा पिन्डित कर दिया कि उनका नाम सुखने लगा। ‘नदका’ ने उसे वहाँ ठहरना ही भारी कर दिया और घर का रास्ता दिखताया तथा ‘पूरा’ ने तो उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया ॥६॥

पृ० ८२, १०. अय पट.० । सूत्रवरिद्धता—सूत को .जीर्णता को, अर्थात् इसके धागे बहुत पुराने हो गये हैं। सङ्गत—लिपटा हुआ। यहाँ प्रत्येक चरण में ‘अयं पट.’ इन शब्दों का प्रयोग है अतः ‘अनवीकृतत्व’ बोध है, ऐसा कुछ व्याख्याकारों का कथन है। अन्य व्याख्याकार इसे मूल का कथन होने से बोध नहीं मानते ॥६॥

अय तपस्वी—यह बेचारा, सभिक (मायुर) की ओर लक्ष्य है।

११ वादेन यो हि—जो मैं, (अहम् इति बोधः) उत्सम्बितः (उब् + सम्बितः) सटका हुआ। भाव यह है कि मेरे जैसे सहनशील एवं शक्तिशाली का बेचारा मायुर क्या करेगा ॥११॥

सलीकियते—सताया जा रहा है, सलीकरण (१) कुचसना (२) आघात पहुँचाना (३) दुर्गवहार करना (४) ताड़ना या धरसवा करना। अन्तरमन्तरम्—अवकाश—अवकाश, भीड़ में प्रवेश के लिये मार्ग की प्रायणा के समय इस वाक्यांश का प्रयोग होता है। धूर्त—जुआरी।

१२. य स्तव्यम्० । इस श्लोक में पराजित जुआरी द्वारा भोगे जाते हुए कण्डो का उल्लेख किया गया है। आगतशिरः—यह पाठान्तर है; आगतं शिरः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा इवात् (क्रिया विशेषण)। अस्यामलकोमलः अत्यन्तस्फुल्ल तथा कोमल। अस्यापत०—यह पाठान्तर है। अस्यापतः=अहतार्थम्, अम त करने वाला। धूर्तप्रसंगेन किम्—यह भाव है कि धूर्त अत्यन्त कष्टसाध्य है जो कष्ट सहन नहीं कर सकता उसका धूर्त से क्या सम्बन्ध ? ॥१२॥

पृ० ८४. सुष्ठीकृतम्—सपेटा हुआ। कटकरगुण—(१) ‘पूरा’ नामक दाव के द्वारा (२) धामना करके ? (३) कट का अर्थ है चटाई अतः चटाई बनाकर यह अर्थ उचित प्रतीत होता है, भाव यह है कि चटाई बुनने जैसा साधारण सा काम करके दस सुवर्ण से दूया।

१३. दुर्वर्ण—नीच वर्ण का। व्यापाद्यते—मार जाता है ॥१३॥

शीसपत्—पुनः पुनः सेले, √शील (पुरावि) + सप्। माघसानः—बहने वाला, भा + √बध् + शानच्। धूर्तः—धूर्तकर, जुआरी; धूर्तोऽदावेनी कितवोऽभा-धूर्तो धूर्तवत् समा.—अमरकोश। मिथ्या + आदर्शायामि इति ष्च्येदः—यहाँ काकू है। भाव यह है कि मैं प्रसिद्ध जुआरी मायुर भी क्या जुए को मिथ्या होने दूंगा ? अर्थात्

हारे होने से देव धन न लेने पर द्यूतधनवहार दुषित होता है। अतः द्यूत के नियमों की रक्षा के लिये मैं इनके सुवर्ण पत्रिका हूँ। (वेदिक सं० व्याख्या तथा काले गीत ५० १२) अग्निवृत्त—द्यूतकरो की मन्त्रा के नियमों से रोहते के कारण तुम परिषद्हीन हो, यह भाव है।

५० २६ एवनेव—द्यूत के नियम तोड़ने के लिये ही। मयैवम्—दीहिता की धरणा करने के लिये ही। अन्नरपति—बीच में पड़ता है। प्रतीयम्—उत्था, इसका व्युत्पत्तिव्य अर्थ है—जल के प्रवाह के विकट; प्रतपता आपो मस्तिन्—प्रति अप्—द्यू के अक्षर को 'ईकार' (इयन्तवःसर्वभ्योऽय इत् १.३.३।२७) हो जाता है। पुराचती—द्विजान (द्विजानिमां प्राहृत्), पुत्र. अस्ति (स्वपुत्र्यात् पुरपान्तरं कश्चरि) इति पुरवर्षा।

पूठ ३०. विरोधिता—विरोध कर लिया। शक्ति—दृष्टी अथवा मूर्ति में जाने वाला एक पात्र। सिद्धावेदेन—मिदस्य जादेनेन; मन्वादि की सिद्धि प्राप्त करने वाला या अग्निमा आदि योग को सिद्धि प्राप्त करने वाला व्यक्ति सिद्ध कहलाता है, उसके निर्देश के अथवा सिद्धः आदेशः यस्य (बहुव्रीहि), जिसका कथन मना सत्य होता है (शक्ति)। अस्माद्विषयो—इस प्रसंग में यही सर्वप्रथम एक योग्यावद्ध इच्छि का संकेत निरूपा है। मयम्—इसके समस्तमेता की धरणापठ-व्यवस्था प्रकट होती है; क्योंकि सभी वह सवाहक के विषय में कुछ नहीं जानती। अपावृत्त - भोल वी; यद्यन्तमेता घोचरी है कि अतिक से तो धन देकर घोषः घुड़या वा सकता है। अतः इतर बन्ध करने की आवश्यकता नहीं। सुसिद्ध—तुना हुआ, हीनित या अपनी शक्ति के अनु-हून; यह धनिक से होने वाले धन से नहीं इरती, यह आश्चर्य की बात है।

१५. धः०। कान्तर—रहन मन का दुर्धन मार्ग; 'कान्तरं वरं सुपंन्द' मनरवीश ॥१५॥

सत्सिद्धोऽस्मि—देस दिया गया है; एवोक में कही गई बात का मैं (संपन्न बन तो) इच्छान्त है अर्थात् मैंने अपनी शक्ति को न देकर द्यूतकर्म में धन हरा दिया है, उसका ही यह दुःखविमान भोग रहा हूँ। कतहामिनाः; वमहे कपोति इति वमहा-पते, शम्भुवैरुलहाप्रक्रमवेदेभ्यः करने ३११।१०॥ इसके बाद प्रत्यय होकर नामवाचु 'कतहान' बनती है; कतहान + क।

पूठ १०. भूतानि सुवर्षानि—सुवर्ण प्राप्त हो गये; यद्यन्तमेता मत्स्यत् उदार है अतः वह धरणापठ का अर्थ पूजा देयो, यह भाव है। अपरोध—(१) घेरना (blocking up या Surrounding), (२) अनुग्रह (Favour) यही पर आस्था-कारों ने रोमों ही अर्थ किये हैं। सती दशति—(मवाहक का परिपुत्र पुष्टने के के लिये) संकेत करती है। वृत्ति—बीचिका। अपबीधति—आपिठ है। वृत्तपति—दृष्टरी, पर का स्वामी, व्याख्याकारों ने इस शब्द का अर्थ 'ग्रामाध्यक्ष (The headman of a village) की किया है। संवाहक—संवाहयति शरीरं मयैवति इति; सम् +



√वह ÷ ध्रुव । निर्विण्णम्—वेद्युक्त । आहिष्णकानाम्—धूमने शालो के; आ/हिष्ण + ध्रुव ।

पृष्ठ १२. मनोरथान्तरस्य—हृदय के प्रिय के, मनोरथ-अभिप्राय, कामना । अन्तर भीतर, सम्बन्ध, प्रिय । अनुकोश—सहायुभूति, करुणा, 'कारुण्यं करुणा मृगा कृपा दमानुकम्पा स्यादनुशील'—अमरकोश । उपरत-गष्ट, समाप्त । दुर्लभा०—भाष यह है कि जहाँ उदारता इत्यादि गुण होते हैं वहाँ सम्पत्ति नहीं ठहरती इसी में इष्टान्त दिया गया है—अपेक्षेय० इत्यादि, अर्थात् जिसका धन दुर्लभो ॥ काम नहीं आता उनके पास ही धन का संचय होता है । मृगाश्च मृग अङ्क यदा तं अघया मृग, अङ्को यस्य स, चण्डमा । इलायनीय—प्रशंसा के योग्य; √इलाय + अनीयत् । शक्तीयं—उत्तरकर, अब + √इ + ह्यप् ।

पृष्ठ १६. कुष स धनिक—(१) यह धनिक (जिसके पास सुवर्ण तुम पर हैं) कहाँ है ? (२) वह (पाखण्ड) धनिक कैसे रह सकता है ? (जबकि वह दास में इतना अधिक धन व्यय करता है) ।

१५ उत्तरकर०—यः पूगवियुजति जानाति०—यह पाठान्तर है; भाव यह है कि जो दूसरों का उत्कार करना जानता है वह अपने प्रति किये गये विशेष सम्मान का अनुभव कर सकता है । पृथ्वीद्वर आदि व्याख्याकारों में इस श्लोक में 'मात्रासमक' इति विल्लामा हे विगु यहाँ 'वैतालिय' इति है (काने—देखिये—परिशिष्ट में ध्रुवो ॥ लक्षण ॥१५॥

सकृत्ति—वैतनिक । चारिष्य०—चारिष्य ही है अवशिष्ट जितका; अर्थात् धनहीन हो जाने पर । अनुसम्पत्त—लौज रहे है । विसंयुततया—स्विक्र न होने से । विसंयुतल—अस्थिर, विसंयुतस्व भाव विसंयुतता तथा ।

पृष्ठ १६. १६ कस्य—यहाँ 'कस्य' का अन्वय है; किमसे कहती हो । रतवष्टुद्विनीतेन—रतिकाल में शत एवं (रति की सूचना देने के कारण) द्रष्टु (ill-mannered) कटाक्षेण—नेत्र के कोने में । कट पण्डम् अरति इति कटाक्ष ॥१६॥

यदीहरानि०—मेरे पास सम्पत्ति नहीं है' यदि ऐसा बहते ही तो जुआरी नहीं हो, क्योंकि धन का अर्जन करना तथा मुक्त-हस्त से व्यय करना जुआरियों के लिए कठिन नहीं है । धारक—रुग्नी । प्रतिपाद्यति—वेता है । भूतः—पूर्व हो गया । गण्ड.—वायवा । रमरथ—सेती ।

पृष्ठ १८ तदगच्छत्वायां बन्धुजन समाशवासयितुम्—यह पाठान्तर है जो अधिक स्पष्ट है । बलंब—यदि आपने कृपा करके मुझे रुग्णमुक्त करा दिया । परिजनहस्तगतता—परिचारिका ने हाथों में, अर्थात् परिचारिका को सिलता धोजिये । कुल व्याख्याकारों के अनुसार इसका अर्थ है—'परिजनस्य पोष्यजनस्य ममेति भावः (हस्तगतता अधीना श्रियताम्) सैवकत्वेन मामनुमन्यस्व इति भावः' अर्थात् मुझे इस सेवा का अवसर दीजिये । किन्तु यह अर्थ सगत नहीं प्रतीत होता (मि० काने

गोट् वृष्ट ५६) । यस्य कृते०—इस कथन से वसन्तसेना का चाण्डाल के प्रति उत्कट प्रेम व्यक्त होता है। शाक्यश्रमणक—‘श्रमणक’ शब्द सग्यासी के समानार्थक है; शाक्य या शाक्यमुनि शब्द का अर्थ है—बुद्ध। अतः शाक्यश्रमणक=बौद्धसग्यासी, बौद्धभिक्षु। साहसेन०—भाव यह है कि सग्यासी होना एक साहस का कार्य है, इससे यह प्रकट होता है कि उस समय बौद्ध भिक्षु को निन्दा को दृष्टि से देखा जाता था (काने)।

१७ छूतेन०—विहस्तम्०—इस शब्द के व्याख्याकारों ने अनेक अर्थ किये हैं। सामान्यतः अर्थ यह है—विगतः हस्तः यस्य स विहस्त अर्थात् हाथ का प्रयोग न कर सकने वाला, ऐसा व्यक्ति जो यह न समझ सके कि क्या करे देखिये ‘रामापरि पाणविहस्तपोषम्’ रघु० २, ४९। इस प्रकार विहस्त=व्याकुलः। मत्विनाय ने भी यहाँ पर यही अर्थ किया है, विहस्ताः=व्याकुला तथा कोणकारों के अनुसार भी यही अर्थ है—‘विहस्तव्याकुलो समो’—अमरकोश। इसलिये ‘यद् विहस्तं जनस्य सर्वम्प’ का अर्थ है—(१) सब जनों से व्याकुल अर्थात् अपमानित होना या (२) सब जनों को व्याकुल करना, यहाँ अर विहस्तम्=व्याकुलत्व, व्याकुलीकरणम्, (भावप्रधानं निर्देशे विहस्तत्वमिति लभ्यते) ॥१७॥

गन्धगन्धम्—एक विशेष प्रकार का हाथी। उसके मद में तीव्र गन्ध होती है तथा उसकी गन्ध को सूँघकर अन्य हाथी घान करते होते हैं। (दे० स० व्याख्या)।

पृ० १००. दुर्मनुष्य—अशिष्ट जन, क्योंकि वह बड़े डँग से प्रविष्ट हुआ है। मग्नः उसे इन गन्ध में पुकारा गया है। वञ्चित्ताऽसि—एक अधोप्य की प्राप्ति से खानी रुक गई हो, जो देखना मुश्किल होना वह आपने नहीं देखा। आनान्तम्—‘आलान’=वन्धनस्तम्भ या ‘शृङ्खला’ ‘आनान्त वन्धनस्तम्भेऽप शृङ्खला’ अमरकोश। यहाँ केवल ‘शृङ्खला’ अर्थ है, क्योंकि ‘स्तम्भ’ शब्द के साथ प्रयोग किया गया है। महानात्र—प्रधान महापत, ‘महामात्रः समृद्धं वामात्ये हस्तिपकाशिये’—मेदिनी। उहपुष्टं—जीर से कहा।

१, १९. विकसति—यहाँ हाथी के भागने से होने वाली घबराहट का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। रत्नाङ्कुर—लघुरत्न या रत्नों की श्रमणियाँ ॥१९॥

फूल०—फूले हुए हैं कमल जिसमें ऐसी सरसि, जिस प्रकार हाथी विकसित कमलों से युक्त सरोवर का विलोडन करता है, इसी प्रकार उसने सज्जन नगरी में बातबली मथा दी।

पृ० १०२. नहि न्हि०—वसन्तसेना के प्रति नम्रता तथा आदरभाव जिसलाने के लिये यह लचन कहा गया है। वामचरणेन—आकारितः—इस वाम्य का अर्थ विवादास्पद है। व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। यहाँ ‘वामचरणेन’ का शाब्दिक अर्थ है—बायें पैर से, श्रीनिवासाचार्य के अनुसार इसका अन्वय ‘पृथीवा’ के साथ है और समस्त वाक्य का अर्थ है—“(पृथीव के दूतद्वय में स्थित) दूतमेसक को लोहदण्ड माने के लिए आरंभार भुत्ताकर और उसके जाने पर अपने वामचरण

से नौहण्ड का ग्रहण करके उस दुष्ट हाथी को लनकारा"—“घृतलेखक घृते लेखना-  
धिकृत पुराणमुद्रमुष्योद्घुष्य सौहण्ड्यग्रहणार्थमाहूयाहूय तस्मिन्नागते इति वामचरणेन  
सम्भवादेन त्वरितमापणात् सौहण्ड्यमायत्तीं यष्टिं गृहीत्वा । हस्तेन ग्रहणे हि नन्दन  
हस्तीं गृह्णीद् विलम्बश्च स्यादिति पादेन ग्रहणम् ।” (कावे द्वारा उद्धृत)—इस अर्थ  
में समीन के घृत-ग्रह की विनष्ट कल्पना बज्जी पद्यती है । अब इस वाक्य का अन्वय  
तथा अर्थ इस प्रकार उचित प्रतीत होता है—“त्वरितम् अपणात् सौहण्ड्यं गृहीत्वा  
वामचरणेन—(वक्रगत्या) घृतलेखक (घृतलेखक) उद्घुष्य (या भीषीरिति पुनः पुन  
आववात्स्य) सा दुष्ट हस्तीं आकारित (आहूयः) ।” (दे० हिन्दी अनुवाद), यहाँ  
‘घृतलेखक के स्थान पर ‘घृतलेखक’ पाठ ही उचित है क्योंकि ‘सबाहक’ एक घृतकर  
ही था । हाँ, इस अर्थ में तो एक शक्यता बनी ही रहती है कि कर्णपूरक ने इस घृते-  
घृते बौद्धभिषु को कैसे जान लिया कि यह कुशारी है ? क्योंकि वसन्तसेना और  
सबाहक के वार्तालाप के समय तो वह उपस्थित नहीं दिखलगा क्या है ।

२०—आहृत्य—आहृत्य—ग्रहण करके ॥२०॥

विषममरा०—ऐसी नौका जिसमें एक ओर अधिक भार लगा हो एव ओर  
कम अर्थात् भार का समतुलन ठीक (सम) न हो । अदधानेन—हाथी के अर्थ की गण्य  
से नासिका गरी होने के कारण ।

पृष्ठ १०१ नामाधि—उस समय बत्नों पर नाम अङ्कित करने की प्रथा थी यह  
इस कथन से प्रकट होता है । इसी प्रकार अष्टम अङ्क में भी कहा गया है । प्राकृतोक्ति-  
बौद्धती है प्रथम अङ्क में भी चाहदत्त के घर गई हुई वसन्तसेना ने इसी प्रकार इस  
दुगाले को ओढ़कर अनुराग प्रकट किया है । कहा भी है—दत्त किमपि कान्तेन  
घृत्वाऽग्ने मुहुरीधते । साम्प्रत—इस समय, क्योंकि अब मारने इस दुगाले के सिने  
उचित पुरस्कार दे दिया है ।

### तृतीय अङ्क

['सपिण्डे' नामक यह तीसरा अङ्क है । चाहदत्त के चवन से संध लपाकर  
शबिलक नामक और वसन्तसेना के रक्षक हुए सुवर्णमाण्ड को हर लेता है—यह क्या  
इस अङ्क में वर्णित है । इसमें चार दृश्य हैं । प्रथम दृश्य में वर्धमानक नामक, चाहदत्त  
का सेवक, बिना प्रकट करता है, क्योंकि आधी रात बीत गयी है तथा चाहदत्त घर  
नहीं सोता । द्वितीय दृश्य में अपने मित्र रेभित के यहाँ से सपीथ का आनन्द लेकर  
चाहदत्त और विदूषक घर भौंते हैं । वर्धमानक उनके घर घुलाता है और विदूषक  
को स्वर्णमाण्ड सौं देता है । चाहदत्त और विदूषक सो जाते हैं । तृतीय दृश्य में  
शबिलक का प्रवेश होता है जिसका कि नाटक में वर्णित राग्यकान्ति में विशेष हास्य  
है । वह वसन्तसेना की दासी मदनिका को दासता से मुक्त कराने के सिने बोरी करने  
की उद्यत होता है और चाहदत्त के घर में संध लपाकर प्रविष्ट हो जाता है । वह

सन् नें बहबझाते हुए विदूषक के हाथ से सुवर्णमाण्ड को ले लेता है और रत्निका ई बर जाने पर भाग जाता है । चतुर्थ दृश्य में चादरत और विदूषक बग पाते हैं । रास्त को चोर की सफ़्यता पर संतोष होता है; किन्तु वह ग्याप्त रूप में रत्नके पुः सुवर्णमाण्ड को ले यदा—यह सोचकर बिन्दा भी होती है; इस समय चादरत को खो हुआ का प्रवेश होता है जो अपने पति को लोकापवाद से बचाने के लिये बली रत्ननाला को विदूषक के हाथ भेजती है । चादरत इस माला को बतन्तसेना के यहाँ निबवाता है और पूजा में बैठ जाता है ।

६० १०५, १. मुञ्जः—इस कथन के द्वारा चादरत की ओर संकेत किया गया है, जो निर्धन होकर भी सेवकों को प्रिय था । पिशुनः—दुर्जन, 'पितृतो दुर्जनः स्वः' अन्तराल । दुष्करः—दुःख से सेवनीय, दुःखेन-त्रिपठे इति दुष्करः, बुद्ध + १/६ + अन् । उत्तरार्ध में अकार का जोर संकेत है ऐसा म्यास्याकारों का कथन है; शब्दः यहाँ वैषम्य रूप से सामान्य कथनमान ही प्रतीत होता है ॥१॥

२. सत्यं—अन्वयतच्छकलत्रं न सत्यं शारदितुम् यह पाठान्तर है, जो संयत यो प्रतीत होता । स्वाभाविकदोषः—यहाँ अपने स्व की चादरत की अतिर दास-सेविका आदि स्वाभाविक दोषों की ओर संकेत है; क्योंकि यर्षसा का अतिरम्भ करके हुए भी दोषों की खेरी में चले जाते हैं ॥२॥

पाण्यर्ध—संगीत; देवसोक के पायक पाण्यव कहलाते हैं, उनके नाम पर ही संततिविद्या की सत्यं विद्या या पाण्यर्ध- (पाण्यर्धायाम् इदम्) कहते हैं । बीमा हि नाम—यहाँ बीमा को समुद्र से निकलने वाले १४ रत्नों से बरकर दिखलाया गया है । वे बीमह रत्न है—

सम्भोः कोमुद्र-पारिजातक-सुरा-सन्वन्नि-वन्दमा-

दावः कान्मुषा, सुरेसरण्यो, रम्भाविदेवाङ्गनाः ।

अग्नः छत्रमुषो, विष्णु, हरिषनुः शङ्खो-मूर्ध् चान्मुषे

रत्नावीहृ चतुर्दश प्रतिदिनं कुरुः सदा मङ्गलम् ॥

६० ११०, ३. उत्कण्ठितस्व—उत्कण्ठित—प्रियजन के दमन के लिये उत्सुक । उत्कण्ठ—हिंसी स्थान पर- मित्रके का संकेत करते वाला प्रियजन । सत्यापना—बातसत्यने देने वाली; तथा कि देवपूत में कहा गया है—प्रमेयैते रत्ननिपदेभ्यङ्ग-वनां विनोदाः । (मिष २-७) । यहाँ एक ही बीमा का 'बमस्या' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है, अतः उल्लेखान्तर है ॥३॥

नृस्या—नाक में शाली गई रत्नी, नाद, यह प्रायः बँतों की नाक में शाली जाती है, नाक की नाक में टाबने की बात विचारणीय है ।

४. रत्नं च—यहाँ 'रत्नं' इत्यादि संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं । एन रत्नं नाम वेनुवीमात्वरत्नामेठीभावे रत्नमित्युच्यते । मधुर शब्द स्वर—बावोपनीततमित्रवदाप्रारुणममृदम् । रत्नं नाम पदनासंविदापनमनीय इत्युच्यते—विषकल्पवचनायां सम्भुदनात्नं । (नादप्रक्रिया, काले प्राय उद्गृत)

इस प्रकार घाघ-स्वरों के साथ पूर्णतया मेल की 'रक्त' बहते हैं। 'मधुर' का अर्थ है स्वर तथा भाव के अनुभूत वर्णित पदों तथा वर्णों से युक्त। 'व्यक्त' (स्फुट) का अर्थ है—व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता से युक्त। घाघान्वितम्—भावयुक्त। अन्तर्हिता—छिपी हुई। यहाँ 'अन्वे' द्वारा उत्प्रेसा प्रकट हो रही है ॥४॥

५. स लस्य—इस पद्य का अन्वय तथा अर्थ विवादास्पद है; यह उचित प्रतीत होता है कि 'सस्य स्वरसंक्रमं शिण्ट्य तन्वीस्वनं च शृण्वन्निव गच्छामि'—यह मूल वाक्य है और द्वितीय तथा तृतीय चरण में बड़े गये विशेषणों का 'स्वरसंक्रमं' से सम्बन्ध है; जैसा कि सं० व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद में दिसताया गया है। मूर्च्छना—सप्तस्वरी का क्रमशः आरोह तथा अवरोह; (देखिये मतिनाथ-टीका शिशुपालवध १, १०)। मतान्तर से मूर्च्छना का अर्थ ह—स्वरो का समुदाय; यथा कटुम्बिनः सर्वे एकोभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणां सदोहो मूर्च्छनेत्यभिधीयते। हेला—M. R. काले का कथन है कि यह एक पारिभाषिक शब्द है; हेला—उपस्य आरोहावरोहयो अर्नोचित्वम् ॥५॥

अस्तं प्रजति—इस समय अष्टमों का चन्द्रमा रहा होगा जो अर्धरात्रि के समय घिप रहा था।

६. अस्तौ हि + अक्षपाद्—अव√पाह् + क्त। विषाण—दांत १६॥

वृ० ११२. अन्व लुप्तजनम्०—इससे सेवकों के प्रति चावदत्त का स्नेह तथा कीमलता प्रकट होती है। इग्गुम.—दो, मुखों वाला निषेहीन सर्प, दुसुही 'सर्पौ राजितदुग्गुभौ'—अमरकोश। निद्राधीर—निद्रा का अपहरण करने वाला; भाव यह है कि रात्रि में इसकी रक्षा के लिये विनित्त रहने के कारण निद्रा नहीं आ पाती।

७. अलम्०—यद्यपि चावदत्त वसन्तसेना से प्रेम करता है, तथापि वह मग्न उचित नहीं समझता कि वैश्या के पहने गये अचङ्कार उसकी धर्मपत्नी के अलङ्कारों के साथ रखें जायें। इसीलिये इस प्रकार कहता है ॥७॥

वृ० ११४, ८. इव हि—व्याख्याकारों ने इनका अन्वय कई प्रकार से किया है। सलाहदेगात्—निद्रा का चिह्न प्रथमतः सलाह पर दिखाई देता है, फिर आँसों में। इसी प्रकार जरा (बुढ़ापा) पहले सलाह के चारों ओर या कान के ऊपर के बालों में अपना प्रभुत्व दिसलाती है। इसी हेतु कहा गया है—'कृतान्तस्य दृढी जरा कर्ममूले समागत्य बबन्तीति लोकाः शृणुष्वम्' ॥८॥

९. कृत्वा०। परिणाह—विद्यालया, विस्तार 'परिणाहो विद्यालया'—अमरकोश। शिक्षावत्तेन—चोर्णकला की शिक्षा के सामर्थ्य से। कर्मभार्यम्—कर्मणः भार्यम्; धोरी करने का भागं अर्थात् सौं सचाना, यह धोरी का अपना शब्द है। निर्मुच्यमान—कैबुली के द्वारा छोड़ा जाता हुआ; निर्द् + √मुच् + शानच् (कर्मणि)। 'जीर्णतनु' यह पाठान्तर है ॥९॥

१०. मृषति०—इस श्लोक में 'रात्रि माता के समान छूट रही है'—यह दिसलाया गया है। अतएव इसमें प्रयुक्त विशेषणों का यथासम्भव दोनों पदों में अर्थ

किया जा सकता है, जैसे—**नृपति०**—(१) राजपुरुषों के लिये शकास्पद है गमन (प्रचार) जिसका ऐसा शक्तिवत्, (२) राजपुरुषों के लिए शकास्पद है आचरण (प्रचार) जिसका ऐसा पुत्र । परग्रह० (१) दूसरे के घर को दूषित करने (चोरी से घन हलने) में निश्चित मुख्य बीर, (२) अपने कुल को अत्यन्त दूषित करने (परग्रह-दूषण) में माने गये बीर अथवा दूसरों के घर को दूषित करने वाले पुत्र । घन०—(१) निश्चित अन्वकार से आच्छन्न हैं तारे जिसमें ऐसी रजनी, (२) पटल नामक रोग के अन्वकार से ध्याप्त है पुतली जिसकी ऐसी माता । एकबीरः—वाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार बीरक. समस्त पद होना चाहिये, मिदान्तकीमुद्रा तथा मनोरमा में ये केन प्रकारेण 'एकबीरः' शब्द की भी सिद्धि की गई है ॥१०॥

पृ० ११६. परिसरै—तमीप के स्थान में पर्यन्तमूः परिसरः—अमरकोश । रूप्यामि—हानि पहुँचाता है, इसमें मेष लगता है ।

११. कामं—चाहे, भते ही । बञ्चनापरिमह बञ्चना-प्रतारणा, द्रव्यादि-हरण, उसके द्वारा परिभव. पीडित करन । मार्गो ह्येष—मह मार्ग, विश्वस्त जनों की बञ्चना का मार्ग । नरेन्द्रसौप्तिकबधे—नरेन्द्रराणा सौप्तिकबधे, सुप्त=मौना निद्रा, √स्वप् + क्त (गावे), तत्र भव सौप्तिक, सुप्त + ठञ् (इक) । यहाँ महाभारत की इस कथा की ओर संकेत है—जब कौरवों के प्राय सभी योद्धा मारे गये और पुर्षोत्तम भी मरणासन्न हो गया तो अश्वत्थामा ने एक रात्रि में देखा कि कोई उल्लू अपने सोने हुए शत्रुओं को मार रहा है । इसमें अश्वत्थामा को प्रेरणा मिली और वह चुपके में रात्रि के समय पाण्डवों के निदिर में घुस गया तथा वहाँ शीपदी के पुत्रों का बध कर दिया एव घृष्टघुम्न और मित्रगंडी का भी ।

श्रीगिमा—अश्वत्थामा ने; द्रोक्षस्यापत्यं पुमान् शोष + इच् ॥११॥

११. देश० । दर्शनान्तरगतः—दृष्टि का विषय, विलताई देने योग्य । कराल-विशाल, भयकर । पृथ्वीधर के अनुसार दर्शन० का अर्थ है—बीर्मशास्त्र के अनुकूल और कराल का अर्थ है—बीर्मशास्त्र के विपरीत, यह अर्थ अधिक युक्तिमयत नहीं प्रतीत होता ॥१२॥

पृ० ११८. उत्करः—पुञ्ज, राशि, डेरी, 'पुञ्जराशी तुकरः कूटपत्त्रिणाम्' अमरकोश, उत्कीर्णति इति—उत् + √कृ + अप् । स्कन्दपुराणायु—यहाँ पुत्र शब्द गिप्प या अनुयायी के अर्थ में है, चीर सीम स्कन्द के भक्त होवे हैं । एतत् सिद्धि-समगम्—यह (सूत्रों द्वारा किया गया मिट्टी का ढेर अथवा संघ के योग्य स्थान की प्राप्ति) सफलता का सूचक है । कनकनात्ति—बीर्मशास्त्र के रक्षयिता का नाम है ।

१२. पचव्याकोशम्—इत्यादि सात प्रकार की संघों के नाम हैं । इन नामों से ही मेष का स्वरूप प्रकट हो जाता है; जैसे १. पचव्याकोश—विकसित कमल के समान आकृति वाली, २. भास्करं—सूर्य के समान गोल तथा विशाल । ३. शालचन्द्रं—दिगोपा के चन्द्रमा के समान चक्रकार । ४. वापी—बावली जैसी, ५. विस्तीर्णं—

सम्बन्धी । ६ स्वस्तिक—(दि० अनुवाद), ७ पूर्णकुम्भ—नीचे स चौड़ी तथा ऊपर से सिकरी ॥१३॥

१४ अन्यासु०—शक्तिरूप का भाव यह है कि यहाँ पश्ची ईटा जाने पर मे 'पूर्णकुम्भ' नामक संध लगाना ही ठीक होगा, क्योंकि अन्य भित्तियों में जो दूसरी तरह की संध मैंने लगाई थी, उनमें लोगों ने यद्यपि मेरे कार्यशीलता की प्रगति की है तथापि दोष भी दिखाया है । चम्पूत तो इस श्लोक का पाठ शुद्ध नहीं प्रतीत होता, 'अन्यासु' के स्थान पर 'असामु' तथा 'वदति' के स्थान पर 'वदतु' पाठ होने से इसका अप समत हो सकता है । चाण्डल नाटक का पाठ अधिक समझत है—

असामु भित्तिषु मया निजि पाटितासु क्षेप्तु ममामु सधुर्दपितकाकलीषु ।

काल्य विषादविमुक्त प्रतिवेशिषुर्मां दोषाश्च मे बहुतु कर्मसु बीजस च ॥

पृ० १२० कुमारकांतदेवाय—शिवपुत्र कातिवैभ, इनका दूसरा नाम कुमार भी है । चोरी गई वस्तुओं का पता लगाने के लिये लोग इनकी पूजा करते हैं । ये चोरो के देव माने जाते हैं । 'जनकशक्ति'—चौबटिया के प्रथम आचार्य । भास्कर गन्धिन्—चौबटिया के आचार्य । योगाचार्य—ऐसा प्रतीत होता है कि ये शक्तिरूप के गुरु रहे होंगे । कुछ व्याख्याकार ब्रह्मण्यदेव और देवदत्त को भी पृथक् आचार्य मानते हैं, किन्तु ये 'जनकशक्ति' के विशेषण हैं, यही उचित प्रतीत होता है । योगरोचना—योग से सिद्ध की गई रोचना (विशेष प्रकार का प्रलेप), जिसके सेपन से शक्ति अर्जित हो जाता है ।

१५. जनया० । समामध्य सेपन किये गये को, सम् + आ + √सम् + क्त ॥१५॥

प्रमाणसूत्रम्—भाषने का धारा, प्रमाणार्थ सूत्रम् ।

१६ एतेन० । कर्ममायम्—संध, चोरी करने का मार्ग । सप्रयोगान्—जोड़ । परिवेष्टनम्—बन्धन, बन्ध । तर्प के 'काटे आदि को बांध दिया जाता है, यह प्रसिद्ध है ॥१६॥

१७ शिक्षा०—भाव यह है कि ज्यों ही शक्तिरूप ने दीवार में छेद किया त्यों ही भीतर जलने हुए दीपक की सुनहली प्रकाश-रेखा उसमें से होकर बाहर आई, जो चारों ओर अन्धकार से घिरी हुई ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कि श्याम कसौटी पर सुवर्ण की रेखा हो । यह सुन्दर उपमा है ॥१७॥

पृ० १२२. प्रतिपुष्ट्यम्—काष्ठ आदि से बना हुआ मनुष्य का पुतना सम्भवतः वह मिर का भाग ही होता है । जोर संध में से उसे प्रविष्ट कर देते हैं । यदि कोई आगता होता है तो पता चल जाता है । प्रतीक्ष्य—देखकर । लक्ष्यमुप्तम्—लक्ष्येण ध्यायेन मुप्तम् सोने का बढ़ाना बनाये हुए ।

१८ निश्चयार्थ । सञ्चित - गढ़ना अस्य सञ्जाता इति गढ़ना । इतत् । विकला—कुछ तुली हुई, विगत कला यस्या, अथवा अस्थिर, यहाँ सुप्त पुरुषों का स्वाभाविक ध्वंसन किया गया है अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है तथा 'परमार्थमुप्तम्'

उस बाल के समर्थन के लिये कारण: मनुदास का कथन लिया गया है अतः समुच्चया-सङ्कार है ॥१०॥

पुस्तकः—पुस्तक; अथवा मिट्टी आदि की बनी हुई मूर्ति को 'पुस्त' कहते हैं 'पुस्त' से र्वायं में वन् प्रत्यय होकर 'पुस्तक' धञ्च बन गया है ।

तन्मयापि नाम०—मान यह है कि क्या मुझ (अश्विनक) में भी भूमि में गड़ा हुआ धन छिप सकता है ? मि०, 'आ. यमापि नाम दुर्बोचनस्ये मङ्कलस्थान पाण्डवा । शिपी०-२) । हकारोभयति—छँलता है या बढ़ता है, यह प्रसिद्धि है कि पड़ि मन्व नइकर सरसों आदि के दाने धनमुक्त भूमि पर गिराये जाने हैं तो वे फल जाते हैं ।

अस्त्रप्राप्ते—उत्कृष्टः स्वप्न, उन्स्वप्न, अथवा उद्गत, प्रतापादिना प्रकटितः स्वप्नः द्रव्य मः उन्स्वप्नः, स इवाचरति, उन्स्वप्न + क्यङ् (शाण्ड्यानु), निद्रावस्थ्या में बोधता है या स्वप्न देखता हुआ बोलता है ।

! पू० १२४. सपुत्रान्—हल्का होने से, दुर्बल मन वाला होने के कारण । गोश्राह्यकाम्यया—यहाँ श्राह्यप मन्त्र से 'काम्यच्' प्रत्यय नहीं है अपितु 'काम्या = इच्छा एक स्वतन्त्र शब्द है; शी और दाह्यप की अधिनाया यह अर्थ है । (दे० काले गोश्रुत पू० ६८) । क्षानेय—अग्नि मन्त्रयो अर्षान् अग्नि को बुझाने वाला । अप्रति-प्राप्तस्य—दान न लेने वाले का (दे० सं० व्याख्या) । अप्रहस्त—यहाँ जब हस्त और उसके अप्रमाय में अभेद मान लेते हैं तो कर्मधारय समास होकर 'अप्रहस्त' शब्द बनता है और जब अवयव (अप्र) तथा जवयवी (हस्त) में भेद मानते हैं तो 'हस्ताप्र' शब्द बनता है । (दे० जनक्यार सूत्र १.२ २०) ।

पू० १२६. १६. अनिर्वीक्षित—M. R. काले के अनुसार निर्वीक्षित—(disgust for objection); अनिर्वीक्षितपीड०—त्रिस्तमे पीरस्य किमी अनुचित कार्य को करने में भी घृणा या क्षापाति अनुभव नहीं करता; अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य में अनुचित कार्य से बचने का सामर्थ्य नहीं रहता । अनिर्वीक्षितपीरसम्—पाठान्तर है; अर्वागित पीरस्य येन, अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य अपने पराक्रम को नहीं प्रदर्शित कर सकता ॥१६॥

यमापि०—मुझ अश्विनक का रक्षक जन क्या करे ? यह भाव है ।

२०. मातरि—यहां—पक्कड़कर फाट डालने में अथवा पकड़ने में और फाट डालने में (यह-प्रहणे आमुञ्चने देखने से) । संकटेषु—आपत्ति के समय । इग्नुम्—विगैर प्रकार का संध, जब इसे बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं तो यह हड़ना से चिरक जाता है । बुद्ध व्याख्याकार इसका अर्थ—'गडगोषिका' (गोह) या 'सरट.' भी करते हैं ॥२०॥

२१. मुद्रनाथतोदने—मंथार को देखने में, छिपाने के लिये स्थान खोजने में ॥१॥

पू० १२८. २२. उपरित० । असदृशतम०—अनुचित व्यक्ति चोर आदि, भाव यह है कि संध क्या है, यानी चोर को देखकर भवन का हृदय विदीर्ण हो गया है ॥२२॥



पृ० १३०, २३ वेदितवान्—'विदितवान्' रूप शुद्ध है। अथवा 'विद्' पाशु  
नि स्वाधिक गिञ् करके यह रूप होता है ॥२३॥

पृ० १३२, विष्टया—भाग्य म। २४. क०—सुखविष्यति—७ई के समान  
हस्ता समस्योग, अथवा सुखविष्यति यह पाठ है। शङ्खुनीया—घट्टा का विषय।  
निप्रतापा—जिसमें तेज या प्रताप नहीं है अथवा जिसका तेज खता गया है ॥२४॥

२५ प्रणय—अभिनाया। मृगसेम—निर्दय (डूर) के, 'नृन्' शक्ति' (अर्थात्  
मनुष्यों की हिंसा करता है) इति नृशस नृ + १/शत् + अण् ॥२५॥

पृ० १३४, २६ स्यात्प्रतिज्ञियाम्—धरोहर के बदले का धन, स्यात् प्रतिज्ञोद्य  
का उपाय ॥२६॥

शौण्डिंतजा—उदारता के कारण, महानुभावता के कारण। शाब्दाय—  
दुलाओ।

पृ० १३६ पुरस्तत्तमुत्—पूर्व की ओर है मूल जितना, पूर्व की ओर मूल  
करके दान ग्रहण किया जाता है। यथादिमवा०—यथाविभवस्यानुसार (वाले), यहाँ  
'विभ्रममातिशय यथाविभवम् (सम्पत्ति के अनुसार) इस शब्द से ही अभिप्राय प्रकट  
हो सकता है फिर 'अनुसारेण' शब्द का ग्रहण विचारणीय है।

रत्नचण्डीम् उपोषिता—अभुक्चयंस्य न' ह्ये वातिक के द्वारा चर्म रोग का  
निषेध किया गया है अतः 'रत्नचण्डीम्' में द्वितीया निगतामीय है। तस्य वृत्ते—(१)  
उस वृत्त के लिये, (२) उस साहचर्य के लिये अर्थात् चारदत्त के लिये, धृता चादत्त  
को वृत्त के उपहार के रूप में रत्नचण्डी प्रदान करती है जिससे वह दिन से मन ही न  
करे (दे० कासे चौदस पृ० ७१)। सञ्जिताम्—यदि चारदत्त इस उपहार को स्वीकार  
नहीं करता तो धृता को सञ्जित होना पड़ेगा। अतः वह मैत्रेय के स्वीकार करने के  
लिये प्रार्थना करनी है (?)। अर्थात्—कहीं मैत्रेय अपने मित्र के दुख को देखकर  
बोई (आत्महत्या आदि) ? अनुमित कार्य न कर ज्ञाने। (वाग्ने)

पृ० १३८ २७, अर्थात् ०—इसमें धन का महत्त्व प्रकट किया गया है। इसका  
अर्थ विवादास्पद है ॥२७॥

२८ विभवानुगता—सविभवेन अनुगता अर्थात् धनयुक्ता या अपनी सम्पत्ति  
सहित (मेरा) अनुगमन करने वाली। यद्—जो, उपयुक्त तीनों बातें ॥२८॥

२९ महान् प्रत्ययस्यैव—इस महान् विश्वास का ही, क्योंकि निर्धन होने पर  
भी उसने विवाह किया, अतः उसका विश्वास-कार्य महान् है; उरका ऐसा उचित  
मूल्य होना ही चाहिये ॥२९॥

शरीरस्पृष्टिक्या—शरीर के स्पर्श से १/स्पृष् + क्तिन्—स्पृष्टि, सा एष  
स्पृष्टिका।

पृ० १४०, ३० परिवाद०—परिवर्तो वाद परिवाद अथवा परीवादः।  
परिवाद एव बहलः दोष अथवा परिवादस्य बहल दोष । रक्षा—परम्परा।

परिहरामि—उपेक्षा करता हूँ। श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ विवाशास्पद है (काले पृ० ७२. ७३)। ३०॥

अहुरणशौचदीर्घम्—अत्यन्त उदारता से या अत्यन्त गौरव के साथ ।

### चतुर्थ अङ्क

['मदनिका शविलक' नामक यह चतुर्थ अङ्क है, इसमें मदनिका और शविलक का मिलन वर्णित है। इस अङ्क में चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में मदनिका और वसन्तसेना चारदत्त का चित्र देखती हुई वार्तालाप करती हैं। इस दृश्य का प्रेम के विहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्वितीय दृश्य में शविलक वसन्तसेना के भवन में प्रवेश करता है। वहाँ उसकी याहर ही मदनिका से भेंट होती है और वह अलङ्कार दिखाता है तथा चोरी की बात भी कहता है, वसन्तसेना भी छिपकर इनकी बात सुन लेती है। मदनिका के आपह करने पर शविलक चारदत्त के आदमी के रूप में वसन्तसेना को भ्रामयण देता है और वसन्तसेना मदनिका को उसकी बधू बनाकर विदा करती है। तृतीय दृश्य में मार्ग में जाते समय शविलक अपने मित्र आर्यक के राजा द्वारा बन्दी बनाने जाने की खबर सुनता है और मदनिका को अपने मित्र शविलक के घर भेज देता है। यह आर्यक को बन्धन से मुक्त कराने बचा जाता है। चतुर्थ दृश्य में—विदूषक वसन्तसेना के घर पहुँचता है और वसन्तसेना को भुवर्णभाण्ड के बदले में रत्नमाला देता है। विदूषक विदा होता है और वसन्तसेना चारदत्त के पास सन्देश भेजती है कि मैं सायंकाल भिन्ने आऊँगी।

पृ० १५२. शेषनाल.०—वसन्तसेना यह सोचती है कि कही मदनिका मुझे प्रसन्न करने के लिये ही तो ऐसा नहीं कर रही है। तस्य०—इस चित्र में 'दृष्टि और हृदय के रमने का कारण चित्र की अनुरूपता ही है—यह भाव है। तस्मीमना०—यदि यह चित्र उनके प्रियतम की सच्ची प्रतिरूपिता नहीं है तो इसको देखकर प्रियतम के सौन्दर्य की कल्पना करने वाली स्त्रियाँ मेरा उपहास करेंगी, उस उपहास से बचना चाहती हूँ (रत्नामि)।

पृ० १५६. प्रवहणम्—धमरकीर्ण के अनुसार एक विशेष प्रकार का रय; 'कर्णारयः प्रवहण इयम च समं त्रयम्।' भानु जी दीक्षित के मतानुसार इसका अर्थ है—एक विशेष प्रकार की पातकी—'त्रीणि पुरणस्फुटवाहास्य वावविशेषस्य'। कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'रय' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द 'बहली' के लिये प्रयुक्त हुआ है। रय में छोटी एक अवगुण्ठित वाहन जिसे बँत सीचते हैं 'बहली' कहलाती है, जो ग्रामों में अब भी चलती है। साहसिक०—एहम् + ठञ् (इक)—तेन परिजग्यलभ्यसुकामम् ३।१।६३ अथवा तेन क्रीतम् ३.१.३७। सन्देशेन—सन्देश देने के हेतु (हेतु में तृतीया)।

बचनीपदीयं—रात्रि में ही सब पाप होने हैं (बहुदोषा हि नवन्ती)—यह आवाह ॥१॥

पृ० १४८, ३० नारीनायम्—नारी है स्वामिनी जिसकी ऐसे घर को, नारी पर दया करने के कारण अथवा नारी का दर्शन चोरो के लिये अनिष्ट होने के कारण ऐसे घर को छोड़ दिया । गृहवारवत्—घर के वाष्णन्तम्भ के समान । दिवसीकृता—अदिवस दिवस सम्पन्नमान कृत, दिवस + च्वि + कृता ॥२॥

४ विशेष्यन्ती—बहनर होती हुई अथवा ऐसी मुन्दर कि कामदेव की शोभा को भी बसाने वाली । चन्दनशीतलम् इव वरोति—यह उत्प्रेक्षा है ॥४॥

पृ० १४८. निध्यायति—देवती है, निध्याममवसोवनम् इति वैजयन्ती, । मुजिष्या—सेविका, न भुजिष्या अभुजिष्या ताम् । भ्याक्षेण—दूरोक्षे से, मगामभीव, गो + अक्षि + अ (अध्गोऽदशनात् ३।४।७६)

पृ० १५० अलण्डित०—मदनिका जानती है कि जविलक का पहला जीवन पवित्र रहा है । अयन्तविरहम्—अपने पवित्र चरित्र के विरह या नैतिकता के विरह अथवा लाल और शस्त्र के विरह ।

६ विप्रस्व—ब्राह्मण का धन, इसकी चोरी मत्पाप गिना जाता है—'देवस्व ब्राह्मणस्य वा लोभेनोपहितं य स पापात्मा परलोके गृध्रोच्छिद्येन जीवति' मनु० ११, ६ । कुक्ष व्याख्याकारो ने बाञ्चन' का विप्रस्व' से सम्बन्ध किया है किन्तु, यज्ञाधमभुद्वृत बाञ्चन' यह अन्वय अधिक उचित प्रतीत होता है ॥६॥

७ अप्रकाश - जिसे प्रकट करना अनुचित है अर्थात् गुप्त रखने योग्य है ॥७॥

पृ० ५० मदनिका य मूर्च्छाम्—इसम मदनिका का वसन्तसेना के प्रति स्नेह प्रकट होता है । रोष्यम्—ईर्ष्यापूर्णक, जविलक सोचता है कि मदनिका चापवत् को भी प्रेम करती है अतः वह ईर्ष्या के साथ पूछता है ।

८ सद्बुल०—भाव यह है कि तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने तुल के सम्मान को भी नष्ट कर दिया है । मन्मथ०—(विषण्ण = मृग) यद्यपि काम भाव के कारण मेरे अग्य गुण मर चुके हैं अर्थात् नष्ट हो गये हैं । व्यपदिगति—पुनारती हो, दिखाने के लिये कहती हो ॥८॥

पृ० १५४, १० सर्वस्वफलित—मयंस्व रूपी कलो से युक्त; सर्वस्वफल + इति, ['अत इतिठो' ५।१।११२। इति मयंस्व इति], अलम्—पूर्णतया ॥१०॥

११. अथ च०—यहाँ 'काम' की अभि के रूप में वर्णित किया गया है । तथा प्रणय को इत्यम व स्त ने और रतिहीडा को ज्याला के स्त ने । इस प्रकार यहाँ साङ्करूपक है ॥११॥

१२. १३. परितर्पण—बुटिस तथा तीक्ष्ण गति । विरक्तभाषा—स्नेह-शून्य भावो वाली ।

मुपु लल्लिवदगुध्यते—इसमे प्रकट होता है कि अग्निम (१४) श्लोक किसी भूभाषित से लिया गया है (मि० वैयाख्य अतश् श्लोक १६) ।

पृ० १५६ १४ एता हस्तन्ति०—इम श्लोक में श्लेषाओ की निन्दा की गई

है। मनमानसुमना—सुमनस् (स्त्री०) पुष्प ॥ मालती पुष्प 'सुमना 'मालतीजाति'—  
अमरकोश । (१) के पुष्प यद्यपि सुगन्धित तथा मनोहर होते हैं तथापि श्रमज्ञान भूमि  
में उत्पन्न होने के कारण ग्राह्य नहीं होते । इसी प्रकार रूप्यादि के युक्त होने द्वय भी  
देखाये त्याज्य हैं, क्योंकि वे विश्वास के योग्य नहीं होती । (२) यहाँ 'देखा' यह  
शब्द बहुवचन में है किन्तु 'सुमना' उपमान एकवचन है । यह उपमा का दोष मारा  
जाना है तथापि रस-विधातक न होने के कारण दोष नहीं है—'मि० वचनभेदेऽपि  
मानानुद्वेजकरवादन्युत्पन्नमुपमायाः' (पृथ्वी०) ॥१४॥

१५. वीची—तरङ्ग, 'वीचि' शब्द भी श्लोका है। अष्टलेखा-यहाँ सन्ध्याका-  
मौन शेषरक्ति स्त्री और मकेन है । राग—(१) अनुराग, (२) सार्तिमा । निरर्धम्—  
निर्गत अर्थः यस्य तम्, घनहीन को । निष्पीडितम्—निचोड़ी गई । अलक्षक—लाख,  
यानक, प्राचीनकाल में साक्षा आदि में पंरो में लगाने के लिये महावर (याचक) सँवार  
किया जाता था । जब महावर का रग अङ्गो पर चढ़ जाता, तब महावर को उतार  
दिना जाता था ।

१६. मरप्रसेकम्—वीचन के मद का तिञ्चन या मुञ्ज द्वारा मदिरा-फेंकना,  
इसका वास्तविक अर्थ अस्पष्ट है । शरीरेण—शरीर से भासिङ्गनादि के लिये ॥१६॥

सूक्तं खलु०—इसमें प्रकट होता है कि यह किसी अन्य कवि की सूक्ति है ।

अम न सबास—यह तुम विद्यमान न रहोगे अर्थात् मैं सुगृहे मार दूँगा ।  
मदनिका के हृदय के भाव को देखने के लिये शक्तिरु (चाहदत्त के प्रति) ऐसा कहता  
है । असम्भावनीय—जिसकी सम्भावना भी न की जा सके, अर्थात् मदनिका का  
चाहदत्त में अनुरक्त होना असम्भव है ।

पृ० १५८. (कर्म) एषमिव—मदनिका शक्तिरु को बतलाती है कि बसन्तेना  
चाहदत्त में अनुरक्त है, अतः इसने अपने आप्रूपण वहाँ रखे थे ।

१८. द्वापार्य०—यहाँ अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति इस  
प्रकार होती है—

द्वामा—मदनिका की प्राप्ति का आनन्द । प्रीम्भसन्तप्त—प्रेम के सन्ताप से  
पीड़ित । पत्र-आपूरण । शाला-वसन्तमेना । भाव-यह है कि कामानि से सन्तप्त  
होकर निज वसन्तमेना के द्वारा मदनिका को प्राप्त करना चाहा था उसी वसन्तमेना  
(शाला) को जलद्वारो (पत्र) से रहित कर दिया ॥१८॥

धिसगरिवे पश्विताः—मि०, 'स्त्रीणामधिश्रितपदुख्यमानुषीषु सदृशमते किमुत  
थाः प्रतिबोधवत्यः ।' (शकु० ५, २२ काले द्वारा उद्धृत) । म चन्द्रात० (दे० प०  
ध्यांका) ।

पृ० १६०, २० साहसे—चाहदत्त को जलद्वार सन्नपुंज रूपी साहस का कार्य ।  
दुय शान्त्याकार इसका अर्थ 'चोरी करने का साहस'—करते हैं । वह ठीक नहीं जैसा  
कि शक्तिरु के अग्रिम कथन से ही स्पष्ट है—'तथापि नीतिविरुद्धमेतत् ।'

कृत्सितं कर्वा—घोरी का नाम । अनयति सञ्जाम् M. R. वाले का कथन है कि यहाँ 'वा + इदम्'—मे प्रश्न का भाव है, इस प्रकार शक्तिक का अभिप्राय है—“क्या मैं इस घोरी के काम से सज्जित हो सकता हूँ अर्थात् नहीं, क्योंकि एक कष्ट उद्देश्य से मैंने इस कार्य को किया है।” वस्तुतः तो यह भाव प्रतीति होता है कि इस कृत्सित कार्य के कारण मुझे आरुद्ध के पास जाने में सज्जा आती है अन्यथा मुझे राजा आदि का कोई भय नहीं है।” (दे० सं० व्याख्या) ॥२०॥

अमुजित्य—ओ दासी न हो, युहिणी । कामदेवगेहे—कामदेव के मन्दिर में (दे० पृ० ४१३) ।

पृ० १६२ दुर् + रक्षम् = दूरक्ष्यम् (पुत्र रक्ष वा लोप होकर उकार को दीर्घ हो जाता है) ।

पृ० १६४ २३ उद्दुपेन—चन्द्रमा ने उद्दु-नभन उद्दिनि पाति इति उद्दुपः मक्षत्रपति, तारापति, चन्द्रमा ॥२३॥

प्रवहणिक—गाड़ीवान् प्रवहणम् अस्यास्तोति, प्रवहण + टन् (इय) । मुहृष्टा—भलो भाति देखी गई, भाव यह है कि मुझे भली भाँति देख लो जिससे मेरी स्मृति तुम्हारे मन में दृढ़ हो जाये और तुम मुझे भूलो नहीं । इससे वगस्तमेना वा मर्दिना (सेविका) के प्रति स्नेह-भाव प्रकट होता है । स्वमेव चन्दनीया—परिपुहीता स्त्री (पत्नी) होने के कारण, क्योंकि देव्या की अपेक्षा पतिन पुण्य है ।

२४. यत्र—यस्या—जिससे अथवा जिसके कारण (यस्मिन् जन्म हेतुभूते) ।

वधूगन्ध०—व्याख्याकारों ने इसमें अनेक अर्थ बिये हैं—(१) वधूगन्धर्व अवगुण्डनम्, अर्थात् वधू ने योग्य वेश या पर्दा । (२) वधूगन्धर्व अवगुण्डन च । अर्थात् 'वधू' नाम और पर्दा (क्योंकि वधू ही परिपुहयो द्वारा न देखने योग्य होती हैं) । (३) वधूगन्धर्वमवगुण्डनभावरणम् । वेनाप्यनवलोकनत्वव्यपमित्यर्थः (वाले) । (दे० सं० व्याख्या तथा अनुवाद) ।

राष्ट्रिय—राष्ट्र का अधिकारी; यहाँ इस शब्द का 'नगराध्यक्ष' के लिये प्रयोग किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है । घोर—बडोर, भयकर ।

पृ० १६६. विशिष्टतमः—'विशिष्टतर प्रयोग उचित है । शास्त्रम्—मर्दिना वा यह निवेदन एक गृहनीरी ने समान ही है वह अब वसन्तसेमा के पास नहीं जाना चाहती । उदयसितम्—ग्रह; 'ग्रहगेहोदयसितेयमसहमनिरेतनम्'—अमर० ।

२६ शातोन्—पालक क सम्बन्धियो को; क्योंकि वसन्तसेमा भीति बतलाती है कि राजा के सम्बन्धी उसके 'सहजअन्' होते हैं । वृष्—यश, स्तुति; 'वर्णो द्विजादो शुक्लादो'—अमरकोश । शौचधरायण—उदयन का प्रधानाभात्य । कपास्रित्सागर में तथा प्रतिज्ञायोग्यरायण नामक भासकृत नाटक में इसकी कथा विस्तार से वर्णित है (दे० सं० व्याख्या) ॥२६॥

पृ० १६०, २७. आहिता आरयनि शक्या आर्यको राजा भविष्यतीति यस्ते. (वाले), इत्थित भय से डरे हुए । अभिपत्य—अभिमान करके, आक्रमण करने ।

शब्द—राष्ट्र के युव में स्थित चन्दविन्द के समान वाष्पति-चन्द मित्र हो—वह रत्ना है ॥३॥

व्युत्पन्न—अथ पुन, जो वस्तुमत्ता के यहाँ कार्य करने के। यह पुन.— विरक्त मोक्ष है कि वह राक्षस से भी अधिक सुखी है, क्योंकि वस्तुता का कष्ट किं विना ही भव-व्यभिक्तों के द्वारा ले जाया जा रहा है। अविश्वामय—वस्तुमत्ता के यह द्वार की शोभा को देखकर विद्वेषक आश्चर्य व्यक्त हो जाता है।

पृ० १३०. 'अहो वस्तुमत्ताभवद्वारण्य सधीकता' यह सुप्रशस्त है, पट्टव्यत पर 'वस्तुमत्ता' के विशेषण है। वस्तु०—इसमें द्वार की उद्वेगना उकट होती है। धनार्थमन्त्रिका०—मन्त्रिका-सुखों की श्रेण तथा व्यत भाग्य हिनगी हुई द्वार पर लटक रहा है, जिसमें देवराज के मुख की प्राप्ति हो रही है। महात्म-मोक्षिता' इनाई ह्रीनात् पर 'पतनाविदहेन' के विशेषण है। अक्षयिणेत-प्रतिबद्ध—निरन्तर हरी में बरिष्ठ।

पृ० १३२. सद्धाना—ममान मोक्षादायी। सुर्ममुष्टि—सुष्टी पर सुर्म निर्योन्ति—इसकी है। शोचियः—बेइवादी, शोचिदरहत्याप्रीति १।२।७४। अथवा मित्रु-सङ्ग, जन्मना साधुना अथः संस्कारैरिदं उच्यते। विद्याया विद्वि मित्रक विनिः शोचिन उच्यते।

अनुपाना भाषासुपरथ—अथवाजा ने अन्दर रखने की प्रार्थना प्रथमी अनुपाने तथा धारों रत्नवत्तो महात्मनि। सर्वोपद्रवनाशान् वाञ्छिता च विद्वृष्टे। (मन्त्रिहोत्र)। कुर०—प्रार्थना व्याख्याकारों ने 'कुर' का अर्थ मान लिया है तथा रत्न का अर्थ मन्त्रा ने घुट किया है। कुछ व्याख्याकारों (K. V. आदि) के अनुसार कुर—एक प्रकार के बीज हैं, उनमें विद्यते दृष्ट (अनुप) रत्न से निश्चित-वह अर्थ है। निर—एक विशेष प्रकार की रोटी।

पगदन्तोऽ-पनि रखने की चौकी या रत्नी की बुनाई से बना हुआ आसन, चिन्ता। वनिद्या—रत्न।

पृ० १७४. सीमन्तुष्वा इव—यहाँ इन विस्मान की ओर सकेत है कि अपने सुख में कुछ व्यक्ति तारों का रूप धारण कर लेते हैं और पुन्य के धीम हो जाने पर अरंभन से निर जाते हैं, नि० नाकस्य दृष्टे टे सुहृनेऽनुसूक्ष्मेण लोक हीनपर शान्तिरिति। सुखकोशतिपद १. २. १०। अरद्वेषयान्तेन—(शान्तिनी पक्ष में—वनों के कोमल मन्त्रों से, (२) शीतपत्र से—जलों के आघात से। प्रप्रेता—उत्तम शक्ति हुई, महत्त्वं नीर्यं माना ताः। अथवन्वितर—मन्त्रको हुई।

पृ० १७६. आहरनि—आकषिप्त करता है। सुमोक्षाद्यो मे आहं अने की अर्थशा को नहीं है। पट्टव्यत—पुण्या बरत। कपी—पनु को मारने वाला, मनि, विद्वेता (२० सं० व्याख्या)। विद्वेता—प्रकार, भेद। अक्षयिणम्—सुर्म शोचन, पन्ट, अथुर।

२२. वस्तु०—इस श्लोक में 'वस्तुन' जनों का स्वप्न बनवाना राजा है।

परधननिरता—भाव यह है कि लोगो को यहा तार उनके धन से आनन्द या उपभोग करते हैं। गुणोपधाच्या—हमारे गुणों का विचार नहीं किया जाता, यह भाव है ॥२०॥

विचारयति—उनके गुणों पर विचार कर रहे हैं। ध्ययते—बाँधे जा रहे हैं अर्थात् जड़े जा रहे हैं।

पृ० १७८ पद्यमुक्तय—गंधो वा योग (Preparation or mixture) अथोचित—उपेक्षित तिरस्त्रन एवाय स्थि मये। अदनसारिका—रामदेव सम्प्रदायी मीना सभवत मना को बुद्ध ऐसे सत्य सिद्धता दिय जाते थे जिनमे वह भाग्यवृत्तों के नामभाव को उत्सृजित करती थीं रती हेतु उसे यह नाम दिया जाता था। कुम्भ-दासी—कुम्भ = वेष्टा का स्वाभो कुम्भ स्वात् कुम्भनगरस्य मुते वेष्टापत्नी पठे—विश्व। कुम्भस्य दासी कुम्भदासी अर्थात् बरवाली के यहाँ रहने वाली कुट्टिनी, कुम्भ व्याहाराकार इसका अभ करने है जल का घड़ा ने जान वाली दासी। नागदत्ता पृ० १।

पृ० १८० पद्य—रश्मी वस्त्र। पुनरुक्तासकार—दोहरे भाभूषण।

२६ मातावह०—कुम्भ पुस्तको म इसी मयाशा के रूप में ही दिया गया है। यदि इस पद्य माना जाता है तो इनका ५ चरण दिखताई देते हैं। पद्यम चरण (अपवित्र मभीमो मानरत) के छोड़ देने पर यह आर्मा द्यद के रूप में रोप रह जाता है। (बाल) ॥२६॥

पुनरुक्तासकार—पुनरुक्तासकार—पुनरुक्तासकार। कपटक—बीड़ी डाकिनी—डामन इसका भाव है—निवर्त्तनी डामन (a worthless hag)। कपटक के स्थान पर करट्ट (= भरी) पाठ भी है तथा किरी पुस्तको म अपवित्र (अपवित्र) पाठ है जो गुणम है। महादेवमित्र—जब बिसा मंदिर म महादेव का विशाल मूर्ति की स्थापना करती होती है तो पहले मूर्ति की स्थापना करके तत्पश्चात् मंदिर का छोटा भाग द्वार बना दिया जाता है उसने समान।

पृ० १८२ दून—फूला हुआ। पोत—मोटा। कठर—उदर। ३० सीधु—मुरा आसव ये तीन प्रकार की मदिराएँ हैं ॥३०॥ घातपात्राणि०—जहाज का नाव। (भाष्ये) इससे प्रकट होता है कि उस समय उज्जयिनी के व्यापारी सामूहिक व्यापार में प्रसिद्ध थे। विद्वत्क का भाव यह है कि ऐसा राजसी ठाट बाट किसी बड़े अहासी व्यापार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वह व्यङ्गोक्ति है। त्रिविध्यप भयाणां निवृत्तानां समाहार।

पृ० १८४ निरंतरपार प०—एक दूसरे के समीप उने हुए चक्र, घने दूध। सुषणमुधिका०—ये विविध पुष्पों के नाम हैं ॥३१॥ अशोक—न शोक अस्मादिति, इस दूध को अत्यन्त आमन्ददायक माना जाता है। अचिक्या—लेपन ॥३१॥

सम्पुतमाभिरथ—नाटक में अभिनय प्रयोग के अनुसार पात्रों की भाषा का परिवर्तन भी हो जाता है तथा प्राइतभाषी पात्र भी अपनी शिक्षा का परिचय देने के लिये सम्पुत बोला करते हैं जैसा कि भारत में कहा है—योपितसखीबालभेरमानितवा-

पत्नी तथा । वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृत चान्तराजस ।

२२- इन वृत्त में 'साङ्गस्नक' बनझार है । चारदत्त को एक वृक्ष का रूप दिया गया है । विश्वम्—जनता का चारदत्त पर विश्वास । महीनीय—महीनीपत्न (पुण्यता) अथवा महिनुं योम्य महीनीय—पद्य ॥३०॥

पु० ॥३६- राजवानहिारी—वर्ति-मन्देय, राजधानी=साईमेय, नुए का साईमेय रखने जाता । हीनकुमुमा०—बमन्तमेना को आश्चर्य है कि निघ्न चारदत्त के पास ऐसी रत्नावली कैसे है ? बुद्धिम्—मेघों से युक्त दिन, मेघनक्षत्रेर्बुद्धि बुद्धिम्—अनरकोश । यहाँ लज्जा द्वारा मेघमण्डल अर्थ है ।

३३ वषम्—वर्षा;  $\sqrt{\text{वृष}} + \text{वष्}$  (पु०, नपु०) । यह वषणं अग्नि अङ्क की बवनारणा का कार्य करता है ॥३१॥

### पञ्चम अङ्क

। 'बुद्धि' नामक इन अङ्क में बमन्तमेना के अभिचार का वर्णन है । दोर वर्षा हो रही है, विद्युत् कीच रही है, मेघ गरज रहे हैं । ऐसे समय ही यह अभिचार किया जाता है । प्रथमः विदूषक चारदत्त के पास आकर सारंकाच बमन्तमेना के भानन श्री सूचना देता है । इसके पश्चात् बमन्तमेना का घेठ आता है और कहता है कि बमन्तमेना आ रही है । तब बिट, बेटी और बमन्तमेना चारदत्त के घर की ओर जाने हुए दृष्टिभोषण होते हैं । ये वर्षा ऋतु का वषण करते हुए चम रहे हैं । घर के ननों आकर बमन्तमेना को विदूषक मिलता है और वह बिट को विशा करती है । इसके पश्चात् बमन्तमेना विदूषक के साथ दृष्ट-वाटिका में प्रवेश करती है । कात्तत उग्रता स्वागत करता है । बमन्तमेना की बेटी विदूषक से कहती है कि मेरी स्वामिनी उम रत्नावली का मूल्य पूछने आई है क्योंकि वह उते अपनी समझकर नुए में द्वार गई है । उमके बड़ने यह स्वर्ण-भाण्ड ले लीबिदे । मुवर्षा भाण्ड देकर तथा रवकी प्राप्ति की कथा सुनकर सब आश्चर्य-चकित तथा हर्षमान हो जाते हैं । कुछ मनन पश्चात् वर्षा के कारण चारदत्त और बमन्तमेना घर में चले जाते हैं ।]

पु० १२०- सौकष्यः—उत्कष्यया सठ (ब्रह्मीहि) । उन्नमति—उमड़ रहा है ।

१. शिशुनिर्दिभिः—शिशुभिः (मोरपत्र) अल्पान्तीति निलम्बी—मोर; शिशुस्तु शिशुवर्ह—अनरकोश । कताप-मोरपत्र । दिवानुभिः— $\sqrt{\text{वा}} + \text{वद्} + \text{व}$  । रन्तसर्कः—उद्गर्त गन्; देषां तैः, वर्षा के आरम्भ में उत्कषित हर्मों के मानमरोवर को ओर जाने का वर्णन कविमन्त्रदाय मिल है । (मि० मेघ० १.११) । उत्कषि-तस्य०—मेघ के आगमन पर विरहीनुक व्यक्ति का हृदय अनेक भावों से आदम हो जाता है; मि०—'मेघान्तोके भवति सुखिनो-प्यन्यथावृत्ति चेतः कथ्यतेपद्यमिनि जने हि पुनर्दूरतस्ये ।' (मेघ० १.३) ॥३१॥



२. मेघो०—इस श्लोक में समान विशेषणों के द्वारा विष्णु के श्याम शरीर से मेघ की समता दिखलाई गई है। १—जलाद्र०, २—विद्युत्०, ३—सहत्०—ये तीनों विशेषण दोनों पक्षों में लागू होते हैं। (दे० स० व्याख्या तथा अनुवाद)। जलाद्र०—इस विशेषण से 'महिषोदर' की घनी कालिमा सूचित की गई है। सहत्बलाफ०—बलावाएँ मेघों के साथ पक्तिबद्ध या समूह रूप में चलती हैं, मि०, आबद्धमाला + बलाका (मेघ० १ १०) बलाकासमुदाय की समता विष्णु के पाञ्चजन्य' नामक शङ्ख से दिखलाई गई है। केशव वृष्ण, विष्णु, प्रशस्ता वेशा सन्धस्येति—केश + व (तद्धित) केशाद्भोज्यवरस्याम् २।२।१०।६॥२॥

३ केशवगात्र०—द्वितीय श्लोक में उक्तार्थ ही यहाँ भङ्ग्यन्तर से कहा गया है ॥३॥

४ एता०—इस पद्य में एक सुन्दर भाव अभिव्यक्त किया गया है—(१) निविद्ध-पिपिलती हुई चाँदी के घोल जैसी जलधाराएँ हैं। (२) विद्युत्०—वे विद्युत् रूपी दीपशिखा से क्षणभर को दिखलाई देकर नष्ट हो जाती हैं, नष्टदृष्ट के स्थान पर दृष्टनष्टा पाठ अधिक गुन्दर है। (३) जम्बर०, दशा—किसी वस्त्र के छोर पर लटकने वाले घागे छीरा, झालर, पल्ला (Fringe), ये जलधाराएँ भाकारा रूपी वस्त्र के फटकर गिरते हुए झालरदार पल्ले के समान प्रतीत होती हैं ॥४॥

५ ससर्त०—इस पद्य में विविध आकृतियों वाले मेघों से चित्रित आकार का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। आकृतिविस्तर—यह 'अनुगत' का करण (कारक) है, आकृतिविस्तर अनुगता तं—(आकार के विस्तार से युक्त) मेघों द्वारा पत्रच्छेद्यम्—अलङ्कृत आलेख्य द्वारा चित्रित, पत्रसम्बो द्वारा चन्दन के लेपन इत्यादि से शरीर के अङ्गों (मुखादि) पर जो चित्रण किया जाता है वह पत्रच्छेद्य कहलाता है ॥५॥

६ धृतराष्ट्रवन्न—के स्थान पर धृतराष्ट्रवन्न (धृतराष्ट्र का राज्यवन्न) पाठ उपयुक्त है, क्योंकि इस श्लोक में वर्णित समानता धृतराष्ट्रों के राज्य में ही मिलती है, मुख में नहीं। वा (= इव)—समान, 'इवत् वायथावद्ग्री दण्डी। अश्वानम्—(१) वनमार्ग, (२) ध्वनिशून्यता, मौन। वनात्—(१) वन से, (२) जल से बने। सलिलकानने—अमरपोश। अज्ञात चर्या—(१) विराट के राज्य में अज्ञातवास को (२) जनसाधारण से अज्ञात मानसरोवर पर विचरण (चर्या) को ॥६॥

७० १६४ एवमेव—अर्थात् एक बार भी इन्कार न करव। मल्लक—एक पान का नाम।

७० ६६ सेष्टुका—बन्नी, अल्प सेष्टु सेष्टुवा। कायस्थ—एक जाति विशेष जो मध्यवाल में कर सग्रह तथा लेसा जाल का कार्य करती थी, विस्मय का चन्दन है कि छीना झण्टी की प्रवृत्ति का कारण उसने प्रति बनता की ऐसी धारणा मन गई थी (दे० वाले नोट्स पृ० ६७)। चाट—वञ्चक। रासस—मधा, क्योंकि चट सेती का उा जाता है तथा रिरिता का चिह्न माना गया है। न जायन्ते—

एतद्वा विवादास्पद है। किन्तु (L. D.) के अनुसार दुष्टा = धीया, न शान्ते बनि नु जामन्ते एव अर्थात् दोष उत्पन्न हो जाने हैं। M. R. शान्ते के अनुसार शान्ते—i.e. these do not allow a person to prosper. तथा न शान्ते वृद्धि पश्यन्ति। उक्तवा अतम्—मत्र बहो, 'अत मत्सो प्रतिदेशयो प्राचा क्त्वा। ३।४।। १८।। १८+ क्त्वा।

८. वेपम्०। प्राण-कृत्ति; 'शक्ति. पगकनः प्राण'—अनरकोर। पुनर्विशक्ति-  
इतर इतर में ही विनीत हो जाते हैं—उत्पद्यन्ते विनीतन्ते दरिद्रायां मनोरथा. ॥१८॥

कानो वामः—यह एक भौकोक्ति है, भाव यह है कि कान उल्टा होता है  
इसलिए यहाँ ही इसे रोकते हैं त्यों ही अधिक बहता है। अर्थ—जाना।

१०-११. तिज्यति—धीरना है। सुशब्दम्—यह 'वस' का विभेदन है अथवा  
परायानि का क्रिया-विशेषण है। सुशब्द—एक शब्द जो संदीप्त में श्रेष्ठ माना गया  
है। शारद—देवमुनि, कृत्या के पुत्र जो बीजा वाहन में श्रेष्ठ हैं ॥११॥

प्राद्यावेष्टित०—जैसे पत्र प्राप्त करने के लिये सोम दीवार में घिरे हुए कैंप  
(नि) पर कंठरी मारने हैं। पृ० २००. दुर्निषेधकारे—अभाष्यन्त दिन के अवसर  
पर अशकार में; हमसे अशकार की महनना प्रतीत होनी है। इत्यमह०—इत्यमह  
शानुक्तः (= वक्ति प्रहीतुनिच्छुक्तः) कानः इत्यर्थ. (काले) इत्यमल-कामुक्त—यह  
प्राकार है।

पृ० २०२. चर्या—एक प्रसिद्ध अर्थ 'दमी' है; किन्तु यहाँ 'मनुष्य प्रायों की  
एसा दमी करनी है'—इस कथन में मनुष्य विभेदन की सार्यकता नहीं रहती अतः यहाँ  
रथा—रथों का समूह अर्थात् सैनिक रथों का समूह (A number of carriages  
or chariots); अस्मिन् उतर 'बदस्य, लेना' में भी इसी तात्पर्य को स्पष्टतः कहा  
गया है।

पृ० २०४. अशिमारिका—कान के वा. में शीकर प्रिय के पाम जाने बापी  
श्री (३० सं० व्याख्या)।

१०. अपद्मा—अर्थात् कमन में न ऊपर जाने वाली। प्रहरणम् अन्न;  
नि० अन्नस्य ज्वनन्मम्—(मात० २, ६)। कृपुमं—क्योंकि वह तरणों को इसी प्रकार  
कनी वोर खावती थी जैसे पुष्प अमरों को। व्याख्याकारों ने इस पद का अर्थ अनेक  
प्रकार से किया है। किन्तु के अनुसार मन्वीनं मच्छन्ती यह पृथक् विभेदन ही किन्तु  
अर्थ है चादर के घर भीनापूर्वक जानी हुई; किन्तु क्या क्यासाल में नीनापूर्वक  
रनत सम्भव है? अतः इस पद का अर्थ विवादास्पद ही है ॥१२॥

पृ० २०६, १३. निपुन०—विद्यहिनी का हृदय अशकारण्य होता है; क्योंकि  
उपने प्रमत्ता नहीं रहती; कवि-सम्प्रदाय में प्रमत्ता का धवन रंग माना जाता है।  
दक्षिणः—मोर के पंखों में अनेक चमकीले रंग होते हैं, अतः उनमें अतिमत्त व्यक्तों  
(=पंखों) की संभावना की गई है ॥१३॥

१४ बहिन्य—एक मोर, 'बहिन्य' शब्द से भिन्न बहिन्य' शब्द भी मयूर वा यावक है—मयूरी बहिन्यो बहो नीतवच्छो भुजङ्गमुक । शिरसावत शिखी केकी मेघानु-  
सारयति—अमरकोश । सतिष्ठते—सम् + √स्था + णि, 'लट् प्र० ग० । सम्प्रदायिभ्य एष  
१ ३ २२ के अनुसार आत्मनेपद है ॥१४॥

१५ झूठे —इस श्लोक में वसन्तसेना रात्रि वा सपत्नी के रूप में वर्णन  
करती है । निरन्तर०—इस विशेषण का रात्रि तथा वसन्तसेना दोनों के साथ सम्बन्ध  
है । (१) साथ साथ मिले हुए हैं भय जिवमे ऐसी रात्रि, (२) निरन्तर है स्तन जिसके  
(धर्यादि ऐसे पीन स्तन जो परस्पर मिले हैं) ऐसी वसन्तसेना ॥१५॥

पृ० २०८, श्रोत्रिस्वभाव०—श्रोत्र स्वभाव के अनुसार दुराग्रह वाली, दुःखिणी  
—बुरी तरह चतुर, अतः अपनी बात जो न छोड़ने वाली दुराग्रह वाली ।

१६ अशान्ति०—बस्य मिरायें बिजली चमड़ाये ॥१६॥

१७ पङ्कज०—यहाँ प्रथम तथा द्वितीय चरण में बड़े बड़े विशेषण तथा 'वसन्तमूर्ध'  
का नृप एव मेघ दोनों के साथ सम्बन्ध है (दे० स० व्याख्या तथा अनुवाद) ॥१७॥

१८ एतरेव० । आध्यात—पूला हुआ या शयन करता हुआ । (शब्दायमान) ।  
शयन—विहित । शयन्य—बाण का अग्रभाग । प्रापृट्—वर्षा, बगुलौ का शब्द 'प्रापृट्-  
प्रापृट्' के समान प्रनीत होता है । क्षार क्षते०—यह लोकोक्ति है, मि०, घाब पर  
नमक छिड़कना ॥१८॥

पृ० २१०, १६ इस श्लोक में आकाश की मतवाले हवाओं में सभानगर दिखालाई  
गई है । बलावा० और विद्युत् आदि विशेषणों का दोनों के साथ सम्बन्ध है (स०  
व्याख्या अनु०) ॥१९॥

२०. एतं० । भाषीत—जली-भाँति भी लिया है, डक लिया है । लीडन्ति (१) डूब  
जाते हैं, (२) मज्जपश-में कण्ट अनुभव करते हैं ॥२०॥

२१. एते० । गुण—रस्सी । कृष (१) मध्य भाग, (२) भुजङ्गमूल (बगल) ।  
अग्नौऽग्निप्रयत्न—एक-दूसरे की ओर दौड़ते हुए, एक दूसरे के अभिमुख होते हुए;  
एक-दूसरे को घबरा देते हुए । कम्परज्जवा—वर्षा की उज्ज्वल धारा में चाँदी की  
रस्सी की उपप्रेक्षा की गई है ॥२१॥

आध्यात—गर्जना (शब्द) करते हुए या फले हुए । √स्था (शब्दाग्नि-  
योग्यो) + क्त । यन्मोहाया—(१) उत्कट मन्थवाली, (२) मद (मद=मन्थ) ॥  
उत्कट ॥२२॥

पृ० २१०, २४. इस श्लोक में—'जगत् जलधारा रूपी भवन में सो रहा है'—  
यह उपप्रेक्षा की गई है । पण्ड—समूह । क्षया—रात्रि क्षयवति चेष्टामिति ॥२४॥

२५. त्रिभक्त—देव, तृतीया योक्तात्प्रा ट्प्रा येणो ते । सित्तिन्—अग्नि; 'सित्तिनी  
सहित्तिनी'—अमरकोश । ककुम्—दिगायें, (ककुम् भकायन्त स्त्री०) ॥२५॥

२६. उन्मति०—वर्षा में मेघ प्रवमत्तः सम्पत्ति श्रम्यत करने वाले पुरुष के समान प्रनेक रूप धारण करता है—उन्मति—(१) उमड़ता है, (२) ऊँचा उठकर चलता है, अभिमान प्रकट करता है । नमति—(१) नीचे झुकता है, (२) तुच्छ मनुष्यों की ओर झुकता है या नम्रता से कार्य करता है । वर्षति—(१) वर्षा करता है, (२) मुक्त-हृष्ट से दान करता है । गर्जति—(१) गरजता है, (२) गर्ज के साथ धोलता है । तिमिरीय—(१) अशुभकार मनुष्य, (२) कन्तुपित कर्मसमुदाय ॥२६॥

पृ० २१४, २० सविहसति—इव—इत्याका का रग ज्वेन होता है तथा क्विसम्प्रदाय के अनुसार हास का रग भी ज्वेन है, अतएव यह नम्रता की गई है । विवल्सति—विशेष गति करता है, उद्वेगता है या पैतरा बदलता है । रसति—वरजता है ॥२७॥

२. निर्लज्ज—करोति मुझे डरता है तथा साथ ही अपने हाथों में मेरा स्पर्श करता है ॥२८॥

प्रियकाङ्क्षिताया—M R. काले के अनुसार 'प्रिय काङ्क्षिताया यस्या यह विग्रह अधिक संगठ है 'प्रियेन काङ्क्षिताया' नहीं, क्योंकि वास्तविकता नहीं है ॥२९॥

पृ० ३०. तद्वन्मयापि—जैसे तुम महत्या की अभिलाषा में पीड़ित हुए थे, उन्ही प्रकार मेरी वेदना का भी अनुभव करो, यह भाव है ॥३०॥

पृ० २१६, ३३. इरावत्—इरा=जल→इरावत्=मानस, इरावति भवः एरावनः इरावत् + अण् । आलस्यल—इन्द्र, आलस्यवति पर्वतान् इति ॥३३॥

स्नेहः प्रतापयति—मि०, तथापि भवद्गुणसन्तोषी मामेवं मुक्करीकृतवन् (कादम्बरी, काले मोट्टम पृ० १०३) ।

पृ० २१८, १५ कदम्ब और नीप दोनों पदांग हैं, अतः यहाँ 'कदम्ब' शब्द इस नाम के पुष्प के लिये 'नीप' शब्द इस नाम के वृक्ष के लिये आया है, यह संमत प्रतीत होता है। अथवा यहाँ 'नीप' शब्द 'बन्धूक' के लिए आया है (काले) ॥३५॥

ध्वजधारिक०—ध्वजधारिका महिन विट की विद्या करने की यह चातुर्पूर्ण रीति है ।

३६. आटीव—पर्व, दम्भ । कूट—किसी की छतने की कुल मोजना । वेग्रायनस्य—वेग्रायनस्यः आपणः तस्य (वेग्रायनस्ये वाजार का) (काले) लक्ष्मी वेग्रायनस्यः तस्य, (वेग्रा से प्रेम-रूपवहार का) । दाक्षिण्यपम्यनुत्त०—यह पाठान्तर है, पम्यरूप तुवं पम्यनुत्तं, दाक्षिण्येन यत्पम्यनुत्तं तस्य निष्क्रयः मून्य तस्य सिद्धिः अथवा दाक्षिण्यं पर्विष्ठानुरञ्जननेव यत्पम्यं विवेकवस्तु तस्य मुक्तेन अनायासेन निष्क्रयतिद्धिः मूल्य-प्राप्तिः वस्तु ॥३६॥

पृ० २२०, ३८. कदम्बेन—कदम्ब पुष्प ने । अदिपित्त—अधि/पित् - त्त । पत से अभिप्रेत होना मात्र ही यहाँ स्तन तथा सुवराज की उन्नतता है ॥३८॥

पृ० २२२ शुषूषविष्यामि—इस प्रेरणार्थं (गिजन्त) ब्रिया वा शुधूपिप्ये (= सेवा कर्त्तव्ये) के अर्थ में प्रयोग ब्रिया गया है। अपवारितकेन = अपवार्यं । ऋजुक-सीधा, क्योंकि प्रेम में प्रभाव को न जानकर ऐसा प्रश्न करता है।

पृ० २२४. एवमिव—ऐसी बात है, अर्थात् क्या आप लोगो ने हमारा उपहास करने के लिये चोर को भेजा था। छेटी एवमिव—ऐसा था। अर्थात् वह मदनिवा और नदिलर के प्रेम की घटना सुना देती है। ४०. आदित एव—इसका सम्बन्ध विपलीभरन्ति के साथ है, अर्थात् वह अपने श्रेय और प्रसाद को प्रकट करने के लिये कुछ करने से पहले से ही असमर्थ होता है। कुछ ध्यास्याचारो के अनुसार 'आदिन = ऋन्वत एव जीवितेन इत प्रनार अन्वय है। ॥४०॥

पृ० २२६, ४२ हृष्टपूर्वं०—यह एक विचित्र-सा समास है (स० ध्यात्या) यहाँ 'विस्मृत' शब्द का अर्थ है—विस्मरणयुक्त (अपने विद्यमान रूप को भूले हुए), विस्मृत (= विस्मरणम्) अस्ति एयामिति विस्मृत + अच् (अर्थ आदि)। रत्नावल्या इम जनम्०—इस रत्नावली को देकर मेरी जाँच करना उचित नहीं, मैं आपसे धन लेने की कामना नहीं करती

पृ० २२८, ४६ क्तं०—यहाँ समासोक्त है। विद्युत् में नायिका के व्यापारो का आरोप किया गया है तथा उससे आकाश (नायक) का आलिङ्गन करने का वर्णन किया गया है। आलिप्त' और 'उपवीजित' शब्दों से प्रकट होता है कि नायक (आकाश) काम उबर से पीड़ित है। समासिङ्गति—इसी प्रकार वसन्तसेना भी आलिङ्गन करने वह ध्वनित होता है।

पृ० २३०, ४७ रोमाञ्चित०—रोमाञ्चता सजाता अस्वेति रोमाञ्चित, रोमाञ्चन + इत्च् । कदम्ब०—स्पर्शानुस से रोमाञ्चित शरीर की प्रायेण पुष्पित कदम्ब से समता दिखाई जाती है नि०—स्वस्तापरात् पुनरितिमिव प्रोढपुष्पे कदम्बे मेघ० १ २५ तथा उत्तरराम० ३ ४२ ॥४७॥

पृ० ४८, ६६ शतहृया—विद्युत् । अस्मद्वायध०—हम जैसे (निर्धन) के लिये दुर्लभ। परिष्वक्त √'ष्वञ्ज + क्त ॥ कामिनी—भूयात् वामो यस्या सा वामिनी ताता, वाम + इन् + ई । परिष्वजति—यह धातु आत्मानेपदी है, परविधायक नियमों के अनुरूप होने के कारण यहाँ परस्मैपद ही गया है ॥४६॥

५० स्तम्भेषु—इसका 'धायते' के साथ अन्वय है। प्रचलित०—हिलते हुए वेदि—स्तम्भे की आधारभूत चतूरी-सी, सञ्चय—समूह, अन्त—छोर ॥५०॥

पृ० २३२, ५१. विद्युत्०—यहाँ आकाश वा जम्भाई सेते हुए मनुष्य के रूप में वर्णन किया गया है। जम्भाई लेता हुआ व्यक्ति प्रायः जीम चमकता है, भुजा उठा (फँसा) लेता है और ठोड़ी आगे कर लेता है। विद्युत् ही अन्तरिक्ष की जिह्वा है, इन्द्रधनुष भुजा है, मेघ ठोड़ी है ॥५१॥

५२. तानीषु—जैसे बीणा ताल के अनुसर ऊँचे-नीचे आदि स्वरो से बजती है इसी प्रकार वर्षा की धारायें गिर रही हैं ॥५२॥

## षष्ठ अङ्क

[ 'प्रवहणविपर्यय' नामक यह षष्ठ अङ्क कथा के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें वसन्तसेना के शकार की गाड़ी में चढ़ जाने तथा आर्यक के चारदत्त की गाड़ी में चढ़ जाने का वर्णन है। प्रथम दृश्य में - बेटी वसन्तसेना ने कही है कि चारदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में गये हैं और आपको भी गाड़ी द्वारा वहीं जाना है। इसके पश्चात् वसन्तसेना 'रत्नावली' की घूटा के पास भेजती है किन्तु वह इसे स्वीकार नहीं करती। द्वितीय दृश्य में रविका रोहसेन को खेलने के लिये मिठी की गाड़ी देती है, किन्तु वह सोने की गाड़ी माँगता है और रोता है। इस पर वसन्तसेना सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने मामूणों से रोहसेन की गाड़ी को भर देती है। तृतीय दृश्य में—चारदत्त का सेवक वर्धमानक वसन्तसेना को से जाने के लिये गाड़ी लेकर आता है किन्तु फिर बिछावन लेने के लिये गाड़ी महिष साँट जाता है। इसी बीच में शकार का सेवक गाड़ी लेकर आता है और भ्रम की बाँधियों से राज-मार्ग के रुके होने के कारण चारदत्त की बाटिका के द्वार पर गाड़ी खड़ी करके दूसरी गाड़ी के पहिये को निकलवाने चला जाता है। इसी समय वसन्तसेना द्वार पर खड़ी हुई शकार की गाड़ी को चारदत्त की गाड़ी समझकर उसी में बैठ जाती है। शकार का सेवक (स्यावरक) आता है और गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चलाता है। उधर वर्धमानक भी लौटकर चारदत्त की बाटिका के द्वार पर गाड़ी रोक देता है। वसन्त को लौटकर आया हुआ आर्यक अपनी रत्ना के लिये उधर गाड़ी में पीछे की ओर से चढ़ जाता है। वर्धमानक समझता है कि वसन्तसेना गाड़ी में चढ़ गई और पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की ओर गाड़ी को ले जाता है। अतुल्य दृश्य में—वीरक और चन्दक दो राजपुत्र वर्धमानक की गाड़ी को रोकते हैं। चन्दक गाड़ी में आर्यक को देखता है किन्तु वीरक से कहता है कि इसमें वसन्तसेना है। वीरक को सन्देह होता है तब दोनों लड़ते हैं और चन्दक के सकेत से वर्धमानक गाड़ी को ले जाता है। इन अङ्क की घटनाओं का कथा के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही इन घटनाओं के द्वारा कौतूहल की वृद्धि होती है। ]

पृ० २३४. पुष्पकरण्डक—एक उद्यान का नाम जिसका अर्थ है—पुष्पों की शक्ति। राजी—रात में अर्थात् दिन निकलने से पहले।

पृ० २३६. अपि संतप्यते०—चारदत्त ने एक गणिका को घर में प्रवेश दे दिया है क्या इसके चारदत्त के सेवकगण शिष्य हैं? समाशरणविरोधः—वही वह भावना मूढ की गई है जिसके अनुसार पति ही प्रत्नी का अवकाश है। वदुपावर्तिनोवर्षाभि-  
रम्—इससे पूर्व (स्वगतम्) यह पाठ होना चाहिये।

पृ० २३८. प्रतिवेशि०—प्रतिवेश-पड़ोस, प्रतिवेशः अत्यास्तीति प्रतिवेशी (प्रतिवेश + इत्) स एव प्रतिवेशिकः। जाद—बत्त, पुत्र।

पृ० २४०. यात्रास्तनरम—गाड़ी का विछावन । नासिकारज्जुकुटुकी—नाप के कट्टे, यात्र यह है कि यदि उन्हें अकेला छोड़ दिया जायेगा तो अनियमित होकर गाड़ी को कहीं के कहीं से जायेंगे ।

पृ० २४२ कथमेवोऽपरः०—इस कथन के द्वारा 'आर्यक' के छिपते हुए भागने की सूचना दी गई है । विद्याम्य—विद्याम करो, वि०/क्षम् (दिवादि) + लोट् म० एक० ।

पृ० २४४. गुल्मस्थानेषु - रसाक स्थान, चौकी, गुल्म सेना की टुकड़ी, उसका स्थान । अपटोक्षेपेण यवराये हुए आर्यक का बिना पर्दा गिराये ही प्रवेश करता नाटपविधि के अनुकूल है - पटीक्षेपो न कर्तव्यः आसंरावप्रवेशने—साहित्यदर्पण ।

१. अथनास्तेभ्योऽपारसि—अपन के रूप में गृह्यु । निगड—वेडी ॥१॥

विशासने—माह देने वाले, वि०/क्षम् + स्युट् (बसंरि). पूढागारे का विशेषण, यद्यपि कुछ व्याख्याकार यहाँ निमित्त में सप्तमी मानते हैं किन्तु यहाँ 'धमंणि द्वीपिर्न हन्ति' इत्यादि के समान कर्मयोग नहीं है (काले) ।

पृ० २४६. ०. हैको—भाग्य से प्राप्त या दैव की । गम्य=जाने योग्य (Approachable) अर्थात् सेवनीय ॥२॥

४. भवेद् गोष्ठी०—रिक्त प्रवहण को देखकर आर्यक अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है । गोष्ठी—एक छोटी सभा, मनोरञ्जन के लिये एकत्रित सधुसमुदायः गोष्ठपाः यान गोष्ठीयानम्, समग्या परिपद्गोष्ठी सभासमितिससदा' अमरकोश । विद्यमशील०—विपरीत स्वभाव वाले जो किसी परिदृष्ट से सहानुभूति नहीं रखते ॥४॥

पृ० २४८. बहिर्यानिम्—बाहर जाने वाली, यहि यान गमनम् अस्य । नूपुर-शब्दः—आर्यक की वेडी की ध्वनि में वर्तमानक को नूपुरध्वनि का धन हो जाता है ।

पृ० २६०. ५. विद्यग्याः—निश्चिन्त । भित्वा—(१) तोड़कर, (२) हृदय की विदीर्ण करके ॥५॥

प्रतोली—ग्राम के मध्य मार्ग, गली—'रप्पा प्रतोली विसिला स्याद्—अमर० ।

७-१० विशयता—विस्त्रासपात्र । लघु—शीघ्र । कस्याप्यम्—भाव यह है कि किस की मृत्यु निकट था रही है । व्याख्याकारों ने ज्योतिषशास्त्र के अनेक उल्लंघन प्रस्तुत किये हैं (जैसे पृथ्वीधर ने बराहमिहिर की बृहत्संहिता अ० १०४ के ऋतपय श्लोक) । इसमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित ग्रहों के फलाफल का कथन है । इनका प्रासंगिक संश्लिष्ट उल्लेख सं० व्याख्या में दिये गये हैं । शोचति अन्तरे०—चन्दनक के भीमित रहते आर्यक को कोई नहीं से जा सकता, यह भाव है ।

पृ० २४२. चन्दनक—आर्यभारतस्य—इससे चन्दनक का चाइदा के प्रति उत्कृष्ट आदरभाव प्रकट होता है ।

पृ० २४४, १३-१४ आपल०—जहाँ आपत्तिप्रस्तो के दुःख समाप्त हो जाते हैं, आपन्नानां दुःखस्य मोक्षः यत्र तम् । तिलकभूती—तिलक के समान, ऐसे स्थानों पर

द्वत्' शब्द का अर्थ सहस्र होता है—'भूत प्राण्यतीते समे त्रियु'—अमर० ॥१४॥

'१६. एककार्यं—(१) एक-रक्षाकार्यं मे (२) अग्निपक्ष मे—एक दहन कार्यं मे ॥१६॥

पृ० २५६. तन्त्रिलः—'तन्त्र' शब्द का अर्थ है—शासनसूत्र, प्रधान या सिद्धान्त; 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे'—अमर० । प्रयास्त तन्त्रम् अस्यास्तीति; तन्त्र + इलच् । विशिष्ट सिद्धान्त वाता, शासनकार्य का विशेष ध्यान रखने वाला यह व्यङ्ग्य है ।

भोमस्य—भीम अपनी भुजाओं से ही हथियार का काम लेता था । अहं मे इहणं भुजो (भास, पञ्चरात्र २।५६) । ध्यायच्छतः—वि + श्वा + १/यम् + शतृ ष० एक० ॥१७॥

पृ० २५८. पत्ररथः—पत्नी, पत्रम् एव रथो यय । हृष्ट.आयं:—चन्दनक बत्ती में 'आयक को डेल लिया'—यह कहने वाला था; किन्तु फिर सावधान हो गया ।

श्लेच्छजातीनां—असंस्कृत भाषा बोलने वाली जातियाँ श्लेच्छ जाति कही गई हैं । अय (सरा) इत्यादि मे श्लेच्छ भाषाओं का उल्लेख किया गया है, मि०—श्लेच्छो वा एव यदपराशब्द .....श्लेच्छाश्च मा भूमेत्यध्ययं व्याकरणम् । (महाभाष्य) ।

पृ० २६० 'कर्णाटककलह'—कर्णाटक प्रदेश का कलह, सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कर्णाटक प्रदेश मे प्रयोजनवशात् कलह आरम्भ कर दिया जाता था मतः इसका भाव है क्रान्ति कलह ।

२१, २२. शीलविभवेन—शीलस्य विभवेन सम्प्रत्या शीलसम्पन्नता के कारण । कर्षिस्थेन भग्नेन—कंध के तोड़ने से क्या लाभ ? केवल भदे स्वाद का गूदा निकलता है यह भाव है । क्लृप्तप्रमिथ—दाढ़ी की गाँठ, एकपित की हुई दाढ़ी । इन विशेषणों से गणित जाति प्रकट होती है ॥२२॥

पृ० २६२. २३. विमुद्धा—यह अर्धपूर्ण बचन है । भेरी—एक बड़ा ढोल; इनके कपन से ढोल आदि को मठने वाली चर्मकार जाति प्रकट होती है ॥२३॥

अतुरङ्ग—भारो अङ्ग—(दो हाथ दो पैर) । कल्पयाभि—कटवाता है, 'कर्वयाभि' यह पाठान्तर है । शुनक—कुत्ता ।

पृ० २६४. २४-२५. स्पन्दते वसिष्ठो भुजः—पुरुषों के दक्षिण अङ्ग का अङ्गना शुभसूचक समझा जाता है । विश्रप्ता—सूचित की गई या मुझसे परिचित हुई । प्रत्ययिता—(१) जिसे मैंने रक्षा का विश्वास दिलाया है । (२) जिसके विषय में विद्वद्वचन सत्य ही गया है । प्रत्ययः सजातोऽस्याः सा । न सुभ्यः—यह मैं किसी में विद्वद्वचन सत्य ही गया है । आश्वय—समृद्ध, युक्त । शुभप्रतिशान्भौ हस्ता—शुभ और निशुभ नामक दो दैत्य थे । उन्होंने शिव को प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया था कि उनकी सम्पत्ति और शक्ति देवों से भी बढ़कर होगी । कवस्वरूप उन्होंने



देवी के साथ युद्ध करना और लोक को पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सम्मति से देवता लोग दुर्गा के पास गये दुर्गा ने शुभ निशुभ को मार दिया (मार्कण्डेय पुराण चण्डी पाठ) ॥२७॥

निरुक्तमत—इसके स्थान पर निम्नमत पाठ शुद्ध है।

### सप्तम अङ्क

[‘आर्यकापहरण’ नामक सप्तम अङ्क में केवल ‘आर्यक’ के अपहरण की घटना का वर्णन किया गया है। चारुदत्त और विदूषक गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। गाड़ी आती है और विदूषक परा उठाकर देखता है। उसमें पुरुष की देखकर विदूषक बिल्लाता है। फिर चारुदत्त स्वयं देखता है। आर्यक चारुदत्त से शरण मांगता है। चारुदत्त उसकी बेटी को कटवाकर कुएँ में डलवा देता है और उसे विदा करता है। वे दोनों भी घर की ओर चले जाते हैं।

पृ० २६१ १ अण्डिज इव—यहाँ उपवन को पण्यहीनिका के समान दिखलाना गया है ॥१॥

सत्कारेण रमणीयं सत्काररमणीयं न सत्काररमणीयम् असत्काररमणीयम्-सत्कार के बिना भी रमणीय।

२ अन्तर—मार्ग अवकाश। अस—धुरा या पहिया। प्रग्रह—पगहा बँतों को बाँधने का रस्सा। कर्माङ्ग०—(राजमार्ग की मरम्मत आदि) कर्म से अन्त में छोड़े गये काष्ठों से एक गई है गति जिसकी। चरमाङ्ग०—मार्ग के मध्य में ॥२॥

पृ० २६८ ३ सावशेषापासार—सावशेष अर्थात् अपूर्ण है अपसार (बच भागना) जिसका। अविहित यथा स्यात्तथा (क्रियावि०)। परमृत—कोकिल, परं मृत पुष्ट इति, प्रसिद्ध है कि कोयल अपने बच्चों को कौबो के घोंसले में रख देती है और कौबे उनका पोषण करते ॥३॥

४ अस्मात्—यदि इसे ‘अ्यसनार्णव’ का विशेषण माना जाता है तो यह समास के अन्तर्गत होना चाहिये, अतः यह पाठ उचित न होगा। इसलिये ‘अस्मात्’ का अर्थ यह किया जा सकता है—मेरे ऐसा करने से अथवा इस शरणागतवासत्य के कारण वह सज्जन—(साधु या अस्मात्)। ‘स तावदस्माद् अ्यसनाद् नभोस्वित’ यह पाठान्तर है जो अधिक सवत है ॥४॥

पृ० २७० ५ करिकर०—इत्यादि विशेषणों से प्रकट होता है कि उसका शरीर नृपोचित है। ताञ्ज०—इससे सूरता का भाव प्रकट होता है। अस्तमानम्—अयोग्य ॥५॥

स्नैहमयानि—भाव यह है कि आपने फौलादी बेटी में भी कठोर प्रेम की शृङ्खलाओं से बाँध लिया है। सख्यस्व० इसका अर्थ विवादास्पद है। इसका शान्दिक अर्थ है—‘निगड से मित जाओ’, अर्थात् मंत्रेय चारुदत्त से कहता है—(१) इन प्रेम की शृङ्खलाओं को स्वीकार करो। (२) इन बेटीयों को साथ ले लो। धिक्शागतम्—आरम्भ को यह अज्ञान नहीं मगना कि आर्यक को जो ही छोड़कर चल दिया जाये।

पृष्ठ २७२—स्वर्षाहप्रणयेन—स्वयं ग्राहे ग्रहणे प्रणयः उदारता पक्षपाती वा तेन, अर्थात् ग्राही स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से। अथवा स्वयं ग्राहे प्रणयो यस्य सः; अर्थात् स्वयं ग्रहण में रुचि रखने वाला (अथवा का विशेषण)। 'यदुच्यते' के स्थान पर 'पलोच्यते' पाठान्तर है। चारदृष्टधा-भि०.—चारः पश्चत्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे भ्याः। नाभ्युदयिकम्—अभ्युदयः प्रयोजनस्य, अभ्युदय + उम्। क्षमणक—श्रमणक का दर्शन अशुभ माना जाता है।

### अष्टम अङ्क

['वसन्तसेनामोहन' नामक यह अष्टम अङ्क है। इसमें शकार का वसन्तसेना को मारने का प्रयत्न वर्णित है। प्रथम दृश्य में त्रिषुक् पुष्पकरणक जीर्णोद्यान में जाता है। शकार उसे पीटने का प्रयत्न करता है; किन्तु विट उसे बचा देता है। द्वितीय दृश्य में—स्थायरक गायी लेकर जाता है, शकार गायी में वसन्तसेना को देखता है और विट से कहता है कि गायी में छो राजसी है। विट गायी में वसन्तसेना को देखता है। जब शकार को पंदल घर चलने को कहता है; किन्तु शकार नहीं मानता। जब शकार जान पाता है कि गायी में वसन्तसेना है तब वह वसन्तसेना को फुसताता है। जब वसन्तसेना कोघ्रपूर्वक उत्तर देती है तो वह क्रमशः विट और चेट से वसन्तसेना को मारने के लिये कहता है। वे ऐसा करने को तैयार नहीं होते तब शकार उन दोनों को वहाँ से पृथक् कर देता है और वसन्तसेना का गला दबा देता है। वसन्तसेना मूर्च्छित हो जाती है। तृतीय दृश्य में—विट और चेट जाते हैं। शकार विट को वसन्तसेना का मूर्च्छित शरीर दिसलाता है और विट दुःखी होकर पला जाता है। शकार चेट को घर भेज देता है तथा मूर्च्छित वसन्तसेना को सूछे पत्तों से ढककर न्यायालय की ओर जाता है। चतुर्थ दृश्य में—शिशु अपने गीले कपड़े फँसाने के लिये स्थान खोजता है। सूछे पत्तों में वसन्तसेना का हाथ दिसलाई देता है। शिशु पत्ते हटाता है और वसन्तसेना को पहचान कर उसे सहारा देकर उठाना है तथा बिहार की ओर ले जाता है।

पृ० २७६-श्रीवर—मिडक का बदन। १. विद्यमाः—उनका विग्रह करना कठिन है।

अनित्यतया—'तर्कमनिरयम्' 'तर्क' क्षणिकम्' इत हट्टि से देखकर।

२०-पञ्चजना—पाँच व्यक्ति अर्थात् पाँच इन्द्रियो। 'अविद्या' के स्थान पर 'त्रिपद्' पाठान्तर है, उसका तात्पर्य भी 'अविद्या' ही है। श्राम—चेतनाविशिष्ट शरीर। 'अबलः नव' के स्थान पर 'अबलश्च पाठ उचित है ॥२॥

पृ० २७७. अपवाहयति—जाटे कोश के अनुसार इसका अर्थ 'जुड़ा लिये-पाना'—'to cause to carry the yoke' है; किन्तु यहाँ 'बाहर निकलना' ही उचित प्रतीत होता है। कषाय—कषायेण रक्तं काषायम्, 'तेन रक्तं रावात् ४११।' इत्यम्। सुलोपगम्य—सुख से सेवन करने योग्य, इससे प्रकट होता है कि (१) वह उद्यान अत्यन्त रमणीय था। (२) कोई भी व्यक्ति बिना किसी बाधा के उसमें विचरण कर सकता था।

अनुष्ठानम्—(१) सबके लिये खुला हुआ (उद्यान), (२) अंतर्गत (हृदय) ।  
 अनिर्जितोपभोग्य—(१) राज्यपक्ष में—विजेता के द्वारा अधिकृत न किया गया तथा  
 सबके उपभोग के योग्य अर्थात् राजमर्ति की भावना उत्पन्न करने के लिये प्रजा के  
 उपभोगार्थ छोड़ा गया—अनिर्जित च तदुभोग्य च । (२) बिना किसी बाधा के उप-  
 भोग करने योग्य—अनिर्जित बाधारहित यथा स्थातथा उपभोग्यम् ॥४॥

उपासक—भुक्त की पूजा करने वाला ।

पृ० २८०. कौष्ठक—ईंटो से बना पशुओं के पानी पीने का स्थान (धर) या  
 धन का कोठा । कुतिलक—अन्विशेष, भ्रम । शकलानि—विविध रङ्ग के ; एक  
 इहारोऽस्त्यस्येति—एकप्रहार+ठन् ।

५. केरादिरहात्—अर्थात् इसके केरा नहीं हैं तथापि रूप से इसके समान ना  
 रङ्ग काला नहीं पडा, इससे प्रतीत होती है कि यह कुछ समय पूर्व ही मिश्रक बना  
 है । दूर०—भाव यह है कि पुराने मिश्रक इस प्रकार शरीर को ढकते हैं कि उनके  
 शरीर का मध्य भाग खुला रहता है, किन्तु इसने शरीर के अन्तर्भाग को पूर्णतया  
 ढक रखा है । षडोष्णवात्—अभी मिश्रक के पीवर को भली-भांति धारण  
 करना नहीं सीखा है अतः कण्ठ पर अधिक बरनाभ्रम् है जो तितिल और ठहरता  
 रहती ॥५॥

पृ० २८६, १०, कुपितवापर०—कुपित वापर के भुक्त के समान लाल—यह  
 भाव है । गन्धारी—गन्धाराणां जनपदानां राजा गन्धारः तस्य अपत्य स्त्री गन्धारी,  
 दुर्योधन इत्यादि कौरवों की माता ॥१०॥

पृ० २८८, १३ गन्धमुक्ति—गन्धी वा योग, शकार का अर्थ यह है कि गन्ध  
 का सेवन करने से 'गन्धय' बन जाना चाहिये ।

विसद्युलं—असम्बद्ध, अस्थिर, विपरीत ।

पृ० २९०. पुरपुरायमाणं—पुरपुरा इति अव्यक्त शब्द करोति—पुरपुरावदे  
 'पुरपुराय' इस नाम धातु से शानच् प्रत्यय होकर द्वितीया एव० में पुरपुरायमाणम् ।

अहमाहमीय—मैं अपना न रहूँगा अर्थात् मैं नष्ट हो जाऊँगा ।

पृ० २९२. मध्याह्न०—मध्याह्नार्कस्य तापेन क्षुत्ता दृष्टिः यस्य तेन ।

पृ० २९५, १५. अवनतशिरसः—एक सिद्ध पुष्य परनारियों की ओर घूर  
 कर नहीं देखता अपितु शिर झुकाकर बसता है, शिर भी समाज में नीरव चारता है  
 अतः उसका यह स्वभाव है । शृणुषा इव वर्षा की धौल्यसे से तत्रित बँत नीचा शिर  
 करके फला करते हैं । कुलजन—यहाँ प्रसंग के अनुसार कुलीन स्त्रीजन के लिये आया  
 है ॥१५॥

शुभो व्याघ्रमनुसरति—वसन्तसेना को शक्यर की भावा अदसकर विट सोधता  
 है कि वसन्तसेना शकार के साथ अभिरमण के लिये आई है । इस विचार से ही वह  
 मन ही मन आश्चर्य करता है कि यह शूची जैसी वसन्तसेना इस व्याघ्र जैसे स्वभाव  
 का अनुसरण कर रही है ।

पृ० २६६, १६-पुतिन—बालुकामय तट, प्रतीभमान वन् है—निर्दोष एवं पवित्र जीवन । यहाँ अप्रस्तुत हंस और काक का वर्णन करके प्रस्तुत शास्त्रत और शकार का वर्णन किया गया है, अतः अप्रस्तुत प्रशंसा बलशुद्ध है ॥१६॥

१७ जन वेवसावु—विट समझता है कि न चाहती हुई भी वसन्तसेना भक्ता के आदेश से धन के लिये शकार के पास आई है । किन्तु जब वह इस बात पर तिर हिन देती है तो विट कहता है—अगोष्ठीयं—अर्थात् मैं समझता हूँ (इति मन्यते) कि वेवसा के जीवन में गौरव का ध्यान नहीं रक्खा जाता, अतः नुम आ गई हो । कुछ व्याख्याकारों ने मन्यते का अर्थ किया है—‘शकार का सम्मान किया जा रहा है ॥१७॥

अद्यानपरम्परयो—एक अद्यान से दूसरे में जाते हुए, जिससे सूर्यताप न संतप्त करे ।

सूर्योणांशु—बच्चों का, धुरं बहुवीति, सुर् + अच्, पल में ‘अक्’ होकर वीरेपः ।

पृ० ६८, १८-वसानवे—इसे कुछ व्याख्याकारों ने सम्बोधन माना है ।  
साविता—√सम् + शिच् + क्त ।

पृ० ३०२, २०-बाहुगत०—भाव यह है कि यदि तुम मुझे स्वीकार कर लेती हो मैं इन हाथों को जोड़कर तुम्हारी अनेक बार धरती करता । अब उन्नी प्रकार इन हाथों से तुम्हारी लाड़ना करता हुआ केत चकड़कर गाड़ी से बाहर करता हूँ । यहाँ वेन्दे, इव-उष्वा; यह पुनरुक्ति है (दे० सं० व्याख्या) ॥२०॥

पृ० ३०२, २२-सूत्रगतः—सूत्रियों प्रकार के (रंग-बिरंगे) धूत से निमित्त ।  
पुद्ग-पुक्कु—इत्यादि मसि खाते समय हड्डी को चूसने की विशेष ध्वनिप्रा है ॥२२॥

अकार्षम्—विट का भाव है न करने योग्य, पाप, अनुचित कार्य । किन्तु शकार इसका अर्थ लेता है—‘ओ किया न जा सके’ तथा कहता है—‘अकार्षस्य मन्वोऽपि नास्ति’ । उद्भूय—एक छोटी नौका ।

पृ० ३०४, २४-साविभ्रुता—साविणी भ्रूता । सासाद् + इन् (सासाद् इन्द्रदि प संज्ञायां १, २।६१) —सासिद्, स्त्री साविणी । इसका ‘यदादियः’ आदि से अन्वय है ॥२४॥

अपारवस्त—नष्ट, भाव यह है कि हे शकार, तेरा विनाश होने को है, अतः तुझे धर्म और न्याय का ज्ञान नहीं रहा । कोले (प्राकृत)—इसका किसी ने ‘शृगाल’ संस्कृतानुवाद किया है । महत्तरक—महत्तरः एव महत्तरकः । अनायेग०—भाव यह है कि वसन्तसेना को बर्ताने में मेरा ही दोष है । मुझे यादों को देखकर जाना चाहिये था । प्रमवति भट्टकः शरीरस्थ०—आपका प्रभुत्व मेरे शरीर पर है चरित्र पर नहीं, यहाँ एक सेवक के चरित्र की दृष्टता दर्शनीय है । M. R. कोले ने मेकम-पीयर की ‘My life thou shalt command but not my shame’ इत्यादि उक्ति के साथ इसकी समता दिखलाई है ।

पृ० ३०६, २। येन—यस्मात्, क्योंकि; येन—वर्मणा प्रारम्भेन (वाते) । किन्तु यहाँ येन—और तेन (क्योंकि इसलिये) के सम्बन्ध में तथा 'भागधेयदोष' शब्द के ग्रहण से भी येन का अर्थ 'क्योंकि' ही उचित प्रतीत होता है ॥२५॥

पृ० ३०८, ०७ यहाँ देव के दो साभिप्राय विशेषण दिये गये हैं—(१) रग्ना-नुत्तारी—भाव यह है कि यह स्थावरक पवित्र विचार रखता है, इसने अधिकार पुण्य किये होंगे और पाप अल्पमात्र में ही, किन्तु देव छिद्राम्बेपी है अतः उसने इसके पापों के अनुसार इसे दास बना दिया । (२) विषम—देव कर्म का फल देने में विषम भी है, क्योंकि उसने शकार जैसे पापी को स्वल्प से पुण्य के फल से ही स्वामी बना दिया ॥२७॥

मल्लक—एक छोटा पान, मरिचा का प्याला, नारियल का बना बटोरा, महिला-नुप्य व्याख्याकारों का कथन है कि शकार ने अपनी स्वाभाविक मूर्खता के कारण किसी महान् वस्तु से कुस की उपमा न देकर एक छोटी वस्तु से उपमा दी है अन्य व्याख्याकारों के अनुसार 'मल्लक' का अर्थ है—मल्ल, पहलवान ।

पृ० ३१०, ३० विविक्तधम्मरस—भाव यह है कि प्रेम का आन्वादन एवान्त में ही किया जाता है ॥३०॥

पृ० ३१२, काली—कामयुक्त, भूयान् काम अस्यास्तीति । ३१, कष्टमया — कष्टों से पूर्ण, कि ते वय कष्टमया मनुष्या — यह पाठान्तर है, इसका यह अर्थ है— क्या हम कष्टनिमित्त मनुष्य हैं ? (जो इस प्रकार उपेक्षा करती हो) ॥३१॥

३२ जातदोष —दोषयुक्त, अथवा जाते जनने दोष अववाव यस्य स जातज इत्यर्थः । (J V.) किन्तु यह किञ्चित्कल्पना है । सुचरित०—शोभन शील वाला, (१) सुगन्ध, मकरन्द आदि के द्वारा आनन्द देने वाला कमल, (२) अच्छे आचरण से युक्त जीवन वाला, चाकदत्त । विशुद्ध०—विशुद्ध देह वाला (१) सुन्दर आवृत्ति वाला, कमल (२) निर्दोष तथा तेजस्वी शरीर वाला चाकदत्त । मधूपा०—मकरन्द पान करने वाले अर्थात् रस का भोग जानने वाले ॥३२॥

पलाशो भणित०—पलाश को किञ्चु भी बहते हैं, इसके पुष्प रक्तिमामय किन्तु गन्धशून्य होते हैं, इसी हेतु इसने साथ शकार की समानता बिलसाई गई है । अर्थात् वह सम्पत्ति तथा चमक दमक रखता है किन्तु उदारता आवि गुण नहीं । 'पलाश' का एक अन्य अर्थ है—अपभ्रंश मात्र भी खाते वाला । इसलिये शकार रस शब्द से कुपित होता है ।

पृ० ३१४, मोदयामि—चूर्ण करता हूँ, 'मुट' लक्ष्मणे चुरादि । हरिद्रासापेमाह० —क्योंकि शकार अपने आप को 'नागुदेवक' कहता है, अतः अपनी तुलना में चाकदत्त को 'मनुष्य' कहता है ।

किं स शक्रः०—इस श्लोक में पुनरुक्ति तथा इतिहास विरह याते हैं । कालनेमि—रग्ना का पुत्र नहीं, वह एक असुर या जितका वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है । सुबद्ध—बृहत्कर्मा में इतका उल्लेख है, यहाँ 'वासावत्ता' का

सैक गुणधु नहीं क्योंकि यह शूद्रक से अर्वाचीन है। द्रोणपुत्रः नटायु—यह भी इतिहास के विरुद्ध है। छन्दुसार.—अयोध्या का एक राजा, सम्भवतः उसका वास्तविक नाम 'कुवलयगम्भ' था। विशादकु—सूर्यवंश का एक राजा, जो साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है ॥३४॥

३१. भारतै०—इसमें भी इतिहासविरुद्ध वर्णन है, सीता भारत युग में नहीं थी, उसे वाणक्य ने नहीं मारा। इसी प्रकार नटायु तथा द्रोणदी का भी काल-भेद है ॥३५॥

मत्स्यपूर्वमनोरथ—यही हुआ है पूर्ण (भाष्यदत्त से समापन का) मनोरथ जितका।

पृ० ३१६, ३६. एताम्०—इस पद्य में शकार के भावानुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। अम्ब—बेचारी स्त्री। सीता यथा भारतै—इतिहास विरुद्ध है अतः हृषीकेशा है ॥३६॥

३७. सेवामञ्जितः—सेवा का अर्थ है ऐसा कार्य जिससे कोई व्यक्ति प्रसन्न होता है। मञ्जित—किसी वाञ्छनीय लाभ को प्राप्त किये बिना रह जाना। शकार की गूरता देखकर उसके माता-पिता और भाई आदि प्रसन्न होते। शकार के विचार में वसन्तसेना को मारने का कार्य भी शूरता ही था। अतः यदि उसके माता-पिता आदि ने उसकी इस शूरता को नहीं देखा तो वे अपने पुत्र की सेवा से मञ्जित रह गये।

पृ० ३१८. शीर्षे—शीर्षण गये, मह प्रयोग होना चाहिये, शकार का प्रयोग होने से क्षम्य है।

पृ० ३२०, ३८ यहाँ विट की भावना के अनुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। शरकवाहिनी—नदी। क्रीडारस०—रतिक्रीड़ा के आनन्द का उद्दीप्त करने वाली। विपगी और पृथ्वाकर—शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग किया गया है—यहाँ प्रेम का भण्डार तथा लीलात्म्य का भण्डार नहीं अर्थ संगत प्रतीत होता है, 'नहीं प्रेम विकता है', 'सौभाग्य विकता है'—यह अर्थ नहीं ॥३८॥

३९. पापकल्प-पाप + कल्प; ईषदसमाप्ती कल्पव्येष्टीपरः पा० ११३।६७।

४०. सुदणकं—एक सोने का सिक्का। कार्पापण—कालभेद से मित्र-मित्र मूल्य एवं धातु का सिक्का, मनु के अनुसार ताभ्रमुद्रा-कार्पापणस्तु विमंयताम्रिकः कृपिनः पणः। मनु ८. १३६। अमरकोश के अनुसार एक चाँदी का सिक्का, पृथ्वीधर के अनुसार एक रुपये के मूल्य का सिक्का। सप्तोदिकम्—पृथ्वीधर के अनुसार 'बोटि' एक सिक्का था जिसका मूल्य २० कौड़ी के बराबर होता था। इसके स्थान पर कई पाठान्तर मिलते हैं जैसे—सवेष्टिकं (पणदी सहित), सवेष्टिक (वेद सहित) सपोपणं तथा सप्तोदिकं (कोटि सहित) ॥४०॥

पृ० ३२२, ४१. अप्रीति—(१) मित्रता का नाश (=) मुक्त का अभाव। प्राक्षिपन्—आ + √क्षिप् + क्त। निर्गुण०—(१) तथा आदि गुणों से शून्य।

(२) प्रत्यङ्वा रहित ॥११॥

४२. नगरस्त्री—भाव यह है कि नगर की नारियाँ तुम्हें शंका से देखेंगी कहीं उनके साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार न कर डालो ॥४२॥

पू० ३२४. व्यवहार—विवाद का निषेध, निषेध के लिये न्यायालय में प्रस्तुत विवाद (a law suit, Judicial proceedings), शकार का भाव यह है कि मैं तुम्हारे विरुद्ध अभियोग चलाता हूँ इसका तुम्हें उत्तर देना होगा ।

शासकप्रतीक—(देखिये पू० १४ सं० व्याख्या तथा टिप्पणी)

पू० ३२६. आत्मपरित्राणे—अपनी रक्षा के लिये, चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी । मन्त्र—रहस्य, आर्यपुरुष—माननीय पुरुष, विश्वसनीय जन । ४४. विद्युच्छाम्—यह सार्वभौमिक विशेषण है, ऐसा प्रकट होता है कि उस समय उज्जयिनी नगरी में पशुवध पर प्रतिबन्ध था ॥४४॥

पू० ३३८. नासां चित्त्वा वाहित—नाक छेदकर निकाल दिया, इस नाटक में ऐसा उल्लेख नहीं किया गया है । ४३. हनुमत्—यह शकार का कवन भी उल्लेख ही है ॥४३॥

विमुच्यति—मष्ट करते हैं/सुपलु छेदने सुदादि । पर्णोदरे—पत्तो में ।

४६. स्तिमितानि—गीते, √ष्टिम् आर्दीभावे दिवादि + क्त । विस्तीर्ण-पत्राणि—पीले हुए हैं पत्र जिनमें ऐसे । पत्राणि—पत्र, पक्षियों के डँने । यहाँ व्याख्याकारों ने अद्भुत सी कल्पनायें की हैं जो अनावश्यक हैं ॥४६॥

पू० ३३०. न पुमंषया—जैसा (दशमुवर्णनिष्क्रीत) आप कहते हैं वैसा नहीं । सतामवसन्मय—नयोंक एक पवित्र भिक्षु अपने हाथ का सहारा देकर उठाने के लिए भी नारी का स्पर्श नहीं कर सकता । एष तत्त्वो—भाव यह है कि यह भिक्षुक इसका स्पर्श किये बिना ही रक्षा के लिये साथ जा रहा है । इसका यह पवित्र धर्म है ।

### नवम अङ्क

[व्यवहार नामक यह नवम अङ्क है । इसमें शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाये गये अभियोग का विचार दिखाया गया है । प्रथमतः शकार अधिकरणमण्डप में जाकर यह सूचना देता है कि वृष्णकरण्डक जीर्णोद्यम में किसी ने वसन्त सेना की मार डाली है । अधिकरणिक वसन्तसेना की माता को बुलाते हैं तो पता चलता है कि वसन्तसेना चारुदत्त के घर गई थी । इस पर चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया जाता है । तबसे तया दुःख के कारण चारुदत्त कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता । इसी समय बीरक वहाँ आता है जो घमसाता है कि वसन्तसेना चारुदत्त की माँ में बैठकर वृष्णकरण्डक उद्यान में जा रही थी । बीरक को उद्यान में देखने के लिये भेजा जाता है और वह इस बात का समर्थन करता है कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है । तभी वसन्तसेना के आभरण काँच में दबाए विद्रूपक आ जाता है । शकार और विद्रूपक की मारपीट में

आधुनिक युगि पर-विर पढ़ते हैं शकार इन आधुनिकों को सर्वको दिखलाता है। चाहे वह स्वीकार करता है कि वे आधुनिक वसन्तसेना के ही हैं परन्तु यह कैसे यहाँ बोये हैं, इस बात को स्पष्ट नहीं कह पाता। इन घटनाओं से चाहेदत के विरुद्ध धर्मियोग सिद्ध हो जाता है। अधिकरणिक अपने निगम राजा के पास भेजते हैं। गारा मृत्युदण्ड की आज्ञा देता है।

पृ० ३३४. शोधक—न्यायालय की सफाई तथा सज्जा आदि की ध्वषणा करने वाला न्यायालय का कर्मचारी। अधिकरणभोजक—अधिकरण-न्यायालय, भोजक—पासक, अधिकारी, न्याय के अधिकारी अर्थात् न्यायाधीश, श्रेणी तथा फायदा आदि। जहाँ केवल न्यायाधीश अर्थात् अधिकृत है, वहाँ अधिकरणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यवहार-विवाद-विचार, विनानार्थक सन्देश हरण हार उच्यते। नानासन्देशहरणाद् व्यवहार इति स्मृति—कारवायन। विदित—रिक्त, स्वच्छ।

पृ० ३३६, १, २. गन्धर्वः—पृथ्वीधर का कथन है कि यहाँ प्रयमा के अर्थ में तृतीया है—गन्धर्वेहि इति पाठे तृतीया प्रयमार्थे रूपक च। वस्तुतः गन्धर्व—यह पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। अणोत्पत्तिः—येसा प्रतीत होता है कि शकार भवेति ही न्यायालय में जा रहा था और स्वेच्छा से केशो को विविध रूप में कर देता था ॥२॥

विषयम्—इस वाक्य का भाव कई प्रकार से व्यक्त किया गया है, विषय प्रश्न के भीतर प्रविष्ट 'हुआ कीट जैसे बाहर निकलने का मार्ग खोजता है, इसी प्रकार इस बातक अपराध को करके इसने बच निकलने का मार्ग खोजा और महान् मार्ग प्राप्त कर लिया, यह भाव प्रतीत होता है। मोदयित्वा—मोदकर, दबाकर। अंशु—व्यापारिक मामलों को समझने के लिये और रत्न भावि की परत के लिये न्यायालय में एक सेठ (व्यापारियों का मुखिया) रखता जाता था। सम्भवतः यह भावकल के असेसर की भाँति रखता जाता था। कायस्थ—व्यवहार सेसन का कार्य करता था। परायीतया—व्यवहार का निर्णय बादी-प्रतिवादी तथा साक्षियों के कथन पर निर्भर है।

पृ० ३३६, ४. सन्त—सज्जन, वे भले लोग (वकील आदि) जो किसी एक बादी या प्रतिवादी का समर्थन करते हैं। अपवाद—अपवाद, दोष ॥५॥

१. शास्त्र—नीतिशास्त्र व्यवहार विद्या इत्यादि। स्वक—अपने सम्बन्धी। शक्ति—बादी और प्रतिवादी के कार्यों को व्यवसायिक तथ्य को। धर्मः—धर्म या न्याय को न छोड़ने वाला, धर्म + यत्। दाम्नि—अवसर या उपाय होने पर। व्याख्याकारों ने इसको अन्वय तथा अर्थ कई प्रकार से किया है। यथा—(१) भाषे द्वाः, भावे—पदार्थप्रत्ययविषये द्वाः=द्वामूर्तः, द्वारवत्प्रवेत्तयोर्यः पराशयप्राप्ती इत्यर्थः, (२) न लोमान्वितः दाम्नि-काले अर्थात् अवसर मिलने पर भी लोभ न करने वाला, (३) दाम्नि परतस्त्वदहृदयः—अर्थात् जहाँ तक सम्भव होता है, परम तथ्य (बादी-प्रतिवादी के तथ्य) को जानने में तत्पर ॥५॥



पृ ३४०. आर्येत्यादि०—इस कथन से न्यायाधीश की न्यायप्रियता तथा व्यापकारिता प्रकट होती है। व्यवहारमुपस्थितः—व्यवहार को उपस्थित हुआ है, व्यवहार प्रस्तुत करने के लिये आया है। श्री M. R. काते का कथन है कि सम्भवतः यहाँ व्यवहार शब्द न्यायालय (Court) के अर्थ में आया है।

पृ० ३४२. सर्वमन्य—शकार के घमकाने पर न्यायाधीश के प्रसन्न हो जाने से यह प्रकट होता है कि राजा पालक तथ्य की खोज किये बिना ही न्यायाधीशों पर दबाव डाल देता था। मुष्माकर्मवि०—अर्थात् तुम्हें सुखी करना मेरे हाथ में है, मेरी इच्छानुसार निर्णय करोगे तो सुखी होंगे।

स्विरसस्कारता—मानसिक सस्कारों की दृष्टि, भाव यह है कि इससे मन में यह भाव दृष्टापूर्वक स्विर है कि मैं राजा का साना हूँ जो चाहे कर सकता हूँ। इसलिये यह व्यवहारार्थी होकर भी इस प्रकार कहता है।

पृ० ३४४. मल्लक—मल्लक पाठान्तर है। मल्लक—मदिरा पीने का पात्र (भाण्डे) मल्लक (देखिये पृ० ३०० तथा टिप्पणी)। ६. राजरक्षसुरः—इत्यादि कथन से शकार न्यायाधीशों पर प्रभाव डालना चाहता है। परयामि न परयामि वा—शकार का कथन होने के कारण निपरीतोक्ति है। बाहुपास० नुजा रूपी पाश के घलात्कार से अर्थात् पुत्रापास में दबाकर।

पृ० ३४६. न मयेति व्यवहारपद—मैंने नहीं—यह अभियोप का शब्द (a legal point) जो शब्द स्वाभाविक रूप से वादी या प्रतिवादी के मुख से निकल जाता है, वह तथ्यनिर्णय में अत्यन्त सहायक होता है—‘स्वभावेनैव यद्बुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्’ (मनु० ८, ६८)। इसी हेतु न्यायाधीश का ध्यान इस शब्द पर गया। पायस०, पायस—खीर। पिण्डारक—(१) उबल कर या उफन कर फूँस जाना या पिण्डाकार हो जाना इससे खीर पात्र से बाहर निकल कर नष्ट हो जाती है। (२) पायसपिण्ड खीरभोजनम् ऋच्छतीति, नर्म-नर्म खीर खाने में प्रवृत्त व्यक्ति अपना ही विनाश करता है। (३) पिण्डारक=मिलु, कोई भिक्षु अत्यन्त नर्म खीर निगल कर मर गया था, जूदक के समय यह कथा प्रसिद्ध थी—परांजपे (दि० काते नोट्स)। अधिहरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः—अर्थात् ऐसा व्यवहार जिसमें सूनी गई बातों के आधार पर तथ्यों का विचार करने न्यायाधीश अपनी बुद्धि से ही निर्णय देता है, किसी रूप से सफाई नहीं माँगी जाती।

पृ० ३४८. कुट्टनी यः कुट्टिनी—परलारी को मुख से मिलाने वाली। जनस्य पूरुषनीय—यहाँ ‘कुट्टानां कर्तारि वा’ २।३।७१ के अनुसार षष्ठी विभक्ति है।

पृ० ३४९. प्रथमः पादः—व्यवहार निर्णय के चार चरण होते हैं, इनमें प्रतिवादी के समक्ष लिखा गया प्रथम पाद भाषापाद कहलाता है। ८. अतस्त्वामभिगच्छते—इसका कर्ता ‘आह्वानम्’ है, यह आह्वान (Summons) मेरी अवस्था (दरिद्रावस्था) के प्रति गच्छा करता है, अर्थात् क्योंकि राजा ने मुझे नुजाया है, इससे प्रकट होता है कि वह मेरी दरिद्रता के कारण मुझ पर शस्त्रा करता है ॥८॥

६. ज्ञात०—चारुदत्त ने खार्क के ब्रह्म भामने में सहायता की थी अतः उसका ध्यान अपने इसी कार्य की ओर गया जो राजा की दृष्टि में अवश्य ही महान् बपराध था। अमिपुत्र—जिस पर अभियोप चलाया गया हो ॥१६॥

७. पृ० ३२२. १०. वासति—वाशु शब्दे यह दिवादिगण (वाशुपते) की वात्सनेपदी धातु है। अतः यहाँ परस्मैपद चिन्तनीय है अथवा वाश करोति = वासति-यह नाम धातु है ॥१७॥

११. चोरं—भयचुर, भयपूर्ण; कुछ व्याख्याकारों ने 'चोरं नाम बहु. मयि बोधते, अलक्षयम्।' ऐसा अन्वय किया है। इस अन्वय में 'अलक्षयम्' शब्द अर्थ सा ही है अतः 'अलक्षयम् चोरं' (बदलते) यह अन्वय किया गया है।

११. मयि—इस पद का अन्वय कई प्रकार से किया गया है। 'मय भुजग-पतिः अभिपदति'—यह मूल वाक्य है। भय भुजगपति के विशेषण हैं। सम्भवतः अनेक अक्षरकुनों का साथ २ वर्णन करने के लिये ही कवि ने यहाँ मयं का वर्णन कर दिया है। वस्तुतः तो दिन के समय, भोड़ से भरी हुई उज्जयिनी की सड़क पर मयं का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

७. पृ० ३२४, १४. इस श्लोक में न्यायालय को सागर के समान बतलाया गया है। इसके लिये 'चिन्ता०' इत्यादि सात विशेषण दिये गये हैं। मन्त्रिन्—यहाँ इसका तात्पर्य न्यायाधीश है। इन्हें उस के समान कहा गया है। दूत—राजदूत। धार—दुन्दभर, सूचना देने वाले, इनकी नाके और मयंगे में समता दिखाई गई है। रिक्त—रक्त के घाटक जीव। आसक्त—शब्द करने वाले, दादी-प्रतिवादी जन, छोटे बकील मुक्ता इत्यादि (Pettifoggers)—काले। इनकी कटू (हाडगिल) पक्षियों से समता दिखाई गई है, क्योंकि ये हाडगिल पक्षी के समान निरन्तर बोलते हैं। मानावाक—पाठान्तर है, विविध प्रकार का केश धारण करने वाले (कुटिम)। कांक्षन्—अपहृत-सेसक इनकी समता समुद्र के तपों से की गई है। नीति०—जिस प्रकार नदियों के द्वारा सागर तट काट दिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ नीति के द्वारा यहाँ का को छोड़ा जाता है। नीति तर्क, युक्तियाँ या राजा की अपनी पानिती। विष०—घातक जनों या दूर कर्मों के द्वारा ॥१४॥

१२. देवतः—आप्य से, देव + तस् अथवा देवता; 'देवतः' शब्द पुल्लिङ्ग भी है (देवतानि पुल्लि वा)। किन्तु इसका पुल्लिङ्ग में प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोषग्रस्त समझा जाता है ॥१५॥

१६. घोषोन्वर्त—वस्तुतः 'उन्नतघोषम्' होना चाहिये, अथवा, आहिता-न्यादि में मानकर 'उन्नत' शब्द का पर-प्रयोग सिद्ध किया जा सकता है।

७. पृ० ३२८. निपुत्रः—यह पारिभाषिक शब्द है यहाँ इसका अर्थ है—अज्ञेतर आग्नेतर सेष्ठी और कायस्थ (काले)।

१७. मृक—स्वामी, राजा पालक या न्यायाधीश, कुछ व्याख्याकारों का मत

हे कि 'मृत्क' शब्द चारुदत्त के त्रये व्यङ्ग्य रूप में कहा गया है। जो समुद्र नहीं प्रतीत होता है। पृथ्वीघर के अनुसार 'नष्टक' पाठ है ॥१७॥

पृ० ३५- कपटकापटिक—कपटेन जयति इति कापटिक (कपट + टिक) कपट युक्त कापटिक कपटकापटिक (काले) असम्बद्ध—असम्बद्ध प्रमाण करने वाला।

पृ० ३६०, १६ अशुभित०—इत श्लोक का वास्तविक भाव स्पष्ट नहीं है। अशुभित—सोचा गया, सिक्त, अभि— $\sqrt{\text{उदा + क्त}}$ । बलाहक०—बादल पारीणा धाहक (गुणोदरादि)। पाप-नीलवस्तु वर्णा ॥ भोगने के कारण उसके प्रसार कुछ जाले से हो जाते हैं। अन्तराले—बीच, में, इस बात को कहते हुए। निष्प्रमताम् उपति०, पादरत्न ने देखा कि जकार के कुल पर स्वेदमल झलक रहा है और यह फीका पड़ गया है। इसलिये कहा है कि तुम झूठ कहते हो। स्मृतिकारों ने मिथ्या अभियोग लगाने वाले या मिथ्या साक्षी होने वाले के इस प्रकार के बिल्लू बतसाये हैं (देखिये धाम० मृ० २, १३) ॥१८॥

२१ प्राकृत—असंस्तुत अविद्यित, निम्न श्रेणी का। जिह्वा—वेद की ध्याक्या करने वाले नीच जनी की जिह्वा काट दी जाती थी, ऐसा दृष्ट विधान था। अथवा अनुचित या मिथ्या कथन से जीम कट जाती है, यह सोचों की धारणा थी। अथवा मिथ्या कथन से जीम कट कर गिर जानी चाहिये—यह भाव है। म च बेहू हरति भू भूमि को तेरा शरीर हर लेना चाहिये था ॥२१॥

२२ उबकोच्छ्रय०—जन की वृद्धि, जल की प्रचुरता। चारुदत्त ने सागर के सभी रत्न और मोती दान कर दिये अतः सागर में जलमात्र शेष रह गया। अन्तेपि-स्तानि—अनोपस्थित जिन घना भी उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी (not wanted)। अक्षरिजुष्टम्—बरी भी जिसे नहीं करता। अक्षरि०—पाठान्तर है, जिसका अर्थ है कायर या नीच प्रकृति के लोगो द्वारा किया गया ॥२२॥

पृ० ३६२, २३ परिभव०—परिभव एव विमानना—इस प्रकार भी कुछ ध्याक्याकारों ने अर्थ दिया है ॥२३॥ अन्वकमहस्तरकेष—वह व्यङ्ग्यपूर्ण कथन है, अपने आपकी बड़ा समझने वाले चन्दनक ने—यह अविद्य है।

पृ० ३६४, २४ निर्मल०—निष्कलङ्क नीति वाला चारुदत्त। राठुभा—शकार के द्वारा। क्रमावधत्तै—सूट के गिरने से, अकस्मात् दोषारोपण से, भोकाप-वाद से। प्रशान्तस—निमल चरित्र ॥२४॥

दंशम्०—शुक्र की घटनायें विषमतापूर्ण हैं, अर्थात् निर्मल चरित्र वाले चारुदत्त को अशुभ सित्त करने वाली घटनायें मिलती जा रही हैं अथवा अनुभूत का चरित्र विषमतापूर्ण है।

इस कथन के अग्रिम श्लोक से यह प्रकट होता है कि म्यामायीच को भी अपने इस विश्वास में सन्देह हो गया कि 'चारुदत्त निर्दोष है।'

२५ इवम्—चारुदत्त का चरित्र। सकटम्—भयचूर या जटिल। सुसभा—सुसम्बद्ध। व्यवहारशीलम्—व्यवहार सम्बन्धी प्रमाण (कानून सवूठ), प्रथम टी-

वसन्तसेना की माता ने बातमाया कि वसन्तसेना चारदत्त के महा गर्द है। दूसरे—  
शोरक ने कहा कि चारदत्त की गार्ही में बँठकर वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में  
बा रही थी। तीसरे—मृतक स्त्री के चिह्न उस उद्यान में उपलब्ध हैं। इन घटनाओं  
से सिद्ध होता है कि चारदत्त अपराधी है। इन प्रमाणों को देखकर न्यायाधीश की  
बुद्धि किर्तव्यविमूढ़ हो गई है ॥२५॥

पृ० ३६६, २७. मत्सरिच्—मत्सर+इनि (अत इनिठनौ)। हन्तुकाम०  
हन्तुकामो यस्याः सा (बुद्धिः), 'तुम् कामवनसोर्गपि' इसके अनुसार बकार का तोप  
हो पाता है। इसी प्रकार 'मन्तुकाम' इत्यादि। जाति—जन्म, स्वभाव ॥२६॥

२४. अवचयम्—'हस्तादाने चेरस्तोये' ३।३।१०- इस मूल के अनुसार यहाँ  
अवचय (अव+चि+घञ्) शब्द होना चाहिये, किन्तु इसी अर्थ में 'अवचय'  
(अव+चि+अच्) शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है और वैयाकरणों ने मया-  
रूपञ्चिच् अवचय' शब्द को भी सिद्धि की है।

२६. मीमेयं०—इम ब्लोक में चारदत्त अपने मित्र, स्त्री तथा पुत्र को  
सम्बोधित करते हुए खेद प्रकट करता है। इसके अन्तिम पद का अर्थ विवादास्पद  
है। परम्यसनेन—इत शब्द का अर्थ कई प्रकार से किया गया है, परेण खण्डन  
ध्याननोपलक्षितः, परेण केवलेन ध्यसनेन वास्यसुलभेन क्रीडनेन (J. V.) केवल वात-  
क्रीडया (केवल वाष्पकाल के खेलों से) परे दूरं यद् व्यसन तेन (अर्थात् तुम आपत्ति  
से दूर हो, तुम नहीं जानते कि आपत्ति क्या है)। इःसन = शीघ्र, आपत्ति ॥२६॥

पृ० ३६८. मस्या आभरणम्—इत वसन्तसेना के आभरण (M R) काल  
का स्थान है कि यहाँ, 'अस्य' पाठ होना चाहिये क्योंकि 'इमम्स' (प्रकृत) शब्द  
वसन्तसेना के लिये नहीं आ सकता। अस्य का अर्थ होगा रोहसेन का, अर्थात् उस  
(रोहसेन) की (रोमा शब्द करने के लिये) आभरण देना ठीक था, किन्तु हमे इन  
आभूषणों को नहीं लेना चाहिये।

पृ० २७, ३०. नृशसेन- क्रूर, निर्दय ने। रतिः वा—अपवा। पृथ्वी की रति  
है। अविशेषेण—बिना किसी भेद के, साक्षात्। वा+विशेषेण—यह देद भी किया  
था सकता है, विशेषेण-विशेष रूप से ॥३०॥

शपत्स्वी—बेचारा, चारदत्त शकार की दयनीय समझता है, उसका भाव यह  
है कि कृतान्त (देव) ही मेरे विपरीत है यह तो बेचारा निमित्तमान है। आराम—  
क्रीडोद्यान, वाटिका आरमन्ति जना. अत्र, आ+√रम्+घञ्। उच्छृङ्खलक—  
उच्छिन्ना शृङ्खलका येन सः, जिसने बन्धनों को तोड़ दिया है, स्वच्छन्द, किसी नियम  
या कर्तव्य का ध्यान न रखने वाला। कुलटा—अभिचारिणी, कुलानि अटति इति।  
पाण्ड—दिल्ली करने वाला, पाण्ड। पाण्ड-पाठान्तर है—पात्र, कृतवनाः हिंसामथाना  
वता. तेषां दोषाणां भाण्डः पात्रम्।

पृ० ३७१ प्रतीपम्—विरट, उल्टा । साध्वसम्—भय । ध्यापादिता—मार  
 दो गई, नष्ट कर दी गई, मिटा दी गई । शकार का कथन होन से पुनरुक्ति दोष  
 नहीं है ।

विरतर—समूह, राशि, वि + स्तृ + अप, वृक्ष और आसन अर्थ में 'विष्टर'  
 होता है (कृशासनधोविष्टर ८-३-६३) 'फंलाव' अर्थ में 'विस्तार' (वि + स्तृ +  
 पञ्) । पातपिष्यति—मंत्रेय के पास से वसन्तसेना के आभूषणों का मिलना तो इस  
 बात का पुष्ट प्रमाण था कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को मारा है । अतः इससे चारुदत्त  
 का विपत्ति में पड़ना अवश्य भावो था ॥३१॥

भूतार्यं—वास्तविक अन्त यह है कि वसन्तसेना ने इन आभूषणों को रोहतेन  
 की मिट्टी की गाड़ी पर लाद दिया गया था, वसन्तसेना को लौटाने के लिये ही ये  
 मंत्रेय को लौंके गये थे ।—

३० अस्लाघ्यम्०—यदि मैं किसी प्रकार की सफ़ाई देता हूँ तो वह झूठी  
 बल्पना ही समझी जायेगी, क्योंकि उसको पुष्ट करने के लिये वसन्तसेना तो जीवित  
 नहीं है । इससे न्यायाधीशों का मन भरी और से अधिक बिगड़ जायेगा और मेरी  
 मृत्यु अपमानपूर्ण होगी । यहाँ चारुदत्त ने फिर सफ़ाई का अवसर खो दिया ॥३२॥

३३ अङ्गारक०—यहाँ विरट चारुदत्त की क्षीण बृहस्पति से, शकार की  
 मङ्गल ग्रह से तथा अलङ्कारपात या अलङ्कार गिराने वाले मंत्रेय की धूमकेतु से  
 समता दिखाई गई है । प्राचीन खगोलशास्त्रियों के अनुसार मङ्गल को बृहस्पति का  
 शत्रु मतलबाया गया है । वराहमिहिर आदि ने मङ्गल को बृहस्पति का शत्रु नहीं  
 माना ॥३३॥

पृ० ३७४ अभिर्घ्मान्०—तुम्हारी आँखों से तो यह विश्वास दिला दिया  
 कि ये वे ही आभूषण हैं, किन्तु तुमने बाँधी द्वारा यह प्रकट नहीं किया ।

३४ वसन्ततराणि—अन्य वस्तुयें, अग्न्य वस्तु वस्तवन्तरम् तानि । वृत्तह-  
 स्ततया—वृत्तहस्त गिपुण, बुजाल, वृत्तहस्तस्य भाव वृत्तहस्तता तथा ।

पृ० ३७६ एव गतामि०—चारुदत्त को सफ़ाई देने का यह भी एक अवसर  
 मिला था, किन्तु वह सफ़ाई न दे सका । सम्भवतः कवि को यही दिखलाना अभीष्ट  
 था कि चारुदत्त अपराधी सिद्ध हो जाये ।

३५ सत्यमिति द्वे अक्षरे—'सत्य' ये दो अक्षर हैं किन्तु मैं कितने महत्त्वपूर्ण  
 हैं ? (भासे) । अलीकेन—असत्य से √अल् + नीकन् = अलीक (सम्बन्ध की०) ।

आभरणानि—चारुदत्त कुछ आवेशपूर्वक यह बात कहता है । ३६ सहास्मार्यं  
 मनोरथं—न्यायाधीशों की यही अभिलाषा थी कि चारुदत्त सच कह दे और यह  
 निरपराध सिद्ध हो जाये । यदि ऐसा नहीं हो न्यायाधीशों की अभिलाषा नष्ट हो  
 जायेगी, साथ ही चारुदत्त के शरीर पर कौड़े पड़ेगे—यह भाव है ॥३६॥

वसन्तसेनया विरहित—वसन्तसेनाविरहित सेन (तृतीयतत्पुरुष), कृत्यम्-  
 प्रयोगिनः ।

पृ० ३७८. अहर्मायनी—वस्तुतः त्रिते अविषय चत्ताना चाहिये था, वह तो नहीं है। आत्मनः सहशम्—अपनी शक्ति के अनुरूप जो मैं कर सकता था ।

पृ० ३८०. 'शूले भद्रत्'—शूली पर चढ़ाकर मार दो,  $\sqrt{\text{भद्रत्}}$  (आमर्दने) श्वादि + लोट् म० बद्ध० । शाशयते,  $\sqrt{\text{शास्}}$  (अदादि + णिच् (कर्मवाच्य) + लट् प्र० एक० । यहाँ आसन्न भविष्यत् काल में लट् का प्रयोग हुआ है; शिक्षा दी जायेगी । विमृश्यकारी—विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी (विमृश्यकारिन्) न विमृश्यकारी विमृश्यकारी—विना विचारे करने वाला । ४०. स्थाने (अव्यय); उचित, स्थान पर । शृणो—शोचनीय ॥४०॥

४१. श्वेतकाकीयं—श्वेतः काकः [कौआ श्वेत है] इस प्रकार की मिथ्या बात कहने वाले श्वेतकाकीय श्वेतकाक + छ] कहलाते हैं । इस शब्द की निरूपित 'काकतालीय' आदि के समान ही है । शासनद्रूपकं.—राजा के शासन को दूषित [बदनाम] करने वाले; यहाँ १.७ में कही गई व्यवहारसुध्दता दिखलाई गई है ॥४१॥

अपरिचयम्—परिचाद् भवं परिचयं परचाए + णिच् । मास्ति परिचयं यस्य तत्तथा—जिसके परिचाए अन्य [अभिवादन] न होगा, अस्तिम । मूले छिन्ने०—यहाँ मूल पिता [पारुवत्] है । बटुः—अथवा बटु—यह शब्द किसी व्यक्ति [लड़के या युवक आदि] के लिए अंग्रेजी के chap या fellow शब्द के समान प्रयुक्त होता है या बहुराशी अथवा ब्राह्मण (शृणा अर्थ में) जैसे चाणक्यबटुः । चाण्डाल—एक मोक्ष जाति, शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न व्यक्ति—'स्याच्चण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्यं कृपलेन य' कूर कर्म करने वाला । उस समय चाण्डाल ही किसी अपराधी के वप का कार्य करते थे ।

पृ० ३८२. विष०—किसी व्यक्ति की निरपराध प्रमाणित करने के लिए 'विपराध' इत्यादि दिग्घ परिष्ठा होती थी । जैसा कि यज्ञवल्क्य ने बताया है— १. किसी व्यक्ति को विष खिनाया जाता था यदि वह निष्पाप होता था तो उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता था । २. उसे नाभिपर्यन्त जल में इतने समय डुबवी समझाई जाती थी जितने समय में कोई देववान् अनुष्य तत्काल फेंके गये बाण को लेकर भा जाता था यदि वह अपराधी होता तो डूब जाता अन्यथा नहीं । ३. वह पुला के एक पलट्टे में बैठता था और दूसरे पलट्टे में समान भार का बाट आदि रखता था । यदि वह निरपराध होता तो उसका पलटा ऊपर उठ जाता । ४. उसके हाथ पर अमिमन्त्रित पीपल के छाने पत्ते धाये से बाँधे जाते और फिर उस पर नियतकाल के लिए तपा हुआ लोहबोलक रक्सा जाता था । यदि वह निरपराध होता तो नहीं जलता था (विशेष देखिये याज्ञ० १. १००-१११) । प्रार्थिते—अर्थात् होने पर । शिवार—स्वयंहर-निर्गम्य । बोध्य-मन्त्री-भाति देखकर, आँच करके; वि +  $\sqrt{\text{ईप्}}$  + ल्यप् । ब्राह्मणं—(१) ब्राह्मणः अपत्यम् पुमान् ब्राह्मणः ब्रह्मन् + अच् (तस्यापत्यम्); २ ब्रह्म = (विद्यम्) अधीते वेद (जानाति) वा—ब्रह्मन् + अच् (तद्यधीते तद्वेद) ॥४२॥

## दशम अङ्क

[सहारनामक इस अंतिम अङ्क में मुख्य तथा प्रासङ्गिक दोनों कथाओं का उपसंहार हो जाता है। एक ओर तो बसन्तसेना वधूपद को प्राप्त कर लेती है और दूसरी ओर राजा पालक को मारकर आर्यक उज्जयिनी के राज्य का स्वामी बनता है। इस अङ्क के प्रथम दृश्य में—चारुदत्त वधुस्थान की ओर ले जाया जाता दिखलाई देता है। मंत्रेय भी वहाँ पहुँच जाता है। जब वध की घोषणा होती है तो शंकर का सेवक स्यावरक (जो अटारी में बन्द किया हुआ था) भागा हुआ बाण्डालों के पास जाता है तथा कहता है कि बसन्तसेना को तो शंकर ने मारा है। किन्तु इसी समय शंकर वहाँ आ जाता है और स्यावरक को मूठा सिद्ध करता है। द्वितीय दृश्य में—बसन्तसेना को साथ लिये भिक्षु वधुस्थान की ओर आता है। इधर बाण्डाल चारुदत्त पर तलवार लीचता है किन्तु तलवार हाथ से बिर पड़ती है तब बाण्डाल चारुदत्त को शूल पर बढाने की बात सोचते हैं। इसी समय भिक्षु और बसन्तसेना पहुँच जाते हैं। इन्हें देखकर चारुदत्त प्रफुल्लित हो जाता है और बाण्डाल राजा को सूचना देने आते हैं। तृतीय दृश्य में—शबिसक वधुस्थान पर आता है और यह सूचना देता है कि आर्यक के द्वारा राजा मारा गया। तभी शंकर को पकड़कर चारुदत्त के पास लाया जाता है। चारुदत्त उसे क्षमा-प्रदान करता है। अन्तिम दृश्य इस नाटक को सुखान्त बना देता है धूता चिंता पर, चढने को उज्जत है तभी चारुदत्त वहाँ पहुँच जाता है और उसे रोक देता है। धूता और बसन्तसेना स्नेहपूर्वक मिलते हैं। इसी समय शबिसक बसन्तसेना से कहता है कि आर्यक राजा तुम्हें 'वधू' पद से अनङ्कृत करते हैं और भरतवाक्य से नाटक पूर्ण होता है।]

पृ० ३८४, १ तसिकम्—यह चारुदत्त के प्रति कहा गया है। कस्य—तोचो। नववध०—१. नवीन जो वध और बन्धन उनको करने में (दे० स० व्याख्या) २ वध के लिए जो नवीन बन्धन०, नव नद्यय बन्धः तस्य नयने। ४ वध के लिये मया बन्धन है जिसका ऐसे व्यक्ति को से जाने में, वधार्थं बन्ध वधवप, नव वधवन्धो मस्य तस्य नयने ॥१॥

३. पांशु—धूलि। पितृवन—धमजान। बिरतम—बकंघटा से ('रटल' का क्रिया-विशेषण)। रक्तगन्ध०—साल चन्दन,। वध्य के शरीर पर साल चन्दन का सेपन किया जाता था। बलितम्—यहाँ विशेष प्रकार की बलि का वर्णन है जो किसी देवता भूत आदि के लिये दी जाती थी। वह बलि थी १ जल से अभिषिक्त, २ रक्त, ३ पुष्पों से ढकी हुई तथा ४ रक्त की गन्ध (बूद या गन्ध) से युक्त होती थी ॥३॥

पृ० ३८६, ४ किम्—यहाँ चारुदत्त को वृक्ष का रूप दिया गया है, उस पर आधित साधुजनों को पक्षियों का तथा काल को परशु का। बाल-मृत्यु। यदि 'सज्जन' शब्द का अर्थ केवल 'धेष्ण' लिया जाये तो 'सज्जन' मुख्य एव दुःम' तद्' वह भी विग्रह हो सकता है ॥४॥

५. हस्तकं.—हाथ के बापे, इससे प्रकट होता है कि बध्य के शरीर पर तात चन्दन के हाथ के छान लगाये जाते थे । पिष्टचूर्ण—१. चावलों का पिसा हुआ आटा २. पिष्ट—चावल का आटा; चूर्ण—तिलों का चूर्ण । बध्य के शरीर पर ये वस्तुएँ भी लगाई जाती थी । पशूकृतः—अपशुः पशु- सम्पद्यमानः कृतः इति षष्ठीकृतः ॥१५॥

तारतम्यम्—(१) तदतम—ध्वज्; ताता एक के पश्चात् दूसरा, (२) (discretion, proper judgement common sense—काले) । (३) उच्चनीचत्वस्य संप्रत्यय इति परे ।

५. ६. एतद्—यह (रूप या आपत्ति) । इन्द्रः—इन्द्रध्वजा (?), इन्द्रमहोत्सव में लगाई गई ध्वजा । जब वह विसर्जन के लिए ले जाई जाती है तो उमं देवना अच्छा नहीं समझा जाता—'उत्पापयेत्सूर्यवं. सर्वलोकस्य वं पुर । रहो विमजयेत् केतुं विशेषोऽयं प्रपूजने ।' कालिकापुराण । गोप्रसव—इत्यादि की देवना भी निषिद्ध है—मैयुनञ्च गोप्रसवं केतुपातं सतो बधम् । नक्षत्राणाञ्च सञ्चारं शुभापीं शकनीकयेत् ॥७॥

जाह्नोन्त और गोह—ये दोनों चाण्डालों के नाम हैं ।

८. रौदिति—गवाक्षी से मुल निकाले हुई नारियों चारदत्त को देखकर अशु वर्षा कर रही थीं । इसी हेतु यह 'अन्न किया गया है । अन्नस्य—नास्ति अन्नं यत् तद् अन्नस्य' यथा स्यात् तथा (पठति का क्रियाविशेषण) अथवा नास्ति अन्नं यस्य तद् वयम्—बिना बादल का वयः । अन्नस्य—पाठान्तर हे, बादल बिना ही; न अन्नम्, अन्नस्यं तस्मिन् ॥८॥

प० ३८८. सतोप्ल—लोप्तेण सहितः; लोप्त्र—घोरी का घन (माल) √ लुप् (चुराना) + प्लृन् (त्र) 'चौरिका स्तंभचौर्ये च स्तेयम्..... लोप्त्र तु तद्धनम् ।—अमरकोश ।

प० ३६०, १२. मल०—चारदत्त के द्वारा तथा उसके पूर्वजों के द्वारा किये गये यज्ञ । सर्वसि—(धार्मिक) समा में । निषिद्ध—(आमन्त्रित) लोगों की भीड़ से मुक्त, ब्राह्मण और पुरोहितों की भीड़ से मुक्त (काले) । चौर्य—यज्ञ का स्थान, यज्ञशाला, शिरया—अग्नि, √ चि + क्यप् । दित्यायाः इदं चैत्यम्—दित्या + अण् ॥१२॥

१३. अघरश्च (नीचे का ओंठ) ओष्ठश्च (ऊपर का ओंठ) अघरोष्ठ । अथवा अघरसहितः ओष्ठः अघरोष्ठः अथवा अघरश्च असौ ओष्ठश्च अघरोष्ठः । यहाँ अघरोष्ठ-विद्यम् यह रूपक है तथा अमृतपान एवं विपयान दो विरुद्ध वस्तुओं का वर्णन किया गया है, अतः विषम अलङ्कार है ॥१३॥

१४. अमुवर्णमण्डनकम्—पाठान्तर हे, नास्ति सुवर्णमण्डन यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा । मरते हुए व्यक्ति के कर्ण नासिका आदि में सुवर्ण पहनाया जाता है, यह प्रसिद्धि है । अघनीयते—अप √ नी + (कर्मवाच्य) सट् ॥१४॥

प० ३६२. दत्तवध्यधिह्वम्—वध्यस्य चिह्नं, वध्यचिह्नं दत्त वध्यचिह्नं यस्य तम् । किमस्माकं प्रतिग्रह—प्रतिग्रह का अर्थ दान- तथा अनुग्रह दोनों होता है । चारदत्त ने इसका प्रयोग अनुग्रह अर्थ में किया था किन्तु चाण्डाल समप्रते हैं कि



इसका अर्थ 'दान' है और चाण्डाल से दान लेना निषिद्ध है, इसीलिए आश्रय के साथ पूछते हैं। आशुक्—यह प्राकृत का शब्द है जिसका अर्थ है—पिता।

पृ० ३६४, १७ निवाप—पितृतर्पण पितरों को रो गई बलि, 'पितृदानं निवाप स्यात्—अमरकोश। निवापोदकं—पितृतर्पण में दिया गया जल। भाव यह है कि चारुदत्त का पुत्र अभी बालक ही था अतः उसके द्वारा दी गई जलाञ्जलि बहुत छोटी होगी और जब तक पुत्र बड़ा न होता तब तब उसकी जलाञ्जलि से परलोक में स्थित चारुदत्त की विवासा कैसे शान्त होती ॥१७॥

१८ अमोक्तिकम—मोतियों से न बना हुआ, मोक्तिव—मुक्ता + ठ + क्त । अमोक्तिकं—मुक्तां से न बना हुआ। मोक्तिवाद अन्यत् अमोक्तिवम् अथवा नास्ति मोक्तिव यस्मिन् तत् ॥१८॥

पृ० ३६६ निरुपपदेन—उपपद—समीप में स्थित पद अर्थात् आदरसूचक शायं, श्री इत्यादि शब्द निर्गतम् उपपद यस्मात् तत् निरुपपद तेन नाम्ना।

१९ अहतमार्गा—१ जिसका मार्ग (गमन) नहीं दशा है ऐसी नियति २ जिसका मार्ग नहीं रक्का अर्थात् स्वच्छन्द बिचरने वाली विचोरी। किञ्चोरी—इस शब्द का अर्थ विवादग्रस्त है, किसी ने इतरा अर्थं हस्तिनी किसी ने तटण घोड़ी तथा किसी ने तरुणी बाला किया है। प्रत्येपितुम्—प्रति + इत् + तुम्। प्रतीट्म- पाठान्तर है—यथेच्छ यह अर्थ है ॥१९॥

२० शुक्ल -इसके विविध पाठ तथा अर्थ हैं (देखिये स० व्याख्या)। जनपदस्य—जनपद—प्रदेश, जनानां पद जनपद = जन (बचीले) का स्थान अथवा जना पचन्ते गच्छन्ति अत्र इति जनपद देश। अथवा जनपद = जनता, 'भवेत्जनपदो जामपदोऽपि जनदेशयो' इति मेदिनी ॥२०॥

२१ करवीर०—वध के लिये ले जाये जाते हुए व्यक्ति के गले में कनेर की माला पहनाने की प्रथा थी। आघात—वध का स्थान, आह्वयते अत्र इति आ + हृत् + ञञ्। शमितम्—शमित शब्द का अर्थ यज्ञ होता है। शमितरि भवम् अथवा शमितु इदं शमितम्—शमितु + अण्। यज्ञ में पशु की बलि करने का स्थान या बलि के लिये लाये गये पशु को बाँधने का स्थान। आसुब्धम्—वध करने के लिये, आ + √लभ वष करना या अभिमन्त्रित करना। आसुब्ध—पाठान्तर है। देखिये ॥० व्याख्या ॥२१॥

सासम्—असेष लहितम् पुत्र का विज्ञेय अथवा सृष्टित्वा का क्रियाविशेषण। २३ इव—यह, पुत्र का बालिङ्गन, (सुतरूप वस्तु इत्यये)। तद्—वह प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करता है।

पृ० ३६८ २४ व्यसनकृशाम—व्यसन—आपत्ति, दारिद्र्यता। कृशा—हीना, अभियोग रूप विपत्ति के कारण होने वाली हीन दशा को ॥२४॥

सर्वबलव्यम्—विकलव = विह्वल, विकलवस्य भाव वैकलव्यम् विकलव + व्यम् (गुणवचन शालाणादिभ्य कर्मणि ष १।१।१२४)।

पृ० ४००, २६. अनावृष्टि०—न आवृष्टिः अनावृष्टिः, तथा ह्ये । द्रोणमेघ—  
पुष्कर, आवर्त, सवर्त और द्रोण—ये चार प्रकार के मेघ माने गये हैं, द्रोण मेघ पर्याप्त  
वर्षा करने वाला तथा सस्य को समृद्ध करने वाला होता है जैसा कि ज्योतिषतत्त्व में  
कहा गया है—'आवर्तो निर्मलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः । पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः  
सस्यप्रपूरकः ॥२६॥

२८. विषाक्तं न—विषेण अक्त. लिप्त. विषाक्तः तेन,  $\sqrt{\text{अक्त}} = \text{अञ्ज्} + \text{क्त}$  ।  
जिस प्रकार विपला वाण भगकर किसी व्यक्ति को विषयुक्त कर देता है इसी प्रकार  
इस बोधयुक्त (शकार) ने भुसें ही दोषो मिद्ध कर दिया है ॥२८॥

पृ० ४०२, २८. शालोपकूरेण—कूर-घान के चाबल का भात, खाद्यविशेष  
'कूर' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं; देखिये 'कूरण्युत्तर्तलमिन्नम्' (पृ० १७२) ॥२९॥

मन्त्रभेद.—मन्त्रस्य गुप्तवादेऽस्य भेद. प्रकाशयन्, गुप्त वृत्तान्त का प्रकाशन,  
वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः—अमरकोश ।

पृ० ४०४, ३०. विघ्नस्य अपिघ्नत (बन्द करो); यहाँ अकार का लोप हो  
जाता है—'घ्नित् भागुरित्त्वोपमवाप्योरुपतर्गयो' । मन्त्रिनय०—शौडत्य, बिठाई ॥३०॥

रत्नकुम्भसहस्रा—रत्नकलश के समान सम्पत्तिशाली तथा श्रेष्ठ । चौरिक्रिया-  
चोरी के कारण ।

पृ० ४०६, ३१. साधुजनानुकम्पिन्—साधुजनम् अनुकम्पते लच्छीलः इति  
साधुजन + अनु +  $\sqrt{\text{कम्प}} + \text{गिनि}$ , सुप्यजातो गिनि० ।

संबद्धति—अनुकम्प है, मिलता जुलता है । निष्कारणो०—(दे० स० व्याख्या)  
यहाँ पूर्वार्थ में साभिप्राय विशेषणों द्वारा कथन किया गया है अतः परिकर अलङ्कार  
है—'विशेषणैयत् साकूतैरक्तिः परिकरस्तु सः—काव्यप्रकाश ॥३१॥

पृ० ४०८. प्रत्ययते—विश्वास करता है । शङ्कल—डका, बोल बजाने का  
बण्डा ।

पृ० ४१०. पालिका—पर्याय, पारी, नारी, पाली । बहुविधं लेखकं कृत्वा—  
बहुत प्रकार रेखायें इत्यादि खींचकर लेख.—लेखकः—गणना हिसाब तयाना ।

वृद्धि०—समृद्धि, उन्नति अथवा कुलवृद्धि, राजकुल में बानक का जन्म ।  
राजपरिवर्तः—राजा का परिवर्तन; यहाँ ऋवि ने बड़ी कुशलता के साथ भावी राज-  
परिवर्तन को सूचित किया है ।

पृ० ४१२, ३४. धर्म—पुण्य । प्रबलपुरुष-शक्तिशाली व्यक्ति पालक या शकार ।  
यत्र तत्र०—चारदल को यह निश्चय नहीं था कि वसन्तसेना जीवित है । स्वभावप्रदेन—  
अपने स्वभाव से, अपनी महानुभावता से, अपने भाव-प्रकाशन (स्व + भाव) से ॥३४॥

६५. प्रतिवृत्तं—उल्टा हुआ या लटका हुआ । दीर्घमोमायव—अपनी गर्दन को  
ऊपर उठाये हुए तियार ही दीर्घ (विशाल) कहे गये । अट्टहास—निकट हास ॥३५॥

पृ० ४१४ पातिका—पतन + √पत् + घुस् (घर्त्थनिर्देशे घृत् पत्तय वा०) वस्त्र को छोड़ने के समान ही शरीर का त्याग है यहाँ गीता के वासासि जीर्णानि मया विहाय०' इत्यादि भाव की छाया दृष्टिगोचर होती है ॥२६॥

भस्वान०—स्थानादभ्यन्तं कुस्थाने, अतुलित स्थान मे ऐसे स्थान पर जहाँ निर्ती की दृष्टि पडना कठिन है। परिधान्त—घको हुई मूर्च्छित। विषमभरणान्ता—विषमभरण क्रान्ता, विषम घाट से लदी हुई। परिचमसु—अन्तिम। मा भै (=मा भवो) मत उरो।

पृ० ४१६ उत्साह—ऊपर मुल करके कदम के बल सेटा हुआ, चित पडा हुआ। सह्यर्थातिगो - सह्य पर्वत पर स्थित देवी, चण्डाल की कुलदेवता। यथागतम्—जैसी राजा की आज्ञा है अर्थात् भूमी पर चढाने की।

पृ० ४१८ उरसि पतति—शरीरि चारुदत्त पृथ्वी पर सीधा सेटा पा। यत्तदाट—यत् स्थान, ऐसे स्थानो पर 'टाट' शब्द का अर्थ 'समीप की भूमि का भाग' होता है जैसे देवटाट, अमरानटाट।

पृ० ४२०, ४१ जीवातुश्चाभ्यया—जीवातु-जीवन या जीवनीपथि, जीवतेऽनन्व इति, √जीव + आतु (उणादि १ ७८)। 'जीवातुरस्तिर्था भक्ते जीविते जीवनीपथे'-इति मेदिनी। तस्य काम्यया इच्छया, मि० 'गोत्राभ्यां' पृ० १२४ ॥४१॥

निमीलितान्—निमीलिते भक्षिणी यस्य स आनन्द की अधिकता के कारण नेत्र मूदे हुए हैं। विद्या—पुन जीवन प्रदान करने वाला मन्त्र या जादू, कहा जात है कि यह विद्या दैत्यो के गुरु शुक्र को आती थी (देखिये काले मोटस)।

'देहम्'—तपु० प्रथमा-एक०, 'देह' शब्द पु० तथा मपु० धनो होता है।

४४ वरकर्मसु—दुल्हे का वस्त्र। यहाँ एक ही रत्नवस्त्र इत्यादि वस्तु का इमत्त प्रतेको मे सम्बन्ध विद्यताया गया है। अतः पर्याय अलङ्कार है—'एकं इमेणानेकस्मिन् पर्याय (काव्यप्रकाश) ॥४४॥

पृ० ४२२ वक्षिणता—सरलता, उदारता। ४५ प्रमद्विष्णुता—प्रभावशाली न, प्र + √धृ + इष्णुय (ध्रुवश्च), यद्यपि पाणिनीय व्याकरण क अनुसार यह शब्द वेद मे ही प्रयुक्त होता है तथापि सौवित्र सस्कृत मे भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। मनाक—प्राय, चोडा-सा ॥४५॥

निर्वेद—अपन विषय मे तुच्छता का भाव या विषयवैराग्य।

४६ कृपामनेतु कृपम नेतु यस्व न, तिव का एव नाम। दक्षप्रतरय हुता-दक्ष के यज्ञध्वंस की कथा कई प्रकार मे प्रसिद्ध है—दक्ष कदा के दस पुत्रो मे अत्यन्त मे उनको एक पुत्री सती नाम की थी जिसका विवाह तिव क साथ हुआ था। एक बार दक्ष ने यज्ञ किया, उसमे सभी देवो तथा ब्राह्मण, की निमन्त्रित किया, किन्तु न तो अपनी पुत्री सती को ही बुनाया न तिव को ही। इस अवसर पर सती स्वय ही पहुँच गई तो उसको अपमानित होना पडा। इस अपमान क कारण वह अग्नि मे भस्म हो गई। इस बात की सुनकर तिव भा बहो गये और दक्ष के यज्ञ को पूधतया

ध्वस्त कर दिया। दक्ष मृग के रूप में भ्रान्त गये। पद्मसुत—पद्म मुक्तानि यस्य सः, कातिक्रियः; पुराणों के आस्थान के अनुसार कातिक्रिये के ६ मूल जोर १२ भुजायें थीं। कौञ्जवाम्—कौञ्ज नामक ईस्य (या पर्वत) का विनाशक ॥४६॥

पृ० ४२४ ४७ शेषभूताम्—देवताओं से निर्वाण्य के रूप में प्राप्त हुई पुष्प-माणा की 'शेष' या 'शेषा' कहते हैं, यह अत्यन्त आदर के साथ धारण की जाती है, उसके समान (ऐसे स्थानों पर भूत = सट्ट)। व्यसनगतम्—विपत्तिग्रस्त ॥४७॥

४८. मन्त्रहीन—पाठान्तर है मन्त्र = मन्त्रपाठ, गुप्त विचार। प्रकथं—उत्कर्ष सामर्थ्य का उत्कर्ष। बसुधाधिराज्यम्—जिनमें समस्त पृथ्वी का आधिपत्य है ऐसा (मयुराज्य)। बलारे—बल के अर्थ इन्द्र के, बल एक प्रसिद्ध ईस्य का नाम है। 'दृग्धेय' की कई ऋचाओं में इसका उल्लेख मिलता है, यह अन्धकार के दातव रूप में कल्पित शेष का ही एक नाम है (काले), इन्द्र की 'बल' का नामक बतलाया गया है।

४९. सिद्ध्या—भाष्य से (अव्यय)। गुणघृताया—(१) (बाह्यदत्त के द्वारा) उदारता आदि गुणों से आकर्षित की गई, त्रिपत्तमा बसन्तसेना (२) रस्ती (गुण) से लौंठी गई: मौका। सुशोतबत्या—कुछ व्याख्याकारों ने इसका भी दोनों पक्षों में कर्ष किया है—(१) श्रेष्ठ स्वभाव वाली (२) मनोहर (?)। उपराग—उपरगते इति उपराग; उप + रञ् + घञ् ॥४९॥

पृ० ४२६. आर्जवम्—सरलता, श्रद्धा: भावः, श्रद्धु + भव्। २१. आर्ष-वृत्तेन—आर्ष श्रेष्ठ वृत्त चरित्र यस्य तेन, इसके आर्षक के कार्य का समर्पण किया गया है, भाव यह है कि उत्तरे यह कार्य जनहिताय ही किया था। तत्रमवान्—इसके स्थान पर 'अत्रमवान्' पाठ उचित है। सुहृदा + आर्षकेश यह सन्धिच्छेद है। उज्जयिन्यां प्रनिर्दिष्टः आश्रेण—अर्थात् उज्जयिणी के सिंहासन पर बैठने ही। वैपातटे-केना नदी नर्मदा की सहायक नदी है, जिसके तट पर कुशावती नगरी बसी थी। कुशावती या कुशास्यली, राम के पुत्र द्वारा बनाई गई थी यह कहा जाता है। सम्भवतः कुन्दनखण्ड में स्थित 'राजनागर' के स्थान पर ही 'कुशावती' नगरी थी। (देखिये, काले शीर्ष)

पृ० ४२८. राष्ट्रियबन्ध—राज्य के साथे का बन्धन अथवा बाँधने वाले राज-पुत्र्य; राष्ट्रियः आसी बन्धः। (सं० व्याख्या भी देखिये। व्यापारयाम—हम सब (बन्ध) मारें, पाठान्तर—व्यापारयाम—हम दोनों (बाण्डाल) मारें।

पृ० ४३२, २६. महीतल०—महीतसे स्थिति सहन्ते इति, पृथ्वी पर रहने योग्य नहीं; अर्थात् देवलोक में रहने योग्य है ॥४३॥

पृ० ४३४ मिश्रत्वेन—पति ॥ अलग, पति के शव के बिना। समोहितं—समोहित, सम् + √ईह् + क्त (भाव में)। ययोपदेशिनी—आपके कपन के अनुसार कार्य करने वाली, अर्थात् आपका अनुसरण करने बन्धि में प्रवेश करने वाली।

पयश्शायय — स्थित रस, रसा वर । तिस्रोदक—तिस्रमिश्रित जल, तिस्राञ्जलि जो मृतको को दी जाती है । अतिक्रान्ते० (सूक्ति)—अवसर बोन जाने पर मनोरथो से कुछ लाभ नहीं ।

पृ० ४३८, ५८ प्रेयसि—प्रियतम, 'प्रेयसी' का सम्बोधन एकवचन । प्रेयसि-प्रियतम के (विद्यमान) होने पर; 'प्रेयस्' का सप्तमी एकवचन । व्यवसाय—निश्चय, उद्यम । सोचनमुद्गण—नेत्र मूँदना ॥५८॥

राविधानम्—घटनाओ की योजना, संयोग । परिकुल्लो राजा०—इससे प्रकट होता है कि उस समय राजा ही वर्णाश्रमो का सर्वोपरि नियामक था ।

पृ० ४३७ जीवाविता—'जीविता' पाठान्तर है । दण्डपालक—दण्डाधिकारी, मजिस्ट्रेट । चरित्र—चरित्रमेव चरित्रम् । लक्ष्यम्— $\sqrt{\text{लम्} + \text{य्}} ॥५६॥$

पृ० ४४०, ६०. तुच्छयति—हल्का या दरिद्र करता है, 'तुच्छ करोति'—इस अर्थ में तुच्छ + णिच् (नामधातु) । विद्यौ—कर्म ऽ । आकुलम्—व्याकुल या बीच में सटके हुए । प्रतिपक्ष—एक दूसरे के विरोधी जैसे रिक्तता और पूर्णता इत्यादि । रूपयन्त्रघटिकाग्याय—बिसी रूपयन्त्र अर्थात् कुर्छे के रहट की बालटियों वा ढग अर्थात् रहट के चक्के पर कोई बाल्टी खाती होती है कोई भरती है, कोई अमभरी सटकती होती है और कोई न चें जायी है और कोई ऊपर ॥६०॥

भरतवाक्यम्—नाटक का अन्तिम श्लोक जो प्रशस्ति रूप में होता है, भरत-वाक्य कहलाता है । 'भरत' शब्द का अर्थ है—नट । अतः भरतवाक्य=नटवाक्य । भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के सम्मानार्थ ही सम्भवतः अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रस दिया गया है । भरतवाक्य में लोककल्याण की कामना की जाती है ।

६१. क्षीरिष्य—अधिक दूध वाली, प्रभूत क्षीरमस्या अस्तीति क्षीरिणी (क्षीर + इन् + ई) ता क्षीरिष्य । सर्वसम्पन्न०—समाप्त विग्रह के लिये देखिये स० व्याख्या, इसके स्थान पर सम्पन्नसर्वसस्या अथवा 'सर्वसत्यसम्पन्ना' पद उचित होता । सन्त—सज्जन, श्री M. R. वाले के अनुसार इसका अन्वय इस प्रकार है, 'आह्वाना अभिमता सन्तु, सन्त धीमन्त सन्तु' क्योंकि श्लेष्मजन प्रायेण निर्धन होते हैं अतः ऐसी शुभकामना की गई है । किन्ही व्याख्याकारो ने इस प्रकार अन्वय दिया है—'जन्म भाज सततमभिमता सन्त मोदन्ताम्, आह्वाना सन्त. सन्तु' ॥६१॥

## परिशिष्ट ३

### मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्द

१. संस्कृत में दो प्रकार के छन्द होते हैं—मात्रिक और वणिक । यिन छन्दों में मात्राओं के साधारण पर पद-रचना होती है वे मात्रिक (जाति) कहलाते हैं तथा जिनमें अक्षरों के साधारण पर, वे वणिक (वृत्त) कहलाते हैं । 'आर्षा' आदि छन्द मात्रिक हैं तथा 'इन्द्रवज्रा' इत्यादि वणिक ।

२. (अ) मात्रा और वर्णों की गणना में सधु गुरु का विचार किया जाता है । अ, इ, उ, ऋ, और म् ह्रस्व या सधु है तथा शेष स्वर दीर्घ या गुरु हैं । ह्रस्व स्वर से युक्त व्यंजनों (क, कि, कु, कृ, क्यु) को भी सधु माना जाता है तथा दीर्घ स्वर से युक्त (का, की, कू, कं, के, कै, को, कौ) को गुरु । सधु की एक मात्रा गिनी जाती है और गुरु की दो ।

(आ) यदि किसी सधु वर्ण से आगे अनुस्वार (अं, ङं) या विसर्ग (अः, कः) अथवा व्यंजनों का संयोग (अल्प, कल्प, इत्यादि) होता है तो वह गुरु माना जाता है । पाठ के अन्त में स्थित सधु वर्ण विकल्प से गुरु माना जाता है ।<sup>१</sup>

३. छन्द के चतुर्ध भाग को 'पाद' या 'चरण' कहते हैं । जिस छन्द में चारों चरण समान होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं । जिसका प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय चरण समान होते हैं उसे अर्धसम कहते हैं । जिस वृत्त के चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं उसे विषमवृत्त कहते हैं ।

४. प्रायः वणिक वृत्तों का प्रत्येक चरण गुरु सधु के विशेष क्रम से बना होता है । चीन-चीन वर्णों के क्रमिक समुदाय को छन्दशास्त्र में 'गण' कहा जाता है । ये ८ हैं, जिनके नाम तथा स्वरूप 'समानाराजधानसप्तदश' इस सूत्र में प्रकट होते हैं । यहाँ 'ल' से सधु और 'र' से गुरु समझा जाता है । प्रस्ताव के लिए सधु का चिह्न (।) और गुरु का चिह्न (ः) है । जैसे—

(१) द्गण = १११ आदिसधु ।	(२) मगण = १११ सर्वगुरु ।
(३) लगण = १११ अन्तिसधु ।	(४) रगण = १११ मध्यसधु ।
(५) जगण = १११ मध्यगुरु ।	(६) मगण = १११ आदिसधु ।
(७) नगण = १११ सर्वसधु ।	(८) सगण = १११ अन्तिसधु ।

१. सानुस्वाररूप दीर्घरूप विसर्गों व गुरुमैत्रे ।

वर्णः संयोगदुर्बलव तथा पाशान्तयोऽपि वा ॥

५ मृच्छकटिक में प्रायेण निम्नलिखित संस्कृत छन्द है, जिनके लक्षण स्वयं निर्देश सहित नीचे दिये जाते हैं। इसमें प्रयुक्त प्राकृत छन्दों के लक्षणों के लिए प्राकृत-निर्जित आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

१. अनुष्टुप् (श्लोक)—एनांके षष्ठ गुरु श्रेय सर्वत्र सप्तु पञ्चमम्। द्वि-चतु-  
प्यादयोर्ह्रस्व सप्तम दीर्घमन्ययो। इसके प्राचन चरण में आठ वर्ण होते हैं, जिसमें पञ्चम वर्ण सप्तु तथा षष्ठ वर्ण गुरु होता है, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में सप्तम वर्ण सप्तु होता है तथा अन्यो (प्रथम और तृतीय) में दीर्घ होता है। उदाहरण—  
१-२, १९, ३४ इत्यादि।

बिरोध—अनुष्टुप् का एक भेद पण्पावचन भी है।

२. आर्या—(मात्रिक) मस्या. पादे प्रथमे ह्यदम मात्रास्तथा तृतीयेश्वि। मप्याक्षरा  
द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या। आर्या छन्द के चरणों में क्रमशः १३, १८, १९  
और १५ मात्राएँ होती हैं। उदाहरण—१-८, ११, ३७ इत्यादि।

बिरोध—यह आर्या छन्द ६ प्रकार का होता है—

पञ्चा विपुला चपला सुसचपला जयनचपला च।

गीरनुपगीत्युत्गीतय आर्यागीतिरच नयशाऽऽर्या ॥

३. इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ च। इसके प्रत्येक चरण में, लगन,  
लगन, जगन तथा दो गुरु मिलकर ११ अक्षर होते हैं। उदाहरण—४-१९; ५-४६;  
१०-११, २१, ४८, ५८।

४. इन्द्रवज्रा—जतो तु वज्रस्यमुदीरित अरो। तच्छेन्द्रवज्रा प्रथमासरे गुरो।  
इसके प्रत्येक चरण में २ त, ज, र, इस प्रकार १२ अक्षर होते हैं। मृच्छकटिक में  
इस वृत्त का उपजाति वृत्त में ही प्रयोग (देखिये १-४६ और ३-७ इत्यादि) हुआ है,  
इसलिये रूप से लगी।

५. उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतमास्ततो गौ। इसके प्रत्येक चरण में ज;  
त, ज तथा दो गुरु (११) होते हैं। जैसे १-६, ४-२३, ६-३।

६. उपजाति—अनन्तरोदीरितसव्यभाजौ पादो षडोपाकुपजातवस्ता'।  
इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का लक्षण बतलाने के पश्चात् यह उपजाति का लक्षण  
बतलाना गया है। अर्थात् इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों के मिलने से बना  
हुआ वृत्त उपजाति कहलाता है। इसी प्रकार इन्द्रवज्रा तथा वज्रस्य आदि के चरणों  
के मिलने से बना हुआ वृत्त भी 'उपजाति' कहा जाता है—'इत्य किनाम्यास्वर्षि  
मिश्रितामु वदन्ति जातिव्यदमेव नाम'। जैसे १-४६, में इन्द्रवज्रा और वज्रस्य के  
चरणों का मिश्रण है और ३-७ में उपेन्द्रवज्रा + इन्द्रवज्रा + इन्द्रवज्रा के चरणों का  
मिश्रण है। उदाहरण—१-३८, ४६, ३-६, ७ ४-१, १२, १५ ३२ ५—  
२१, २६, ४०, ४४, ४७, ५२ ८-२७, ३०. ९-१०, २६ १०-६,

१. जो छन्द मात्रिक है उनका निर्देश किया जा रहा है। जेय वर्ण वृत्त  
समझने चाहियें।

१६. ४०, ४३ ।

७. गीति (उद्याणा)—(म.त्रिक) 'आर्या प्रथमार्धसम यस्या. परार्धमीरिता गीतिः । यद् एष प्रकार की आर्या ही है। अन्तर नचल यह है कि इसके अन्तिम चरण में १५ के स्थान पर १८ मात्राये होती है अर्थात् पहले अर्धसम (प्रथम और द्वितीय चरण) के समान ही इसमें द्वितीय अर्धसम (तृतीय और चतुर्थ चरण) होता है। जैसे ५—३४ ।

। पद्यावध (विषमवृत्त)—युजोश्चतुर्थो जेन, पद्यावध प्रकीर्तितम् ।' अर्थात् अनुपुष्प छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर जवण होने से पद्यावध नामक छन्द होता है । १ ५०, ५१ इत्यादि]

८. पुष्पिताशा (अर्धसम)—मयुजि न युगरेफतो, यकारो गुजि च नजो जरगाश्च पुष्पिताशा । इसके विषम (प्रथम, तृतीय) चरणों में १२ (न, न, र, य) तथा सम (द्वितीय, चतुर्थ) चरणों में १३ (न ज ज र + ग) होते हैं। उदाहरण—१—२४, ५६. २—७. ३—१०, २१, २२. ४—४, २७, २८. ५—४, ८, ३२. ६—१३ ।

९. प्रमिताक्षरा—प्रमिताक्षरा सजससः कयिता । प्रत्येक चरण में १२ अक्षर (स, ज, स, स) जैसे १०—५६ ।

१०. प्रहृषिणी—श्याशाभिर्मनजरगाः प्रहृषिणीयम् । प्रत्येक चरण में १३ अक्षर (न, न, ज, र + ग) तीसरे अक्षर पर यति (वियाम) । उदाहरण—४—२. १—५०. ६—१. ७—८. ८—४१. ९—२७. १०—२५, ३३. ४७, ४६ ।

११. मालभारिणी (अर्धसम)—विषमे ससजा गुरु सभे चेतु, सभरा धेन तु मालभारिणीयम् । विषम चरणों में ११ (स, स, ज + रग; समचरणों में १२ (स, स, र, य) अक्षर; जैसे—१—३, ५ ।

१२. मालिनी—ननमयययुठेयं मालिनी भोगिलोकैः । प्रत्येक चरण में १५ (न, न, म, य, य) अक्षर; ८ वें अक्षर पर यति । उदाहरण—१—३१, ५७. ४—२०. ५—१७ ७—३, ५. ८—४२. ९—१२, ४३. १०—३, १२, ३४, ४६ ।

१३. वशास्थया वशास्थलदिल—जती तु वशास्थमुदीरित जरी । प्रत्येक चरण में १२ (ज, स, ज, र; अक्षर । उदाहरण—१—७, १०, ५३. २—१०. ३—८, १७. ४—३७. ७—४. ८—७. ९—२५ ।

१४. वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तमजा जयो वः । प्रत्येक चरण में १४ (स, स, ज, ज + रग) अक्षर । उदा०—१—६, १२, १३, १७, २०, २२, २७, ३५, ४६. ३—३, ४. ६, १४, १६, ४—६, १४, २६. ५—१, २, ४, ८, १३, १५, ३३, ३६, ४३, ४५. ६—२. ७—२३, २४, २६. ८—६, १६, १८, २२, २८, २९, ३४. १०—३१, ४४ ।

१५. विद्युन्माला—मो मो गौ गौ विद्युन्माला—प्रत्येक चरण में २ मगण + २ गुरु = ८ अक्षर । उदा०—२—८ ।



१६. यैश्वदेवी—आणाश्वैरिद्वाना यैश्वदेवी भयो यौ—प्रत्येक चरण में २ मगण २ मगण मिलकर १२ अक्षर तथा पाँचवें अक्षर पर यति, जैसे—३—१३ ।

१७. शार्दूलविक्रीडित—सूपाँश्वैर्यंवि भः सजी सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् । प्रत्येक चरण में १६ अक्षर (म, स, ज, स, २त + ग); १२ वें अक्षर पर यति । उदा०—१-१४, ३२, ३६, ३७. २—१२. ३—५, ११, १२, १८, २०, २३. ४—६. ५—५, ६, १४, १८, २०, २३, २४, २७, ३५, ४६. ७—२, ७. ८—५, ११, ३८. ९—३, ४, ५, १४. १०—६०

१८. शिलरिणी—एते श्वैरिद्वाना यमनसमलाग. शिलरिणी । प्रत्येक चरण में, १७ (य, म, न, स, म + ल य) अक्षर छोटे अक्षर पर यति । उदा० १-१५. ५-१२, ३२, २५. ६-४ ।

१९. सु मधुरा—सो भो नो नो पुरषिद् ह्यसुरसंरक्षा सुमधुरा । प्रत्येक चरण में १६ (म, र, म, न, म, म + म) अक्षर; सातवें तथा षेरहवें अक्षर पर यति । जैसे—६-२१ ।

२०. छाघरा—आर्ध्वयाना श्रयेण त्रिमुनियसियुता सगधरा कीर्तितमम् । प्रत्येक चरण में २१ (म, र, म, न, य, य + य) अक्षर; सातवें और चौदहवें अक्षर पर यति । उदा०—१-१, ४, ४८. १०-२६, ६१ ।

२१. हरिणी—नसमरसला गः पद्मेदेर्हयैर्हरिणी भवा । प्रत्येक चरण में १७ (न, स, म, र, स + ल ग अक्षर); ६, ४ और ७ अक्षर पर यति । उदा०—४-३. ६-१३ ।

टिप्पणी—सं० व्याख्या में कही-कही अनुष्टुप् तथा आयौ आदि छन्दों के भिन्न-उपभेदों का भी उल्लेख कर दिया गया है । उन्हें इनके सहायकों से मिलाकर देखना चाहिये ।

## परिशिष्ट ४

### मृच्छकटिकस्थानि सुभाषितानि

अकन्दसमुत्पिता पयिनी अक्कचको यणिकु अचौरः सुवर्णकारः अनलहो धामसमागमः अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते सम्भाष्यन्ते । (ग)	१६४
आप्राप्ता मूर्धवेप्येताः स्विपो गुणसमन्विताः । न लताः पल्लवच्छेदमहं न्युपव्रजोऽङ्गवाः ॥ (घ)	१००
अनतिङ्गमनीया भगवती शोकाम्या ड्राहणकाम्या च । (ग) अग्निवतास्ते पुत्रा वता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु विव्रजन्ति । (घ)	१२४ १५४
अपेक्षेपु तदागेषु बहुतरमुदकं भवति । (ग) अभ्युदयेऽवसाने तर्षक रात्रि दिवमहृतमार्गा । उद्दामेव किञ्चोरी नियतिः सलु प्रत्येपितुं याति ॥ (घ)	६१ १३६
अम्भोजिनो लोचनमुद्रणं कि भागवतस्तंगमिते करोति । (घ) अयं च मुरतजवानः कामानिः प्रणयेग्यनः । नराणा यत्र हृदन्ते यौवनानि धनानि च ॥ (घ)	४३६ १५४
अल्पकेशं नरणं दारिद्र्यमगलक दुःखम् । (घ) अर्षतः पुत्रो नारी वा नारी साऽप्येती पुमान् । (घ)	१६ १३८
अहो धिग् बंपम्यं लोच्यबहारस्य । (ग) अहो व्यवहासराधीनता दुष्करं सलु परचित्तप्रह्वमसिक्करणिकैः । (ग)	१६४ १३६
अहो ! प्रमादः श्रियसङ्घस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्जयेत । (घ) आलाने दृष्टते हस्ती बाजी बल्लामु दृष्टते । हृदये दृष्टते नारी मदीद नास्ति गम्यताम् । (घ)	४२० ५२ ५२
इन्द्रः प्रपाह्यमानो मोत्रनकः संक्रमश्च ताराणाम् । सुपुत्रयमानविपत्तिश्चत्वार इमे न इन्द्रव्याः ॥ (घ) इह सर्वस्वकतिनः कुलपुत्रमहादुःखाः । निष्कलत्वमतं याति चेत्याविह्वलभिताः (घ)	१८६ १५४
ईदृशो दासभावो दलारथं कनपि न प्रत्यायति । (घ) एते सलु दास्याः पुत्राः अर्षकल्पवर्ता वरदाभीता इव गोपाल- दारका अरज्ये यत्र-यत्र न खादन्ते तत्र-तत्र गच्छन्ति । (ग)	४०६ १८

एष कीडति वृषयन्त्रपटिवान्यापप्रसक्तो विधि । (प)	४४०
कृत्वाशब्दो निर्माणकस्य हरति हृदय मनुष्यस्य ।	
द्वयकाशब्द इव नराधिपस्य छन्दराज्यस्य ॥ (प)	७६
वय हीनकुमुमादपि सहकारपादप	
मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति । (प)	१७६
कामो वाम । (प)	११६
किं कुलनोपदिष्टेन शीतमेवमन कारणम् । (प)	
भवन्ति सुनरा स्फोता सुक्ष्मे कृष्णकुमुमा ॥	२१०
किं हीनकुमुम सहकारपादप मण्डले पुन सेवन्ते । (प)	७०
कूष्माण्डी गोमयलिप्नवृन्ता	५४
गणतले प्रतिवहन्ती चन्द्रसूर्यादपि विपतिस्तमते । (प)	४१४
गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुला स्त्रिय । (प)	२०८
गणिका नाम पादुका-नरप्रविष्टेव सेष्टुता दुःखेन पुननिराश्रियते । (प)	१६६
गणिका हस्ति बायस्यो भिक्षुश्चाटो रासभयच यन्ते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते । (प)	१६५
गुण सत्त्वगुरागस्य कारण न पुनवनात्वार । (प)	३४
गुणेष्वेव यत्न पुरयेण बाधो न विञ्चिपदप्राप्यतम गुणानाम् । (प)	१६४
गुणेषु हि कतम्य प्रयत्न पुरयं सदा ।	
गुणैर्युक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणै सम ॥ (प)	१६३
धिद्रेष्वनर्था बहूलीभवन्ति । (प)	१६४
तपसा मनसा वाग्भि पूजिता बभिकर्मभि ।	
तुष्यन्ति शमिना नित्य देवता वि विचारितं । (प)	२२
त्यजति त मिल जयभीजहति च मित्राणि बन्धुवर्गंश्च ।	
भवति च सदीपहास्यो य सलु मरणगत त्यजति ॥ (प)	२५६
दारिद्र्यपुत्र्यसंभ्रान्तमना खनु गणिका मोक्षेऽवनीया भवति । (प)	७०
दारिद्र्याद् ह्ययमेति हीपरिगत प्रध्नयते तेजस ० । (प)	२०
दारिद्र्यान्मरणाद् वा मरण मम रोचते न दारिद्र्यम् ।	
अल्पवत्तेज मरण दारिद्र्यमनन्तक दुःखम् ॥ (प)	१६
दुर्लभा गुणा विमवाश्च ।	६२
दुष्कर विपरीतधीकर्तुम् । (प)	२०८
दूत हि नाम पुरुषस्यातिहासन राज्यम् । (प)	८०
द्वयमिदमतीव शोके प्रिय नराणां सुहृत्त्व वनिता च । (प)	१७६
धनं विमुक्तस्य नरस्य शोके वि जीवितेन ० । (प)	२२४
धिक् प्रीति परिमवकारिकागनार्याम् । (प)	३२२

न काशमपेशते स्नेहः (ग)	२७०
न चन्द्रादातपो भवति । (घ)	१५८
न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति । (प)	१५६
न पुष्पमोषमहंत्युदानलता । (ग)	३२
न युक्तं परकलत्रदर्शनम् । (ग)	५८
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता रक्षित प्रति । (प)	२१६
न ह्याकृतिः सुसहस्रं विबहति वृत्तम् । (प)	३५६
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो बंरमपरम् ० । (प)	२०
निशाया नष्टचन्द्राया दुर्लभो मार्गदशकः । (ग)	१६०
नृणां लोकान्तरस्यानो देहप्रतिकृतिः सुतः । (प)	३८०
पल्लविलकञ्च पक्षी शुक्लञ्च तद् सरण्य जसहीनम् ।	
सर्पश्चोद्भूतदण्डस्तुन्धं लोके दष्टिश्च ॥ (प)	२२६
पञ्चजनाः येन मारिताः इत्यादि । (प)	२७६
परोऽपि बन्धुः समसस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विपमस्मितस्य । (प)	३६२
पुरपभाष्यानामचिन्त्याः सख्यु व्यापाराः । (ग)	३८६
पुरुषेषु न्यासाः निक्षिप्यन्ते न पुनर्गहेषु । (ग)	६२
० बहुवीया हि शर्वरी । (ग)	६४
भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।	
यदि भवति भवतु नामस्तथापि सख्यु लोके गुण एव ॥ (प)	२५८
मा दुर्गत इति पराभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ० । (प)	४६
मूले च्छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम् । (ग)	३८०
य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्य ० । (ग)	८८
यज्ञोपवीत हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् । (ग)	१२०
यस्यैव पुष्यं त्रयमे विक्रान्ते समेत्य पातु मधुपाः पतन्ति ।	
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ (प)	३६४
यदा तु भाग्यक्षयपीडिता दशा नरः कृतान्तोपहिता प्रपद्यते ।	
सहास्य मित्राण्यपि यान्द्यमित्रता विरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः । (२)	५८
येऽभिभवन्ति साधु ते पापास्ते च बाणशलाः । (प)	३६६
राहृष्टहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ? (प)	३६६
लोके कोऽप्युत्पितः पतति कोऽपि पतितोऽप्युत्पित्ठवे । (ग)	४१४
चरं प्याचन्दनो पूापुनं दृहीतस्य रुचने । (प)	२१६
विचिक्तविश्वम्भरसो हि कामः । (प)	३१०
विषमा इन्द्रिपोरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम् । (प)	२७६
वीया हि नामासमुदोत्पित रत्नम् । (ग)	१०६
धेरयाः शमघानमुभया इव वञ्चनीयाः ० । (प)	१७६

सप्त

शत

DUE DATE SLIP

महत्त्वं **vt. Autonomous** ...

शिशो मुनिः	(५)	२७६
शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सम्पन्नम् ।		
मूलस्य दिनां शून्या सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ (५)		६
शून्यं ह्येह खलु समा पुरया दरिद्रा ० । (५)		२२६
मखीजनविज्ञानुवर्त्यं नलाजनो भवति ।		
सत्कारभा खलु सञ्जन ० । (५)		६५
सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति विना ० । (५)		१८
सत्येन सुखं खलु सम्पद्यते, सत्यात्पापेण भवति पातकम् ।		
सत्यमिति द्वेष्यधारे मा सत्यमतीरेण मृदुःखः (५)		३७६
समीहितसिद्धये प्रवृत्तेन बाह्याणोऽप्ये कर्तव्यः (५)		५३५
समुद्रदीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुह्यन्ति ॥ (५)		१५५
स्त्रियो ह्युतापार्शु पुरुषं निष्प्रीडितात्कनकवत् स्वयन्नि ॥ (५)		
सर्वं खलु भवति लोके लोका सुखसंस्थितानां चित्तं		
विनिपतितानां नराणां प्रियवारी दुर्लभो भवति ॥ (५)		२६०
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चला स्वभावा		
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विद्वन्ति ॥ (५)		१६६
सर्वत्रात्रं शोभते । (५)		५२६
सत्यमम्पटपलोवदो न शक्यो वारयितुः ० । (५)		१०६
साहसे धी प्रतिवसति । (५)		१५०
सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते धनाल्पशारेणैव दीपदशनम् ।		
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतं शरीरेण मृतं स जीवति ॥ (५)		१६
सुजनं खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते । (५)		१०६
स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिता ।		
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ (५)		१५८
स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदन ।		
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ (५)		२८५
स्त्रीषु न रागं कार्यं ० ॥ (५)		१५४
स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावन्नचण्डो भवति । (५)		४५
स्वात्माऽपि विस्मयते । (५)		१७२
स्वैर्दोषैर्भवंति हि सान्द्रितो मनुष्यः । (५)		१५६
हस्तसयतो मुखसयतः इन्द्रियतः स खलु मनुष्यः ।		
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते मुनिश्चलः ॥ (५)		३३२

